॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४६

वैदिक इण्डेक्स

(वैदिक नामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुसूची)

मूल लेखक

ए० ए० मैकडौनेल
एम० ए०, पीएच० डी०

ए० बी० कीथ
एम० ए०, डी० सी० एल०

अनुवादक

रामकुमार राय
एम० ए०, एल-एल० बी०

भाग २

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA. 46

VEDIC INDEX

OF

NAMES AND SUBJECTS

BY

ARTHUR ANTHONY MACDONELL, M. A., PH. D.

BODEN PROFESSOR OF SANSKRIT IN THE UNIVERSITY OF OXFORD, FELLOW OF BALLIOL COLLEGE; FELLOW OF THE BRITISH ACADEMY

AND

ARTHUR BERRIEDALE KEITH, M. A., D. C. L.

FORMERLY SCHOLAR OF BALLIOL COLLEGE AND BODEN SANSKRIT SCHOLAR; SOMETIME ACTING DEPUTY PROFESSOR OF SANSKRIT IN THE UNIVERSITY OF OXFORD

HINDI TRANSLATION

By

RAM KUMAR RAI, M. A. L. B.

DEPARTMENT OF PSYCHOLOGY,
BANARAS HINDU UNIVERSITY.

VOL. II.

VARANASI

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

1962.

संकेत-सारणी

अ० फा० American Journal of Philology.

आ० गे० Allgemeine Geschichte der Philosophie

अ० सं० Avesta, Pehlvi and Ancient Persian Studies in Honour of the late Shamsul-ulema Dastur Peshotanji Behramji Sanjana (Strassburg und Leipzig, 1904),

अ० फि० American Journal of Philosophy.

आ० जे० Altarisches Jus Gentium.

आ० त्सा० Altindisches Zauberritual.

आ० रे० 'Archiv fur Religionswissenschaft.

आ० रे० गे० Altdeutsches Reichs und Gerichtsverfassung

आ० सि० Altarisches Jus Civile

इ० आ० Indische Alterthumskunde

इ० फो० Indogermanische Forschungen

उ० पु० Op. cit. (उद्धृत पुस्तक)

उ० स्था० loc. cit. (उद्धृत स्थान)

ऊ० ऋ० Uber Methode bei Interpretation des Rigveda

ऊ०ज्यो० Uber den kedakalender namens Jyotism (1862)

ऊ० फो० Uber die neusten Arbeiten auf dem Gebiete der Ṛgveda forschung

ऊ० बौ० Uber das rituelle Sutra des Baudhayana

ए० ओ० Actes do onzieme congress International des Orientallstes

ए० चा० Etudes sur l'astronomie Indienne et l'astronomie Chinoise

ए० नि० Erlauterungen Zum Nirukta

ए० रि० Episches ·im vedischen Ritual

ए० वे० Etude sur la geographie du Veda

औ० क० Ostiranische Kultur

और बाद et. seq.

गे० आ० Geschichte des Altertums

गे० लि० Geschichte der indischen Litteratur

गो० Gottingische Gelehrte Anzeigen

ज० अ० ओ० सो० Journal of the American Oriental Society

ज० ए० सो० Journal of the Royal Asiatic Society

टु० क० Tubinger kath Handschriften

ट्रा० ए० Transactions of the Berlin Academy

ट्रा० सा० Transactions of the Connecticut Academy of Arts and Sciences

ट्रा० सो० Transactions of the Cambridge Philological Society

डा० इ० Das Wurfelspiel im alten Indien.

डा० वौ० 'Das altindische Neu und Vollmondsapfer

डा० हो० Das altindische Hochzeitsrituell

डी० इ० Die Literature des alten Indien

डी० इन्ड० Die Gottesurtheile der Inder (1866)

डी० ऋ० Die Apokryphen des Ṛgveda

डी० गे० Die königliche Gewalt nach den altindischen Rechtsbüchern

डी० गे० व० Die Nachrichten des Rig und Atharvaveda über Geographie, Geschichte und Verfassung des alten Indien,

डी० गो० Die Arischen Göttergestalten

डी० ग्ली० Die Social Gliederung

डी० न० Die vedischen Nachrichten von den Naxatra, 1861

डी० वे० Die altindischer Todten und Bestattungsgebrauche

डी० व० Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen

ड० वे० De la Valla Poussin, Le Vedisme

डी० वो० De ceremonia apud Indos quœ Jātakarma Vocatur

डी० हु० Die Iübinger kath-Handschriften

डी हे० Die Herabkunft des Feuers und des Göttertranks

डी० हो० Die Hochzeits-gebrauche der Esten, Berlin, 1888

तु० की० Cf. (तुलना कीजिये)

त्सी० Zeitschrift

त्सी० इ० Zeitschrift ur Ethnologie

त्सी गे० Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gessellschaft

त्सी० स्प्रे० Zeitschrift für vergleichende Sprachforschung

त्सु० वे० Zur Litteratur und Geschichte des Weda

त्स्वे० Zwei Handschriften der K. K. Hofbibliothek in wien mit Frgmenten des kathak

न० गो० Nachrichten der königlichen Gessellschaft der Wissenschaften zu Göttingen 1909

प्रो० अ० Proceedings of the Berlin Academy

प्रो० सो० Proceedings of the American Oriental Society

फे० Festus apud Panlum Dinconum
फे० बो० Festgruss an Boehtlingk
फे० रो० Festgruss an Roth
फे० वे० Festschrift an Weber (Gurupuja Kaumudi) Leipzig, 1896
फै० प्रि० Famille et Proprie'te' Primitives.
बी० Beitrage
बी० कु० Beitrage zur indischen Kulturgeschichte
मि० Mysterium und Mimus
मि० ऋ० Mysterium und Mimus im Rigveda
रि० चा० Recherches sur l'ancienne astronomie Chinoise
रि० वे० Recherches sur l'histoire de la liturgie Vedique
रि० हि० Recherches sur quelques Problems d' Histoire
रे० रि० Revue de'l Histoire des Religions
रो० फो० Römisches Forschungen
रो० स्टा० Römisches Staatsrecht
ल० इ० Les castes dans l' Inde (1896)
ल० रो० Les institutions uridiques des Romains.
ले० Les livres VIII et IX de l' Atharvaveda
व० गे० Verhandlungen der dreiunddreissigsten Versammlung deutscher Philologen und schulmanner in Gera
व० स्था० s. v. (वर्णक्रम स्थान पर)
वि० ज० Vienna Oriental Journal
वे० Vedachrestomathie
सा० ऋ० Sieg : Die Sagenstoffe des Rigveda
सी० ली० Siebenzig Lieder
से० ओ० Sedillot : Mate'riaux pour servir a' l' histoire comparee des Sciences Mathe'matiques par les Grees et les Orientaun (Paris 1845-1849)
से० बु० ई० Sacred Books of the East
हि० सं० L'histoire de la Samhita

वैदिक इण्डेक्स

वैदिक इण्डेक्स

(वैदिक नामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुसूची)

पुरुष, अथवा पूरुष, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'मनुष्य' के लिये प्रयुक्त एक जातिवाचक शब्द है। मनुष्य, अथर्ववेद[3] के अनुसार पाँच भागों से, अथवा ऐतरेय ब्राह्मण[4] के अनुसार छह भागों से, या सोलह[5], या बीस[6], या इक्कीस[7], या चौबीस[8], या पच्चीस[9], भागों से मिलकर बना है। यह सभी न्यूनाधिक काल्पनिक गणनायें ही हैं। मनुष्य, पशुओं में प्रथम[10], किन्तु अनिवार्यतः एक पशु ही है (देखिये पशु)। कात्यायन श्रौत सूत्र[11] में मनुष्य की ऊँचाई चार

[1] ७. १०४, १५; १०. ९७, ४. ५. ८; १६५, ३।

[2] अथर्ववेद ३. २१, १; ५. २१, ४; ८. ७, २५; ७, २; १२. ३, ५१; ४, २५; १३. ४, ४२, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता २. १, १, ५; ७, २, ८; ५. २, ५, १, इत्यादि।

[3] १२. ३ १०; पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ५, २६; ऐतरेय ब्राह्मण २. १४; ६. २९।

[4] २. ३९।

[5] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ४, १६।

[6] पञ्चविंश ब्राह्मण २३. १४, ५।

[7] तैत्तिरीय संहिता ५. १, ८, १; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, १, ६; ऐतरेय ब्राह्मण १. १८; ऐतरेय आरण्यक १. २, ४, इत्यादि।

[8] शतपथ ब्राह्मण ६. २, १, २३।

[9] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १२, १०; शाङ्खायन आरण्यक १. १; ऐतरेय आरण्यक १. ७, ४।

[10] शतपथ ब्राह्मण ६. २, १, १८; ७. ५, ७, १७। वह पशुओं का स्वामी है, काठक संहिता २०. १०।

'अरत्नि' बताई गई है। प्रत्येक 'अरत्नि' दो 'पदों' के, और प्रत्येक 'पद' बारह 'अङ्गुलियों' के बराबर होता है। स्वयं 'पुरुष' शब्द भी पहले[12] के ग्रन्थों में लम्बाई के एक नाप के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

'पुरुष' शब्द मनुष्य की जीवन-अवधि अथवा एक पीढ़ी के लिये[13], नेत्र की 'पुतलियों' के लिये[14], और व्याकरण-साहित्य में क्रिया के 'पुरुष' के लिये[15], भी व्यवहृत हुआ है।

[11] १६. ८, २१. २५।
[12] शतपथ ब्राह्मण १. २, ५, १४; १३. ८, १, १९; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ५, १।
[13] तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ५; ५. ४, १०, ४; शतपथ ब्राह्मण १. ८, ३, ६; 'द्वि-पुरुष' (दो पीढ़ियाँ), ऐतरेय ब्राह्मण ८. ७, इत्यादि।
[14] शतपथ ब्राह्मण १०. ५, २, ७. ८; १२. ९, १, १२; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३, ९।
[15] निरुक्त ७. १. २।

पुरुष-मृग (पुरुष-रूपी वन्य पशु) यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है। त्सिमर[2] का यह विचार कि इससे 'वनमानुष' का अर्थ है, बहुत कुछ सम्भव प्रतीत होता है। आपके विचार से, अथर्ववेद[3] के दो स्थलों पर अकेले 'पुरुष' शब्द से भी 'वनमानुष' और उसके चीत्कार (मायु) का आशय है; किन्तु इस आशय की आवश्यकता नहीं, और ब्लूमफील्ड[4] ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है। व्हिट्ने[5] इसका 'मनुष्य का चीत्कार' अनुवाद संतोषजनक नहीं मानते क्योंकि आपके विचार से 'मायु' शब्द को मनुष्य द्वारा उत्पन्न किसी प्रकार की ध्वनि के लिये व्यवहृत करना उपयुक्त नहीं है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १: मैत्रायणी संहिता ३. १४, १६; वाजसनेयि संहिता २४. ३५।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन, ८५।
[3] ६. ३८, ४; १९. ३९, ४।
[4] अथर्ववेद के सूक्त, ११७।
[5] अथर्ववेद का अनुवाद, ३०९।

पुरुष हस्तिन् (हाथवाला मनुष्य) यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है। इससे 'वनमानुष' का ही तात्पर्य होना चाहिये।

[1] वाजसनेयि संहिता २४. २९; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ८।

पुरुषन्ति एक ऐसा नाम है जो ऋग्वेद[1] में दो स्थलों पर आता है, जहाँ प्रथम पर यह अश्विनों के एक आश्रित का द्योतक है, और द्वितीय पर एक

[1] १. ११२, २३; ९. ५८, ३।

ऐसे दाता का जिसने किसी वैदिक गायक को उपहार प्रदान किये थे। दोनों ही दशाओं में यह नाम *ध्वसन्ति* अथवा *ध्वस्र* के साथ संयुक्त है। इन तीनों नामों का जिस प्रकार उल्लेख है, उससे यही अनुमान होता है कि यह सभी 'पुरुष' के द्योतक हैं, किन्तु व्याकरण के अनुसार इन शब्दों के रूप से स्त्रियों का भी अनुमान किया जा सकता है। यदि पञ्चविंश ब्राह्मण[2] के प्रमाण को निर्णायक माना जाय तो इनसे स्त्रियों का ही अर्थ होगा क्योंकि यहाँ इनमें से प्रथम दो नाम 'ध्वस्रे पुरुषन्ती' (अर्थात् 'ध्वस्रा' और 'पुरुषन्ति') के रूप में आते हैं जो कि केवल स्त्रीलिङ्ग हैं, यद्यपि यहाँ और अन्यत्र भी सायण[3] इन नामों की पुल्लिङ्ग के रूप में ही व्याख्या करते हैं। *तरन्त* और *पुरुमीळ्ह* भी देखिये।

[2] १३. ७, १२। रौथ का विचार है कि स्त्रीलिङ्ग रूप 'ध्वस्रे' यहाँ भ्रष्ट है और ऋग्वेद में मिलनेवाले उस द्विवाचक रूप 'ध्वस्रयोः' पर आधारित है जो स्त्रीलिङ्ग भी हो सकता है और पुल्लिङ्ग भी।

[3] ऋग्वेद ९. ५८, ३, और ९. ११२, २३ पर उद्धृत शाट्यायनक भी। तु० की० वेबर: इ० रि० २७, नोट १; सीग: सा० ऋ० ६२, ६३; औल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ४२, २३२, नोट १।

पुरु-हन्मन्, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में किसी ऐसे ऋषि का नाम है जो ऋग्वेद अनुक्रमणी के अनुसार *आङ्गिरस* था किन्तु पञ्चविंश ब्राह्मण[2] के अनुसार एक *वैखानस*।

[1] ८. ७०, २।

[2] १४. ९, २९। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०७।

पुरू-रवस्, ऋग्वेद[1] के एक ऐसे सूक्त में किसी नायक का नाम है जिसमें इसके तथा 'उर्वशी' नामक एक अप्सरस् के बीच विचित्र वार्तालाप का विवरण निहित है। शतपथ ब्राह्मण[2] में भी इसका उल्लेख है, जहाँ ऋग्वेदिक वार्तालाप के अनेक मन्त्रों को एक क्रमबद्ध कथा की पृष्ठभूमि में व्यवस्थित कर दिया गया है। बाद के साहित्य में इसे एक राजा माना गया है।[3] ऋग्वेद[4] के एक अन्य स्थल पर भी इसी के नाम से तात्पर्य है। विशुद्धतः और सरल

[1] १०. ९५।

[2] ११. ५, १, १। तु० की० ३. ४, १, २२; काठक संहिता ८. १०; निरुक्त १०. ४६।

[3] देखिये गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, १. २८३ और बाद।

[4] १. ३१, ४।

अर्थों में यह सर्वथा पौराणिक व्यक्तित्व था अथवा प्राचीन राजा, इसे निश्चित रूप से कह सकना असम्भव है। इसकी 'ऐलू'[५] उपाधि ('इडा' नामक एक यज्ञीय देवी, का वंशज) निश्चित रूप से प्रथम विकल्प के ही पक्ष में है।

[५] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १, १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १९६; मैक्स मूलर : चिप्स, ४[२], १०९ और बाद; कुन : डी० हे० ८५ और बाद; रौथ : ए० नि० १५३; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, १२४, १३५; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, २८, ३२३।

पुरूरु, ऋग्वेद[१] में लुडविग[२] के अनुसार एक *आत्रेय* कवि का नाम है। किन्तु इस शब्द का एक मात्र उपलब्ध रूप 'पुरूरुणा' केवल क्रिया-विशेषण ही प्रतीत होता है, जिसका अर्थ 'दूर-दूर तक' है।

[१] ५. ७०, १।
[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२६। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१५, नोट १; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३६०।

पुरू-वसु (सम्पत्तिशाली) लुडविग[१] के अनुसार ऋग्वेद[२] के एक स्थल पर किसी *आत्रेय* कवि का नाम है। किन्तु यह विचार अत्यन्त सन्दिग्ध है।

[१] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२६।
[२] ५. ३६, ३। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१५, नोट १; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३३३।

पुरो-डाश्, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में यज्ञीय 'चपाती' या 'रोटी' का नाम है।

[१] ३. २८, २; ४१, ३; ५२, २; ४. २४, ५; ६. २३, ७; ८. ३१, २, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद ९. ६, १२; १०. ९, २५; १२, ४, ३५; १८. ४, २; तैत्तिरीय संहिता २. ३, २, ८; ७. १, ९, १; वाजसनेयि संहिता १९. ८५; २८. २३, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७०।

पुरो-धा, *पुरोहित* के पद का द्योतक है। अथर्ववेद[१] जैसे प्राचीन समय, तथा अक्सर बाद[२] में भी, इसके उल्लेख से ऐसा व्यक्त होता है कि यह सर्वथा मान्य और प्रचलित पद था।

[१] ५. २४, १।
[२] तैत्तिरीय संहिता २. १, २, ९; ७. ४, १, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १, २; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ३, १२; ९, २७; १५. ४, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३१; ८. २४. २७; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ४, ५।

पुरो-ऽनुवाक्या, यज्ञभाग ग्रहण करने के हेतु किसी भी देवता को आमन्त्रित करने के लिये प्रयुक्त सम्बोधन को व्यक्त करनेवाला पारिभाषिक शब्द है। इसके ठीक बाद *याज्या* आता है जो वास्तविक आहुति के समय होता था।[1] इस प्रकार के सम्बोधन, औल्डेनबर्ग[2] के अनुसार, ऋग्वेद में अज्ञात तो नहीं परन्तु दुर्लभ अवश्य हैं। बाद में यह प्रचलित हो गये थे, और स्वयं यह शब्द भी बाद की संहिताओं[3] और ब्राह्मणों[4] में आता है।

[1] औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद ३८७, ३८८।

[2] त्सी० गे० ४२, २४३ और बाद, जो बर्गेन : रि० वे० १३ और बाद के विरुद्ध हैं।

[3] तैत्तिरीय संहिता १. ६, १०, ४; २. २, ९, २; वाजसनेयि संहिता २०. १२, इत्यादि।

[4] ऐतरेय ब्राह्मण १. ४, १७; २. १३, २६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, १, ३; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, २१, इत्यादि।

पुरो-रुच्, कुछ उन *निविद्* मन्त्रों का पारिभाषिक वर्णन है जिनका 'आज्या' में, स्तुति-सूक्त अथवा उसके किसी अंश के पूर्व, प्रातःकालीन आहुति के समय उच्चारण किया जाता था। यह बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में मिलता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, १३; ७. २, ७, ४; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३९; ३. ९; ४. ५; कौषीतकि ब्राह्मण १४. १. ४. ५; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ३, १५; २, १, ८; ५. ४, ४, २० इत्यादि।
तु० की० हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर १०२।

पुरो-वात (पुरवा हवा) का बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में उल्लेख है। गेल्डनर[2] का विचार है कि इससे केवल वर्षा के पूर्व चलनेवाली वायु मात्र से तात्पर्य है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ११, ३; २. ४, ७, १; ४. ३, ३, १; ४, ६, १; मैत्रायणी संहिता ३. १, ५; शतपथ ब्राह्मण १. ५, २, १८; छान्दोग्य उपनिषद् २. ३, १, इत्यादि।

[2] वेदिशे स्टूडियन ३, १२०, नोट २।

पुरो-हित ('सम्मुख रक्खा हुआ', 'नियुक्त') ऋग्वेद[1] और बाद[2] में

[1] १. १, १; ४४, १०. १२; २. २४, ९; ३. २, ८; ३, २; ५. ११, २; ६. ७०, ४, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ८. ५, ५; वाजसनेयि संहिता ९. २३; ११. ८१; ३१. २०; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २४, इत्यादि; निरुक्त २. १२; ७. १५।

पौरोहित्य-कर्म करनेवाले लोगों का नाम है। पुरोहित के पद को 'पुरोहिति'[3] और *पुरोधा* कहा गया है। यह स्पष्ट है कि पुरोहितों का प्रमुख कार्य किसी राजा, अथवा, सम्भवतः सम्भ्रान्त व्यक्ति का 'पारिवारिक पौरोहित्य' करना होता था। इनकी सर्वथा विशिष्ट स्थिति इस तथ्य द्वारा व्यक्त होती है कि वैदिक साहित्य में सदैव केवल एक ही पुरोहित का उल्लेख है।[४] ऋग्वेद में पुरोहितों के उदाहरण यह हैं: *तृत्सु* परिवार के *भरत* राजा *सुदास्* की सेवा में नियुक्त *विश्वामित्र*[५] अथवा *वसिष्ठ*[६]; *कुरुश्रवण* के पुरोहित[७]; और *शन्तनु* के पुरोहित *देवापि*।[८] पुरोहित सभी धार्मिक विषयों में राजा का 'द्वितीय आत्मैव' होता था। संस्कार[९] में ऐसा विधान है कि राजा को अपना पुरोहित अवश्य रखना चाहिये, अन्यथा देवगण उसकी आहुतियों को स्वीकार नहीं करेंगे। अपनी प्रार्थनाओं से पुरोहित-गण युद्ध में राजा की सुरक्षा और विजय निश्चित करते हैं;[१०]

[3] ऋग्वेद ७. ६०, १२; ८३, ४।

[४] गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, २, १४४, का विचार है कि अनेक पुरोहित भी सम्भव थे। इसके लिये आप ऋग्वेद १०. ५७, १, पर सायण का उद्धरण देते हैं जिन्होंने शाट्यायनक से 'गौपायनों' और राजा 'असमाति' की एक कथा का उल्लेख किया है; साथ ही पुरोहितों के रूप में वसिष्ठ और विश्वामित्र के उदाहरणों की तुलना भी करते हैं जो सम्भवतः एक समय में ही सुदास् के पुरोहित थे। किन्तु इन दोनों (वसिष्ठ और विश्वामित्र) का समसामयिक होना अत्यन्त असम्भाव्य हैं, मुख्यतः उस समय तो, और भी, जब हम हॉपकिन्स (ज० अ० ओ० सो० १५, २६० और बाद) का यह बहुत सम्भव विचार ग्रहण कर लें, कि विश्वामित्र उस समय दस राजाओं (ऋग्वेद ७. १८) के साथ थे जब उन लोगों ने सुदास् पर असफल आक्रमण किया था। दूसरी कथा में, जैसा कि औल्डेनबर्ग: रिलीजन देस वेद ३७५, नोट ३, में विचार व्यक्त करते हैं, एक स्पष्टतः काल्पनिक व्यक्तित्व है; जब कि सभी अन्य स्थलों पर, जिनमें किसी पुरोहित की चर्चा है, केवल एकवचन का ही प्रयोग हुआ है; और यतः यज्ञ के समय केवल एक ही ब्रह्मन् कर्मकाण्डी होता था, अतः पुरोहित ही ब्रह्मन् के रूप में भी कार्य करता था।

[५] ३. ३३. ५३। तु० की० ७. १८।

[६] ऋग्वेद ७. १८. ८३।

[७] ऋग्वेद १०. ३३। देखिये गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १५०, १८४।

[८] ऋग्वेद १०. ९८।

[९] ऐतरेय ब्राह्मण ८. २४।

[१०] देखिये अथर्ववेद ३. १९। ऋग्वेद ७. १८, १३. जिसके आधार पर गेल्डनर (उ० पु० २, १३५, नोट ३) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पुरोहित सभा में प्रार्थना करता था, जब कि राजा युद्ध-भूमि में युद्ध करता था। देखिये आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. १२. १९. २०। तु० की० **पूरु**, नोट २।

कृषि के लिये वर्षा कराते हैं;[11] यह लोग वह ज्वलन्त अग्नि होते हैं जो राज्य की रक्षा करते हैं।[12] संकट के समय दिवोदास को भरद्वाज ने बचाया था,[13] और राजा *त्र्यरुण त्रैधात्व ऐक्ष्वाक* उस समय अपने पुरोहित की निर्भर्त्सना करते हैं जब उनके रथ के नीचे दबकर एक ब्राह्मण बालक की मृत्यु हो गई थी।[14] राजा और पुरोहित का घनिष्ठ सम्बन्ध उस *कुत्स और्व* के दृष्टान्त से व्यक्त होता है जिसने अपने पुरोहित, *उपगु सौश्रवस* का इसलिये बध कर दिया था कि उसने इन्द्र की सेवा की थी क्योंकि इन्द्र के साथ स्वयं कुत्स का वैर था।[15] *जनमेजय* तथा *कश्यपों* के बीच, *विश्वन्तर* तथा *श्यापर्णों* के बीच;[16] और *असमाति* तथा *गौपायनों* के बीच[17] के विवाद राजाओं और उनके लिये कार्य करनेवाले पुरोहितों के परस्पर-संघर्ष के अन्य उदाहरण हैं। कुछ दशाओं में एक ही पुरोहित एकाधिक राजाओं की भी सेवा करता था। उदाहरण के लिये *देवभाग श्रौतर्ष* एक साथ ही *कुरुओं* और *सृञ्जयों*, दोनों का पुरोहित था,[18] और जल *जातूकर्ण्य* भी *काशि*, *विदेह*, और *कोसल* के राजाओं का पुरोहित था।[19]

इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि पुरोहितों का पद एक ही परिवार में वंशानुगत होता था, यद्यपि, सम्भवतः स्थिति थी ऐसी ही।[20] जो कुछ भी हो, राजा *कुरुश्रवण* और उसके पुत्र *उपमश्रवस्*[21] के साथ उनके पुरोहित के सम्बन्ध द्वारा यह स्पष्ट होता है कि एक राजा अपने पिता के पुरोहित को ही नियुक्त किये रह सकता था।

[11] ऋग्वेद १०. ९८।

[12] ऐतरेय ब्राह्मण ८. २४. २५।

[13] पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ३, ७।

[14] वहीं १३. ३, १२। देखिये सीगः सा० ऋ० ६४ और बाद।

[15] वहीं १४. ६, ८।

[16] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७. ३५।

[17] देखिये ऋग्वेद १०. ५७, १, पर सायण द्वारा उद्धृत शाट्यायनक; और तु० की० जैमिनीय ब्राह्मण ३. १६७ (ज० अ० ओ० सो० १८, ४१)।

[18] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ५। ऋग्वेद १. ८१, ३, पर सायण के अनुसार राहूगण गोतम पुरोहित था, किन्तु यह एक त्रुटि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। देखिये गेल्डनरः वेदिशे स्टूडियन ३, १५२ ; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ९, नोट।

[19] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २९, ५।

[20] देखिये औल्डनेबर्गः रिलीजन देस वेद, ३७५, जो राजा और पुरोहित के सम्बन्ध की स्थायी प्रकृति की ऐतरेय ब्राह्मण ८. २७, के संस्कार द्वारा व्यक्त पति और पत्नी के सम्बन्ध के साथ तुलना करते हैं।

[21] देखिये ऋग्वेद १०. ३३, और नोट ७।

त्सिमर[२२] का विचार है कि राजा स्वयं भी अपने लिये पौरोहित्य-कर्म कर सकता था, जैसा कि उस राजा 'विश्वन्तर' के उदाहरण से स्पष्ट है जिसने 'श्यापर्णों' की सहायता के बिना ही यज्ञ किया था;[२३] और यह भी कि पुरोहितों का ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं था, जैसा कि देवापि और शन्तनु[२४] के उदाहरण से व्यक्त होता है। किन्तु इन दोनों में से कोई भी विचार उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसका कहीं भी उल्लेख नहीं कि विश्वन्तर ने बिना पुरोहित के ही यज्ञ किया था, जब कि देवापि को निरुक्त[२५] के पूर्व राजा स्वीकार ही नहीं किया गया है, और ऐसा मानने के लिये भी कोई आधार नहीं कि निरुक्त में व्यक्त यास्क का यह विचार ठीक ही है।

गेल्डनर[२६] के अनुसार पुरोहित आरम्भ से ही यज्ञ-संस्कार के समय सामान्यतया अधीक्षक की भाँति ब्रह्मन् पुरोहित के रूप में ही कार्य करता था। अपने इस विचार की पुष्टि में आप इन तथ्यों का उद्धरण देते हैं कि वसिष्ठ का एक पुरोहित[२७] और एक ब्रह्मन्[२८] दोनों ही रूपों में उल्लेख हैं : *शुनःशेप* के यज्ञ में इसने ब्रह्मन्[२९] के रूप में कार्य किया था, किन्तु सुदास् का पुरोहित था;[३०] बृहस्पति को देवों का पुरोहित[३१] और ब्रह्मन्[३२] दोनों कहा गया है; वसिष्ठ-गण, जो पुरोहित हैं, यज्ञ के समय ब्रह्मन् के रूप में भी कार्य करते

[२२] आल्टिन्डिशे लेबेन १९५, १९६।

[२३] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७ ; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४३६, ४४०।

[२४] ऋग्वेद १०. ९८।

[२५] २. १०।

[२६] उ० पु० २, १४४ ; ३, १५५। तु० की० पिशल : गो० १८९४, ४२० ; हिलेब्रान्ट : रिचुअल-लिटरेचर, १३। ऋग्वेद १. ९४, ६, यह सिद्ध नहीं करता कि पुरोहित एक 'ऋत्विज' था; इससे केवल इतना ही व्यक्त होता है कि वह अपनी इच्छानुसार ऐसा बन सकता था।

[२७] ऋग्वेद १०. १५०, ५।

[२८] ऋग्वेद ७. ३३, ११। किन्तु इसका ब्रह्मन् से कुछ अधिक अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं।

[२९] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १६, १ ; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २१, ४।

[३०] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ११. १४।

[३१] ऋग्वेद २. २४, ९ ; ऐतरेय ब्राह्मण ३. १७, २ ; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १, २ ; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, २ ; शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १४. २३, १।

[३२] ऋग्वेद १०. १४१, ३ ; कौषीतकि ब्राह्मण ६. १३ ; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, २१ ; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ४. ६, ९।

हैं।[33] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रह्मन् अक्सर पुरोहित होता था; और उस समय इसका ऐसा हो जाना सर्वथा स्वाभाविक भी था जब एक बार ब्रह्मन् का स्थान, जैसा कि बाद के संस्कार में निश्चित रूप से है, यज्ञ के समय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद बन गया।[34] किन्तु यह कह सकना कदाचित् ही सम्भव है कि पहले के संस्कार में भी ब्रह्मन् का ऐसा ही स्थान था। औल्डेनबर्ग[35] अपने इस विचार में ठीक ही प्रतीत होते हैं कि ऋत्विजों के साथ महान् यज्ञ-संस्कार में किसी प्रकार का भाग लेने के अवसर पर पुरोहित मूलतः 'होतृ' के रूप में ही कार्य करता था। इसीलिये, देवापि स्पष्ट रूप से एक 'होतृ' था;[36] अग्नि भी एक साथ ही पुरोहित[37] और होतृ[38] दोनों ही हैं; और आप्री सूक्तों में वर्णित दो 'दिव्य होतृयों' को भी 'दो पुरोहित' ही कहा गया है।[39] इसमें सन्देह नहीं कि बाद में, जब पौरोहित्य-कर्म के अन्तर्गत केवल गायन ही नहीं रह गया, तो अपनी अभिचारीय योग्यताओं के कारण पुरोहित वह ब्रह्मन् बन गया जो यज्ञ-सम्बन्धी त्रुटियों के परिमार्जन के लिये भी अभिचार का प्रयोग करता था।[40]

इस बात में कदाचित् ही सन्देह है कि पौरोहित्य के मौलिक विकास में पुरोहितों ने पर्याप्त योगदान दिया था। ऐतिहासिक समय में पुरोहित राजसत्ता की वास्तविक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता था, और यह सहज ही

[33] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, २, १। यह स्थिति काठक संहिता २७. १७ (किन्तु तु० की० २७. ४ : 'ब्रह्म-पुरोहितं क्षत्रम्' का जब तक 'क्षत्र, ब्रह्म से हीन है' अर्थ न माना जाय); पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ५, २४ के सामानान्तर स्थलों पर नहीं है, और तु० की० गोपथ ब्राह्मण २. ५, १३, भी। अथर्वन् साहित्य (ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, lx, lxi) के अनुसार इस वेद के अनुयायियों को ब्रह्मन् के रूप में कार्य करना चाहिये और अथर्वन् के अभिचारीय मन्त्रों की वास्तव में ऐतरेय ब्राह्मण ८. २४-२८ द्वारा व्यक्त पुरोहित के अभिचारों के साथ घनिष्ठ समानता है। तु० की० मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १९३, १९५।

[34] देखिये ब्लूमफील्ड : उ० पु० lviii, lxii, lxv, lxviii और बाद।

[35] रिलीजन देस वेद, ३८०, ३८१।

[36] ऋग्वेद १०. ९८; और तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६, ८; आश्वलायन गृह्य सूत्र १. १२, ७।

[37] ऋग्वेद १. १, १; ३. ३, २; ११, १; ५. ११, २। ८. २७, १; १०. १, ६, में इसे पुरोहित कहा और होतृ पुरोहितों के विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करनेवाला बताया गया है।

[38] ऋग्वेद १. १, १; ३. ३, २; ११, १; ५. ११, २ इत्यादि।

[39] ऋग्वेद १०. ६६, १३; ७०, ७।

[40] तु० की ऐतरेय ब्राह्मण ७. २६।

स्वीकार किया जा सकता है कि सभी सार्वजनिक विषयों, जैसे न्याय-व्यवस्था और राजा के प्रशासकीय कार्यों पर उसका अत्यधिक प्रभाव था। किन्तु रौथ[४१] और त्सिमर[४२] का यह विचार कि पुरोहित उस स्रोत का प्रतिनिधित्व करता है जिसने जाति-व्यवस्था को जन्म दिया था, किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। ऋग्वेद तक में पुरोहित वर्ग का अस्तित्व मिलता है (देखिये *वर्ण*)।

[४१] त्सु० वे० ११७ और बाद।
[४२] आल्टिन्डिशे लेबेन १९५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १६८, १६९; १९५ और बाद; मैक्स मूलर : एन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४८५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३१-३५; १३८; हॉग : ब्रह्म उन्ट डी ब्रह्मनेन, ९ और बाद, गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १४४; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद ३७४-३८३; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त, lxx, और बाद।

पुलस्ति[१] अथवा *पुलस्तिन्*[२] यजुर्वेद संहिताओं में 'कपर्दिन्' (वेणीयुक्त केशवाले) के विपरीत 'सादे ढंग से केश रखनेवालों' का द्योतक है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ९, १; वाजसनेयि संहिता १६. ४३।
[२] काठक संहिता १७. १५। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन २६५।

पुलिन्द, *शुनःशेप* की कथा के सन्दर्भ में, कुछ जाति-बहिष्कृत लोगों का नाम है जिनका ऐतरेय ब्राह्मण[१] में तो *अन्ध्रों* के साथ उल्लेख है, किन्तु शाङ्खायन श्रौत सूत्र[२] में नहीं। अशोक के समय में पुलिन्दगण पुनः अन्ध्रों के साथ सम्बद्ध हैं।[3]

[१] ७. १८।
[२] १५. २६।
[3] विन्सेन्ट स्मिथ : त्सी० गे० ५६, ६५२।

पुलीकय—देखिये *पुरीकय*।

पुलीका, मैत्रायणी संहिता (३. १४, ५) एक प्रकार के पक्षी का द्योतक है। वाजसनेयि संहिता (२४. २४) में यह नाम 'कुलीका' के रूप में आता है।

पुलुष प्राचीन-योग्य ('प्राचीनयोग' का वंशज), जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) के एक वंश में *दृति ऐन्द्रोति शौनक* के शिष्य, किसी गुरु का नाम है। इसने *पौलुषि सत्ययज्ञ* को शिक्षित किया था।

पुष्कर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में नील-कमल का नाम है। अथर्ववेद[3] में इसकी मधुर गन्ध का उल्लेख है। कमल झीलों में उगता था और इसी कारण झीलों को 'पुष्करिणी' कहा गया है।[4] यह पुष्प बहुत पहले से ही व्यक्तिगत अलंकरण के लिये व्यवहृत होता था, ऐसा अश्विनों की 'पुष्कर-स्रज्' उपाधि से स्पष्ट है।[5]

सम्भवतः आकार में कमल-पुष्प के समान होने के कारण, कदाचित् ऋग्वेद[6] में भी और ऐतरेय ब्राह्मण[7] में तो निश्चित रूप से ही, दर्वी-पात्र को 'पुष्कर' कहा गया है। इसके अतिरिक्त निरुक्त[8] के अनुसार 'पुष्कर' का अर्थ 'जल' है, जो आशय वास्तविक रूप से शतपथ ब्राह्मण[9] में मिलता है।

[1] ६. १६, १३ ; ७. ३३, ११ को इसी प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, यद्यपि रौथः सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ३, और गेल्डनरः ऋग्वेद, ग्लॉसर, ११२, इन स्थानों पर यज्ञीय दर्वी-पात्र का ही आशय मानना उपयुक्त समझते हैं।

[2] अथर्ववेद ११. ३, ८ ; १२. १, २४ ; तैत्तिरीय संहिता ५. १, ४, १ ; २, ६, ५ ; ६, ४, २ ; वाजसनेयि संहिता ११. २९ ; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, ४ ; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १, १६ ; मैत्रायणी संहिता ३. १, ५।

[3] अथर्ववेद १२. १, २४।

[4] ऋग्वेद ५. ७८, ७ ; १०. १०७, १० ; अथर्ववेद ४. ३४, ५ ; ५. १६, १७ ; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, ११, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद १०. १८४, २ ; अथर्ववेद ३. २२, ४ ; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, १६, इत्यादि।

[6] ऋग्वेद ८. ७२, ११, जहाँ आशय संदिग्ध है और दर्वी-पात्र विशेषतः उपयुक्त नहीं। नोट १ भी देखिये।

[7] ७. ५।

[8] ५. १४।

[9] ६. ४, २, २।

तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१।

पुष्कर-साद (कमल पर आसीन), यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आनेवाले किसी पशु का नाम है। यह 'सर्प'[2] तो कदाचित नहीं, किन्तु या तो जैसा कि रौथ[3] का विचार है, एक 'पक्षी', अथवा सम्भवतः तैत्तिरीय संहिता[1] के भाष्यकार के अनुसार 'मधुमक्खी' हो सकता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १४, १ ; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १२ ; वाजसनेयि संहिता २४. ३१।

[2] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९५, यहाँ मानते हैं।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

पुष्टि-गु, एक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] के वालखिल्य सूक्त में उल्लेख है।

[1] ८. ५१, १। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १४०, १४१

पुष्प, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में सामान्य रूप से 'फूल' का द्योतक है।

[1] ८. ७, १२। तु० की० १०. ८, ३४।

[2] वाजसनेयि संहिता २२. २८; पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ४, १; १५. ३, २३; तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ४, २; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १, २; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १, इत्यादि।

पुष्य, अथर्ववेद (१९. ७, २) में उस *नक्षत्र* का नाम है जिसे अन्यत्र *तिष्य* कहा गया है।

तु० की० वेबर : नक्षत्र २, ३७१। 'तिष्य' पर देखिये ज० ए० सो० १९११, ५१४-५१८; ७९४-८००, भी।

पूत-क्रता, ऋग्वेद[1] के वालखिल्य सूक्त में एक स्त्री, कदाचित् *पूतक्रतु* की पत्नी का नाम है; किन्तु यह संदिग्ध है, क्योंकि इस शब्द का अधिक नियमित रूप 'पूतक्रतायी'[2] होगा, जिसे ही शेफ्टेलोवित्स[3] ने इस सूक्त में पढ़ा है।

[1] ८. ६४, ४।

[2] पाणिनि ४. १, ३६।

[3] डी० ऋ० ४१, ४२।

पूत-क्रतु (स्पष्ट अन्तर्दृष्टिवाला) ऋग्वेद[1] में उस दाता का नाम है जो प्रत्यक्षतः *अश्वमेध* का पुत्र है।

[1] ८. ६८, १७। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३। शेफ्टेलोवित्स: डी० ऋ० ४१, ऋग्वेद ८. ५६, २ में 'पौतक्रत' के स्थान पर 'पूतक्रतु' पढ़ते हैं, किन्तु यह अस-म्भाव्य है। देखिये औल्डेनबर्ग: गो० १९०७, २३७, २३८; वेबर : ए० रि० ३९, नोट ४।

पूति-रज्जु, अथर्ववेद[1] में रौथ[2] के अनुसार किसी अज्ञात प्रकार के पौधे का नाम है। कौशिक सूत्र[3] इसे एक 'दुर्गन्धयुक्त रस्सी' मानता है, किन्तु लुडविग[4] का विचार है कि इसका 'सर्प' अर्थ है।

[1] ८. ८, २।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[3] १६. १०।

[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ५२७। तु० की० ह्विट्ने : ऋग्वेद का अनुवाद ५०३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५८३।

पूतीक एक ऐसे पौधे का नाम है जिसका अक्सर सोम-पौधे के स्थानापन्न के रूप में उल्लेख[1] मिलता है। पर्ण-वल्क (Butea frondosa) की छाल के एक विकल्प के रूप में इसका 'दधि' बनाने के एक माध्यम के रूप में तैत्तिरीय संहिता[2] में भी उल्लेख है। इसे सामान्यतया (Guilandina Bonduc) के साथ समीकृत किया गया है, किन्तु हिलेब्रान्ट[3] इसे (Basella Cordifolia) मानते हैं।

[1] काठक संहिता ३४. ३ ('पूतिक', जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर उद्धृत किया गया है); शतपथ ब्राह्मण १४. १, २, १२। तु० की० ४. ५, १०, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ४, १; ९. ५, ३ इत्यादि।

[2] २. ५, ३, ५।

[3] वेदिशे माइथौलोजी १, २४, नोट ३। तु० की० रौथः त्सी० गे० ३५, ६८९; त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन ६३, २७६

पूतु-द्रु, अथर्ववेद[1] और यजुर्वेद संहिताओं[2] में 'देव-दारु' का ही दूसरा नाम है। इसका अधिक बड़ा रूप, 'पूतु-दारु', कौशिक सूत्र[3] में मिलता है।

[1] ८. २, २८।

[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ८, ४ (६, में फल का अर्थ है); मैत्रायणी संहिता। ३. ८, ५।

[3] ८. १५; ५८, १५।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे-लेबेन, ५९।

पूरु, ऋग्वेद में एक जाति के लोगों और उनके राजा का नाम है। एक ही स्थल[1] पर इनका, *अनुओं*, *द्रुह्युओं*, *तुर्वशों*, और *यदुओं* के साथ उल्लेख है। *सुदास्* की विजय से सम्बद्ध सूक्त में यह लोग *तृत्सुओं* के शत्रु के रूप में भी आते हैं।[2] एक अन्य सूक्त[3] में *भरतों* की अग्नि के पूरुओं पर विजयी होने की प्रशस्ति है, जिससे सम्भवतः उक्त निर्णायक पराजय का ही सन्दर्भ

[1] १. १०८, ८।

[2] ७. १८, ३। तु० की० तुर्वश। प्रत्यक्षतः जैसा कि हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६३, नोट, और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १३५, का विचार है कि इस मन्त्र में 'जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम्' शब्दों से 'पूरु' राजा, और उस पुरोहित विश्वामित्र से तात्पर्य है जिसने यद्यपि असफल रूप से ही, सुदास् की पराजय के लिये प्रार्थना की थी। 'विदथे मृध्रवाचम्' शब्दों को हॉपकिन्स सामान्य रूप से 'सभा में मिथ्या भाषी' अर्थ में ही ग्रहण करते हैं; किन्तु गेल्डनर के अनुसार इसका अर्थ यह है कि 'जब राजा युद्ध-भूमि में युद्ध करता था, उसी समय पुरोहित भी 'सभा' में प्रार्थना करता था'।

[3] ऋग्वेद ७. ८, ४।

है। दूसरी ओर अनेक स्थलों[४] पर आदिवासियों पर पूरुओं की विजय का सन्दर्भ मिलता है।

पूरुओं के महान् राजा, *पुरुकुत्स* और उनका *त्रसदस्यु* नामक वह पुत्र था जिसका नाम स्वयं ही आदिवासी शत्रुओं पर विजयी होने का संकेत करता है। इनके अतिरिक्त एक बाद के राजा का नाम *तृक्षि त्रासदस्यव* था।

ऋग्वेद में पूरुओं का स्पष्ट[५] रूप से *सरस्वती* के तट पर बसे होने के रूप में उल्लेख है। त्सिमर[६] का विचार है कि इस स्थल पर *सिन्धु* से ही तात्पर्य है। किन्तु लुडविग[७] और हिलेब्रान्ट[८] अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना के साथ यह विचार व्यक्त करते हैं कि इससे कुरुक्षेत्र स्थित पूर्वी सरस्वती का तात्पर्य है। यह दृष्टिकोण वैदिक परम्परा से पूरुओं के सहसा लुप्त हो जाने के तथ्य के भी बहुत कुछ अनुकूल है। इनके इस प्रकार लुप्त हो जाने के सम्बन्ध में औल्डेनबर्ग[९] का ऐसा अनुमान है कि बाद में यह लोग भी उसी प्रकार महान् कुरु जाति के एक अंग बन गये, जिस प्रकार *तुर्वश* और *क्रिवि* लोग भी *पञ्चालों* में विलीन हो जाने के कारण वैदिक परम्परा से लुप्त हो गये थे। ऋग्वेद[१०] में *कुरुश्रवण* का 'त्रासदस्यव' पैतृक नाम यह व्यक्त करता है कुरुओं और पूरुओं के राज-परिवार परस्पर विवाह सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे के साथ सम्बद्ध थे।

इस बात को स्वीकार करते हुये कि बाद के समय में पूरु-गण सरस्वती के आस-पास पूर्वी देश में रहते थे, हिलेब्रान्ट[११] ऐसा विचार व्यक्त करते हैं कि पहले के समय में यह लोग *दिवोदास* के साथ सिन्धु नदी के पश्चिम में ही बसे थे। किन्तु दिवोदास को सुदूर पश्चिम में बसा मानने के सिद्धान्त के पतन के साथ-साथ इस सिद्धान्त का भी पतन हो जाता है। फिर भी, इसे इस तथ्य द्वारा पुष्ट भी माना जा सकता है कि सिकन्दर को एक (Πωρος)—

[४] १. ५९, ६; १३१, ४; १७४, २; ४. २१, १०; ३८, १; ६. २०, १०; ७. ५, ३; १९, ३। तु० की० नोट १३।

[५] ७. ९६, २। सम्भवतः ऋग्वेद ८. ६४, १०. ११, में इनका शर्यणावन्त के तट पर रहनेवालों के रूप में भी उल्लेख है।

[६] आल्टिन्डिशे लेवेन १२४।

[७] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७५।

[८] वेदिशे माइथौलोजी, १, ५०, ११५; ३, ३७४।

[९] बुद्ध, ४०४। तु० की० लुडविग ३, २०५।

[१०] १०. ३३, ४।

[११] उ० पु० १. ११४ और बाद।

अर्थात् एक 'पौरव' राजा उस ह्यदस्पीस[12] नामक स्थान के निकट मिला था जो सरस्वती और पश्चिमी प्रदेश के लगभग बीच में स्थित था। किन्तु यह मान लेना भी अत्यन्त सरल है कि या तो 'ह्यदस्पीस' पूरुओं का प्राचीन गृह था जहाँ जाति के अन्य लोगों के और पूर्वी देशों में चले जाने के बाद भी कुछ लोग शेष रह गये थे, अथवा बाद का 'पौरव' पूर्व से पश्चिम पर एक सफल आक्रमण का प्रतिनिधित्व करता है।

ऋग्वेद[13] के अनेक अन्य स्थलों पर पूरुओं से एक जाति के लोगों का ही आशय प्रतीत होता है। निरुक्त[14] इससे सामान्य रूप से एक 'मनुष्य' का आशय मानता है, किन्तु किसी भी स्थल पर वास्तव में न तो इसकी आवश्यकता है, और न यह सम्भव ही है। फिर भी, परम्परा इतनी लुप्त हो गई है कि शतपथ ब्राह्मण[15] ऋग्वेद[16] में पूरु की एक 'असुर-रक्षस्' के रूप में व्याख्या करता है; और केवल महाकाव्य में ही 'ययाति' और 'शर्मिष्ठा' के पुत्र के रूप में पूरु का पुनः उल्लेख मिलता है।[17]

[12] अरियन : इन्डिका, ८. ४; ९. १; १९. ३, इत्यादि। देखिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ११३, ११३।

[13] ऋग्वेद १. ३६, १, में आशय को सुधारते हुये 'पुरूणाम्' के स्थान पर 'पूरूणाम्' पढ़ा जा सकता है। १. ६३, ७, में पूरु राजा, पुरुकुत्स, और सुदास् का सन्दर्भ है किन्तु इनका सम्बन्ध क्या है यह अनिश्चित है (देखिये **पुरुकुत्स**)। १. १३०, ७, पूरु राजा और 'दिवोदास अतिथिग्व' दोनों का ही, प्रत्यक्षतः आदिवासी शत्रुओं पर विजयी होने के रूप में उल्लेख है। देखिये १. १२९, ५; ४. ३९, २; ५. १७, १; ६: ४६, ८; १०. ४, १; ४८, ५, आदि भी।

[14] ७. २३; नैवण्टुक २. ३!

[15] ६. ८, १, १४।

[16] ७. ८४।

[17] पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, २६, इत्यादि। तु० की० हिलेब्रान्ट : उ० पु० १, ११० और बाद; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३९८।

पूरुष से अनेक स्थलों[1] पर, अंग्रेजी शब्द 'मैन' की भाँति, 'आश्रित' या 'निम्न कोटि का व्यक्ति' आशय है।

[1] ऋग्वेद ६. ३९, ५ (तु० की० फिर भी पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ४३); १०. ९७, ४; अथर्ववेद ४. ९, ७; १०. १, १७; शतपथ ब्राह्मण ६. ३, १, २२, इत्यादि। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३८३।

पूर्ण-मास बाद की संहिताओं[1] में अक्सर ही आता है और पूर्णमासी तथा उस दिन के उत्सव का द्योतक है। तु० की० *मास*।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ७, २; २. २, १०, २; ५, ४, १; ३. ४, ४, १; ७. ४, ८, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, १४; ३. ५, ७, १३; शतपथ ब्राह्मण ११. २, ४, ८ इत्यादि।

पूर्त[1] अथवा *पूर्ति*[2] ऋग्वेद तथा बाद में आता है और पुरोहित को उसकी सेवा के लिये दिये गये पुरस्कार का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद ६. १६, १८; ८. ४६, २१; अथर्ववेद ६. १२३, ५; ९. ५, १३; ६, ३१; वाजसनेयि संहिता १८. ६४; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २१. २४, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद ६. १३, ६; १०. १०७, ३; तैत्तिरीय संहिता १. २, ३, २; २. ४, ७, १, इत्यादि।

पूर्-पति (दुर्ग का अधिपति) ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आता है जहाँ इसकी व्याख्या कुछ संदिग्ध है। यह शब्द, *ग्रामणी* के ही समान, किसी नियमित पद[2] का द्योतक हो सकता है : इस दशा में *पुर्* एक स्थायी वस्ती का द्योतक होगा। फिर भी इस व्याहृति का अर्थ उस समय 'पुर' का प्रधान मात्र हो सकता है जब किसी आक्रमण के विरुद्ध वास्तविक रूप से पुरों में आश्रय लिया जाता था। शब्द की दुर्लभता इस द्वितीय आशय के ही अनुकूल प्रतीत होती है।

[1] १. १७३, १०।

[2] तु० की० ऋग्वेद १. १७३, १० पर सायण का भाष्य; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४५६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०४।

पूर्व-पक्ष, मास के पूर्वार्द्ध का द्योतक है। देखिये *मास*।

पूर्व-वयस (जीवन का प्रथम भाग) ब्राह्मणों[1] में 'युवावस्था' का द्योतक है।

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण १९. ४, ३; शतपथ ब्राह्मण १२. २, ३, ४; ९, १, ८; 'पूर्व-वयसिन्', तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, १३, ३। तु० की० ऐतरेय आरण्यक ५. ३. ३ जहाँ 'वत्स' और 'तृतीय' का 'युवावस्था' और 'वृद्धावस्था' के लिये, उस 'प्रौढ़ावस्था' के विपरीत, प्रयोग हुआ है जिसमें ही आरण्यक के सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान करना चाहिये।

पूर्व-वह, तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] और अन्यत्र,[2] *अश्व* के लिये व्यवहृत शब्द है। इससे या तो सबसे आगे 'नायक' के रूप में सन्नद्ध अश्व का तात्पर्य हो सकता है, अथवा जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार ने समझा है, केवल 'प्रथम वार (रथ) खींचनेवाला', मात्र।

[1] १. १, ५, ६।
[2] शतपथ ब्राह्मण २. १, ४, १७; काठक संहिता १३. ३। तु० की० सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

पूर्वाह्ण (दिवस का पूर्व भाग), ऋग्वेद[1] और उसके वाद[2] से एक साधारण समय-वाचक शब्द है। तु० की० *अहन्*।

[1] १०. ३४, ११।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २०; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, १२; ३. ४, ४, २; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ७; निरुक्त ८. ९, इत्यादि।

पूल्य, अथवा *पूल्प* का, अथर्ववेद[1] में 'कूटा हुआ या संकुचित अन्न' अर्थ प्रतीत होता है (तु० की० *लाजा*)।

[1] १४. २, ६३। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ७६५।

पृक्ष (शब्दार्थ, सम्भवतः द्रुतगामी) ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट से सूक्त में किसी व्यक्ति का व्यक्तिवाचक नाम है।

[1] २. १३, ८। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, ९७।

पृक्ष-याम, एक बार ऋग्वेद[1] में बहुवचन रूप में आता है। रौथ[2] इससे '*द्रुतगामी अश्वों के साथ विचरण करनेवाला*' आशय मानते हुये ऐसा विचार व्यक्त करते हैं यह व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है। पिशल[3] का विचार है कि यह शब्द *पज्रों* की उपाधि है और इसका अर्थ 'महान् यज्ञकर्ता' है।

[1] १. १२२, ७।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[3] वेदिशे स्टूडियन, १, ९७, ९८।

पृड देखिये *मृड*।

पृत्[1] और *पृतना*,[2] ऋग्वेद और वाद में, शस्त्रों अथवा रथ के दौड़ की

[1] केवल अधिकरण रूप में, ऋग्वेद २. २७, १५; २६, १; ३. ४९, ३; ६. २०, १, इत्यादि; 'पृत्सुषु', १. १२९, ४।
[2] ऋग्वेद १. ८५, ८; ९१, २१; ११९, १०; १५२, ७; २. ४०, ५; ३. २४, १; ६. ४१, ५; १०. २९, ८; वाजसनेयि संहिता ११. ७६; कौषीतकि ब्राह्मण १५. ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, १, ६; २, ६, इत्यादि।

'प्रतिस्पर्धा' का द्योतक है। कुछ स्थलों[3] पर 'पृतना' से सेना का भी वास्तविक आशय है, और महाकाव्य पद्धति[4] में यह निश्चित रूप से मनुष्यों, हाथियों, रथों और अश्वों के समूह का द्योतक है। 'पृतनाज्य'[5] से केवल 'युद्ध' का ही आशय है।

[3] ऋग्वेद ७. २०, ३; ८. ३६, १; ३७, २; अथर्ववेद ६. ९७, १; ८. ५, ८; निरुक्त ९. २४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, ७, ५, में सम्मभवतः कर्लीव रूप में भा।

[4] महाभारत १. २९१।

[5] ऋग्वेद ३. ८, १० ; ३७, ७ ; ७. ९९, ४ ; ८. १२, २५ ; ९. १०२, ९ ; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ४, १।

पृथ, अर्थात् हाथ की 'हथेली' का, उसके फैलाव के आशय में तैत्तिरीय, ब्राह्मण[1] में लम्बाई के एक नाप के रूप में प्रयोग हुआ है।

[1] १. ६, ४, २. ३; तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र ६. १, २८; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २. २, ७; ८. ५, १०

पृथवान, ऋग्वेद[1] में एक मनुष्य का नाम है, जिसे सम्भवतः *दुःशीम* भी कहा गया है; किन्तु यह अनिश्चित है। तु० की० *पृथि*

[1] १०. ९३, १४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ४३३।

पृथि,[1] *पृथी*,[2] अथवा *पृथु*,[3] एक अर्ध-पौराणिक व्यक्ति का नाम है, जिसका ऋग्वेद और बाद में एक ऋषि और विशेषतः कृषि के आविष्कर्त्ता,[4] और मनुष्यों तथा पशुओं[5] दोनों के ही संसारों के अधिपति के रूप में उल्लेख है। अनेक स्थलों[6] पर यह 'वैन्य' ('वेन' का वंशज) उपाधि धारण करता है,

[1] ऋग्वेद १. ११२, १५, एक द्रष्टा के रूप में ; एक वैन्य 'के रूप में' तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७. ७, ४, और सम्भवतः २. ७, ५, १ (पृथये)।

[2] 'वैन्य' के रूप में ऋग्वेद ८. ९, १० ; अथर्ववेद ८. १०, २४ ; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ५, १९ ; 'पृथि' अथवा 'पृथी' के रूप में, तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ५, १; 'वैन्य' के रूप में शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, ४; काठक संहिता ३७. ४ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६३)। ऋग्वेद १०. १४८, ५, में 'पृथी' के साथ 'वैन्य' के उल्लेख से इसके पैतृक नाम (= वैन्य) का अर्थ हो सकता है : तु० की० **तुग्र**, नोट १।

[3] जैमिनीय ब्राह्मण १. १८६ (ज० अ० ओ० सो० १९, १२५); जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १०, ९; ३४, ६; ४५, १।

[4] अथर्ववेद, उ० स्था०।

[5] पञ्चविंश ब्राह्मण, उ० स्था०। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ५, १।

[6] देखिये नोट १-३।

और इसे कदाचित एक वास्तविक मनुष्य की अपेक्षा सांस्कृतिक-नायक ही मानना चाहिये। अन्य विवरणों[७] के अनुसार यह प्रतिष्ठापित राजाओं में प्रथम था। तु० की० पार्थिव

[७] शतपथ ब्राह्मण, उ० स्था०। काठक संहिता उ० स्था०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ७, ४।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २२१, २२२; हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५, ५०, नोट २; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १३४। ग्रिफिथ : से० बु० ई० २६, ८१, इस नाम को 'पृथिन् वैन्य' के रूप में प्रस्तुत करते हैं; किन्तु इसके यत्र-तत्र मिलनेवाले अन्तरङ्ग रूप, 'पृथि' अथवा 'पृथी' मूल के ही अनुकूल हैं।

पृथिवी, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में, 'चौड़ी' होने के रूप में 'पृथ्वी' का द्योतक है। इसका एक देवी[३] के रूप में अक्सर अकेले ही अथवा 'द्यावा-पृथिवी'[४] के रूप में *दिव्* (आकाश) के साथ मूर्तीकरण किया गया है। अक्सर तीन पृथिवियों का भी उल्लेख है,[५] जिनमें से वह संसार जिस पर हम लोग वास करते हैं, उच्चतम है।[६] ऐतरेय ब्राह्मण[७] के अनुसार पृथिवी के चारों ओर समुद्र है। निरुक्त[८] तीन पृथिवियों में से एक को उन तीनों संसारों में से प्रत्येक के अन्तर्गत रखता है जिनमें विश्व को विभाजित किया गया है (देखिये *दिव्*)। शतपथ ब्राह्मण[९] में पृथिवी को 'जीवों में प्रथम-जन्मा' कहा गया है। इसकी सम्पत्ति (वित्त) का भी सन्दर्भ है,[१०] और इसीलिये शाङ्खायन आरण्यक[११]

[१] ऋग्वेद ७. ७, २. ५; ९९, ३; ५. ८५, १. ५; ८. ८२, ५, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद १२. १, १ और बाद; वाजसनेयि संहिता ११. ५३, इत्यादि।
[३] ऋग्वेद ४. ३, ५; ५१, ११; ५. ४९, ५; ८४, १ और बाद; ६. ५०, १३. १४; ७. ३४, २३, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १२. १०३, इत्यादि।
[४] ऋग्वेद ४. ५६, १; ७. ५३, १, इत्यादि। देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० २०, २१, १२३, १२६।
[५] ऋग्वेद १. ३४, ८; ४. ५३, ५; ७. १०४, ११; अथर्ववेद ४. २०, २; वाजसनेयि संहिता ५. ९, इत्यादि।
[६] अथर्ववेद ६. २१, १; १९. २७, ३; ३२, ४; ५३, ५; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, ३१; ५. १, ५, २१।
[७] ८. २०। संहिताओं में यह विचार नहीं मिलता, मैकडौनेल : उ० पु०, पृ० ९।
[८] ९. ३१; ११. ३६; १२. ३०; नैघण्टुक, ५. ३. ५. ६। तु० को० म्यूर : स० ग्र० १९, ३२१ और बाद।
[९] १४. १, २, १०।
[१०] शतपथ-ब्राह्मण ११. ५, ६, ३।
[११] १३. १।

के एक वाद के स्थल पर पृथिवी को 'वसु-मती' (सम्पत्ति से परिपूर्ण) कहा गया है। यद्यपि दुर्लभ रूप से ही, तथापि यह शब्द ऋग्वेद[१२] में भी 'पृथ्वी'[१३] के रूप में आता है।

[१२] ६. १२, ५; १०. १८७, २। तु० की० मैकडौनेल : उ० पु० ३४।

[१३] 'पृथु' (चौड़ा) का नियमित स्त्रीलिङ्ग विशेषणात्मक रूप।

पृथु—देखिये *पृथि*। लुडविग[१] ने ऋग्वेद[२] के एक स्थल पर *तृत्सु भरतों* के विरोधियों के रूप में *पर्शुओं* के साथ सम्बद्ध एक जाति के रूप में भी पृथुओं का उल्लेख माना है। किन्तु यह व्याख्या निश्चित रूप से अशुद्ध है।[३] देखिये *पर्शु*।

[१] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९६, और वाद।

[२] ७. ८३, १।

[३] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १३४ और वाद; ४३३, ४३४; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १८४, नोट ३; बर्गेन : रिलीजन वेदिके, २, ३६२, नोट।

१. *पृथु-श्रवस्* (सुप्रसिद्ध) का ऋग्वेद के दो सूक्तों[१] में *वश* के सन्दर्भ में उल्लेख है। द्वितीय स्थल पर 'वश अश्व्य' के प्रति 'पृथुश्रवस् कानीत' की उदारता की प्रशस्ति है, और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[२] में इस कथा का उल्लेख है।

[१] १. ११६, २१; ८. ४६, २१। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६२।

[२] १६. ११, २३।

२. *पृथु-श्रवस् दौरे-श्रवस* ('दूरेश्रवस्' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[१] में वर्णित सर्पोत्सव के समय कार्य करनेवाले एक 'उद्गातृ' पुरोहित का नाम है।

[१] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

पृदाकु, अथर्ववेद[१] में एक 'सर्प' का नाम है। यजुर्वेद संहिताओं[२] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में, तथा अन्यत्र[३] भी, उसका उल्लेख है। अथर्ववेद[४] के अनुसार इसका चर्म विशेष रूप से मूल्यवान होता था।

[१] १. २७, १; ३. २७, ३; ६. ३८, १; ७. ५६, १; १०. ४, ११, और वाद; १३. ३, ५७।

[२] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १०, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४; वाजसनेयि संहिता २४. ३३।

[३] वाजसनेयि संहिता ६. १२; शाङ्खायन आरण्यक १२. २७।

[४] १. २७, १।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९४।

पृदाकु-सानु (सर्प की त्वचा वाला) को लुडविग[1] और ग्रिफिथ[2] ने ऋग्वेद[3] के एक सूक्त में किसी यज्ञ के प्रतिस्थापक के नाम के रूप में ग्रहण किया है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६१।
[2] ऋग्वेद के सूक्त २, १४१।
[3] ८. १७, १५।

पृशन को ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर लुडविग[2] ने ऐसे स्थान का द्योतक माना है जहाँ युद्ध होता था।

[1] ९. ९७, ५४।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६४।

१. पृश्नि-गु एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जिसका ऋग्वेद (१. ११२, ७) के एक सूक्त में *पुरुकुत्स* और *शुचन्ति* के साथ अश्विनों के आश्रित के रूप में उल्लेख है। सम्भवतः यह शब्द केवल पुरुकुत्स की एक उपाधि मात्र है।

तु० की गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर ११४

२. पृश्नि-गु (बहुवचन) को ऋग्वेद[1] के एक स्थान पर गेल्डनर[2] ने एक जाति के लोगों के नाम का द्योतक माना है। किन्तु यह सम्भव नहीं है।

[1] ७. १८, १०।
[2] ऋग्वेद, ग्लॉसर, ११४।

पृश्नि-पर्णी (चितकबरी पत्तियोंवाला) एक पौधे का नाम है जिसका अथर्ववेद[1] के एक सूक्त में 'कण्व' नामक (सम्भवतः *कण्व* परिवार के प्रति आक्रामक धारण का चिह्न है)[2] गर्भपात करा देनेवाले दुष्ट प्राणियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करनेवाले के रूप में उल्लेख है। यह शतपथ ब्राह्मण[3] में भी आता है, जहाँ सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश ने इसे (Hermionitis cordifolia) के साथ समीकृत किया है, किन्तु एक बाद की कृति में रौथ[4] ने ऐसा विचार व्यक्त किया है कि यह वही पौधा है जो बाद में 'लक्ष्मणा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसे बाँझपन की औषधि माना जाता था। कात्यायन श्रौत सूत्र[5] के भाष्यकार का ऐसा विचार है कि इससे (Glycine debilis) का तात्पर्य है।

[1] २. २५, १ और बाद।
[2] तु० की० ह्विट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, ६५, में लैनमैन; बर्गेन : रिलीजन वेदिके २, ४६५; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २०७।
[3] १३. ८, १. १६।
[4] ह्विट्ने द्वारा उद्धृत, उ० स्था०।
[5] २५. ७, १७।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १८७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६९; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३०२।

पृषत, किसी पशु का नाम है जिसका यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। इससे चितकबरे बारहसिंहे अथवा मृग का अर्थ प्रतीत होता है।[2]

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ९. २१; वाजसनेयि संहिता २४. २७. ४०।

[2] निरुक्त २. २।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८३।

पृषती का, कुछ स्थलों[1] पर स्पष्ट रूप से 'चितकबरी' गाय अर्थ है। फिर भी यह शब्द सामान्यरूप[2] से मरुतों के दल के लिये व्यवहृत हुआ है, किन्तु इसका वास्तविक आशय सन्दिग्ध है। भाष्यकार बहुधा इसकी 'चितकबरे मृग' के रूप में ही व्याख्या करते हैं। किन्तु महीधर[3], जिनका ही रौथ[4] ने भी अनुसरण किया है, इसमें 'शबल अश्वियों' का आशय देखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह सत्य है कि मरुतों को अक्सर 'पृषद्-अश्व' कहा[5] गया है, जिसकी 'पृषतियों को अश्वों के रूप में रखनेवाला'[6] की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रूप से 'शबल अश्वोंवाला' ही व्याख्या की जा सकती है। बाद के

[1] ऋग्वेद ८. ६४, १०. ११, जहाँ 'मृग' का आशय निरर्थक और 'अश्वियाँ' असम्भाव्य है। नियमित रूप से 'गायों' का ही दान किया जाता था; काठक संहिता १२. २; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, २, ९ (देखिये, एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, १२५); वाजसनेयि संहिता २४. २ (यद्यपि यह निश्चित नहीं है); शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. १४, २३, इत्यादि।

[2] १. ३७, २; ३९, ६; ६४, ८; ८५, ४. ५; २. ३४, ३; ३६, २; ३. २६, ४; ५. ५५, ६; ५८, ६; ६०, २; १. १६२, २१।

[3] वाजसनेयि संहिता २. १६, पर।

[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश. व० स्था०। पहले आप (वही १, १०९१) ऋग्वेद १. ३७, २, इत्यादि पर दी गई सायण की सामान्य व्याख्या को ही मानना उपयुक्त समझते थे, और उसे ही बेनफे : ओरियण्ट उन्ट ऑक्सिडेन्ट, २, २५०, ने भी स्वीकार किया था।

[5] ऋग्वेद १. ८७, ४; ८९, ७; १८६, ८; २. ३४, ४; ३. २६, ६; ५. ४२, १५; ७. ४०, ३।

[6] ऋग्वेद १. ८७, ४, पर सायण का यही मत है। यह दृष्टिकोण बहुत अयथार्थ है। जहाँ तक 'पृषती' और 'अश्व' की व्याख्या का सम्बन्ध है यह ५. ५५, ६ जैसे स्थलों द्वारा पुष्ट होता है, जहाँ ऐसा कहा गया है कि मरुद्गण भी 'पृषतियों' को 'अश्वान्' की भाँति अपने रथों से सन्नद्ध करते हैं; किन्तु यहाँ 'अश्वों (और) चितकबरी (अश्वियाँ) भी हो सकता है। फिर भी देखिये, पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, २२६।

साहित्य में, जिसका अनुसरण करना ग्रासमैन[7] अधिक उपयुक्त समझते हैं, इस शब्द का अर्थ शवल मृगी है। ऑफरेख्त[8] तो रौथ के विचार से ही सहमत हैं, किन्तु मैक्स मूलर[9] परम्परागत व्याख्या को मानने के लिये अधिक प्रवृत्त हैं, जब कि मूइर[10] प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ देते हैं।

[7] वर्टरबुख,व० स्था।
[8] देखिये, मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, १५२,
[9] से० बु० ई० ३२, ७०; १८४।
[10] उ० पु० ५, १५१, १५२।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८३।

पृषद्-आज्य, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'दधि-मिश्रित घृत' का द्योतक है।

[1] १०, ९०, ८।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. २, ६, २; ६. ३, ९, ६; ११, ४; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, ४१; ४, २; ३. ८, ४, ८, इत्यादि।
तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ४०४, नोट १।

पृषध्र, ऋग्वेद[1] के वालखिल्य सूक्त में किसी व्यक्ति के नाम के रूप में आता है। इसका शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में भी *प्रस्कण्व* के प्रतिपालक के रूप में उल्लेख है और 'पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्' (अथवा 'मातरिश्व') कहा गया है, किन्तु एक बार इस सूत्र और ऋग्वेद के मूल पाठ की उक्तियों में विषमता है, क्योंकि वहाँ जिन सूक्तों[3] को 'पृषध्र' के प्रशस्ति-स्वरूप 'प्रस्कण्व' द्वारा रचा हुआ बताया गया है, उनका 'पृषध्र' से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, जब कि अनुक्रमणी द्वारा उनमें से एक[4] की रचना का स्वयं 'पृषध्र' को ही श्रेय दिया गया है। दूसरी ओर, ऋग्वेद[1] में 'पृषध्र' के साथ-साथ *मेध्य* और *मातरिश्वन्* अलग अलग व्यक्तियों के रूप में आते हैं।

[1] ८. ५२, २।
[2] १६. ११, २५-२७।
[3] ८. ५५. ५६।
[4] ८. ५६।
तु० की० वेबर : ए० रि० ३९।

पृषातक भी, *पृषदाज्य* की ही भाँति एक मिश्रण का नाम है, जो गृह्यसंग्रह[1] के अनुसार *दधि*, *मधु*, और *आज्य* से मिलकर बना होता था। इसका अथर्ववेद[2] के एक बाद के स्थल पर, और सूत्रों[3] में उल्लेख है।

[1] २. ५९।
[2] २०. १३४, २।
[3] मानव गृह्य सूत्र २. ३, इत्यादि।
तु० की० ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ३५, ५८०।

पृष्ट्या[1], अथर्ववेद (६. १०२, २) में किनारे के अश्व (अश्वी) का द्योतक है।

[1] बौटलिङ्क : कोश, व० स्था० में यही है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, में 'पृष्ठया' पाठ है। फिर भी देखिये, ग्रिल : हुन्डर्ट लीडर,[2] १६९; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५१३।

पृष्ट्य-आमय, अथर्ववेद[1] में पसलियों[2] के पार्श्व में होने वाली पीड़ा का द्योतक है। यहाँ इसका केवल ज्वर (*तक्मन्*) के साथ-साथ होने के रूप में उल्लेख है।

[1] १९. ३४, १०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६५, ३९१।

[2] इससे व्युत्पन्न विशेषण रूप 'पृष्ट्य-आमयिन्' (पार्श्व में होने वाली वेदना से पीड़ित) ऋग्वेद १. १०५, १८ में आता है।

पेत्व, दो वार अथर्ववेद[1] में मिलता है। प्रथम स्थान पर इससे उस 'वाज' का सन्दर्भ है जिसका त्सिमर[2] के तर्क के अनुसार 'शक्ति' या 'क्षिप्रता' ही अर्थ हो सकता है, यद्यपि 'पुंसत्व' के अभाव को दूर करने के लिये निर्दिष्ट अभिचार में इसका अर्थ स्वभावतः 'पुरुषोचित शक्ति' ही अधिक उपयुक्त होगा। दूसरे स्थल पर अश्व को पराभूत करने के रूप में 'पेत्व' का उल्लेख है (देखिये *उभयादन्त्*)। ऋग्वेद[3] में भी इस आश्चर्यजनक कृत्य के समानान्तर घटना का उल्लेख मिलता है, जहाँ पेत्व एक सिंहिनी[4] को पराभूत करता है। यजुर्वेद संहिताओं[5] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में, तथा अक्सर अन्यत्र[6] भी, इस पशु का उल्लेख है। यह 'मेष' अथवा 'बधिया

[1] ४. ४, ८; ५. १९, २।

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन २२९, २३०।

[3] ८. १८, १७।

[4] मूलपाठ में 'सिंह्यम्' है। हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६४, इसे पुलिङ्ग, और 'शिग्रुम्' पर श्लेष के आधार पर दस राजाओं के युद्ध के समय पराजित किसी राजा अथवा जाति का नाम मानते हैं। किन्तु श्लेष को स्वीकार करते हुए भी, पुलिङ्ग 'पेत्व' के विपरीत 'सिंह' की अपेक्षा स्त्रीलिङ्ग के रूप में 'सिंही' अपेक्षाकृत अधिक प्रखर प्रतीत होता है।

[5] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २२, १। यद्यपि वाजसनेयि संहिता के समानान्तर स्थल पर नहीं है, तथापि तैत्तिरीय संहिता के अपने संस्करण में वेबर की टिप्पणी के अनुसार यह काठक में मिलता है।

[6] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ८. ४; वाजसनेयि सहिता २९. ५८. ५९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ५, ३, इत्यादि।

मेष' प्रतीत होता है, और तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार ने इस द्वितीय[7] आशय को ही स्वीकार किया है। किन्तु इस अर्थ के पक्ष में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है, जब कि सम्पूर्ण रूप से अथर्ववेद का वह स्थल जहाँ 'वाज' मिलता है, 'मेष' आशय के ही सर्वाधिक अनुकूल है। फिर भी हॉपकिन्स[8] इस शब्द का 'बकरा' अनुवाद करते हैं, यद्यपि किस आधार पर यह स्पष्ट नहीं है। *पित्व* अथवा *पिद्व* से भी इसका किसी प्रकार का सम्बन्ध है अथवा नहीं, यह सर्वथा अनिश्चित है।

[7] 'गलित-रेतस्को मेषः'।

[8] उ० स्था०; इन्डिया ओल्ड ऐन्ड न्यू, ५८। आपका विचार है कि बकरे की सींघ ने सिंह का भेदन कर दिया था। यह कौतूहल-वर्धक ही है कि व्हिट्ने ने, अथर्ववेद के अनुवाद २५३, में अथर्ववेद ५. १९, २ पर इसका 'बकरा', किन्तु ४, ४, ८, पर 'मेष' अनुवाद किया है; और व्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४३३ में, ५. १९, २ के सम्बन्ध में 'मेष' और 'बकरे' दोनों की चर्चा करते हैं।

पेदु, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है। जैसा कि प्रकट होता है, एक निकृष्ट अश्व को बदलने के लिये अश्विनों ने इसे एक पौराणिक अश्व प्रदान किया था। इसीलिये इस अश्व को पैद्व[2] कहा गया है, और यह सम्भवतः सूर्य के अश्व का ही प्रतिनिधित्व करता है।[3]

[1] ऋग्वेद १. ११७, ९; ११८, ९; ११९, १०; ७. ७१, ५; १०. ३९, १०।

[2] ऋग्वेद ९. ८८, ४; अथर्ववेद १०. ४, ५ और बाद।

[3] मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ५२, १४९।

पेरुक, ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट मन्त्र में, कवि के एक प्रतिपालक के नाम के रूप में आता है।

[1] ६. ६३, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १५८।

पेशस्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक ऐसे कढ़े हुये परिधान का द्योतक है जिसे नर्तकियाँ पहनती थीं।[3] इस प्रकार के परिधानों के प्रति भारतीयों की अभिरुचि को मेगास्थनीज़[4] और अर्रियन[5] ने भी देखा है, क्योंकि इन लोगों

[1] २. ३, ६; ४. ३६, ७; ७. ३४, ११; ४२, १

[2] वाजसनेयि संहिता १९. ८२. ८९; २०. ४०; ऐतरेय ब्राह्मण ३. १०, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १. ९२, ४. ५।

[4] देखिये स्ट्राबो, पृ० ५०९, जहाँ आप एक 'सिडोन उएन्थेस' (σιδων ευανθης) का उल्लेख करते हैं।

[5] इन्डिका ५, ९।

ने भारतीयों के 'एथेस कटास्टिक्टोस' (εσθης καταστικτος) की चर्चा की है। इसी प्रकार एक स्थल[6] पर एक प्रकार के 'वस्त्र' को 'पेशन' कहा गया है जिसकी रौथ[7] एक प्रकार के रोमन वस्त्र (vestis coloribus intexta) के साथ तुलना करते हैं। इस प्रकार के वस्त्रों का निर्माण स्त्रियों का नियमित व्यवसाय था, जैसा कि यजुर्वेद[8] में पुरुषमेध के वलि-प्राणियों की तालिका में मिलनेवाले 'पेशस्-कारी' शब्द द्वारा व्यक्त होता है, यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार इस शब्द की 'स्वर्ण निर्माण करनेवाले की पत्नी'[9] के रूप में व्याख्या करते हैं। फिर भी, पिशल[10] का विचार है कि 'पेशस्' का अर्थ कहीं भी 'रंग' अथवा 'रूप' के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

[6] ऋग्वेद १०. १, ६।
[7] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[8] वाजसनेयि संहिता ३०. ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ५, १।
[9] तु० की० तैतिरीय ब्राह्मण ३. ३, ४, ५, में सम्भवतः 'सुवर्णं हिरण्यं पेशलम्', जहाँ 'पेशल' से कदाचित् 'कुशलता पूर्वक निर्मित स्वर्ण' अर्थ है। किन्तु यह अर्थ उस 'पेशस्-कारी' यौगिक शब्द के अनुकूल नहीं है जो 'पेशस् के निर्माता' का ही द्योतक होना चाहिये। साथ ही किसी भी स्थल पर 'पेशस्' से 'पिटे हुये सोने' का आशय नहीं। तु० की० बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ४, ५; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, २६१; आदि भी।
[10] वेदिशे स्टूडियन २, ११३-१२५।

पेशितृ, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के किसी वलि-प्राणी का नाम है। इसका आशय सर्वथा अनिश्चित है। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश और वेवर[2] ने इस शब्द का 'जो टुकड़ों को काटता है' अथवा 'नक्काशी काटनेवाला' अनुवाद किया है; किन्तु सायण[3] का विचार है कि इससे एक ऐसे व्यक्ति का आशय है जो किसी दवी हुई शत्रुता को पुनः उद्दीप्त कर देता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ८, १।
[2] इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ७५, नोट ५।
[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर।

पैङ्ग-राज, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के किसी वलि-प्राणी का नाम है। इससे एक पक्षी का आशय तो निश्चित है, किन्तु किस प्रकार का पक्षी, यह सर्वथा अज्ञात है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १३,१; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १६; वाजसनेयि संहिता २४. ३४। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, ९९।

पैङ्गी-पुत्र ('पिङ्ग' के किसी स्त्री-वंशज का पुत्र), बृहदारण्यक उपनिषद् (६.४, ३०, माध्यंदिन) के अन्तिम वंश में, *शौनकीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

पैङ्ग्य, ('पिङ्ग' का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका एक अधिकारी विद्वान् के रूप में कौषीतकि ब्राह्मण[1] में अनेक बार उल्लेख है। यहीं[2] इसके सिद्धान्त को भी 'पैङ्ग्य' कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[3] में इस गुरु का उल्लेख और *मधुक* पैङ्ग्य[4] की भी चर्चा है। निश्चित रूप से यह कह सकना असम्भव है कि अनेक 'पैङ्ग्य' थे अथवा केवल एक ही। निदान[5] और अनुपद[6] सूत्रों में 'पैङ्ग्य' के अनुयायियों को 'पैङ्गिन' कहा गया है। अनुपद सूत्र[7] में इसके मूल-ग्रन्थ को 'पैङ्ग' बताया गया है, जब कि आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[8] में एक 'पैङ्गायनि ब्राह्मण' का भी उल्लेख है। यह स्पष्ट है कि 'पैङ्ग्य' कौषीतकियों से सम्बद्ध ऋग्वेदिक परम्परा का एक गुरु था। आत्रेयी शाखा की अनुक्रमणी में 'पैङ्गि', *यास्क* का पैतृक नाम है।[9]

[1] ८. ९; १६. ९; २६. ३. ४. १४; २८. ७. ९; कौषीतकि उपनिषद् २. २।

[2] ३. १; १९. ९; २४. ४। तु० की २५. ७, में 'पैङ्गी संपद्'। शाङ्खायन श्रौत सूत्र ४. २, ११; ११. ११, १७; १४, ९; १५. ३, १; १७. ७, १. ३; १०, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ११; आदि में भी 'पैङ्ग्य' मिलता है।

[3] १२. २, २, ४; ४, ८ (बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १७)।

[4] ११. ७, २, ८; १६।

[5] ४. ७।

[6] १. ८; २. २. ४. १०; ६. ७; ११. ८।

[7] २. ४; ३. १२; ४. ५।

[8] ५. १५, ८; २९, ४।

[9] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ७१, नोट; ३, ३९६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४४, ४५, ४०४, और बाद; २, २९५; इन्डियन लिटरेचर, ४१, ४६, ४७, ५६, ८१, ९०, १३० इत्यादि।

पैजवन (*पिजवन* का वंशज)—यह *सुदास्*[1] का पैतृक नाम है। सर्वाधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि 'पैजवन', वंश-क्रम के अन्तर्गत *दिवोदास* और सुदास के बीच में हुआ था, क्योंकि परम्पराओं के अनुसार इन दोनों राजाओं के पुरोहित भी सर्वथा भिन्न थे, अर्थात्' प्रथम के पुरोहित *भरद्वाज-गण* थे, और द्वितीय के *वसिष्ठ* और *विश्वामित्र*।[2] यह उसी दशा में अधिक

[1] ऋग्वेद ७. १८, २२. २५; निरुक्त २. २४. २५; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ११, १४।

[2] देखिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०४ और बाद।

स्वाभाविक होगा जब इन दोनों को समय-अवधि की दृष्टि से पृथक माना जाय, पिता और पुत्र नहीं, जैसा कि सामान्यतया माना जाता है। फिर भी, गेल्डनर[3] दिवोदास और पैजवन को समीकृत करते हैं।

[3] ऋग्वेद, ग्लॉसर, ११५।

पैद्व—देखिये पेदु।

पोतृ, यज्ञ-संस्कार से सम्बद्ध पुरोहितों में से एक (*ऋत्विज्*) का नाम है। ऋग्वेद[1] तक में परिचित इसका अक्सर बाद के ब्राह्मणों[2] में भी उल्लेख है। किन्तु, जैसा कि औल्डेनबर्ग[3] का विचार है, बाद के साहित्य में पोतृ महत्त्वपूर्ण पुरोहित नहीं वरन् व्यवहारतः केवल एक नाम मात्र रह गया है। 'पू' (पवित्र करना) धातु से इस शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर निर्णय करते हुये, ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में यह 'सोम पवमान' को परिष्कृत करने, और सम्भवतः इसी सोम के प्रति सूक्तों के गायन का कार्य करता था। 'पोत्र'[4], 'पोतृ' के पद और सोम-पात्र दोनों का ही द्योतक है।[5]

[1] १.९४, ६; २.५, २; ४.९, ३; ७.१६, ५; ९.६७, २२।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ६.१० और बाद; शतपथ ब्राह्मण ४.३, ४, २२; ५.४, ५, २२; १२.१, १, ८, इत्यादि।
[3] रिलीजन देस वेद, ३८३, ३९१, ३९५।
[4] ऋग्वेद २.१, २, और सम्भवतः १.७६, ४, में, यद्यपि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश द्वितीय प्रयोग के लिये ही इसका उदाहरण देता है।
[5] ऋग्वेद १.१५, ९; २.३६, २; ३७, २.४।

पौंश्चलेय, तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.८, ४, २) में वेश्या (*पुंश्चली*) के पुत्र का द्योतक है।

पौंसायन, शतपथ ब्राह्मण (१२.९, ३, १) में *दुष्टरीतु* का पैतृक नाम है।

पौञ्जि-ष्ठ, अथर्ववेद[1], वाजसनेयि संहिता[2] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में *पुञ्जिष्ठ* शब्द का एक रूप और 'मछुये' का द्योतक है। यह सम्भवतः कर्मणा-जाति की उपाधि के रूप में एक जाति-नाम ('पुञ्जिष्ठ' का पुत्र) है।

[1] १०.४, ९।
[2] ३०.८
[3] ३.४, ५, १, जहाँ सायण इसको उस 'कैवर्त' शब्द के साथ वर्गीकृत करते हैं, जो स्वयं भी सम्भवतः एक कर्मणा-जाति का ही नाम है।

पौण्डरीक, पञ्चविंश ब्राह्मण (२२.१८, ७) में *क्षेमधृत्वन्* का पैतृक नाम है।

पौत-क्रत (*पूतक्रता* का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक व्यक्ति, प्रत्यक्षतः दस्यवे वृक, का मातृनामोद्भूत नाम है। शेफ्टेलोवित्स[2], ऋग्वेद की कश्मीर-पाण्डुलिपि के साथ इसको 'पूतक्रतु' पढ़ना उपयुक्त समझते हैं और अपने समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उसी सूक्त में पूतक्रतु की पत्नी 'पूतक्रतायी' का भी सन्दर्भ होने के कारण 'पूतक्रतु' ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'पूतक्रतायी'[3] भी उसी प्रकार स्त्री का द्योतक है जिस प्रकार 'मनावी' के लिये मनायी'[4]। किन्तु, जैसा कि औल्डेनबर्ग[5] ने व्यक्त किया है, वंशज के आशय में उक्त साधारण पाठ ही सर्वथा उपयुक्त है।

[1] ८. ५६, २।
[2] ढी० ऋ० ४१, ४२।
[3] देखिये, पाणिनि, ४. १, ३६।
[4] मैत्रायणी संहिता १. ८, ६; पाणिनि ४. १, ३८। सम्भवतः 'वसावी' भी, ऋग्वेद १०. ७३, ४।
[5] गो० १९०७, २३७।

पौतिमाषी-पुत्र ('पूतिमाष' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र), काण्व शाखा बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५, १) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में एक गुरु का मातृनामोद्भूत नाम है।

पौति-माष्य ('पूतिमाष' का वंशज) काण्व शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२.६, १; ४.६, १) के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *गौपवन* के शिष्य, एक गुरु का पैतृक का नाम है।

पौतिमाष्यायण (*पौतिमाष्य* का वंशज) उस गुरु का पैतृक नाम है, जिसने, माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२.५, २०; ४.५, २६) के प्रथम दो वंशों के अनुसार, *कौण्डिन्यायन* के साथ, *रैभ्य* को शिक्षा दी थी।

पौत्र (पुत्र का पुत्र), अथर्ववेद[1] और उसके बाद[2] से 'पुत्र के पुत्र' के लिये प्रयुक्त नियमित शब्द है। जब यह नप्तृ[3] के साथ प्रयुक्त हुआ है, तो इस बाद के शब्द को 'प्र-पौत्र' का ही द्योतक होना चाहिये।

[1] ९. ५, ३०; ११. ७, १६; १८. ४३, ९।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, ८, ३, इत्यादि।
[3] लाट्यायन श्रौत सूत्र १. ३, १८; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १०. ११, ५; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १०, ३।
तु० की० डेलब्रुक : ढी० व० ४७८।

पौर ('पूरु' का वंशज) ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में एक व्यक्ति, सम्भवतः

[1] ८. ३. १२।

एक पूरु राजा, का नाम है जिसकी इन्द्र ने सहायता की थी। सिकन्दर के प्रतिद्वन्दी राजा का यूनानी नाम 'पूरोस' (Πωρος) कदाचित् इसी नाम का प्रतिनिधित्व करता है। औल्डेनवर्ग[२] ने एक अन्य स्थल[३] पर भी इसी नाम को देखा है।

[२] ऋग्वेद-नोटेन, १, ३६२; जैसा कि ग्रासमैन : वर्टरबुख, व० स्था० में भी है।

[३] ५. ७४, ४।

पौरु-कुत्स[१], *पौरु-कुत्सि*[२], और *पौरु-कुत्स्य*[३], तीनों ही *पुरुकुत्स* के वंशज, *त्रसदस्यु* के पैतृक नाम हैं।

[१] काठक संहिता २२. ३; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १६, ३।

[२] ऋग्वेद ७. १९, ३।

[३] ऋग्वेद ५. ३३, ८; ८. १९, ३६; तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ५, ३।

पौरु-शिष्टि ('पुरुशिष्ट' का वंशज) तैत्तिरीय उपनिषद् (१.९, १ = तैत्तिरीय आरण्यक ७. ८, १) में *तपोनित्य* का पैतृक नाम है।

पौर्ण-मासी की, जो 'पूर्णिमा की रात्रि' का द्योतक है, अथर्ववेद[१] में पवित्र होने के रूप में प्रशस्ति है, जब कि बाद[२] में इसका बहुधा ही उल्लेख मिलता है। गोभिल[३] ने सूर्य और चन्द्रमा के बीच सर्वाधिक 'विकर्ष' के रूप में इसकी परिभाषा की है। तु० की० *मास*।

[१] ७. ८०।

[२] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ९, १; २. २, २, १; ३. ४, ९, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ११; शतपथ ब्राह्मण १. २, २, ४, इत्यादि।

[३] १. ५, ७। गोभिल ने तीन प्रकार के पूर्ण चन्द्रमाओं का विभेद किया है : वह जब 'सन्ध्या' के समय दिन और रात के सन्धिस्थल पर उगता है; वह जो सूर्यास्त के थोड़ी ही देर बाद उगता है; अथवा वह जो उच्चाकाश में स्थित होता है। प्रथम दो विकल्प प्रत्यक्षतः वही हैं जिनका एक स्थल (ऐतरेय ब्राह्मण ७. ११ = कौषीतकि ब्राह्मण ३. १) पर 'पूर्वा' और 'उत्तरा' के रूप में वर्णन है। देखिये, वेबर : ज्योतिष, ५१; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ३०, २६, नोट।

पौलुषि ('पुलुष' का वंशज), शतपथ ब्राह्मण (१०.६, १, १) और छान्दोग्य उपनिषद् (५.११, १) में *सत्ययज्ञ* का पैतृक नाम है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१.३९, १) में इसका 'पौलुषित' रूप मिलता है, जो सम्भवतः केवल एक त्रुटि है।

पौल्कस, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के किसी बलि-भागी का नाम है। एक घृणित जाति के लोगों के नाम के रूप में, चाण्डाल के साथ-साथ, यह नाम बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में भी आता है। मैत्रायणी संहिता[3] में इसका 'पुक्लक' अथवा 'पुल्कक' रूप मिलता है, जो कि स्पष्टतः उस 'पुल्कस' के ही समान है जिससे 'पौल्कस' व्युत्पन्न हुआ है, और ऐसा व्यक्त करता है कि इससे एक जाति का ही तात्पर्य है (तु० की० *कौलाल*, *पौञ्जिष्ठ*)। स्वीकृत सिद्धान्त[4] के अनुसार 'पुल्कस' एक निषाद अथवा शूद्र द्वारा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न पुत्र है, किन्तु यह केवल अनुमान मात्र ही है। 'पौल्कस' या तो एक कर्मणा-जाति रही हो सकती है, अथवा, जैसा कि फिक[5] का विश्वास है, एक आदिवासी कबीला जो वन्य-पशुओं को पकड़ कर अपना जीवन-यापन और केवल कभी-कभी ही निम्नकोटि के कार्य करता था।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४. १४, १।
[2] ४. ३. २२।
[3] १. ६, ११।
[4] तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'पुक्कश'। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २१७, 'पौल्कस' को एक निकृष्ट जाति के रूप में ग्रहण करते हैं।
[5] सो० ग्ली० २०६। तु० की० वेबर : त्से० डु० मे० ४४, ४७६, नोट ६।

पौष्कर-सादि ('पुष्करसादि' का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका शाङ्खायन आरण्यक[1], और साथ ही साथ, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[2] में भी, उल्लेख मिलता है। आपस्तम्ब के धर्म-सूत्र[3] में, और अन्यत्र भी, एक 'पुष्करसादि' का उल्लेख है।

[1] ७. १७। तु० की० कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ३७१।
[2] १. ५; २. १. २. ५; पाणिनि ८. ४, ४८; वार्तिक ३; कीलहार्न : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी १६, १०३; पिशल : वही ३४, २६।
[3] १. ६, १९, ७; १०, २८, १।

पौष्पिण्ड्य, सामविधान ब्राह्मण[1] के अन्त में मिलनेवाले एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *जैमिनि* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ४. ३७७।

प्युक्ष्ण, शतपथ ब्राह्मण (५.२, १, ११) में मिलता है, जहाँ, सम्भवतः चर्म के बने, *धनुस्* के आवरण का द्योतक है।

प्रउग, प्रत्यक्षतः 'प्र-युग' का ही समानार्थी है, और 'जूवे' (पशुओं को गाड़ी से सन्नद्ध करने के लिये प्रयुक्त एक उपकरण) के सामने निकले हुये रथ के उस बेंड़े स्तम्भ के अग्रभाग का द्योतक है, जो रथ को 'जूवे' के साथ सन्नद्ध करता है। इसका यजुर्वेद संहिताओं[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में उल्लेख है, जहाँ इसे, उक्त स्तम्भ का वह भाग बताया गया है जो कस्तम्भी अथवा स्तम्भ के आधार के पीछे स्थित होता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ११, १. २: काठक संहिता २१. ४।
[2] शतपथ ब्राह्मण १. १, २, ९; ३. ५, ३, ४, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४८; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, १४, नोट १।

प्र-कङ्कत, ऋग्वेद[1] में किसी घातक कीटाणु का द्योतक है।

[1] १. १९१, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८।

प्र-करितृ, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के किसी बलि-प्राणी का नाम है। इसका ठीक-ठीक आशय अनिश्चित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भाष्य करते हुये सायण इसकी 'शत्रुता विकसित करके प्रियजनों के बीच विभेद उत्पन्न करनेवाला' के रूप में व्याख्या करते हैं, किन्तु 'छिड़कनेवाला' आशय अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ८, १। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३१५, नोट १; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १. ७९, नोट ६।

प्र-कश, अथर्ववेद (९.१, २१) में प्रतिष्कश की 'नली' का द्योतक प्रतीत होता है।

प्र-क्रम का शतपथ ब्राह्मण (१०.२, ३, १ और बाद) में दूरी के एक नाप के रूप में उल्लेख है, किन्तु इससे व्यक्त ठीक-ठीक दूरी अज्ञात है।

प्रक्ष, तैत्तिरीय संहिता[1] में प्लक्ष नामक सुपरिचित वृक्ष के नाम का रूप है जो कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से केवल एक ध्वन्यात्मक परिवर्तन मात्र है। ऑफरेख्त[2] के अनुसार सामवेद[3] के दो स्थलों पर यही शब्द मिलता है, और

[1] ६. ३, १०, २।
[2] ऋग्वेद २, xli, नोट।
[3] १. ४४४: २. ४३५।

ऐतरेय आरण्यक[4] में भी यही पाठ आता है। फिर भी, औल्डेनबर्ग[5] इस वाद के स्थल तथा सामवेद में 'प्रच' पाठ की शुद्धता पर सन्देह व्यक्त करते हैं।

[4] ५. २, २, कीथ की टिप्पणी सहित। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५९।
[5] ऋग्वेद-नोटेन, १, ३४४।

प्र-घात, यजुर्वेद संहिताओं[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में एक-घने-बिने कपड़े के उन किनारों के आशय में आता है जिनसे *नीवि*, अथवा बिना-बिने धागों की झालर लटकती रहती थी।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, ३; काठक संहिता २३. १। मैत्रायणी संहिता ३. ६, २. ३ में यह शब्द नहीं आता।
[2] ३. ३, २, १८। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ३०, नोट १।

प्र-चलाका का, तैत्तिरीय संहिता (७. ५, ११, १) और काठक संहिता (अश्वमेध, ५. २) में 'बादल की घटा' अर्थ प्रतीत होता है।

प्रजावन्त् प्राजापत्य ('प्रजापति' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (१.२१) के अनुसार ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.१८३) का प्रणेता है।

प्र-णपात्, ऋग्वेद (८.१७, १३) में 'पौत्र' का द्योतक है।

प्र-णेजन का, शतपथ ब्राह्मण (१.२, २, १८) में 'धोने के लिये प्रयुक्त जल' को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया गया है।

प्र-ततामह (प्र-पितामह) अथर्ववेद (१८.४, ७५) में मिलता है।

प्र-तर्दन, काठक संहिता[1] में एक ऐसे राजा का नाम है जिसका पुरोहित एक *भरद्वाज* था। कौषीतकि ब्राह्मण[2] में इसका नैमिष-वन में ऋषियों के यज्ञ के समय पधारने और उनसे यह पूछनेवाले के रूप में उल्लेख है कि यज्ञ की त्रुटियों का किस प्रकार परिमार्जन किया जा सकता है, और उस यज्ञ के समय उपस्थित *अलीकयु वाचस्पत* नामक ब्रह्मन् पुरोहित इसके इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहा। कौषीतकि उपनिषद्[3] में ऐसा कथन है कि युद्ध में मृत्यु हो जाने पर 'प्रतर्दन दैवोदासि' इन्द्रलोक चला गया था। यह पैतृक नाम इसे *सुदास्* के साथ सम्बद्ध करता है। इसके पुरोहित के रूप में एक भरद्वाज का उल्लेख भी इस पैतृक नाम की पुष्टि करता है, क्योंकि भरद्वाज-परिवार के गायकों में दिवोदास विशेष लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त, इसका

[1] २१. १०।
[2] २६. ५।
[3] ३. १।

नाम 'तृत्सुओं' (दोनों शब्दों में 'तर्द' धातु है) और 'प्रतृदः' (देखिये प्रतृद्) का स्मरण दिलाता है। किन्तु वैदिक साहित्य में यह काशि का राजा नहीं है।[४] गेल्डनर[५] इसे दिवोदास का पुत्र मानते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं। तु० की० *प्रातर्दनि*।

[४] जैसा कि महाकाव्य में है; पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, ३८।

[५] वेदिशे स्टूडियन २, १३८।

प्र-तिथि देव-तरथ, वंश ब्राह्मण[१] में *देवतरस् शावसायन* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ३, ३७३, ३८५; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४४४।

प्रति-दीवन्, ऋग्वेद (१०. ३८, ६) और अथर्ववेद (७. १०९, ५) में 'पासे के खेल में विपक्षी' का द्योतक है।

प्रति-दुह से, बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में, तत्काल दुहे गाय के 'ताजे दुग्ध' का आशय है।

[१] अथर्ववेद ९. ४, ४; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ३, ३; काठक संहिता ३७. ६, इत्यादि।

[२] पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ५, ५; १८. ४, २; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ३, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ६. २, इत्यादि

प्रति-धा से ऋग्वेद[१] के एक ऐसे स्थल पर 'पान' या 'घूँट' का अर्थ है, जहाँ इन्द्र द्वारा एक 'प्रतिधा' में ही तीस 'सरांसि' का जल पी जाने का उल्लेख है।

[१] ८. ७७, ४; निरुक्त ५. ११।

प्रति-धि, ऋग्वेद[१] के सूर्य-सूक्त में, उस रथ के किसी भाग का द्योतक है जिस पर बैठाकर वधू को घर ले जाया जाता है। इससे ठीक-ठीक क्या अर्थ है यह निश्चित कर सकना असम्भव है। रौथ[२] इससे लकड़ी के उस बड़े टुकड़े का अर्थ मानते हैं जो रथ के स्तम्भ से सम्बद्ध रहता था।

[१] १०. ८५, ८।

[२] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

प्रति-पण, अथर्ववेद (३. १५, ४) में मिलता है जहाँ यह व्यावसायिक 'विनिमय' अथवा 'परिवर्तन' का द्योतक है। तु० की० *पण*।

प्रति-प्रश्न, शतपथ ब्राह्मण[1] में सन्देहों का निवारण करनेवाले के रूप में प्रजाप्रति के लिये व्यवहृत हुआ है। यह 'मध्यस्थ' के लिये एक पारिभाषिक शब्द हो सकता है (तु० की० *मध्यमशी* और *धर्म*)।

[1] १, ४, ५, ११; ४. १, ३, १४; एग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, १३१, और २६, २६७, में 'प्रतिप्रश्नम्' का 'निर्णय प्राप्त करने के लिये (प्रजापति के पास गया)' अनुवाद करते हैं, जो इस बात को संदिग्ध ही छोड़ देता है कि उसने किस पथ का अनुसरण किया था।

प्रति-प्र-स्थातृ, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'अध्वर्यु' के सहायक एक पुरोहित (*ऋत्विज्*) का नाम है। ऋग्वेद[2] में इसका उल्लेख नहीं है, किन्तु इस संहिता[3] में एक बार दो 'अध्वर्युओं' का उल्लेख मिलता है। जैसा कि बाद में था, इन दोनों से 'अध्वर्यु' और 'प्रतिप्रस्थातृ' का अर्थ हो सकता है। फिर भी, औल्डेनबर्ग[4] का विचार है कि यहाँ 'अध्वर्यु' और 'अग्नीध्' से तात्पर्य है, और इस अनुमान के लिये कुछ प्रामाणिक आधार[5] भी है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ३, ४; ऐतरेय ब्राह्मण १. २९; ७. १; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, २, २; ३, १३, २२, इत्यादि।
[2] औल्डेनबर्ग: रिलीजन देस वेद ३८४, नोट २।
[3] २. १६, ५।
[4] उ० पु० ३९०, नोट २।
[5] तु० की० ऋग्वेद १०. ४१, ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १. ६, ३, में एक मन्त्र। तु० की० हिलेब्रान्ट: रिचुअल लिटरेचर, ९७।

प्रति-प्राश् देखिये *प्राश्*।

प्रतिबोधी-पुत्र, वास्तव में *प्रातीबोधी-पुत्र* का एक अशुद्ध पाठ है।[1]

[1] इन्डिशे स्टूडियन, १, ३९१; कीथ: ऐतरेय आरण्यक २४४, ३१०।

प्रति-मित्, गृह के वर्णन के अन्तर्गत अथर्ववेद[1] में मिलता है। इससे किसी प्रकार के स्तम्भक, सम्भवतः *उपमितों* से एक कोण पर झुकी 'धरनों' का ही आशय होना चाहिये।

[1] ९, ३, १। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १५३; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ५९६।

प्रति-वेश (पड़ोसी), लाक्षणिक आशय में, ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] से अवसर मिलता है।

[1] १०. ६६, १३।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. ६, ९७; वाजसनेयि संहिता ११. ७५; काठक संहिता ३६. ९; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, २; तैत्तिरीय उपनिषद् १. ४, ३।

प्रति-वैश्य का, शाङ्खायन आरण्यक (१५. १) के अन्त के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *बृहद्दिव* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। तु० की० *प्रातिवेश्य*।

प्रति-श्रुत्का (प्रतिध्वनि) ऐसा व्यक्त करता है कि यजुर्वेद संहिताओं[1] तथा कौषीतकि उपनिषद् (४. १३) जैसे प्राचीन ग्रन्थों के समय तक में इस घटना का नामकरण कर दिया गया था।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १४, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १३; काठक संहिता, अश्वमेध, ७. ४; वाजसनेयि संहिता २४. ३२; ३०. १९।

प्रति-ष्ठा, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ त्सिमर[2] के विचार से इसका विधान से सम्बद्ध एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग हुआ है। इससे कदाचित किसी 'पवित्र स्थान' का अर्थ हो सकता है, किन्तु रौथ[3] द्वारा प्रदत्त 'गृह' अथवा 'आवास' का आशय सर्वथा पर्याप्त है अथवा नहीं यह बहुत कुछ संदिग्ध ही है। तु० की० *ज्ञातृ*।

[1] ६. ३२, ३ = ८. ८, २१ = शाङ्खायन आरण्यक १२. १४। इसी प्रकार एक 'प्रतिष्ठा-काम' (स्थायी आवास का आकांक्षी), तैत्तिरीय संहिता २. १, ३, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण २३. १८, १, इत्यादि।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन १८१।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० ३।

प्रति-सर का, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में भी अनेक स्थलों पर, रौथ[3] के अनुसार एक 'कवच' के वाचक के रूप में प्रयोग किया गया है, क्योंकि यह एक बन्धन होता था और इसलिये स्वयं पर लौट आता था (प्रति-सृ',

[1] २. ११, २; ४. ४०, १; ८. ५, १. ४।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, २०; शाङ्खायन आरण्यक १२. ३०, इत्यादि।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, जिसका एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ५३, नोट २ ने अनुसरण किया है।

अर्थात् 'लौट जाना')। फिर भी आशय संदिग्ध है; कदाचित 'आक्रमण करना' ही वास्तव में मूल आशय हो सकता है।[४] तु० की० *पुनःसर*

[४] तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १३, cxxxiii; अथर्ववेद के सूक्त ५७६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६३, लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३४५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १३, १६४।

प्रति-हर्तृ, सोलह पुरोहितों (*ऋत्विज्*) की सूची में 'उद्गातृ' के सहायक का नाम है। यह बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में तो मिलता है, किन्तु ऋग्वेद[3] में नहीं।

[१] तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ७, १।
[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, २२; १२. १, १, ८; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १५, ३; छान्दोग्य उपनिषद्, १. १०, ११; ११, ८।
[3] तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २२७।

प्रती-दर्श श्वैक का शतपथ ब्राह्मण[१] में 'दाक्षायण' हवि द्वारा यज्ञ करने वाले के रूप में, और उस *सुप्लन् सार्ञ्जय* को शिक्षित करनेवाले के रूप में उल्लेख है, जो इस शिक्षा के बाद से *सहदेव सार्ञ्जय* बन गया। एक दूसरे स्थल[२] पर इसे 'प्रतीदर्श ऐभावत' कहा और सुप्लन् सार्ञ्जय के साथ पुनः सम्बद्ध किया गया है। एग्लिङ्ग[3] के अनुसार, इसे 'श्विक्नों का एक राजा मानना चाहिये; साथ ही, प्रत्यक्षतः यह 'इभावत्' का भी एक वंशज था। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[४] में भी एक 'प्रतीदर्श' का उल्लेख है।

[१] २. ४, ४, ३।
[२] १२. ८, २, ३।
[3] से० बु० ई० ४४, २३९, नोट २।
[४] ४. ८, ७।

प्रतीप प्रातिसत्वन,[१] अथवा *प्रातिसुत्वन*,[२] किसी व्यक्ति का नाम है जिसका अथर्ववेद[२] के एक सूक्त में उल्लेख है। त्सिमर[3], अत्यधिक विद्वत्तापूर्वक, इस तथ्य की तुलना करते हैं कि *परिक्षित्* का अथर्ववेद[४] में एक कुरु राजा के रूप

[१] खिल ५. १०, १; ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३३, २; में यही है।
[२] अथर्ववेद २०. १२९, २, में यही है। तु० की० शेफ्टेलोवित्स : डी० ऋ० १६१; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२ १८, १।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १३१।
[४] २०. १२७।

में उल्लेख है, और महाकाव्य की वंशावली के अनुसार वह 'प्रतिश्रवस्' इसका पौत्र था जिसके नामके साथ 'प्रातिश्रुत्वन' के ही बहुत सम्भवतः एक प्राकृत रूप 'प्रातिसुत्वन' की तुलना की जा सकती है, और 'प्रतीप', इसका (परिक्षित का) प्र-पौत्र था। फिर भी इस समीकरण को किसी भी प्रकार निश्चित नहीं मानना चाहिये, और जहाँ महाकाव्य ने अपनी वंशावली को अथर्ववेद से ग्रहण किया हो सकता है वहीं उसमें एक स्वतंत्र परम्परा भी सुरक्षित हो सकती है। बौटलिङ्क[5] ने 'प्रातिसत्वनम्' का 'सत्वनों के विपरीत दिशा में' अनुवाद किया है, और यह ठीक भी हो सकता है।

[5] डिक्शनरी, व० स्था०।

प्रती-बोध का अथर्ववेद[1] के दो स्थलों पर *बोध* के साथ, प्रत्यक्षतः एक अत्यन्त पौराणिक ऋषि के नाम के रूप में उल्लेख है।

[1] ५. ३०, १०; ८. १, १३। तु० की० मानव गृह्य सूत्र २. १५, १।

प्रतृद्, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में एक बार बहुवचन रूप में आता है जहाँ यह स्पष्टतः *तृत्सु* शब्द का ही विभेद है। इसके अतिरिक्त, तृत्सु-राज *दिवोदास* के एक वंशज, राजा *प्रतर्दन* का नाम भी 'तृत्सु' और 'प्रतृद्' के समीकरण की पुष्टि करता है।[2]

[1] ७. ३३, १४।
[2] देखिये लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५९; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १३८।

प्र-तोद, अथर्ववेद[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में एक अब्राह्मण आर्य अथवा आदिवासी *व्रात्य* के 'अंकुश' का द्योतक है। बाद में इस शब्द का नियमित रूप से 'अंकुश' के आशय में सामान्य प्रयोग मिलता है।

[1] १५. २, १।
[2] १७. १, १४। देखिये शाङ्खायन आरण्यक १२. ८; कात्यायन श्रौत सूत्र २२. ४, १०; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ६, ७; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १४. ७२, ३। 'तोमर' अनुवाद के लिये कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु देखिये, वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ६७।

प्रत्यक्ष-दर्शन (संज्ञा) से, स्वप्न में दर्शन करने की अपेक्षा अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखना अर्थ है। इस प्रकार के स्वप्न-दर्शनों का ऋग्वेद के आरण्यकों[1] में उल्लेख है।

[1] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; शाङ्खायन आरण्यक ८. ७।

प्रत्य्-एनस् बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *उग्र* और *सूत-ग्रामणी* के साथ-साथ मिलता है और स्पष्ट रूप से पुलिस अधिकारी जैसे किसी व्यक्ति का द्योतक है। जैसा कि मैक्स मूलर ने अपने अनुवाद में ग्रहण किया है, इससे किसी राजा[2] के उच्चाधिकारियों की अपेक्षा उसके कुछ साधारण कर्मचारियों का ही आशय है। काठक संहिता[3] और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[4] में, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, इस शब्द का अर्थ ऐसा उत्तराधिकारी है जो किसी मृत व्यक्ति का ऋण चुकाने के लिये उत्तरदायी होता है।

[1] ४, ३, ४३. ४४ (माध्यंदिन = ४. ३, ३७. ३८ काण्व)।
[2] बौटलिङ्क का अनुवाद, पृ० ६६, जहाँ आप 'उग्र' को एक विशेषण के रूप में ग्रहण करते हैं।
[3] ८. ४ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६३)।
[4] ४. १६, १६. १७।

प्र-दर, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में भूमि के एक 'गर्त' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, ५; ५. २, ४, ३; वाजसनेयि संहिता २५. ७।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३५, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १०, ७; शतपथ ब्राह्मण ११. २, ३, ८; १३. ८, ३, १०, इत्यादि।

प्र-दिव्, अथर्ववेद (१८. २, ४८) में वह तृतीय और उच्चतम आकाश है, जहाँ पितृगण रहते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण (२०. १) में यह सात आकाशों में से पाँचवा है।

प्र-दिश् भी, *दिश्* की ही भाँति सामान्यतया आकाश की एक 'दिशा' का द्योतक है। इस प्रकार के चार[1], पाँच[2], छह[3], और सात[4] दिक्-बिन्दुओं की गणना कराई गई है, और अधिक सामान्य रूप 'सभी दिक्-बिन्दुओं' का ही उल्लेख है।[5] दूसरी ओर, कुछ स्थलों[6] पर इस शब्द से एक मध्यवर्ती दिशा का ही निश्चित आशय है, जिसे अधिक उपयुक्ततः 'अवान्तर-दिश्' से व्यक्त किया गया है।

[1] ऋग्वेद १. १६४, ४२; ७. ३५, ८; १०. १९, ८; अथर्ववेद १. ११, २; ?. १०, ३।
[2] ऋग्वेद ९. ८६, २९; अथर्ववेद १. ३०, ४; ३. ४, २; २०, ९।
[3] अथर्ववेद ४. ११, १; २०, २; १०. ७, ३५।
[4] वाजसनेयि संहिता १८. ३२।
[5] ऋग्वेद ६. ७५, २; १०. १२१, ४।
[6] अथर्ववेद ५. २८, २; ९. २, २१; १९. २०, २, इत्यादि।

प्र-धन, ऋग्वेद[1] में, चाहे वास्तविक युद्ध अथवा रथ के दौड़ की 'प्रतिद्वन्दिता' का द्योतक है।

[1] १. ११६, २; १५४, ३; १६९, २; १०. १०२, ५, इत्यादि।

प्र-धि, रथ के पहिये के किसी भाग, सम्भवतः 'चक्र-धार' का नाम है। ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर अथर्ववेद[2] में *नभ्य* (नाभि) और 'चक्रधार' (प्रधि) के साथ-साथ *उपधि* का भी उल्लेख है, जो या तो सम्पूर्ण तीलियों का सामूहिक नाम है, अथवा 'चक्रधार' की उस आन्तरिक परिधि का द्योतक है जिसमें सभी तीलियाँ घुसी होती हैं। ऋग्वेद[3] के एक गूढ़ सूक्त में एक पहिया, तीन नाभियों, और तीन सौ साठ तीलियों के साथ-साथ बारह प्रधियों का उल्लेख है; यहाँ इस शब्द-विशेष से क्या तात्पर्य है इसका अनुमान निरर्थक ही होगा, यद्यपि यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण रूप से इस स्थल पर तीन ऋतुओं, बारह मासों, और तीन-सौ-साठ दिनोंवाले वर्ष का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है। अन्यत्र[4] केवल नाभि और 'प्रधि' का ही, अथवा अकेले[5] प्रधि का ही उल्लेख है।

[1] २. ३९, ४।
[2] ६. ७०, ३।
[3] १. १६४, ४८।
[4] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, ११, २; ऐतरेय ब्राह्मण ४. १५; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, २३।
[5] ऋग्वेद ४. ३०, १५; १०. १०२, ७, इत्यादि। अथर्ववेद १८. २, १४, में 'प्रधाव् अधि', ऋग्वेद १०. १५४, १ के 'प्रधावति' का केवल एक विभेदात्मक पाठ मात्र है।

लैनमैन ने अथर्ववेद ६. ७०, ३ (नोट २) (ह्विट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद xcii) में भी इसी भ्रष्टता को देखा है।

तु० की० ह्विट्ने : उ० पु० ३३४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४८।

प्र-ध्वंसन—देखिये *प्राध्वंसन*।

प्र-पण, अथर्ववेद (१२. १५, ४. ५) में, *प्रतिपण* द्वारा संतुलित, व्यावसायिक 'विनिमय' अथवा 'परिवर्त्तन' का द्योतक है।

प्र-पथ, ऋग्वेद[1] और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में 'लम्बी यात्रा' का द्योतक है। विलसन[3] ने एक स्थल[4] पर इसमें ऐसे 'विश्राम स्थान' का आशय देखा है जहाँ यात्रियों को भोजन (खादि) भी मिल सकता था। त्सिमर[5] ने यह दिखाया है कि ऐसा आशय असम्भव है, और इस स्थल पर मिलनेवाले

[1] १०. १७, ४. ६; ६३, १६।
[2] ७. १५।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद २, १५१।
[4] ऋग्वेद १. १६६, ९।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन, २३१।

'प्रपथेषु' पाठ का 'प्रपदेषु' के बदले एक त्रुटि होना बहुत असम्भव[6] नहीं है। काठक संहिता[7] में इस शब्द का अर्थ 'चौड़ी सड़क' है।

[6] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; त्सी० गे० ४८, १०८; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १६६। बौटलिङ्क : कोश, व० स्था०, रौथ का अनुसरण नहीं करते।

[7] ३७. १४ (इन्दिशे स्टूडियन, ३, ४६६)

प्र-पथिन्[1], ऋग्वेद[2] के एक सूक्त में किसी दाता, सम्भवतः एक यादव, का नाम है।

[1] 'प्रपथी' ही इसका मूल, और यह शब्द केवल एकवचन कर्त्ता रूप में, व्यक्तिवाचक नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ हो सकता है (तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, ३७७, ३); किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि 'प्रपथिन्' 'मूल' ही अन्यथा एक विशेषण के रूप में मिलता है।

[2] ८. १, ३०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५९; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १७, ९०।

प्र-पा, ऋग्वेद के एकमात्र स्थल[1] पर जहाँ यह आता है, मरुभूमि के 'जलस्रोत' का द्योतक है। अथर्ववेद[2] में इससे केवल 'पान करना' अथवा 'पेय' का ही आशय है।

[1] १०. ४, १।

[2] ३. ३०, ६। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, १, २।

प्र-पितामह, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में मिलता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ५, १; वाजसनेयि संहिता १९. ३६; अथर्ववेद १८. ४, ३५।

[2] शतपथ ब्राह्मण २. ४, २, १६; १२. ८, १, ७।

प्र-पित्व, ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर समय के वाचक के रूप में मिलता है। एक स्थल[1] पर सन्दर्भ द्वारा आशय स्पष्ट हो गया है : 'सूर्योदय के समय' (सूर उदिते), 'मध्याह्न के समय' (मध्यंदिने दिवः), और 'प्रपित्व', अर्थात् रात्रि की सीमा पर' (अपिशर्वरे)'। एक अन्य स्थल[2] पर 'दिन ढलने का समय' अर्थ भी पर्याप्त प्रतीत होता है, जब कि 'अभिपित्वे अह्नः'[3] (दिन समाप्त होने का समय) भी सन्ध्या का द्योतक है। गेल्डनर[4] के अनुसार इस शब्द से,

[1] ८. १, २९।

[2] ७. ४१, ४।

[3] ४. १६, १२।

[4] वेदिशे स्टूडियन २, १७४ और बाद।

किसी दौड़ या युद्ध का 'निर्णायक क्षण' अर्थात् 'दिन की समाप्ति का समय'[५] आशय है। तु० की० अहन्।

[५] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ने इसे 'प्रातःकाल' के अर्थ में ग्रहण किया है; और त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३६२, भी ऐसा ही मानते हैं। दूसरी ओर, बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०, इसे 'दिन ढलने का समय' या 'सन्ध्या' अर्थ प्रदान करते हैं। ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, २४ और बाद, तथा औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १८३ और बाद, भी देखिये।

प्र-प्रोथ, पञ्चविंश ब्राह्मण (८. ४, १) में सोम के स्थानापन्न के रूप में प्रयुक्त किसी पौधे का नाम है।

प्र-फर्वी, ऋग्वेद (१०. ८५, २२), अथर्ववेद (५. २२, ७), और यजुर्वेद संहिताओं[१] में 'भ्रष्ट स्त्री' का द्योतक है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ४. २, ५, ६; मैत्रायणी संहिता २. ७, १२; काठक संहिता १६. १२; वाजसनेयि संहिता १२; ७१।

प्र-बुध् का, ऋग्वेद के एक स्थल (८. २७, १९) पर 'निम्रुचि' (सूर्य के अस्त होने का समय) के समानान्तर अधिकरण रूप में प्रयोग किया गया है, और इसका स्पष्टतः 'सूर्योदय का समय' अर्थ है।

प्र-मगन्द ऋग्वेद[१] में एक राजा का नाम है। यहाँ इसका *कीकटों* के राजा के रूप में उल्लेख है, और इसे 'नैचाशाख' (नीच जाति का) उपाधि से व्यक्त किया गया है। दूसरी ओर, यास्क[२] ने 'प्रमगन्द' को एक 'कुसीदक-पुत्र' के आशय में ग्रहण किया है, किन्तु यह व्याख्या कदाचित ही सम्भव है। हिलेब्रान्ट[३] का विचार है कि 'नैचाशाख' से प्रमगन्द का नहीं वरन् उस सोम-पौधे का तात्पर्य है जिसे 'नीचाशाख' (जिसकी शाखायें अधोमुखी हों) कहा गया है, और इस स्थल पर दुग्ध-संस्कार या सोम-संस्कार में विश्वास न रखनेवाले 'कीकटों' के विरुद्ध उनकी ऐसी भूमि को विजित करने के उद्देश्य से किये गये आक्रमणों का सन्दर्भ है, जहाँ सोम उगता था और जहाँ गायें भी उपलब्ध थीं। फिर भी, बौटलिङ्क[४] इस मत पर सन्देह व्यक्त करते हैं, जो बहुत सम्भाव्य

[१] ३. ५३, १४।

[२] निरुक्त ६. ३२।

[३] वेदिशे माइथौलोजी १, १४-१६; २, २४१-२४५।

[४] प्रोसीडिंग्स ऑफ सैक्सन एकेडमी, दिसम्बर १२, १८९१।

नहीं है। 'नैचाशाख' से सम्भवतः किसी स्थान के नाम का ही तात्पर्य है।[5] 'प्रमगन्द' नाम अनार्य प्रतीत होता है।

[5] सायण, अपने ऋग्वेद-भाष्य भूमिका, पृ० ४, पर।
तु० की० त्सिनर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३१; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५३; गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर, ५८।

प्र-मन्दनी, अथर्ववेद[1] में किसी अप्सरस् का नाम है। मूलतः यह शब्द कदाचित किसी मधुर गन्धयुक्त पौधे का द्योतक था, और कौशिक सूत्र[2] में भी 'प्र-मन्द' का यही आशय प्रतीत होता है।

[1] ४. ३७, ३।
[2] ८. १७; २५. ११; ३२. २९; 'निष्प्रमन्द' ३६. १५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ६९; कैलेण्ट : आल्टिन्डिशे त्सावररिचुअल, १५, नोट ११।

प्र-मर को ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर लुडविग[2] ने व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ग्रहण किया है।

[1] १०. २७, २०।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६५।

प्र-मोत, सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश के अनुसार अथर्ववेद[1] में एक प्रकार की व्याधि का नाम है। फिर भी, त्सिमर[2] का विचार है कि इस शब्द को एक विशेषण होना चाहिये जिसका अर्थ 'मूक' है। यद्यपि सन्दिग्धता व्यक्त करते हुये इसी मत को ह्विटूने[3] और ब्लूमफील्ड[4] ने भी स्वीकार किया है।

[1] ९. ८, ४।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन ३७८, नोट।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद ५५०।
[4] अथर्ववेद के सूक्त ६०१।

प्र-योग, यजुर्वेद संहिताओं[1] में एक द्रष्टा का नाम है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. १, १०, १; काठक संहिता १९. १० (इन्डशे स्टूडियन, ३, ४७८)

प्र-योग्य, छान्दोग्य उपनिषद् (८. १२, ३) में गाड़ियों में जोते जानेवाले किसी पशु का द्योतक है।

प्र-लाप भी, इसी आशय के अन्य शब्दों के साथ, अथर्ववेद[1] और ऋग्वेद के ब्राह्मणों[2] में मिलता है। *ऐतश-प्रलाप* शब्द अथर्ववेद के कुछ स्थलों के नाम के रूप में आता है।[3] स्वयं इस ग्रन्थ में इस शब्द की कोई उपयुक्तता नहीं है।

[1] ११. ८, २५।
[2] ऐतरेत ब्राह्मण ६. ३३; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५; शाङ्खायनश्रौत सूत्र १२. १७, ६, इत्यादि।
[3] देखिये, ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद पृ० ९८, १०१, नोट १२; शेफ्टेलोवित्स : डी० ऋ० १५१ और बाद; मैकडौनेल : बृहद्देवता, २, ३२३।

प्र-वचन का, शतपथ ब्राह्मण[1] और बाद[2] में 'मौखिक शिक्षा' या 'शिक्षा' अर्थ है।

[1] ११. ५, ७, १।
[2] तैत्तिरीय उपनिषद् १. १, ३, ९; काठक उपनिषद् २. २३; मुण्डक उपनिषद् ३. २, ३, इत्यादि।

प्र-वत् (ऊँचाई) का, ऋग्वेद[1] में, जहाँ यह अनेक बार[2] आता है, *निवत्* (घाटी) के साथ विभेद किया गया है। बाद[3] में भी यह शब्द मिलता है।

[1] ७. ५०, ४।
[2] ऋग्वेद २. १३, २; ४. १७, ७; २२, ४; ६. १७, १२; ७. ३२, २७; १०. १४, १; ५७, १२; ७५, ४।
[3] अथर्ववेद १. १३, २; २६, ३; ६. २८, ३; १०. १०, २; १२. १, २; १८. ४, ७।

१. प्र-वर, किसी भी यज्ञ के आरम्भ में अग्नि को, अपना कार्य सम्पन्न करने के लिये सम्बोधित निवेदन का द्योतक है। किन्तु यतः उस समय पुरोहितों[1] के पूर्वजों के नामों से ही अग्नि का आवाहन किया जाता था, अतः 'प्रवर' शब्द आहूत पूर्वजों का ही द्योतक है।[2]

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २५। देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ७८।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, ९; शतपथ ब्राह्मण १. ५, १, १. २०; ३. ७, ४, ९; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३१, इत्यादि।

२. प्र-वर[1], अथवा *प्र-वार*[2], बृहदारण्यक उपनिषद् में 'आवरण' अथवा 'ऊनी वस्त्र' का द्योतक है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १० (माध्यन्दिन शाखा में)।
[2] बृहदारण्यक उपनिषद्, उ० स्था० पर सायण; और काण्व शाखा ६. २, ७

प्र-वर्त की, जो *व्रात्य* के वर्णन में अथर्ववेद (१५. २, १ और बाद) में आता है, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने एक 'गोल आभूषण' के रूप में व्याख्या की है। तैत्तिरीय संहिता (२, ४५२, बिबलो० इन्डि०) के भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ 'कान की बाली' है।

प्र-वल्हिका (प्रहेलिका), ऋग्वेद के ब्राह्मणों[1] द्वारा अथर्ववेद[2] के कुछ मन्त्रों को प्रदान किया गया नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३३; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ७।
[2] २०. १३३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. २२; खिल ५. १६।
तु० की० ब्लूमफील्ड। अथर्ववेद, ९८–१००।

प्र-वात (ऐसा स्थल जहाँ वायु चलती हो) का, ऋग्वेद[1] में एक ऐसे स्थान के रूप में उल्लेख है जहाँ पासे (*अक्ष*) के रूप में प्रयुक्त *विभीतक* फल उगते हैं। तैत्तिरीय संहिता[2] में सड़नेवाले पदार्थों को ऐसे स्थल पर फेंक देने का सन्दर्भ मिलता है।

[1] १०. ३४, १; निरुक्त ९. ८। गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर ११९, का विचार है कि यहाँ आँधी में टूट कर गिरे फलों का सन्दर्भ है।
[2] ६. ४, ७, २।

प्र-वार—देखिये २. *प्रवर*।

प्र-वास (परदेश में रहना) का, ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। विदेश में रहकर लौटे लोगों के लिये व्यवहृत संस्कारों का सूत्रों[2] में उल्लेख है।

[1] ८. २९, ८।
[2] आश्वलायन गृह्य सूत्र १. १५; शाङ्खायन गृह्य सूत्र २. १७, इत्यादि।

प्र-वाहण जैवलि अथवा *जैवल* (*जीवल* का वंशज) एक राजा का नाम है जो *उद्दालक* का समकालीन था और उपनिषदों[1] में दार्शनिक शास्त्रार्थों में भाग लेनेवाले के रूप में आता है। यह सम्भवतः जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] के 'जैवलि' के समान है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १. ७ (माध्यन्दिन = ६. २, १. ४ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद् १. ८, १; ५. ३, १।
[2] १. ३८, ४।

प्र-शस्, ऐतरेय ब्राह्मण[1] के एक मन्त्र में, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार 'कुठार' अथवा इसी के सामान काटने[2] के लिये प्रयुक्त किसी यन्त्र का द्योतक है।

[1] २. ६, ५। तु० की० निरुक्त ५. ११, पर, दुर्ग।
[2] 'शस्' (काटना) से।

प्र-शास्तृ, वैदिक यज्ञ के समय कार्य करनेवाले पुरोहितों में से एक (ऋत्विज्) का नाम है। छोटे यज्ञों में इनका कोई योग नहीं होता था, किन्तु पशु तथा सोम यज्ञों में यह आते हैं और इस प्रथम प्रकार के यज्ञ में एकमात्र यही, तथा द्वितीय में स्तुति-सूक्तों के गायन में *होतृ* पुरोहित के सहायक के

रूप में प्रमुख होते थे। ऋग्वेद[1], और अक्सर बाद[2] में भी, इनका नाम से ही उल्लेख है। ऋग्वेद[3] में इन्हें *उपवक्तृ* भी कहा गया है और यह नाम, 'प्रशास्तृ' की ही भाँति, इस तथ्य से निष्कृष्ट हुआ है कि इनके प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक, अन्य पुरोहितों को निर्देशन (प्रैष) देना भी होता था। इनका एक अन्य नाम 'मैत्रावरुण' भी था क्योंकि इनकी प्रमुख स्तुतियाँ मित्र और वरुण को ही सम्बोधित होती थीं; इनका यह सम्बन्ध ऋग्वेद[4] तक में दृष्टिगत होता है। औल्डेनबर्ग[5] के अनुसार आप्री सूक्तों के 'दो दिव्य होतृ' वास्तव में 'होतृ' और 'प्रशास्तृ' के ही दिव्य प्रतिरूप हैं।

[1] १. ९४, ६; २. ५, ४; 'प्रशास्त्र' (प्रशास्तृ का सोम-पात्र), ३६, ६; 'प्रशास्तृ' (प्रशास्तृ का पद), २. १, २ = १०. ९१, १०।

[2] वाजसनेयि संहिता १०. २१; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३४; शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ६, ६; ११. ५. ५, ९, इत्यादि।

[3] ४. ९, ५; ६. ७१. ५; ९. ९५, ५। लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३. २२६, के अनुसार 'उपवक्तृ' नाम, 'अच्छावाक' का प्राचीनतम समानार्थी है।

[4] २. ३६, ६।

[5] रिलीजन देस वेद, ३९१। लुडविग : उ० पु० ३, २२७. 'प्रशास्तृ' को **प्रस्तोतृ** के साथ समीकृत करते हैं, किन्तु यह असम्भाव्य है।

तु० की० औल्डेनबर्ग : उ० पु० ३८३, ३९०, ३९१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १४१ और बाद।

प्रश्न, सामान्य रूप से 'जिज्ञासा' अथवा 'विवादग्रस्त प्रश्न' का द्योतक है। तैत्तिरीय संहिता[1] और अन्यत्र[2], 'प्रश्नम् एति' वाक्पद से 'वह किसी व्यक्ति से एक विवादग्रस्त विषय पर उसका निर्णय पूछता है', आशय है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में 'प्रश्न' का निश्चित अर्थ 'निर्णय' है। यजुर्वेद[4] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत 'प्रश्निन्', 'अभि-प्रश्निन्', और 'प्रश्न-विवाक' को सम्मिलित किया गया है। यहाँ यह अत्यन्त सम्भव है कि इन नामों से किसी मुकदमे के तीन दलों—वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ अथवा न्यायाधीश (*मध्यमशी*), का ही अर्थ हो।

[1] २. ५. ८, ५; ११, ९।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, ६, २; ऐतरेय ब्राह्मण ३. २८।

[3] ५. १४।

[4] वाजसनेयि संहिता ३०. १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ६, १।

प्रष्टि भी, *पृष्ट्या* की भाँति, एक 'पार्श्वस्थ अश्व' का द्योतक है, जिससे यद्यपि[1] सन्नद्ध अश्व के साथ-साथ दौड़नेवाले अश्व का ही अर्थ होना आवश्यक

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्थ.०।

नहीं, वरन् नायक के रूप में सबसे आगे सन्नद्ध एक तृतीय अश्व का भी आशय हो सकता है। यह तथ्य ऋग्वेद[2] में 'प्रष्टि' द्वारा—यहाँ मरुतों के दल के लिये व्यवहृत—दल (रोहितः) का नायकत्व (वहति) करने के सन्दर्भ से भी व्यक्त होता है। अथर्ववेद[3] के एक अस्पष्ट स्थल पर 'पञ्च-वाही' (पाँच द्वारा वहन किया जानेवाला) के सन्दर्भ में भी 'प्रष्टियों' का उल्लेख है, किन्तु यहाँ इसका क्या अर्थ है इसका स्पष्ट अनुमान असम्भव है। 'प्रष्टि' का उल्लेख अन्यत्र[4] भी दुर्लभ नहीं है। एक स्थल[5] पर 'धुर्यों' और 'प्रष्ट्यौ' का साथ-साथ उल्लेख है; इससे सम्भवतः रथ खींचनेवाले स्तम्भ से सन्नद्ध दो अश्वों का, और दो अन्य ऐसे अश्वों का आशय है जिनमें से प्रत्येक दोनों किनारों पर किसी प्रकार सन्नद्ध रहते थे। 'प्रष्टि-मन्त्'[6], 'प्रष्टि-वाहन',[7] 'प्रष्टि-वाहिन्'[8], आदि सभी विशेषणों का रथ के लिये प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ सन्नद्ध अश्वों के अतिरिक्त 'पार्श्वस्थ अश्व (अथवा अश्वों) द्वारा खींचा जानेवाला' है। तु० की० रथ।

[2] १. ३९, ६; ८. २७, ८। १. १००, १७ में 'प्रष्टिभिः' से ऋज्राश्व के साथी अथवा सहायकों का अर्थ प्रतीत होता है (तु० की० लाट्यायन श्रौत सूत्र ३. १२, १४); किन्तु लुडविग का विचार है कि इस शब्द से उन अश्वों का तात्पर्य है जिनसे विजय प्राप्त की गई हो।

[3] १०. ८, ८। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५९७।

[4] ऐतरेय ब्राह्मण ८. २२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, २१, ३; शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ३, ९, इत्यादि।

[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १२, ५।

[6] ऋग्वेद ६. २७, २४।

[7] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, ९।

[8] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ६, ४; ७. १, ५; ९, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १३, १२ (जहाँ 'प्रष्टि-वाहिन्' और 'प्रष्टि-वाहिन्', दोनों में स्पष्ट विभेद नहीं है)।

ऋग्वेद, ग्लॉसर, ११९ में गेल्डनर ने अपना यह अनुमान कि 'प्रष्टि' मध्य में सन्नद्ध अश्व का द्योतक है, स्वयं ही वापस ले लिया है; कमेन्टर, ९७।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २५०; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, १०२।

प्र-सिति, वाजसनेयि संहिता (२. १९) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ७. १३, ४) में किसी दिव्य 'क्षेप्यास्त्र' का द्योतक है, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इसे मनुष्य-गण भी युद्ध में प्रयुक्त करते थे।

प्र-सू, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में यज्ञ के लिये प्रयुक्त घास या ओषधिक वनस्पतियों के नवांकुरों का द्योतक है।

[1] १. ९५, १०; ३. ५, ८; ७. ९, ३; ३५, ७; ८. ६, २०।
[2] काठक संहिता ३६. २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ३, २; शतपथ ब्राह्मण २. ५, १, १८।

प्र-सृत, शतपथ ब्राह्मण[1] में 'स्थानगत-क्षमता' के वाचक के रूप में मिलता है, जिसका अर्थ 'अञ्जलि'[2] है।

[1] ४. ५, १०, ७; १३.४, १, ५; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १, ७।
[2] प्रथमतः यह शब्द किसी समर्पित वस्तु को ग्रहण करने के लिये 'बढ़ी हुई' अञ्जलि का द्योतक है।

प्र-स्कण्व, एक ऐसे ऋषि का नाम है जिसे अनुक्रमणी द्वारा ऋग्वेद[1] के कुछ सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। ऋग्वेद में इसका अनेक बार[2] उल्लेख है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[3] का यह वक्तव्य कि इसने *पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्* से पारितोषिक प्राप्त किया था, प्रत्यक्षतः एक बहुत बड़ी भूल[4] है।

[1] १. ४४–५०; ८. ४९; ९. ९५।
[2] १. ४४, ६; ४५, ३; ८. ३, ९; ५१, २; ५४, ८। तु० की० निरुक्त ३. १७।
[3] १६. ११, २६।
[4] वेबर : इ० स्टू० ३९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०४ और बाद।

प्र-स्तर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में यज्ञीय आसन के रूप में बिछी घास का द्योतक है।

[1] १०. १४, ४।
[2] अथर्ववेद १६. २, ६; तैत्तिरीय संहिता १. ७, ७, ४; वाजसनेयि संहिता २. १८; १८. ६३; ऐतरेय ब्राह्मण १. २६; २. ३; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ३, ५, इत्यादि।

प्र-स्तोक, ऋग्वेद[1] में एक उदार दाता का नाम है, जहाँ लुडविग[2] ने इसे *दिवोदास अतिथिग्व* और *अश्वत्थ* अथवा 'अश्वथ' के साथ समीकृत किया है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[3] के अनुसार *भरद्वाज* ने प्रस्तोक *सार्ञ्जय* ('सृञ्जय' का वंशज) से उपहार प्राप्त किये थे :

[1] ६. ४७, २२।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५८।
[3] १६. ११, ११। तु० की० वेबर : इ० स्टू०, ३०, ३१; मैकडौनेल : बृहद्देवता २, १९८ और बाद

प्र-स्तोतृ, 'उद्गातृ' पुरोहित के उस सहायक का नाम है जो साम-गान की प्रस्तावना (प्रस्ताव)[1] का गायन करता है। ऋग्वेद में इसका इस नाम से उल्लेख होना एक आकस्मिक घटना-मात्र है क्योंकि केवल एक स्थल[2] पर ही इसका स्पष्ट सन्दर्भ है; किन्तु बाद के साहित्य[3] में यह अत्यन्त प्रचलित हो गया है। लुडविग[4] एक त्रुटिपूर्ण रूप से यह विचार व्यक्त करते हैं कि प्रस्तोतृ का पहले का नाम *प्रशास्तृ* था।

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १०, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ३. २३; शतपथ ब्राह्मण ८. ७, ४, ६; छान्दोग्य उपनिषद् १. १०, ९; २. २, १, इत्यादि।
[2] ८. ८१, ५ (प्र-स्तोमत)। देखिये ओल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद ३९३, नोट ३।
[3] तैत्तिरीय संहिता ३. ३, २, १; ६. ६, ३, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३४; ७. १; शतपथ ब्राह्मण ४. २, ५, ३; ५. ४, ५, २२; १२. १, १, ६, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् १. १०, ८, इत्यादि।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २२७।

प्रस्रवण—देखिये *प्लक्ष*।

प्र-हा, ऋग्वेद[1], अथर्ववेद[2], और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में, पासे के खेल में 'विजयी फेंक' का, अथवा सामान्य रूप से किसी भी 'लाभ' या 'सम्प्राप्ति' का द्योतक है।[3]

[1] १०. ४२, ९।
[2] ४. ३८, ३।
[3] १६. १४, २; २०. ११, ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४१, और 'प्रहावन्त्' (ऋग्वेद ४. २०, ८) जिसका सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० के अनुसार 'लाभ अर्जित करना' अर्थ है।

प्रा-कार, शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१६. १८, १४) में दर्शकों के लिये बने ऊँचे मंच को आश्रय प्रदान करनेवाले, दीवार से घिरे, टीले का द्योतक है।

प्रा-काश, अनेक बार ब्राह्मणों[1] में मिलता है, जहाँ यह धातु के किसी आभूषण, अथवा धातु के दर्पण का द्योतक है। गेल्डनर[2] के अनुसार मैत्रायणी संहिता[3] में 'प्रावेप' का भी यही आशय है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ९, १०; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ५, २२, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १२०।
[3] ४. ४, ८।

प्रा-गहि, कौषीतकि ब्राह्मण (२६. ४) के लिन्डनर के संस्करण के अनुसार, एक गुरु का नाम है। तु० की० *प्रावहि*।

प्राचीन-तान, तैत्तिरीय संहिता (६. १, १, ४) में कपड़े के एक टुकड़े के 'ताने' का द्योतक है। तु० की० *प्राचीनातान*।

प्राचीन-योगी-पुत्र ('प्राचीनयोग' के किसी स्त्री-वंशज का पुत्र) माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३२) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में, *सांजीवीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

प्राचीन-योग्य ('प्राचीनयोग' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम वंश (गुरुओं की तालिका) में, *पाराशर्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है। छान्दोग्य[2] तथा तैत्तिरीय[3] उपनिषदों में भी एक 'प्राचीनयोग्य' का उल्लेख है, और शतपथ ब्राह्मण[4] तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी यही पैतृक नाम आता है (देखिये *पुलुष*, *सत्ययज्ञ*,[5] *सोमशुष्म*)।

[1] २. ६, २ (काण्व)।
[2] ५. १३, १।
[3] १. ६, २।
[4] (**सत्ययज्ञ पौलुषि** का) १०. ६, १, ५; (**शौचेय** का) ११. ५, ३, १. ८ (तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. ३, ११)। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ६१; २, २१३; ३, २७४।
[5] १. ३९, १, में 'प्राचीनयोग' कहा गया है, किन्तु यह सम्भवतः केवल पाण्डुलिपि की एक अशुद्धि है।

प्राचीन-वंश एक विशेषण है, जो शतपथ ब्राह्मण[1] और यजुर्वेद संहिताओं[2] में 'जिसकी छत को आश्रय देनेवाली धरन पूर्वमुखी हो' आशय का द्योतक है। इससे उस केन्द्रीय धरन का सन्दर्भ है जो किसी कक्ष की पश्चिमी दीवार के मध्य से पूर्वी दीवार के मध्य भाग को सम्बद्ध करती है। यह धरन दोनों ओर स्थित अन्य धरनों से सम्भवतः कुछ ऊँची होती है।

[1] ३. १, १, ६. ७; ६, १, २३; ४. ६, ८, २०।
[2] काठक संहिता २२. १३; तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, ३। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६, ३, नोट २।

प्राचीन-शाल औपमन्यव (*उपमन्यु* का वंशज) छान्दोग्य उपनिषद्[1] में एक गृहस्थ और 'ईश्वरशास्त्रविद्' का नाम है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में 'प्राचीनशालि' एक उद्गातृ पुरोहित के रूप में आता है और 'प्राचीनशालों' का भी इसी उपनिषद्[3] में उल्लेख है।

[1] ५. ११, १। देखिये **महाशाल**।
[2] ३. ७, २; १०, २।
[3] ३. १०, १।

प्राचीनातान, जो कि किसी कपड़े के टुकड़े के 'ताने' का द्योतक है, ब्राह्मणों[1] में मिलता है। तु० की० *प्राचीनतान*।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२, ३; १७, २; कौषीतकि उपनिषद् १. ५ (तु० की० कीथ : शाङ्खायन आरण्यक २०, नोट २)।

प्राचीनावीत[1], आर्यों द्वारा दाहिने स्कन्ध के ऊपर से बायें हाथ के नीचे यज्ञोपवीत धारण करने का द्योतक है और इस प्रकार यज्ञोपवीत धारण करनेवालों का नाम 'प्राचीनावीतिन्'[2] है। फिर भी, तिलक[3] का विचार है कि इन शब्दों से यज्ञोपवीत नहीं वरन् एक प्रकार का परिधान धारण करने का आशय है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ११, १।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ४, ६, ६; शतपथ ब्राह्मण २. ४, २, २. ९; ६, १, ८; १२. ५, १, ६; 'प्राचीनोपवीत' से भी अथर्ववेद ९. १, २४ में यही आशय है।
[3] ओरायन १४६, तैत्तिरीय आरण्यक २. १, का उद्धरण देते हुये।

प्राच्य, बहुवचन में 'पूर्व में रहनेवाले' लोगों का द्योतक है। इनका ऐतरेय ब्राह्मण[1] में विभिन्न जाति के लोगों की सूची में उल्लेख है। जैसा कि औल्डेनबर्ग[2] मानते हैं, इनसे बहुत सम्भवतः *काशियों*, *कोसलों*, *विदेहों*, और *मगधों* का तात्पर्य हो सकता है। शतपथ ब्राह्मण[3] में ऐसा कथन है कि प्राच्य-गण अग्नि का 'शर्व' नाम से आह्वान करते थे, और इसी ग्रन्थ[4] में इनके समाधि बनाने की पद्धति को अमान्यता भी प्रदान की गई है। लाट्यायन श्रौत सूत्र[5] ने पञ्चविंश ब्राह्मण[6] के *विपथ* की प्राच्यों के रथ (प्राच्य-रथ) के रूप में व्याख्या की है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण[7] में 'प्राच्य-पाञ्चालों' का उल्लेख किया गया है।

[1] ८. १४।
[2] बुद्ध ३९३, नोट।
[3] १. ७, ३, ८।
[4] १३. ८, १, ५; २, १। तु० की० ९. ५, १, ६४ भी। यह स्थल वेबर (इन्डियन लिटरेचर, १३२, १३३) के इस आरम्भिक विचार को असम्भाव्य बना देता है कि यह ब्राह्मण प्राच्यों की ही कृति है, और इनके अपने ही वाद के इस मत की पुष्टि करता है कि, अन्य महान ब्राह्मण ग्रन्थों की ही भाँति, शतपथ ब्राह्मण की रचना भी **मध्यदेश** में हुई थी (देखिये **कुरु**, नोट १)।
[5] ८. ६, ८।
[6] १७. १।
[7] २; वेबर : इन्डियन लिटरेचर ३४, नोट २५।

प्राजापत्य ('प्रजापति' का वंशज) तैत्तिरीय आरण्यक (१०. ७९) में 'आरुणि सुपर्णेय' ('सुपर्ण' का वंशज) जैसे एक पौराणिक व्यक्ति का, अथवा ऐतरेय ब्राह्मण (१. २१) में *प्रजावन्त्* का, केवल पैतृक नाम है।

प्राण, जो उपयुक्ततः 'श्वास' का द्योतक है, वैदिक साहित्य में एक अत्यन्त विस्तृत और अस्पष्ट आशयवाला शब्द है। ऋग्वेद[1] और उसके बाद से इसका अक्सर उल्लेख है। आरण्यकों और उपनिषदों में तो यह विश्व के एकत्व का सर्व-प्रचलित प्रतीक है।[2] एक संकुचित आशय में 'प्राण' उन 'प्राण-वायुओं' में से एक है जिनकी संख्या पाँच[3] बताई गई है, यथा—'प्राण', *अपान*, *व्यान*, *उदान*, और *समान*; किन्तु अक्सर केवल दो: 'प्राण' और 'अपान'[4], अथवा 'प्राण' और 'व्यान'[5], अथवा 'प्राण' और 'उदान'[6] का ही; अथवा तीन : 'प्राण', 'अपान' और 'व्यान'[7], अथवा 'प्राण', 'उदान', और 'व्यान'[8], अथवा 'प्राण', 'उदान' और 'समान'[9] का; अथवा चार : 'प्राण', 'अपान', 'व्यान' और 'समान'[10], अथवा 'प्राण', 'अपान', 'उदान' और 'व्यान'[11] का, उल्लेख मिलता है। जहाँ इन सभी का उल्लेख है वहाँ इनमें से प्रत्येक प्रकार के 'श्वास' का ठीक-ठीक आशय निश्चित नहीं किया जा सकता है।[12]

एक अपेक्षाकृत विस्तृत आशय में 'प्राण' का इन्द्रियों को[13], अथवा जैसा सायण[14] ने माना है 'सर के रन्ध्रों' इत्यादि को व्यक्त करने के लिये प्रयोग

[1] १. ६६, १; १०. ५९, ६; ९०, १३, इत्यादि।

[2] ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स ८९ और बाद।

[3] देखिये **उदान**, नोट १।

[4] अथर्ववेद २. २८, ३; ५. ४, ७ (पैप्पलाद); ७. ५३, ४ (७. ५३, ३, में 'अपान', 'प्राण' है); तैत्तिरीय संहिता ३. ४, १, ४, इत्यदि।

[5] अथर्ववेद ५. ४, ७; ६. ४१, २, इत्यादि।

[6] देखिये **उदान**, नोट।

[7] अथर्ववेद १३. २, ४६; मैत्रायणी संहिता ४. ५, ६, ९; वाजसनेयि संहिता २२. २३; ऐतरेय ब्राह्मण २. २९; कौषीतकि ब्राह्मण ६. १०; शाङ्खायन आरण्यक ८. ८; तैत्तिरीय उपनिषद् २. २, इत्यादि।

[8] देखिये **उदान**, नोट २।

[9] वही।

[10] अथर्ववेद १०. २, १३।

[11] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १।

[12] तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स, २७३ और बाद।

[13] कोलब्रुक, मिसलेनियस एसेज़, १, ३३९, ३५५; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, १।

[14] ऐतरेय आरण्यक १. ३, ७ पर।

किया गया है। शतपथ ब्राह्मण[15] के एक स्थल पर इनकी (रन्ध्रों की) संख्या छह बताई गई है और इनसे सम्भवतः नेत्रों, कर्णों और नासिका-रन्ध्रों का तात्पर्य है। अपेक्षाकृत अधिकतर सर में इनकी संख्या सात बताई गई है और ऐसे स्थलों पर 'मुख' को सम्मिलित कर लिया गया है।[16] कभी-कभी इनकी संख्या नौ[17], अर्थात् सात सर में और दो सर के नीचे के भाग में[18], बताई गई है। शतपथ[19] और जैमिनीय[20] ब्राह्मणों में दस, काठक उपनिषद्[21] में ग्यारह, तथा काठक संहिता[22] में तो बारह तक का उल्लेख है जहाँ दोनों स्तनों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। सात के बाद की इनकी संख्याओं के अन्तर्गत किन-किन अंगों को सम्मिलित किया गया है यह निश्चित नहीं।[23] मैत्रायणी संहिता[24] में दसवाँ 'नाभि' है। जहाँ ग्यारह का उल्लेख है वहाँ 'ब्रह्म-रन्ध्र'[25] को भी सम्मिलित किया जा सकता है। अथर्ववेद[26] की जैसी बृहदारण्यक उपनिषद्[27] ने व्याख्या की है उसके अनुसार सातवें और आठवें क्रमशः 'स्वाद' और 'वाच्' है। किन्तु बहुधा इन दोनों को एक ही इन्द्रिय माना गया है और आठवें तथा नवें को या तो स्तनों[28] में अथवा नीचे (उत्सर्गाङ्गों में)[29] स्थित किया गया है।

'प्राण' से कभी-कभी, और यहाँ तक कि 'अपान' के विपरीत भी, केवल 'श्वास' मात्र का ही एक सामान्य आशय है।[30] किन्तु इसका उपयुक्त आशय

[15] १४. १, ३, ३२; ४, १।

[16] अथर्ववेद २. १२, ७; ऐतरेय ब्राह्मण १. १७; ३. ३; शतपथ ब्राह्मण ३. १, ३, २१; ६. ४, २, ५; १३. १, ७, २; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ५, ९, १०; ६, ८, इत्यादि।

[17] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, १०, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, ७, ४; शतपथ ब्राह्मण १. ५, २, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण २२. १२, ५; ऐतरेय आरण्यक १. ४, १; शाङ्खायन आरण्यक २. २; अथर्ववेद ५. २८, १; १०. ८, ४३ (नवद्वारम्), इत्यादि।

[18] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ५, ९, १०; ६, ८।

[19] ११. ६, ३, १७, जहाँ ग्यारहवें को 'आत्मन्' कहा गया है।

[20] २. ७७ (ज० अ० ओ० सो० १५, २४०)।

[21] ५. १।

[22] ३३. ३।

[23] तु० की० ड्यूसन : उ० पु० २६९; कीथ : ऐतरेय आरण्यक १८५, १८७।

[24] ४. ६, १; काठक संहिता ९. १६।

[25] ऐतरेय उपनिषद् १. ३।

[26] १०. ८, ९।

[27] २. २, ३, ४।

[28] काठक संहिता ३३. ३।

[29] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ५, ९, १०; ६, ८।

[30] अथर्ववेद ५. ४, ७ (पैप्पलाद)। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५५२।

निःसन्देह 'उच्छ्वास' (वायु को वाहर निकालना) ही है, 'श्वास' (वायु को भीतर खींचना) नहीं जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने 'अप' (दूर) उपसर्ग के कारण 'अपान' की 'उच्छ्वास' के रूप में व्याख्या करने के उद्देश्य से इसका अर्थ किया है। ऐसा देशीय भाष्यकारों[31] और अन्य प्रमाणों[32] से स्पष्ट व्यक्त होता है। बौटलिङ्क[33] ने बाद में नवीन दृष्टिकोण को ही स्वीकार कर लिया है।

[31] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १२. ८, ८; १४. ११, १, पर रुद्रदत्त; शतपथ ब्राह्मण १. १, ३, २, और तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५, ६, ४, पर सायण; छान्दोग्य उपनिषद् १. ३, २, पर शङ्कर; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ६. ८, १. २, इत्यादि, पर आनर्तीय।

[32] शतपथ ब्राह्मण २. २, २, १५, की कात्यायन श्रौत सूत्र ४. ८, २९ से तुलना करते हुये; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. २, २; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ६०, ५; २. १, १६. १९; ऐतरेय आरण्यक ५. १, ४। देखिये कैलेन्ड : त्सी० गे० ५५, २६१–२६५; ५६, ५५६–५५८, और अपान।

[33] त्सी० ५५, ५१८।

प्राण-भृत्, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में एक 'जीवित प्राणी' अथवा 'मनुष्य' का द्योतक है। 'प्राणिन्' का भी यही आशय है।[3]

[1] १. ५, २२; ३. १, १२।

[2] ११. २, ६, २।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १३; शतपथ ब्राह्मण ७. ४, २, २; १०. ४, २, २; छान्दोग्य उपनिषद् २. ११, २; ऐतरेय उपनिषद् ३. ३, ३; निरुक्त ६. ३६।

प्रातर्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक समय-वाचक के रूप में 'प्रातःकाल' का द्योतक है। तु० की० *अहन्*।

[1] १. १२५, १; २. १८, १; ३. ४१, २; ५२, १; ४. ३५, ७; ५. ७६, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. ११, १२; ६. १२८, २; ७. १०१, १; ११. २, १६; काठक संहिता ३२. ७; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३१; ३. २२. ४४; ४. २०; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १, १२; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ७, इत्यादि।

प्रातर्-अनुवाक, ब्राह्मणों[1] में उस स्तुति-सूक्त के रूप में आता है जिससे प्रातःकालीन सोम-तर्पण आरम्भ किया जाता था।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ९, ७; २. २, ३, ६; ऐतरेय ब्राह्मण २. १५. १७. १८; ४. १९; ५. ३३; शतपथ ब्राह्मण ३. ९, ३, ७; ४. ३, ४, २१; ११. ५, ५, ९; छान्दोग्य उपनिषद् २. २४, ३; ४. १६, २, इत्यादि।

प्रातर्-अह्न कौहल, वंश ब्राह्मण[1] में, केतु वाज्य के शिष्य, एक गुरु का नाम है। तु० की० *कौहड*।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४३।

प्रा-तर्दनि (*प्रतर्दन* का वंशज) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर किसी राजा का नाम है।

[1] ६. २७, ८। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५७, १५१।

प्राति-पीय, शतपथ ब्राह्मण (१२. ९, ३, ३) में *वल्हिक* का पैतृक नाम है।

प्राति-वेश्य का, शाङ्खायन आरण्यक (१५. १) के वंश (गुरुओं की तालिका) में *प्रतिवेश्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

प्राति-सुत्वन—देखिये *प्रतीप*।

प्राती-बोधी-पुत्र—('प्रतीबोध' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) ऐतरेय (३. १, ५) और शाङ्खायन (७. १३) आरण्यकों में एक गुरु का नाम है।

तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक २४४, ३१०।

प्रा-तृद (*प्रतृद्* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ३१, ४) में *भाल्ल* नामक एक गुरु का, और बृहदारण्यक उपनिषद् (५. १३, २) में एक अन्य गुरु का पैतृक नाम है।

प्रा-देश[1] ब्राह्मणों[2] में अक्सर ही लम्बाई के एक नाप (वितस्ति)[3] के रूप में आता है।

[1] 'प्रदेश' से बना हुआ, (यहाँ 'तर्जनी' के नाम के रूप में 'प्रदेश' से सम्भवतः 'लम्बाई व्यक्त करनेवाला' अर्थ है); तु० की० 'प्रदेशिनी', आश्वलायन श्रौत सूत्र १. ७; शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १. १० १; २. ९, १४)।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, ४, ५; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १८, १, इत्यादि।

[3] अर्थात् अंगूठे और तर्जनी के बीच के स्थान की दूरी।

प्रा-ध्वंसन ('प्रध्वंसन' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में उस पौराणिक व्यक्ति *मृत्यु* का पैतृक नाम है, जिसे वहाँ प्रध्वंसन का शिष्य बताया गया है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८, माध्यन्दिन।

प्रायश्-चित्त,[1] अथवा *प्रायश्-चित्ति*[2], प्रायश्चित्त के द्योतक हैं और यह दोनों ही शब्द बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में अक्सर ही आते हैं। प्रायः प्रत्येक सम्भव सामाजिक अथवा नैतिक संस्कारों के लिये प्रायश्चितों का विधान मिलता है। इनकी एक पूर्ण सूची सामविधान ब्राह्मण[3] में दी हुई है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १२. ४, १, ६; कौषीतकि ब्राह्मण ५. ९; ६. १२, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. १, ४, १; ३. १, ३, २; ५. १, ९, ३; ३, १२, १; अथर्ववेद १४. १, ३०; वाजसनेयि संहिता ३९. १२; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ११. ४६; ५. २७; ७. २; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, ९; ४. ५, ७, १; ११. ५, ३, ८, इत्यादि।
[3] देखिये कोनो का अनुवाद, पृ० ४३ और बाद।

प्रा-वरेय—('प्रवर' का वंशज) काठक संहिता[1] में *गर्गों* का पैतृक नाम है।

[1] १३. १२ (इन्डिशे स्टूडियन, ३. ४७४)।

प्रा-वहि, कौषीतकि ब्राह्मण (२६. ४) में एक गुरु का नाम है, किन्तु इस ग्रन्थ के लिन्डनर के संस्करण में *प्रागहि* पाठ है।

प्रा-वाहणि (*प्रवाहण* का वंशज) तैत्तिरीय संहिता (७. १, १०, २) में *बबर* नामक एक व्यक्ति का पैतृक नाम है।

प्रा-वृष्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'वर्षा ऋतु' का नाम है।

[1] ७. १०३, ३. ९।
[2] अथर्ववेद १२. १, ४६; काठक संहिता ३६ २: तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ४, २; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, २, ३; ७. २, ४, २६, इत्यादि।

प्रा-वेप—देखिये *आकाश*।

प्राश्, अथर्ववेद[1] में 'वादी' अथवा 'वाद' का, और 'प्रतिप्राश्'[2] प्रतिवादी का द्योतक है।

[1] २. २७, १. ७।
[2] २. २७, १। तु० की० ब्लूमफील्ड : अ० फा० ७, ४७२ और बाद; अथर्ववेद ७३; अथर्ववेद के सूक्त २०५, २०६, जो इस सिद्धान्त को सर्वथा अप्रमाणित करते हैं कि 'प्राश्' का अर्थ 'जीवन का माध्यम' या 'अन्न-सामग्री' है (तु० की० बौटलिङ्क, व० स्पा० 'प्रतिप्राश्')।

प्राश्नी-पुत्र ('प्राश्नी' का पुत्र) *आसुरि-वासिन्* का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *आसुरायण* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ४, ३३ (माध्यंदिन=६. ५, ३ काण्व)

प्रा-श्रवण—देखिये *प्रास्रवण*।

प्रा-सच (पुलिङ्ग) तैत्तिरीय संहिता[1] में तो 'मेघ की घटा' का द्योतक है, जब कि तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में विशेषण शब्द 'प्रासच्यः (आपः) से 'प्रबल वर्षा द्वारा उत्पन्न (जल)' अर्थ है।

[1] ७. ५, ११, १; भाष्यकार के अनुसार 'घनीभूत'।

[2] ३. १२, ७, ४; भाष्यकार के अनुसार 'घनीभूत' (जल)।

प्रा-साद, एक महल के आशय में अद्भुत ब्राह्मण[1] जैसे बाद के ग्रन्थ के पहले नहीं आता। तु० की० *प्राकार*।

[1] इन्डिशे स्टूडियन १, ४०।

प्रा-स्रवण, एक स्थानीय नाम *प्लक्ष-प्रास्रवण* के ही एक खण्ड के रूप में आता है। *अवत्सार* के लिये व्यवहृत एक पैतृक नाम ('प्रस्रवण' का वंशज) के रूप में यह कौषीतकि ब्राह्मण[1] में भी मिलता है।

[1] १३, ३। इसका एक विभेदात्मक पाठ 'प्राश्रवण' भी है।

प्रियङ्गु, यजुर्वेद संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में एक प्रकार की राई (Panicum italicum) का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. २, ११, ४; काठक संहिता १०. ११; मैत्रायणी संहिता २. २, ८; वाजसनेयि संहिता १८. १२.

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, १४, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १६; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १२ (माध्यंदिन = ६. ३, १३ काण्व), शङ्कर की टिप्पणी सहित।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २४१।

प्रिय-मेध, ऋग्वेद[1] में एक द्रष्टा का नाम है। इसी ग्रन्थ में इसके परिवार (प्रियमेधों) का बहुधा उल्लेख है।[2] किसी सूक्त का वास्तव में प्रियमेध द्वारा रचा गया होना सम्भव नहीं।[3] *प्रैयमेध* भी देखिये।

[1] १. १३९, ९; ८. ५, २५; 'प्रियमेधवत्', १. ४५, ३; 'प्रियमेध-स्तुत', ८. ६, ४५।

[2] १. ४५, ४; ८. २, ३७; ३, १६; ४, २०; ८, १८; ६९, ८; ८७, ३; १०. ७३, ११।

[3] औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१७।

प्रिय-रथ, ऋग्वेद[1] में *पज्रों* के एक प्रतिपालक का नाम है।

[1] १. १२२, ७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५०।

प्रिय-व्रत सोमापि[1] अथवा *सौमापि* ऐतरेय ब्राह्मण[1] और शाङ्खायन आरण्यक[2] में एक गुरु का नाम है। इस द्वितीय ग्रन्थ में इसे *सोमप* का पुत्र कहा गया है। 'प्रियव्रत' नाम शतपथ ब्राह्मण[3] में भी मिलता है जहाँ इस नाम के एक *रौहिणायन* का एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] ७. ३४।
[2] १५. १।
[3] १०. ३, ५, १४।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ८, १३६, नोट।

प्रेङ्ख (झूलना) का, काठक संहिता[1], ऐतरेय आरण्यक[2], पञ्चविंश ब्राह्मण[3] और अन्यत्र[4] मिलनेवाले महाव्रत संस्कार के वर्णन में उल्लेख है। उपलब्ध[5] संकेतों के आधार पर जो कुछ अनुमान सम्भव है उससे यही सिद्ध होता है कि यह 'झूलना' भी आधुनिक झूलने के समान ही रहा होगा। *प्लेङ्ख* भी देखिये।

[1] ३४. ५।
[2] १. २, ३. ४; ५. १, ३, इत्यादि।
[3] ५. ५, ७।
[4] शाङ्खायन आरण्यक २. १७, इत्यादि।
[5] शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १७. १, ११; ७, २, इत्यादि।

प्रेत, शतपथ ब्राह्मण[1] में 'मृत व्यक्ति' के वाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है, उस 'प्रेतात्मा' के रूप में नहीं जो केवल बाद में वैदिकोत्तर साहित्य में ही मिलता है।

[1] १०. ५, २, १३; बृहदारण्यक उपनिषद् ५. ११, १, इत्यादि।

प्रेदि—देखिये *प्रोति*।

प्रेष्य (भेजा जानेवाला), दास अथवा निम्न कर्मचारी का द्योतक और ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *शूद्र* के लिये व्यवहृत हुआ है। अथर्ववेद[2] में विशेषण शब्द 'प्रैष्य' मिलता है।

[1] ७. २९। कौषीतकि ब्राह्मण १७. १ भी। [2] ५. २२, १४।

प्रैय-मेध (*प्रियमेध* का वंशज) उन पुरोहितों का पैतृक नाम है जिन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण[1] के अनुसार *आत्रेय उदमय* के लिये यज्ञ किया था। यजुर्वेद

[1] ८. २२।

संहिताओं[२] में यह ऐसे पुरोहितों के रूप में आते हैं जो 'सव (यज्ञीय गायन) जानते थे'। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में तीन 'प्रैयमेधों' का सन्दर्भ है। गोपथ ब्राह्मण[४] में इन्हें भरद्वाज कहा गया है।

[२] काठक संहिता ६. १ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७४); मैत्रायणी संहिता १. ८, ७; लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, १५० ।

[३] २. १, ९, १ और बाद ।

[४] १. ३, १५ । इस नाम को 'प्रय्यमेध' और, अशुद्ध रूप से, 'प्रैय्यमेध' भी लिखा गया है ।

प्रैष, संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में बहुधा मिलनेवाला एक सामाजिक प्रार्थना विषयक शब्द है जिसका अर्थ 'निर्देशन' अथवा 'निमन्त्रण' है।

[१] अथर्ववेद ५. २६, ४; ११. ७, १८; १६. ७, २; तैत्तिरीय संहिता ७. ३, ११, २; वाजसनेयि संहिता १९. १९, इत्यादि ।

[२] ऐतरेय ब्राह्मण २. १३; ३. ९; ५. ९, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ३, १५; १३. ५, २, २३; कौषीतकि ब्राह्मण २८. १, इत्यादि ।

प्रोति कौशाम्बेय कौसुरु-विन्दि (कुसुरुविन्द का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[१] में उद्दालक के शिष्य और समकालीन के रूप में उल्लेख है। दूसरी ओर तैत्तिरीय संहिता[२] में 'कुसुरविन्द' को *औद्दालकि* ('उद्दालक' का वंशज) कहा गया है, जिससे ऐसा व्यक्त होता है कि इन पैतृक नामों तथा समकालीनता सम्बन्धी वक्तव्यों को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये।

[१] १२. २, २, १३। गोपथ ब्राह्मण (१. २, २४) के एक समानान्तर स्थल पर इस नाम का रूप 'प्रेदि कौशाम्बेय कौसुरविन्द' है ।

[२] ७. २, २, १
तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, पृ० ११५ ।

प्रोष्ठ, जो कि सम्भवतः एक प्रकार के 'आसन' का द्योतक है, ऋग्वेद[१] में स्त्रियों के लिये प्रयुक्त 'प्रोष्ठशय' विशेषण रूप में मिलता है, और तैत्तिरीय ब्राह्मण[२] में इसका रूप अयौगिक ही है। प्रथम स्थल पर *तल्प* और *वह्य* के साथ इसका विभेद किया गया है, किन्तु इनके अन्तर के वास्तविक आधार को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

[१] ७. ५५, ८ ।
[२] २. ७, १७, १

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १५४ ।

प्रोष्ठ-पद (पु०),-*पदा*, (स्त्री०) एक नक्षत्र का नाम है।

प्रोष्ठ-पाद वारक्य का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में 'कंस वारकि' के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

१. प्लक्ष, लहरदार पत्तियों वाले अंजीर-वृक्ष (Ficus infectoria) का नाम है। यह बड़ा और सुन्दर वृक्ष होता है जिसमें छोटे श्वेत फल लगते हैं। *न्यग्रोध* और *पर्ण* के साथ इसका अथर्ववेद[1] और तैत्तिरीय संहिता[2] में उल्लेख है। उक्त वाद की संहिता[3] में व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसके नाम को *प्रक्ष* के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। ब्राह्मणों[4] में भी इसका उल्लेख है।

[1] ५. ५, ५।
[2] ७. ४, १२, १। तु० की० ३. ४, ८, ४; मैत्रायणी संहिता ३. १०, २।
[3] ६. ३, १०, २।
[4] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३२; ८. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, १९, २; शतपथ ब्राह्मण ३. ८. ३, १०. १२, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५८।

२. प्लक्ष *दय्यांपाति* ('द्यांपति' अथवा 'द्यांपात' का वंशज) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १०, ९, ३. ५) में *अत्यंहस् आरुणि* का एक समकालीन था।

३. प्लक्ष *प्रा-स्रवण* एक स्थान का नाम है जहाँ पहुँचने के लिए *सरस्वती* नदी के अन्तर्ध्यान होने के स्थल से चौआलीस दिनों की यात्रा करनी पड़ती थी। इसका पञ्चविंश ब्राह्मण[1] तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। इस वाद के ग्रन्थ में ऐसा कथन है कि पृथ्वी का मध्य विन्दु इससे केवल एक वितस्ति (*प्रादेश*) और उत्तर में स्थित है। ऋग्वेद के सूत्रों[3] में इस स्थान को 'प्लाक्ष प्रस्रवण' कहा गया है, और इससे सरस्वती नदी के पुनः प्रकट होने के स्थान की अपेक्षा उसके उद्गम का ही तात्पर्य है।

[1] २५. १०, १६. २२; कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ६, ७; लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १७, १२. १४।
[2] ४. २६, १२।
[3] आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. ६, १; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. २९, २४
तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३१, नोट २।

प्लति एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जो ऋग्वेद[1] के दो सूक्तों के एक द्रष्टा का पिता है।

[1] १०. ६३, १७; ६४, १७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३३।

१. *प्लव* (तैरना) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'नौका' का द्योतक है।

[1] १. १८२, ५।
[2] अथर्ववेद १२. २, ४८; तैत्तिरीय संहिता ५. ३, १०, २; ७. ३, ५, २; पञ्चविंश ब्राह्मण ११. १०, १७, इत्यादि।

२. *प्लव* एक जलीय पक्षी का नाम है। इसका यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १५; वाजसनेयि संहिता २४. ३४।

प्लाक्षि (प्लक्ष का वंशज), तैत्तिरीय आरण्यक[1] और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[2] में वर्णित एक व्यक्ति का नाम है। प्रातिशाख्य[3] में एक 'प्लाक्षायण' अथवा 'प्लाक्ष' के वंशज का उल्लेख है।

[1] १. ७, २।
[2] १. ५. ०; २. २. ६।
[3] १. ९; २. २. ६

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. ३५।

प्लाति (*प्लति* का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (५. २) में *गय* का पैतृक नाम है।

प्ला-योगि ('प्लयोग' का वंशज) ऋग्वेद[1] में *आसङ्ग* का पैतृक नाम नाम है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] के अनुसार 'आसङ्ग' एक स्त्री थी किन्तु बाद में 'पुरुष' बन गई। यह कथन, जिसे ऋग्वेद[3] पर अपने भाष्य में सायण ने भी दुहराया है, केवल एक त्रुटि है जो इसी सूक्त[3] से संयुक्त एक अतिरिक्त मन्त्र में निहित उस 'शश्वती नारी' व्याहृति पर आधारित है जिससे केवल 'प्रत्येक स्त्री' के स्थान पर 'उसकी पत्नी शश्वती'[4] अर्थ माना गया है।

[1] ८, १, ३३।
[2] १६. ११, १७।
[3] ८. १, ३४। तु० की० हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया १५०।
[4] ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, १०७ तक भी ऐसा ही मानते हैं। किन्तु देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३५४

प्लाशुक, शतपथ ब्राह्मण (५. ३, ३, २) में *व्रीहि* (चावल) की एक उपाधि के रूप में 'शीघ्रतापूर्वक अंकुरित होनेवाला' के आशय में आता है।

प्लीहा-कर्ण, यजुर्वेद संहिताओं[1] में पशुओं की एक उपाधि के रूप में सम्भवतः 'कान पर प्लीहाकार चिह्नवाला' का ही द्योतक है, न कि 'प्लीहन् नामक कान की एक व्याधि से ग्रसित', जिसे वाजसनेयि संहिता[2] के अपने भाष्य में महीधर ने माना है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १३, ५ (तु० की० ४. २, ९); वाजसनेयि संहिता २४. २४।
[2] उ० स्था०।

प्लुषि, ऋग्वेद[1] में किसी अपकारक कीटाणु का नाम है। इसे यजुर्वेद संहिताओं[2] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है, और बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में भी इसका उल्लेख है। सम्भवतः इससे चींटी की ही किसी जाति का तात्पर्य है।

[1] १. १९१, १।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ८; वाजसनेयि संहिता २४. २९।
[3] १. ३, २४
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८।

प्लेङ्ख, तैत्तिरीय संहिता (७. ५, ८, ५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१. २, ६, ६) में *प्रेङ्ख* के एक विभेद के रूप में मिलता है।

फ

फण, कौषीतकि उपनिषद्[1] की कुछ पाण्डुलिपियों में आता है और इसकी एक 'अलङ्कार' के आशय में व्याख्या की गई है। किन्तु यह 'फल-हस्ताः' (अपने हाथ में फल लिये हुये) यौगिक शब्द में शुद्ध शब्द 'फल' का ही एक अशुद्ध पाठ है।

[1] १. ४। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३९८; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक १९, नोट १।

फर्वर, ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आनेवाला ऐसा शब्द है जिसकी निश्चित रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती। इसका अर्थ 'पुष्पित खेत'[2] हो

[1] १०. १०६, २।
[2] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २६०।

हो सकता है । सायण[3] इसकी 'भरने वाले' के रूप में, और ग्रासमैन सम्भवतः 'बोने वाले'[4] के रूप में, व्याख्या करते हैं ।

[3] ऋग्वेद १०. १०६, २ पर अपने भाष्य में । आप इसी सूक्त (१०. १०६, ७) में आने वाले विस्तृत रूप 'पर्फरत्' को 'भरना' अर्थ में एक क्रिया मानते हैं ।

[4] वर्टरबुख, व० स्था० ।

फल, सामान्य रूप से 'फल' और मुख्यतः किसी वृक्ष के 'फल' का द्योतक है । यह ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में आता है ।

[1] ३. ४५, ४; १०. १४६, ५ ।

[2] अथर्ववेद ६. १२४, २; तैत्तिरीय संहिता ७. ३, १४, १; वाजसनेयि संहिता १०. १३; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ४, ८; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १, इत्यादि, और देखिये **फण** ।

फलक रथ अथवा गाड़ी के निर्माणार्थ,[1] या सोम दबाने के लिये (अधिषवणे फलके),[2] अथवा किसी भी अन्य कार्य[3] के लिये प्रयुक्त 'पट्टों' का द्योतक है ।

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, १४ । (तु० की० इन्डिशे स्टूडियन १, ३३, ४४) ।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३० ।

[3] शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, ९; १३. ४, ३, १ ऐतरेय आरण्यक १. २, ३ (झूले का), इत्यादि ।

फलवती, षड्विंश ब्राह्मण[1] में एक पौधे का नाम है जिसे भाष्यकारों ने *प्रियङ्गु* के साथ समीकृत किया है ।

[1] ५. २ । तु० की० वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३१५ ।

फल्गु—देखिये *नक्षत्र* ।

फल्गुनी—देखिये *नक्षत्र* ।

फाण्ट, को शतपथ ब्राह्मण[1] में मन्थन द्वारा उत्पन्न घृत के प्रथम कण का द्योतक बताया गया है ।

[1] ३. १, ३, ८ । तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, १४, नोट १ ।

फाल (हल का फाल) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में आता है । तु० की० *लाङ्गल* ।

[1] ४. ५७, ८; १०. ११७, ७ ।

[2] काठक संहिता १९. १ । तु० की० 'सुफाल', अथर्ववेद ३. १७, ५; मैत्रायणी संहिता २. ७, १२; 'आरण्य' के विपरीत 'फाल-कृष्ट' (कृषित भूमि पर उगने वाला), काठक संहिता १२. ७; कौषीतकि ब्राह्मण २५. १५ ।

व

बक दाल्भ्य ('दल्भ' का वंशज) का, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में *आजकेशिनों* के लिये इन्द्र को विवश करनेवाले एक व्यक्ति के नाम (१. ९, २) तथा *कुरु-पञ्चाल* के रूप में (४. ७, २) उल्लेख है।

बकुर का, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर उल्लेख है, जहाँ यह कहा गया है कि अश्विनों ने *दस्युओं* की ओर अपने 'बकुर' को फूँककर आर्यों के लिये प्रकाश उत्पन्न किया था। निरुक्त[2] के अनुसार, इससे वज्र[3] का आशय है, किन्तु रॉथ[3] का यह दृष्टिकोण कहीं अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि फूँका गया पदार्थ एक वाद्य-यन्त्र था। *वाकुर* भी देखिये।

[1] १. ११७, २१।
[2] ६. २५। तु० की० नैघण्टुक ४. ३।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २९०; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५. ४६३।

बज, अथर्ववेद[1] में किसी व्याधि के दैत्य के विरुद्ध प्रयुक्त एक पौधे का नाम है। इससे एक प्रकार के सरसों के पौधे का आशय हो सकता है।[2]

[1] ८. ६, ३. ६. ७. २४।
[2] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४९४।

बदर का, जो कि *कर्कन्धु* और *कुवल* की ही भाँति एक प्रकार की बेर का द्योतक है, यजुर्वेद संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में उल्लेख है।

[1] काठक संहिता १२. १०; मैत्रायणी संहिता ३. ११, २; वाजसनेयि संहिता १९. २२. ९०; २१. ३०।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ५, १; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, १०; १२. ७, १, ३; २, ९; ९, १, ८, इत्यादि; जैमिनीय ब्राह्मण २. १५६, ५।

बद्वन्, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के एक स्थल पर 'सेतु' या 'ऊँचे और पत्थर जड़े हुए पथ' का द्योतक प्रतीत होता है। इसे साधारण पथ से अधिक दीर्घस्थायी बताया गया है।

[1] १. १, ४। तु० की० लाट्यायन श्रौत सूत्र १. १, २३।

बन्धन, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'रस्सी' अथवा अन्य किसी प्रकार के बन्धन का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद ३. ६, ७। (एक नौका, नौका); ६. १४, २।
[2] शतपथ ब्राह्मण १३. १, ६, २ (एक अश्व का); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, ९, ४; छान्दोग्य उपनिषद् ६, ८, २; निरुक्त १२. ३८, इत्यादि।

बन्धु अमूर्त रूप से 'सम्बन्ध'[1], तथा मूर्त रूप से 'सम्बन्धी'[2] का द्योतक है, और ऋग्वेद तथा बाद में आता है।

[1] ऋग्वेद ५. ७३, ४; ७. ७२. २; ८. ७३, १२, इत्यादि; अथर्ववेद ५. ११, १०. ११; वाजसनेयि संहिता ४. २२; १०. ६, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १. १६४, ३३; ७. ६७, ९; अथर्ववेद १०. १०, २३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ५, ५, इत्यादि; 'बन्धुमन्त्' (सम्बन्धियों वाला) ऋग्वेद ८. २१, ४; तैत्तिरीय संहिता १. ५, १, ४, इत्यादि।

बबर प्रा-वाहणि (*प्रवाहण* का वंशज) किसी व्यक्ति का नाम है, जो तैत्तिरीय संहिता[1] के अनुसार, एक वक्ता बनाना चाहता था और पञ्चरात्र यज्ञ द्वारा साहित्य-विषयक प्रवीणता प्राप्त करने में सफल हो सका था।

[1] ७. १, १०, २। तु० की० गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १४८।

१. बभ्रु, ऋग्वेद[1] में एक ऐसे ऋषि का नाम है जिसने राजा *ऋणंचय* से उपहार प्राप्त किये थे। एक अन्य स्थल[2] पर भी इसी बभ्रु का आशय हो सकता है जहाँ इसका अश्विनों के एक आश्रित के रूप में उल्लेख है; किन्तु अथर्ववेद[3] में इस शब्द का एक व्यक्तिवाचक नाम होना ही सन्दिग्ध है।

[1] ५. ३०, ११. १४।

[2] ८. २२, १०।

[3] ४. २९, २। (सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्थ० द्वारा इसे यहाँ एक व्यक्तिवाचक नाम माना गया है; लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२६। किन्तु व्हिट्ने (अथर्ववेद का अनुवाद १९९) इसे व्यक्तिवाचक नाम नहीं मानते। तु० की० औल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ४२, २१४।

२. बभ्रु कौम्भ्य ('कुम्भ' का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण (१५. ३, १३) में एक सामन् के द्रष्टा का नाम है।

३. बभ्रु दैवा-वृध का ऐतरेय ब्राह्मण (७, ३४) में *पर्वत* और *नारद* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

बम्ब आज-द्विष ('अज-द्विष' का वंशज) का, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२. ७, २) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है। इसका एक विभेदात्मक पाठ 'बिम्ब' है।

बम्बा-विश्ववयसौ, एक समस्त पद के रूप में उन दो ऋषियों का नाम है

जिन्होंने यजुर्वेद संहिताओं[1] के अनुसार किसी संस्कार का आविष्कार किया था।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ६, ८, ४; काठक संहिता २९. ७, जहाँ मूल पाठ में इसका 'वम्भा' रूप है, यद्यपि बर्लिन की पाण्डुलिपि में 'दम्भार्' पाठ भी है। इस नाम को सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने अक्सर 'वम्त्रा' ही माना है; किन्तु 'वम्र' भी सम्भव है और द्वन्द्व समास के कारण 'आ' का समाधान हो जाता है। मैत्रायणी संहिता ४. ७, ३ में 'वम्र–' है।

वरासी, काठक संहिता[1] तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में एक प्रकार के परिधान के आशय में आता है।

[1] १५. ४।
[2] १८. ९, १६ (जहाँ भाष्यकार ने छाल का बना हुआ होने के रूप में इसकी व्याख्या की है); २१. ३, ४।

वरु, ऋग्वेद के ब्राह्मणों[1] के अनुसार ऋग्वेद के एक सूक्त[2] के प्रणेता का नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ६. २५; कौषीतकि ब्राह्मण २५. ८।
[2] १०. ९६।

वर्कु वार्ष्ण (वृषन् का वंशज), शतपथ ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] १. १, १, १०; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, ८ (माध्यंदिन=४. १, ४ काण्व)।

बर्हिस्, ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में यज्ञ-स्थल पर बिछे उस तृणास्तरण के द्योतक के रूप में बहुधा मिलता है जिस पर आकर आसीन होने के लिये देवों को आहूत किया जाता था।

[1] १. ६३, ७; १०८, ४; ३. ४, ४, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ४, ५; वाजसनेयि संहिता २. १; १८. १, इत्यादि।

बलाका (सारस) का यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १६, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ३. १४; वाजसनेयि संहिता २४. २२. २३। तु० कौ० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९२।

बलाय, एक ऐसे अज्ञात पशु का नाम है जिसका यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] वाजसनेयि संहिता २४. ३८; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १९।

वलास एक व्याधि का नाम है जिसका अनेक वार अथर्ववेद[1] में और बाद[2] में भी अक्सर उल्लेख है। महीधर[3] और सायण[4] इसकी 'यक्ष्मा' के रूप में व्याख्या करते हैं। त्सिमर[5] इनके मत की इस आधार पर पुष्टि करते हैं कि इसका *यक्ष्म* के एक ऐसे प्रकार के रूप में उल्लेख[6] है जिसमें अस्थियाँ और जोड़ अलग हो जाते हैं (अस्थि-स्रंस, परुः-स्रंस)[7] और यह प्रेम, विरक्ति तथा हृदय-विकार के कारण उत्पन्न होती है।[8] इसके यह लक्षण बाद के हिन्दू चिकित्साशास्त्र[9] के वर्णनों के अनुकूल हैं। 'वलास' का 'तक्मन्' के साथ होना भी यक्ष्मा की प्रकृति के एक दैत्य के सिद्धान्त के अनुकूल है।[10] फिर भी ग्रॉहमैन[11] का विचार है कि इससे किसी प्रकार की 'सूजन' (शोथ द्वारा उत्पन्न ज्वर की दशा में) का अर्थ है। ब्लूमफील्ड[12] के मत से इसके निर्धारण की समस्या अभी भी असमाधानित है। लुडविग[13] ने इस शब्द का 'शोथ' के आशय में अनुवाद किया है।

इस व्याधि के उपचार के रूप में *त्रिककुद्*[14] के *अञ्जन*, और *जङ्गिड*[15] नामक पौधे का उल्लेख है।

[1] ४. ९, ८; ५. २२, ११; ६. १४, १; १२७, १; ९. ८, ८; १९. ३४, १०।
[2] वाजसनेयि संहिता १२. ९७।
[3] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर।
[4] अथर्ववेद १९. ३४, १, पर।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन ३८५-३८७।
[6] अथर्ववेद ९. ८, १०।
[7] अथर्ववेद ६. १४, १।
[8] ९. ८, ८।
[9] वाइज़: हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन ३२१, ३२२।
[10] अथर्ववेद ४. ९, ८; १९. ३४, १०।
[11] इन्डिशे स्टूडियन ९, ३९६ और बाद।
[12] अथर्ववेद के सूक्त ४५०।
[13] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ५१०।
[14] अथर्ववेद ४. ९, ८।
[15] अथर्ववेद १९. ३४, १०।

वलि, अनेक वार ऋग्वेद[1] में और अक्सर बाद[2] में राजा को दिये गये

[1] देवता के प्रति, ऋग्वेद १. ७०, ९; ५. १, १०; ८. १००, ९; एक राजा के प्रति 'वलि-हृत्' समस्त रूप में, ७. ६, ५; १०. १७३, ६।
[2] लाक्षणिक आशय में : अथर्ववेद ६. ११७, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ३, २; काठक संहिता २९. ७; तैत्तिरीय उपनिषद् १. ५, ३, इत्यादि; 'वलि-हृत्', अथर्ववेद ११. ४, १९; काठक संहिउता,० स्था०; 'वलि-हार, अथर्ववेद ११. १, २०; वास्तविक आशय में : अथर्ववेद ३. ४, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १८, ३; ३. १२, २, ७; शतपथ ब्राह्मण १. ३, २, १५; ५, ३, १८; ६, ३, १७; ११. २, ६, १४; पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ७, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९ (तु० की० ७. ३४); 'वलि-हृत्' काठक संहिता २९. ९, तैत्तिरीय संहिता १. ६, २, १।

स्तुत्युपहार अथवा देवों को समर्पित हवि के आशय में आता है। त्सिमर[3] का विचार है कि इन दोनों ही दशाओं में उपहार देना ऐच्छिक ही होता था। इससे आप टेसिटस[4] में वर्णित जर्मनों के उदाहरणों की भी तुलना करते हैं जहाँ ऐसा उल्लेख है कि कबीलों के राजा नियमित कर के रूप में नहीं वरन् उपहार के रूप में ही विभिन्न पदार्थों को ग्रहण करते थे। इस दृष्टिकोण के लिये कोई भी आधार नहीं प्रतीत होता। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में राजसत्ता के विशेषाधिकार जनता के ऐच्छिक व्यवहारों द्वारा ही विकसित हुये होंगे[5], किन्तु वैदिक लोग भी, जो मुख्यतः विजेता आक्रामक थे, इसी स्थिति में रहे होंगे यह अत्यन्त असम्भाव्य है, और अपने देवों के प्रति वैदिक भारतीयों के दृष्टिकोण की संगति जितनी ऐच्छिक उपहार देने के साथ है उतनी ही कर अथवा वाध्यता के सिद्धान्त के साथ भी। त्सिमर यह स्वीकार करते हैं कि आक्रामक जातियों[6] की दशा में ऋग्वेद तक में कर का ही आशय है। *राजन्* भी देखिये।

[3] आल्टिन्डिशे लेवेन १६६, १६७।
[4] जर्मेनिया, १५।
[5] वाद में, भी, उदारतायें (प्रणया-क्रिया) ज्ञात थी। देखिये फ्लीट : ज० ए० सो० १९०९, ७६०-७६२।
[6] देखिये ऋग्वेद ७. ६, ५; १८, १९।

बल्कस, शतपथ ब्राह्मण[1] में उबलने के क्रम में निकलनेवाले अपवित्र पदार्थ का द्योतक है। इसका ठीक-ठीक आशय या तो 'फेन', 'पपड़ी',[2] अथवा अधिक सम्भवतः 'पुआल'[3] के रूप में वनस्पति-पदार्थ हो सकता है।

[1] १२. ८, १, १६; ९, १, २।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, २३६, नोट १।

बल्बज, एक प्रकार की घास (Eleusine indica) का नाम है। इसका अथर्ववेद[1] में उल्लेख है, और यजुर्वेद संहिताओं[2] में इसे पशुओं के मल से उत्पन्न होनेवाला बताया गया है। काठक संहिता[2] में ऐसा कथन है कि यज्ञीय-तृणास्तरण (*बर्हिस्*) अथवा ईंधन के रूप में इसका प्रयोग होता था। ऋग्वेद[3] की एक दानस्तुति में इस तृण की बनी टोकरियों तथा अन्य पदार्थों का उल्लेख है।

[1] १४. २, २२. २३।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. २, ८, २; काठक संहिता १०. १०; मैत्रायणी संहिता २. २, ५।
[3] ८. ५५, ३।
तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ६९, ७०।

वल्बूथ का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में, *तरुक्ष* और *पृथुश्रवस्* के साथ, गायक को उपहार प्रदान करनेवाले के रूप में उल्लेख है। इसे एक *दास* कहा गया है, किन्तु रौथ[2] इसके पाठ को इस प्रकार परिवर्तित कर देना चाहते थे जिससे यह अर्थ व्यक्त हो कि गायक ने वल्बूथ द्वारा एक सौ दासों को दान में प्राप्त किया। त्सिमर[3] का ऐसा मत कि यह एक आदिवासी माता का पुत्र अथवा स्वयं एक आदिवासी ही रहा हो सकता है, सम्भव प्रतीत होता है।[4] यदि स्थिति ऐसी ही थी, तो यह आर्यों और दासों के बीच मैत्री-भाव के विकास का स्पष्ट प्रमाण है।

[1] ८. ४६, ३२।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'दास'।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, ११७।
[4] वेबर : ए० रि० ३०; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, १९६।

१. *वल्हिक*, अथर्ववेद[1] में किसी जाति का नाम है जहाँ ज्वर (*तक्मन्*) को *मूजवन्तों*, *महावृषों* और बल्हिकों पर स्थानान्तरित होने का आह्वान किया गया है। बहुत अंशों तक निश्चित रूप से मूजवन्त एक उत्तरी जाति के लोग थे। यद्यपि ब्लूमफील्ड[2] का मत है कि इस स्थल पर 'विदेशी' ('बहिस्' अर्थात् 'बाहर से') सिद्ध करने की दृष्टि से 'बल्हिक' शब्द पर श्लेष है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इस नाम का एक उत्तरी जाति से ही चयन किया गया है। किन्तु रौथ[3] और वेबर[4] का यह दृष्टिकोण, जिसे ही कभी त्सिमर[5] ने भी स्वीकार किया था, कि इससे एक ईरानी जाति का सन्दर्भ है (तु० की० 'बल्ख्') कदापि सम्भव नहीं। त्सिमर[6] यह दिखाते हैं कि ईरानी प्रभाव मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं। *पर्शु* भी देखिये।

[1] ५. २२, ५. ७. ९।
[2] अथर्ववेद के सूक्त ४४६।
[3] त्सु० वे० ४१।
[4] इन्डिशे स्टूडियन १, २०५; प्रो० अ० १८९२, ९८५-९९५।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन, १३०।
[6] उ० पु० ४३१-४३३। तु० की० व्हिट्ने अथर्ववेद का अनुवाद, २६०; हॉपकिन्स : ग्रेट एपिक ऑफ इन्डिया, ३७३।

२. *वल्हिक प्रातिपीय*, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक कुरु राजा का नाम है, जहाँ यह *दुष्टरीतु पौंसायन* द्वारा *सृञ्जयों* पर अपनी वंशानुगत राजसत्ता प्राप्त करने के विरोधी, किन्तु *रेवोत्तरस् पाटव चाक्र स्थपति* द्वारा इस सत्ता

[1] १२. ९, ३, ३,

हस्तान्तरण को सम्पन्न कराना रोक सकने में असमर्थ होने वाले के रूप में आता है। इसकी 'प्रातिपीय' उपाधि कुछ कौतूहलवर्धक है: यदि यह इसे *प्रतीप* (जिसका ही यह महाकाव्य में पुत्र है) के साथ सम्बद्ध करती है तो इसका रूप उल्लेखनीय है, और त्सिमर[2] ने वास्तव में इसे ध्वनितानुक्त रूप से ही 'प्रातीपीय' के रूप में परिवर्तित कर दिया है। महाकाव्य और पुराणों[3] में इसे 'वाह्लीक' के रूप में *देवापि* और *शन्तनु* का भ्राता, तथा 'प्रतीप' का पुत्र बना दिया गया है। कालक्रमानुगत निर्णयों को इस[4] पर आधारित करना सर्वथा भ्रामक होगा क्योंकि तथ्य यह है कि 'देवापि' स्वयं 'ऋष्टिषेण' का पुत्र और एक पुरोहित था, जब कि शन्तनु एक ऐसा कुरु राजा जिसकी पैतृकता अज्ञात है, और जो सम्भवतः उस प्रतीप का पुत्र नहीं था जो वैदिक काल में बाद में आनेवाला और उस *परिक्षित्* के भी बाद का व्यक्तित्व है जिसका महाकाव्य में इसे प्रपौत्र बताया गया है। बहुत सम्भवतः 'बल्हिक', प्रतीप का वंशज था। उसने 'बल्हिक' नाम क्यों धारण किया यह अनिश्चित ही है क्योंकि इसके लिये किसी भी प्रकार का प्रमाण उपलब्ध नहीं।

[2] आल्टिन्डिशे लेवेन, ४३२।
[3] देखिये मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], २७३ और बाद; सीग: सा० ऋ० १३१-१३६।
[4] पार्जिटर: ज० ए० सो० १९१०, ५२।

१. बस्त, ऋग्वेद[1] और बाद के साहित्य[2] में 'बकरे' का द्योतक है।

[1] १. १६१, १३। यह स्थल अबोधगम्य है; एक अनुमान के लिये देखिये तिलक: ओरायन, १६६ और बाद; और तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, ३, १४५, नोट २।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. ३, ७, ४; ५. ३, १, ५; ७, १०, १; काठक संहिता १७. २; वाजसनेयि संहिता १४. ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ७, ७; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ४, ९ (माध्यंदिन = १. ४, ४ काण्व), इत्यादि, और तु० की० अथर्ववेद ८. ६, १२; ११. ९, २२।

२. बस्त रामकायन, मैत्रायणी संहिता (४. २, १०) में एक गुरु का नाम है। पैतृक नाम का कहीं-कहीं 'समकायन' पाठ भी मिलता है।

बहु-वचन, शतपथ ब्राह्मण[1] और निरुक्त[2] में व्याकरण के 'बहुवचन' का द्योतक है। इसी प्रकार निरुक्त[3] में 'द्विवत्, बहुवत्' का 'द्विवचन और बहुवचन में' अर्थ है।

[1] १३. ५, १, १८।
[2] ५. २३; ११. १६; १२. ७।
[3] २. २४. २७; ११. १६।

बह्‌व्-ऋच, ऋग्वेद के एक अनुगामी का द्योतक है। यह शब्द ऋग्वेद के ब्राह्मणों[1], शतपथ[2] तथा पञ्चविंश[3] ब्राह्मणों, और ऋग्वेद के आरण्यकों[4] में मिलता है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण २. ३६; ५. २; ६. १८; कौषीतकि ब्राह्मण ६. ११; १६. ९।
[2] १०. ५, २, २०; ११. ५, १, १०।
[3] ५. ६, ६।
[4] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ३; शाङ्खायन आरण्यक ८. ४।

बाकुर, ऋग्वेद (९. १, ८) के एक स्थल पर *दृति* की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है, और मिलकर यह दोनों शब्द एक प्रकार के वायु-यन्त्र के द्योतक हैं। तु० की *बकुर*।

बाडेयी-पुत्र ('बाडेयी' का पुत्र) का, माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३०) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *मौषिकी-पुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

बाण, ऋग्वेद (६. ७५, १७) और बाद (अथर्ववेद ३. २३, २; ६. १०५, २, इत्यादि) में धनुष के 'बाण' का द्योतक है।

बाणवन्त् भी *बाण* की ही भाँति, बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ८, २) में 'बाण' का द्योतक है। इसका अधिक सामान्य आशय 'तरकस' (शब्दार्थ, 'बाण से युक्त') है, और वाजसनेयि संहिता (१६. १०) तथा शतपथ ब्राह्मण (५. ३, १, ११) में इसका यही आशय है।

बादरायण, ('बदर' का वंशज), सामविधान ब्राह्मण[1] के अन्त में मिलनेवाले एक वंश (गुरुओं की तालिका) में एक गुरु का नाम है।

[1] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७७। कात्यायन श्रौत सूत्र ४. ३, १८, में 'बादरि' मिलता है; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३४ नोट।

बाध्योग ('बध्योग' का वंशज) माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३३) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *असित वार्षगण* के एक शिष्य, *जिह्वावन्त्* का पैतृक नाम है।

बाध्व, ऐतरेय आरण्यक (३. २, ३) में एक गुरु का नाम है। शाङ्खायन आरण्यक (८. ३) में इसका *वात्स्य*[1] पाठ है।

[1] देखिये कीथ : ऐतरेय आरण्यक, २४९, नोट १।

बाभ्रव (*बभ्रु* का वंशज), बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *वत्सनपात्* का पैतृक नाम है। *शुनःशेप*[2] की कथा में *कापिलेयों* और 'बाभ्रवों' की, शुनःशेप के गृहीत नाम *देवरात वैश्वामित्र* के अन्तर्गत, शुनःशेप के ही वंशजों के रूप में, गणना कराई गई है। पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में 'बभ्रु' के एक सामन् का उल्लेख है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७। शाङ्खायन में यह शब्द नहीं हैं।
[3] १५. ३, १२।

बाभ्रव्य (*बभ्रु* का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (७. १) में *गिरिज* का, और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १; ४. १७, १) में *शङ्ख* का पैतृक नाम है।

बार्हत्-सामा, अथर्ववेद[1] में 'बृहत्सामन् की पुत्री' के अर्थवाला एक विधिविरुद्ध निर्मित शब्द-रूप है, जहाँ इसका नाम गर्भाधान सरल बनानेवाले एक सूक्त में आता है।

[1] ५. २५ ९। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २६७।

बार्हस्-पत्य ('बृहस्पति' का वंशज) एक *शंयु*[1] नामक पौराणिक व्यक्ति का पैतृक नाम है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ६, १०, १; ५. २, ६, ४; शतपथ ब्राह्मण १. ९, १, २४; निरुक्त ४. २१, इत्यादि।

बाल, उपनिषदों[1] में 'बालक' का द्योतक है। बाद की परिभाषा[2] के अनुसार बाल्यकाल की सीमा सोलह वर्ष मानी गई है।

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ५. १, १?; २४, ५; काठक उपनिषद् २. ६।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

बालन्दन[1] भी, *वत्सप्री* के पैतृक नाम *भालन्दन* का ही एक विभेदात्मक पाठ है।

[1] देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४५९, ४७८।

बालाकि, बालाक्या—देखिये *दृप्त-बालाकि* और *काश्यपी-बालाक्या-माठरी-पुत्र*।

बालेय ('बलि' का वंशज) बौधायन श्रौत सूत्र (२०. २५) में *गन्धर्वायण* का पैतृक नाम है।

बाष्कल—देखिये *बार्कलि*।

बाष्किह ('बष्किह' का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *शुनस्कर्ण* का पैतृक नाम है। बौधायन श्रौत सूत्र[2] में यह *शिबि* का वंशज है।

[1] १७. १२, ६।
[2] २१. १७। देखिये कैलेण्ड : ऊ० बौ० २८।

बाह्लीक, शतपथ ब्राह्मण[1] में, *प्राच्यों* के विपरीत पश्चिम में बसी पञ्जाब[2] की एक जाति के लोगों के लिये व्यवहृत हुआ है। ऐसा कथन है कि यह लोग अग्नि को 'भव' नाम से सम्बोधित करते थे।

[1] १. ७, ३, ८।
[2] तु० की० महाभारत, ८. २०३० और बाद, जहाँ पञ्जाब और सिन्धु के निकट बसे लोगों के रूप में 'बाह्लीकों' की परिभाषा की गई है। यह तथ्य शतपथ ब्राह्मण की उस उक्ति के भी सर्वथा समान है जिसमें सरस्वती के पूर्व की भूमि को मध्य माना गया है। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, १८९; २, ३७; एग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, २०१, नोट २।

बाहु (भुजा) तैत्तिरीय संहिता (६. २, ११, १), और अक्सर सूत्रों में भी, लम्बाई के एक नाप के रूप में मिलता है।

बाहु-वृक्त, ऋग्वेद[1] के अनुसार एक व्यक्ति, प्रत्यक्षतः ऐसे ऋषि का नाम है जिसने युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी।

[1] ५. ४४, १२। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८, १३९। अनुक्रमणी में ऋग्वेद के दो सूक्तों (५. ७१ और ७२) को इसे ही आरोपित किया गया है।

बिदल-कारी (बाँसों को फाड़नेवाली स्त्रियाँ), यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है। एग्लिङ्ग[2] ने इस शब्द का 'टोकरी बनानेवाला' अनुवाद किया है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ८; 'बिदल-कार', तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ५, १।
[2] से० बु० ई० ४४, ४१४

बिम्ब, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. ५, ६) के एक स्थल पर एक प्रकार के पौधे (Momordica Monadelpha) का द्योतक प्रतीत होता है।

बिल्व, 'बेल' के वृक्ष (Aigle marmelos) का नाम है। ब्राह्मणों[1] और अथर्ववेद[2] में इसका उल्लेख मिलता है, जहाँ इसके उपयोगी फल का आशय उद्दिष्ट हो सकता है। तैत्तिरीय संहिता[3] के अनुसार यज्ञ-स्तम्भ 'बिल्व' की लकड़ी का बना होता था। शाङ्खायन आरण्यक[4] के एक सूक्त में बिल्व के बने कवच (इरा-मणि वैल्व)[5] के गुणों की प्रशस्ति है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण २. १; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ४, ८, इत्यादि। तु० की० मैत्रायणी संहिता ३. ९, ३।
[2] २०. १३६, १३।
[3] २. १, ८, १. २। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १. ३, ३, २० (परिधयः); ऐतरेय ब्राह्मण, उ० स्था०।
[4] १२. २० और बाद।
[5] आधुनिक समय में इस वृक्ष का नाम 'बेल' है और इसकी पत्तियों का शिवोपासना में व्यवहार किया जाता है।

बिस, कमल-नाल का द्योतक है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद[1] जैसे प्राचीन समय तक में यह एक सुखाद्य के रूप में व्यवहृत होता था। ऐतरेय ब्राह्मण[2] और ऐतरेय आरण्यक[3] में भी इसका उल्लेख है।

[1] ४. ३४, ५।
[2] ५. ३०।
[3] ३. २. ४; शाङ्खायन आरण्यक ११. ४। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ७०।

बीज, 'वीर्य' का ही द्योतक है। ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में बीज बोने (वप्) की क्रिया का अनेक स्थलों पर सन्दर्भ मिलता है। एक लाक्षणिक आशय में यह शब्द उपनिषदों में ऐसे प्राणी-वर्गों के लिये व्यवहृत हुआ है जिनकी संख्या छान्दोग्य उपनिषद्[3] में तीन और ऐतरेय उपनिषद्[4] में चार बताई गई है। उक्त प्रथम सूची में 'अण्ड-ज' (अण्डे से उत्पन्न), 'जीव-ज' (जीवित उत्पन्न) और 'उद्भिज्-ज' (अंकुरों से उत्पन्न) का उल्लेख है, जब कि द्वितीय में इनके अतिरिक्त 'स्वेद-ज' (स्वेद से उत्पन्न)— अर्थात् 'उष्मार्द्रता से उत्पन्न'—भी सम्मिलित कर लिया गया है जिस व्याहृति से मक्खियों और कीटों इत्यादि का आशय है। तु० की० कृषि।

[1] १०. ९४, १३; १०१, ३। तु० की० लाक्षणिक आशय में, १०. ८५, ३७। १. ५३, १३ में 'धान्य बीज' का 'अन्न उत्पन्न करनेवाला बीज' अर्थ है।
[2] अथर्ववेद १०. ६, ३३; शतपथ ब्राह्मण ७. २, २, ४, इत्यादि।
[3] ६. ३, १।
[4] ३. ३। देखिये कीथः ऐतरेय आरण्यक २३५।

बुडिल आश्वतराश्वि अथवा *आश्वतर आश्वि*, का ब्राह्मण साहित्य में एक गुरु के रूप में अनेक बार उल्लेख है। छान्दोग्य[1] और बृहदारण्यक[2] उपनिषदों के अनुसार यह *विदेह* के *जनक* का, और शतपथ ब्राह्मण[3] के अनुसार *केकय* के राजा *अश्वपति* का समकालीन था। ऐतरेय ब्राह्मण[4] में भी इसका उल्लेख है।

[1] ५. ११, १; १६, २;
[2] ५. १५, ११ (माध्यंदिन = ५. १४, ८ काण्व)।
[3] १०. ६, १, १। तु० की० ४. ६, १, ९।
[4] ६. ३०।

बुध सौमायन (*सोम* का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के एक मन्त्र में उल्लेख है।

[1] २४. १८, ६। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५५, नोट २।

बुन्द से ऋग्वेद[1] के कुछ स्थलों पर 'बाण' का आशय है।

[1] ८. ४५, ४; ७७, ६. ११। तु० की० निरुक्त ६. ३२।

वृबु का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उल्लेख है जहाँ इसका एक अत्यन्त उदार दाता, तथा *पणियों* के प्रधान के रूप में वर्णन किया गया है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] के अनुसार *भरद्वाज* ने वृबु *तक्षन्* और *प्रस्तोक सार्ञ्जय* से उपहार प्राप्त किये थे। मानव धर्मशास्त्र[3] में भी इसी तथ्य का संकेत है जहाँ 'तक्षन्' को एक वर्णनात्मक गुण, 'एक बढ़ई', माना गया है। प्रत्यक्षतः वृबु एक पणि था, यद्यपि ऋग्वेद[1] के शब्दों को इस अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है कि यह एक ऐसा व्यक्ति था जिसने उन लोगों का सर्वथा उन्मूलन कर दिया। यदि ऐसा ही है तो पणि का यहाँ निश्चित रूप से एक अच्छे आशय में व्यापारी अर्थ होगा, और वृबु का एक व्यावसायिक राजा।[4] वेबर[5] के अनुसार इस नाम से बेबिलोन के साथ सम्बन्ध का आभास

[1] ६. ४५, ३१. ३३।
[2] १६. ११, ११।
[3] १०. १०७।
[4] तु० की० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ६०६, नोट।
[5] ए० रि० २८ और बाद; प्रो० अ० १८९८, ५६३, नोट १; इन्डिशे स्टूडियन १७, १९८। बावेरु जातक, जिस पर भारतीयों के बेबिलोनिया-संबन्धी ज्ञान के सन्दर्भ में विशेष ज़ोर दिया गया है, सर्वथा अज्ञात समय का होने के कारण प्राचीन काल के लिये प्रमाण के रूप में कोई महत्त्व नहीं रखता। तु० की० बूहलर : इन्डिशे पालियोग्राफी, १७ १९; इन्डिशे स्टूडियन, ३, ७९ और बाद; वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ३; रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, २०१, और बाद।

मिलता है, किन्तु इस अनुमान को सर्वथा असम्भाव्य ही मानना चाहिये। हिलेब्रान्ट[6] अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक 'बृबु' के सम्बन्ध में कोई मत व्यक्त ही नहीं करते, जब कि ब्रुनहॉफर[7] द्वारा इसमें 'तास्कोई' (Τάσκοι) नामक एक जाति का आशय देखने तथा इसे वैदिक शब्द 'तक्षन्' के साथ सम्बद्ध करने का विचार निरर्थक है, मुख्यतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये कि ऋग्वेद में 'बृबु' की एक उपाधि के रूप में 'तक्षन्' नहीं मिलता।

[6] वेदिशे माइथौलोजी, १, ९३, १०४, १०७।
[7] ईरान उन्ट तूरान, १२७।
तु० की० लुड्विग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २७५; बृहद्देवता ७. १०८, १०९, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३१६।

बृसय का ऋग्वेद में दो बार उल्लेख है, जहाँ प्रथम स्थल[1] पर यह *पणियों* के साथ, और द्वितीय[2] पर *पारावतों* और पणियों के साथ सम्बद्ध है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार यह शब्द एक दानव[3] का नाम है; किन्तु द्वितीय स्थल[2] पर यह एक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका सम्भवतः 'ऐन्द्रजालिक'[4] अर्थ है। हिलेब्रान्ट[5] का विचार है कि इससे एक जाति के लोगों का आशय है। आप इन्हें 'पारावतों' और 'पणियों' के साथ 'अर्कोसिया' अथवा 'ड्रैन्जियाना' में बसा हुआ बताते हैं और डेरियस[6] के काल के अर्कोसिया तथा ड्रैन्जियाना के मण्डलाधिपति (βαρσαεντης 'बारसाइन्टेस) के साथ तुलना करते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त सम्भव नहीं है।

[1] १. ९३, ४।
[2] ६. ६१, ३।
[3] तु० की० ऋग्वेद, उ० स्था० पर सायण।
[4] बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०, ग्रासमैन का अनुसरण करते हुये।
[5] वेदिशे माइथौलोजी, १, ९७-१०४।
[6] अर्रियन : इन्डिका, ८. ४; २१. १; २५. ८।

बृसी का, जो कि घास के 'गद्दे' का द्योतक है, ऐतरेय आरण्यक[1] और सूत्रों[2] में उल्लेख है। इसके अशुद्ध रूप 'बृशी' और 'बृषी' भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

[1] १. २, ४; ५. १, ३, कीथ की टिप्पणी सहित; ३, २।
[2] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १७. ४, ७; ६. ६; कात्यायन श्रौत सूत्र १३. ३, १।

बृहच्-छन्दस्, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर *शाला* (गृह) की उपाधि के

[1] ३. १२, ३।

रूप में मिलता है। यह प्रत्यक्षतः[2] 'वृहद्-छदिस्' (बड़ी छतवाला) का ही एक त्रुटिपूर्ण पाठ है, क्योंकि इसका सर्वत्र यही आशय है।[3]

[2] तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १०५।

[3] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३४५।

वृहत्-सामन् का अथर्ववेद (५. १९, २) में एक ऐसे *आङ्गिरस* के रूप में उल्लेख है जिसे क्षत्रियों ने त्रस्त किया था। ऐसा कथन है कि इसके फलस्वरूप स्वयं क्षत्रिय लोग भी विनष्ट हो गये। तु० की० *सृञ्जय* और *वार्हत्सामा*।

वृहद्-उक्थ का ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट से सूक्त में एक पुरोहित के रूप में उल्लेख है। दसवें मण्डल[2] के दो सूक्तों में यह निश्चित रूप से एक ऋषि है। *दुर्मुख पाञ्चाल* का प्रतिष्ठापन करनेवाले के रूप में इसका ऐतरेय ब्राह्मण[3] में भी उल्लेख है, और शतपथ ब्राह्मण[4] में इसे ही *वामदेव* का पुत्र कहा गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण[5] में यह *वामनेय* ('वाम्नी' का वंशज) के रूप में आता है : हॉपकिन्स[6] का ऐसा मत भी कि यहाँ इसकी 'वामदेव्य' के रूप में कल्पना की गई हो सकती है, सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।[7]

[1] ५. १९, ३, जहाँ रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० इसे विशेषणात्मक मानते हैं। तु० की० ऑल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २१४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२६।

[2] १०. ५४, ६; ५६, ७।

[3] ८. २३।

[4] १३. २, २, १४।

[5] १४. ९, ३७. ३८।

[6] ट्रा० सा० १५, ५५, नोट २।

[7] पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ९, २७, वास्तव में १४. ९, ३८ के समानान्तर ही है।

वृहद्-गिरि को पञ्चविंश ब्राह्मण (८. १, ४) में उन तीन *यतियों* में से एक वताया गया है जो इन्द्र द्वारा यतियों के सामूहिक वध से वच गये थे। इसी ब्राह्मण (१३. ४, १५–१७) में इसके एक सामन् का भी उल्लेख है।

वृहद्-दिव, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उसी सूक्त के प्रणेता के रूप में आता है, और अपने को एक अथर्वन् कहता है। ऐतरेय ब्राह्मण[2] में इसका उल्लेख है और शाङ्खायन आरण्यक[3] के वंश (गुरुओं की तालिका) में इसे *सुम्नयु* का शिष्य वताया गया है।

[1] १०. १२०, ८. ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३३; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १४१।

[2] ४. १४।

[3] १५. १।

बृहद्-रथ का ऋग्वेद[1] में दो बार और दोनों ही दशाओं में *नववास्त्व* के साथ उल्लेख है। इस प्रकार यह नाम 'नववास्त्व' की एक उपाधि हो सकता है।

[1] १. ३६, १८; १०. ४९, ६।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १४७, १४८।

बृहद्-वसु, वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७४

बृहस्पति (स्तुति के अधिपति), वैदिक ग्रन्थों में एक देवता का नाम है। थिबो[1] का ऐसा मत कि यह नाम बृहस्पति नामक ग्रह का द्योतक है, सुप्रमाणों द्वारा कदापि पुष्ट नहीं होता। इस मत को अस्वीकृत करने में औल्डेनबर्ग[2] स्पष्टतः ठीक प्रतीत होते हैं।

[1] ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमैटिक, ६।
[2] न० गो० १९०९, ५६८, नोट ३; ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० १६, xciv, तिलक : ओरायन, १०१ को शुद्ध करते हुये। देखिये फ्लीट : ज० ए० सो०, १९११, ५१४–५१८; और कीथ : वही, ७९४–८००, मी।

बृहस्पति-गुप्त शायस्थि का वंश ब्राह्मण[1] में *भवत्रात शायस्थि* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

बृहस्पति-सव, एक ऐसे यज्ञ का नाम है जिससे, तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] के अनुसार, यदि कोई *पुरोहित* बनना चाहता था तो वह इस पद को प्राप्त कर सकता था। आश्वलायन श्रौत सूत्र[2] के अनुसार यह एक ऐसा यज्ञ होता था जिसे *वाजपेय* के पश्चात पुरोहितों को करना होता था, जब कि राजा *राजसूय* करता था। दूसरी ओर शतपथ ब्राह्मण[3] में 'बृहस्पति-सव' को वाजपेय के साथ समीकृत किया गया है; किन्तु इस प्रकार का समीकरण स्पष्टतः बहुत पुरातन नहीं है।[4]

[1] २. ७, १, २।
तु० की० काठक संहिता ३७. ७; पञ्चविंश ब्राह्मण, १७. ११, ४; २५. १, १. ७।
[2] ९. ९, ५.।
[3] ५. २, १, १९।
[4] एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, xxiv, xxv; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १०७, १०८।

वेकनाट ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आता है जहाँ इन्द्र को वेकनाटों और पणियों को पराभूत करनेवाला कहा गया है। अतः इसका स्वाभाविक आशय 'कुसीदक' है, और यास्क[2] ने भी इसकी इसी रूप में व्याख्या की है। इस शब्द में कुछ विदेशीपन का आभास तो मिलता है, किन्तु इसके उद्गम को कदाचित ही निर्धारित किया जा सकता है : इसे जितना वेबिलोनियन कहा जा सकता है उतना ही आदिम भी।[3] हिलेब्रान्ट[4] के विचार से ब्रुनहॉफर द्वारा किया गया 'वेकनाट' और 'विकनिर' का समीकरण ठीक है।

[1] ८. ६६, १०।
[2] निरुक्त ६. २६।
[3] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ४४।
[4] वेदिशे माइथौलोजी, ३, २६८, नोट १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५९।

वेकुरा, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में आता है, जहाँ इसका अर्थ 'ध्वनि' अथवा 'वाणी' हो सकता है। नैघण्टुक[2] ने भी इसे यही आशय प्रदान किया है। फिर भी, वकुर की ही भाँति, ऐसा सम्भव हो सकता है कि यह किसी वाद्य-यन्त्र का ही नाम हो। तैत्तिरीय[3] और काठक[4] संहिताओं में 'अप्सरसों' की उपाधि के रूप में 'वेकुरि' और 'वेकुरि' शब्द आते हैं, जिनका अर्थ कदाचित् 'लयात्मक' है; वाजसनेयि संहिता[5] और शतपथ ब्राह्मण[6] में इनके 'भकुरि' और 'भाकुरि' विभेदात्मक रूप मिलते हैं।

[1] १. ३, १; ६. ७, ६; जैमिनीय ब्राह्मण १. ८२।
[2] १. ११।
[3] ३. ४, ७, १।
[4] १८. १४।
[5] १८. ४२।
[6] ९. ४, १, ९

वैज-वाप ('वीजवाप' का वंशज), माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५, २०; ४. ५, २६) के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में किसी गुरु का नाम है।

वैज-वापायन (वैजवाप का वंशज), माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५, २०; ४. ५, २६) के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में किसी गुरु का नाम है। इस नाम का अक्षर-विन्यास 'वैजवापायन' भी है।

वैज-वापि ('वीजवाप', अथवा 'वीजवापिन्' का वंशज), मैत्रायणी संहिता (१. ४, ७) में एक गुरु का नाम है।

बैन्द, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों में से एक का नाम है। भाष्यकार महीधर के अनुसार यह शब्द 'निषाद' का द्योतक है, किन्तु सायण के अनुसार मछलियाँ पकड़नेवाले का। देखिये *मृगयु*।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १।

बोध, मन्त्र-पाठ[1] में एक ऋषि का नाम है। अथर्ववेद[2] में इसका *प्रतिबोध* के साथ उल्लेख है, किन्तु व्हिट्ने[3] का विचार है कि कम से कम द्वितीय स्थल पर यह शब्द केवल एक साधारण संज्ञा है, जिसका अर्थ 'प्रबुद्ध' है।

[1] २. १६, १४। तु० की० विन्टर्नित्स : मन्त्र-पाठ xlv।
[2] ५. ३०, १०; ८. १, १३।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद, ४७४।

बौधायन (बुध अथवा *बोध* का वंशज) एक ऐसे गुरु का नाम है जिसका बौधायन श्रौत सूत्र[1] में उल्लेख है। इसके नाम से एक श्रौत सूत्र प्रचलित है जिसका वर्णन[2] और आंशिक सम्पादन कैलेण्ड[3] ने किया है। इसका ही एक धर्म सूत्र भी है जिसका सम्पादन[4] और अनुवाद[5] हो चुका है; किन्तु इसका गृह्य सूत्र अभी भी असम्पादित है।

[1] ४. ११, इत्यादि।
[2] ऊ० बौ० १९०३।
[3] बिब्लियोथेका इन्डिका १९०४, इत्यादि।
[4] हुल्श द्वारा, लीपज़िग, १८८४।
[5] बूहलर : से० बु० ई० १४। देखिये इनकी प्रस्तावना xxix और बाद, जहाँ आप बौधायन के काल का अत्यानुमान करते हैं।

बौधी-पुत्र (*बोध* के एक स्त्री-वंशज का पुत्र), माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३१) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *शालङ्कायनीपुत्र* के एक शिष्य का नाम है।

ब्रह्म-चर्य, जीवन के चार आश्रमों में से एक (*ब्रह्मचारिन्*)[1] का द्योतक है। इस शब्द का पारिभाषिक आशय सर्वप्रथम ऋग्वेद[2] के अन्तिम मण्डल में मिलता है। ब्रह्मचर्य-आश्रम मुख्यतः एक विद्यार्थी जीवन होता था। यद्यपि बहुत कुछ तात्कालीन प्रचलनों के आधार पर ही इस प्रथा का विकास तथा

[1] ऋग्वेद १०. १०९, ५; अथर्ववेद ६. १०८, २; १३३, ३; ११. ५, १ और बाद; शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, १, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद, उ० स्था०।

नियन्त्रण हुआ होगा; तथापि वैदिक साहित्य में नियमित रूप से इसकी चर्चा और मान्यता है, जिससे स्पष्ट है कि यह वैदिक समाज का एक अनिवार्य अङ्ग बन चुका था।

'ब्रह्मचारिन्' के सम्मान में अथर्ववेद[3] में एक सम्पूर्ण सूक्त मिलता है जिसमें ब्रह्मचर्य-जीवन की समस्त आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख है। गुरु[4] द्वारा बालक को एक नवीन जीवन की दीक्षा (उप-नी) दी जाती है, वह मृगचर्म धारण करता है और अपने केशों को कटवाता नहीं;[5] वह ईंधन एकत्र करता है,[6] भिक्षाटन करता है,[7] और ज्ञानार्जन तथा प्रायश्चित करता है। बाद के वैदिक साहित्य में इन सभी विशेषताओं का उल्लेख है। विद्यार्थी गुरु-गृह में ही रहता है ('आचार्य-कुल-वासिन्';[8] अन्ते-वासिन्[9]); भिक्षाटन करता है;[10] तथा यज्ञाग्नि की देख-रेख[11] और गृह-कार्य भी करता है।[12] उसके

[3] ११. ५। तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. २, १-८, जिसमें ब्रह्मचारिन् का एक स्वतंत्र विवरण मिलता है (ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद, ११०); शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, १ और बाद; तैत्तिरीय संहिता ६. ३, १०, ५।

[4] अथर्ववेद ११. ५, ३। कौशिक सूत्र ५५. १८, के अनुसार यह उपनयन संस्कार में प्रयुक्त हुआ है।

[5] अथर्ववेद ११. ५, ६।

[6] अथर्ववेद ११. ५, ४. ६।

[7] अथर्ववेद ११. ५, ९।

[8] छान्दोग्य उपनिषद् २. २३, २। ऐसे ही नियमित रूप से 'ब्रह्म-चर्येण वस्', अथर्ववेद ७. १०९, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४, इत्यादि; अथवा 'चर्', शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ६, ३, इत्यादि।

[9] वही ३. ११, ५; ४. १०, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १५ (माध्यंदिन = ६. ३, ७ काण्व); तैत्तिरीय उपनिषद् १. ३, ३; ११, १।

[10] छान्दोग्य उपनिषद् ४. ३, ५। तु० की० अथर्ववेद ६. १३३, ३; शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, ५।

[11] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १०, २ और बाद; शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, ४।

[12] शतपथ ब्राह्मण ३. ६, २, १५। आश्वलायन गृह्य सूत्र १. २२, १. २, के एक मंत्र में, तथा अन्यत्र भी, ब्रह्मचारिन् के कर्त्तव्यों का इस प्रकार वर्णन है: 'तुम एक ब्रह्मचारी हो: जल खाओ; अपने कर्त्तव्य का पालन करो; दिन के समय सोओ नहीं; अपने गुरु तथा वेदाध्ययन के प्रति निष्ठा रक्खो (ब्रह्मचार्य् अस्य्; अपोऽशान; कर्म कुरु; दिवा मा स्वाप्सीर्; आचार्याधीनो वेदं अधीष्व')। ऐतरेय आरण्यक ३. १, ६, शाङ्खायन आरण्यक ७. १९, और छान्दोग्य उपनिषद् ४. ५, ५, में जिस एक कर्त्तव्य का विशेष रूप से उल्लेख है वह है गुरु के पशुओं पर चरते समय निगरानी रखना। इसमें भी सन्देह नहीं कि शिष्य को इन चारागाहों से सूखे उपले तथा ईंधन के लिये लकड़ियाँ भी लाना होता था। गुरु के प्रति निष्ठा के लिये, तु० की० शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, ६।

विद्यार्थी-जीवन की अवधि पर्याप्त विस्तृत होती है जिसे सामान्यतया बारह वर्ष माना गया है,[13] किन्तु अधिक दीर्घकाल, जैसे बत्तीस वर्ष तक का भी उल्लेख मिलता है।[14] विद्यार्थी-जीवन आरम्भ होने की अवस्था भी भिन्न-भिन्न है।[15] *श्वेतकेतु* ने बारह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी-जीवन आरम्भ किया था और बारह वर्षों तक विद्यार्थी रहा।[16]

गृह्य सूत्रों में ऐसी मान्यता है कि आर्यों के तीनों उच्च वर्णों को ब्रह्मचर्य-आश्रम का पालन करना चाहिये। किन्तु यह मान्यता केवल पुरोहितों की व्यवस्था मात्र है अथवा और कुछ, यह निश्चित नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि *क्षत्रिय* और *वैश्य* जाति के कुछ लोग उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम का पालन करते थे, जिस प्रकार सभी वर्गों के बर्मा के बालक विद्यार्थियों के रूप में कुछ समय विहारों में व्यतीत करते हैं। ऐसा, राजा द्वारा ब्रह्मचर्य के विरुद्ध अपने देश की रक्षा करने के अथर्ववेद[17] में उपलब्ध सन्दर्भ द्वारा—यद्यपि इस स्थल की एक भिन्न रूप से व्याख्या की जा सकती है—और अधिक स्पष्ट रूप से काठक संहिता[18] में वर्णित उस संस्कार द्वारा जिसका प्रयोजन विद्यार्जन किये हुए एक ब्राह्मण व्यक्ति को लाभान्वित करना है, तथा उपनिषदों में *जनक* जैसे उन राजाओं के सन्दर्भ द्वारा भी सिद्ध होता है जिन्होंने वेदों और उपनिषदों का अध्ययन किया था।[19] फिर भी सामान्यतया क्षत्रिय लोग युद्धकला ही सीखते थे।[20]

ब्रह्मचारियों का एक कर्त्तव्य आचरण को पवित्र रखना होता था। किन्तु अनेक स्थलों[21] पर विद्यार्थी और गुरु-पत्नी के बीच आचरण-भ्रष्टता का सन्दर्भ मिलता है, और ऐसे अपराध के लिये कठिन दण्ड—बाद में स्थिति भिन्न थी—

[13] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १०; ६. १, २

[14] वही, ८. ७, ३ (बत्तीस वर्ष); १५ (आजीवन), इत्यादि।

[15] देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, २१। सूत्रों में ब्राह्मण के लिये ८ से १६ वर्ष; क्षत्रिय के लिये ११ से २२ वर्ष, और वैश्य के लिये १२ से २४ वर्ष, तक की स्वीकृति है। क्षत्रिय और वैश्य के अन्तरों की तुलना में ब्राह्मण और क्षत्रिय के अन्तरों से ऐसा व्यक्त होता है कि ब्राह्मण की तुलना में क्षत्रियों और वैश्यों की स्थिति भिन्न थी।

[16] छान्दोग्य उपनिषद् ६. १, २।

[17] १५. ५, १७। तु० की० व्हिट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, ६३९, में लैनमैन।

[18] ९. १६ ('अब्राह्मण' पाठ है)।

[19] बृहदारण्यक उपनिषद् ४. २, १।

[20] तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १०६–११३।

[21] तैत्तिरीय आरण्यक १०. ६५; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १०, ९।

की भी व्यवस्था नहीं है। कुछ दशाओं में संस्कार भी चारित्रिक पवित्रता का उल्लङ्घन करने की स्वीकृति देते हैं; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि केवल गर्भाधान के लिये एक अभिचार के रूप में ही ऐसा विधान है।[२२]

कभी-कभी एक वृद्ध पुरुष तक शिष्य बन सकता था, जैसा कि *आरुणि* के उदाहरण से स्पष्ट होता है।[२३]

[२२] काठक संहिता ३४. ५; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ९, ४; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, १२५, नोट १; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ७१।

[२३] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, ६ (माध्यंदिन = ६. २, ४ काण्व)। तु० की० फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, २०२, २०३; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, १५१; वेबर : उ० पु० १०, १२१ और बाद; ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स, ३७०, ३७१, और देखिये **ब्राह्मण**।

ब्रह्म-ज्य[१] (ब्राह्मण को त्रस्त करनेवाला) और *ब्रह्म-ज्येय*[२] (ब्राह्मणों को त्रसित करना) ऐसे शब्द हैं जिनका अथर्ववेद में अनेक बार उन जघन्य अपराधों के वाचक के रूप में उल्लेख है जिनको करनेवाले व्यक्तियों का विनाश हो जाता है। देखिये *ब्राह्मण*।

[१] ५. १९, ७. १२; १२. ५, १५ और बाद; १३. ३, १। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ९, २।

[२] अथर्ववेद १२. ४, ११।

ब्रह्म-दत्त चैकितानेय ('चेकितान' का वंशज), बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ३, २४) में एक गुरु का नाम है। एक कुरु राजा *अभिप्रतारिन्* द्वारा प्रतिपालित होने के रूप में इसका ही जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. ३८, १; ५९, १) में भी उल्लेख है।

१. ब्रह्मन् (क्लीब०), युद्ध करनेवाले तथा साधारण वर्गों (*क्षत्र* और *विश्*) के विपरीत पुरोहित वर्ग का द्योतक है। यह शब्द अथर्ववेद[१] में, और बहुधा बाद[२] में भी मिलता है। इस वर्ग के सम्मान और पद के लिये देखिये *ब्राह्मण*।

[१] २. १५, ४; ९. ७, ९; १२. ५, ८; १५. १०, ३. ४।

[२] तैत्तिरीय संहिता ३. ३, १, १, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ६. ३; ७. २१, इत्यादि। देखिये **वर्ण** और **क्षत्र** भी।

२. *ब्रह्मन्*, 'पुरोहित' के आशय में ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर तथा बाद में बहुधा मिलता है। ऋग्वेद[१] के अनेक स्थलों पर इसका देवों की प्रशस्ति करनेवाले के रूप में उल्लेख है। कुछ अन्य स्थलों[२] पर 'पुरोहित' का ही आशय पर्याप्त है। ऐसे भी स्थल[३] कुछ कम नहीं जहाँ पौरोहित्य-कर्म का स्पष्ट उल्लेख है, और इस बात पर भी सन्देह[४] करने का कोई आधार नहीं कि प्रायः सभी दशाओं में इस शब्द में पुरोहित-वर्ग के एक सदस्य का ही आशय निहित है। फिर भी ऋग्वेद में ऐसे स्थलों की संख्या पर पर्याप्त सन्देह किया जा सकता है जहाँ इससे सामान्य रूप से यज्ञ का निर्देशन करनेवाले पुरोहित का पारिभाषिक आशय माना जा सके। इसमें सन्देह नहीं कि यह इस आशय में मिलता है, और मूइर[५] तथा रौथ[६] दोनों ने इसके इस प्रकार प्रयुक्त हुये होने के उदाहरणों को स्वीकार किया है; फिर भी, गेल्डनर[७] अनेक स्थलों पर उक्त आशय मानने के लिये उत्सुक हैं, और इस बात पर ज़ोर देते हैं कि *पुरोहित* सामान्यतया एक संकीर्ण आशय में ब्रह्मन् ही होता था। दूसरी

[१] १. ८०, १; १६४, ३४; २. २, ६; ६. ४५, ७; ७. ३३, ११; ८. १६, ७; १०. ७१, ११; ७७, १; ८५, ३. १६. ३४; १०७, ६; ११७, ७; १२५, ५; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], २४४–२४६।

[२] १. १०, १; ३३, ९; १०१, ५; १०८, ७; १५८, ६; २. ३९, १; ४. ५०, ८. ९; ५८, २; ५. २९, ३; ३१, ४; ३२, १२; ४०, ८; ७. ७, ५; ४२, १; ८. ७, २०; १७, २; ३१, १; ३२, १६; ३३, १९; ४५, ३९; ६४, ७; ७७, ५; ९२, ३०; ९६, ५, ९. ९६, ६; ११२, १; ११३, ६; १०. २८, ११; ७१, ११; ८५, २९; १४१, ३; मूइर : उ० पु०, १[२]; २४६–२५१।

[३] १. १०८, ७; ४. ५०, ८. ९; ८. ७, २०; ४५, ३९; ६४, ७; ९२, ३०; ९. ११२, १; १०. ८५, २९; मूइर : १[२], २५८।

[४] उ० स्था०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १९० और बाद।

[५] उ० पु० १[२], २५१, में ७. १, २ (=९. ९१, १०) का उद्धरण देते हुये; ४. ९, ४; १०. ५२, २।

[६] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २, में २. १, २; ९. ९६, ६; १०. ७१, ११; १०७, ६; का उद्धरण देते हुये। अन्तिम तीन स्थलों में से किसी पर भी विशिष्ट आशय उपयुक्ततः आवश्यक नहीं।

[७] वेदिशे स्टूडियन, २, १४५ और बाद; ३, १५५। आप का विचार है कि 'अधीक्षक पुरोहित' का आशय अपेक्षाकृत प्राचीन है, और इन स्थलों पर आप इसी आशय को देखते हैं : १. १५८, ६; ४. ९, ४; ५०, ७. ८; ७. ७, ५; ३३, ११; १०. १४१, ३, इत्यादि।

और, औल्डेनबर्ग,[8] अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना के साथ यह मत व्यक्त करते हैं कि अधिकांश सम्बद्ध स्थलों पर 'ब्रह्मन्' का अर्थ केवल 'पौरोहित्य कर्म करनेवाला' मात्र है, जब कि 'पुरोहित', जो अनिवार्यतः यज्ञ करनेवाले पुरोहित-वर्ग (ऋत्विज्) का सदस्य नहीं था, यज्ञ कराने के समय अधिकतर 'होतृ' पुरोहित ही होता था और केवल बाद में ही 'ब्रह्मन्' के रूप में प्रचलित हुआ। आपके अनुसार यह परिवर्त्तन उस समय हुआ जब सूक्तों का महत्त्व घट गया और उस पुरोहित के कर्त्तव्यों को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाने लगा जो सम्पूर्ण रूप से यज्ञ का अधीक्षण तथा अपनी अभिचारीय शक्तियों से यज्ञ के दोषों का निराकरण करता था।[9] बाद के साहित्य में इस शब्द के दोनों ही आशय सर्वथा प्रचलित हैं।[10]

[8] रिलीजन देस वेद, ३९६, ३९७, जिनका विचार है कि ऋग्वेद को ज्ञात 'ब्रह्मन्' पुरोहित ब्राह्मणाच्छंसिन् था, और आप अधिकांश स्थलों (उदाहरण के लिये ४. ५०, ७. ८) पर केवल 'पुरोहित' का ही आशय देखते हैं। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३७६, ३७७।

[9] तु० की० पिशल : गो०, १८९४, ४२०; हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर, १३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, lxviii; अथर्ववेद, ३२; और देखिये **पुरोहित**।

[10] 'पुरोहित' के रूप में, अथर्ववेद २. ७, २; ४. ३५, १. २; ५. ८, ५; १७, ८; १८, ७; १९, ८; ६. १२२, ५; ८. ९, ३; १०. १, ३; ४, ३०. ३३; ७, २४; ११. १, २५; १२. १, ३८; १९. ३२, ८; तैत्तिरीय संहिता ४. १, ७, १; वाजसनेयि संहिता २६. २; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३, इत्यादि। 'अधीक्षक पुरोहित' के रूप में, अथर्ववेद १८. ४, १५; २०. २, ३; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; २. ३, ११, ४; ३. ५, २, १, इत्यादि; काठक संहिता ३७. १७; और देखिये, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ३४, ३५; ११४; १३५-१३८; ३२७; ३३०-३३७।

ब्रह्म-पुत्र, कुछ स्थलों[1] पर 'पुरोहित के पुत्र' के आशय में प्रयुक्त हुआ है।

[1] ऋग्वेद २. ४३, २; शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, २. ९। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ४३, ६९; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १², १५२।

ब्रह्म-पुरोहित, काठक संहिता[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में मिलता है जहाँ

[1] १९. १०; २७. ४।

[2] १२. ८, ३, २९।

सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश द्वारा इसे 'पौरोहित्य ही जिसका पुरोहित हो', आशय प्रदान किया गया है। यह कुछ सन्दिग्ध ही प्रतीत होता है क्योंकि उस समय तक इसका अधिक सम्भाव्य आशय 'ब्रह्मन्-पुरोहित जिसका पुरोहित हो' ही होगा जब तक क्षत्र की एक उपाधि के रूप में इस शब्द का अर्थ 'जो पौरोहित्य को इससे श्रेष्ठ मानता हो' न मान लिया जाय, जैसा कि वेबर का विचार[3] प्रतीत होता है।

[3] इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३०।

ब्रह्म-बन्धु, ऐतरेय ब्राह्मण[1] और छान्दोग्य उपनिषद्[2] में एक व्यंगात्मक आशय में 'अयोग्य पुरोहित', अथवा 'केवल नाम के पुरोहित' का द्योतक है। तु० की० *राजन्यबन्धु*।

[1] ७. २७।
[2] ६. १, १। तु० की० लाट्यायन श्रौत-सूत्र ८. ६, २८; कात्यायन श्रौतसूत्र २२. ४, २२; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. २९, ९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ९९, १००।

ब्रह्मर्षि-देश—देखिये *मध्यदेश*।

ब्रह्म-वद्य—देखिये *ब्रह्मोद्य*।

ब्रह्म-वादिन् (वेदार्थ का उद्घाटन करनेवाला), बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में एक 'ईश्वरशास्त्रविद्' का द्योतक है। 'ब्रह्म-विद्' (पवित्र तत्वों का ज्ञाता) से भी यही आशय है।[3]

[1] अथर्ववेद ११. ३, २६; १५. १, ८; तैत्तिरीय संहिता १. ७, १, ४; २. ६, २, ३; ३, १; ५. २, ७, १; ५, ३, २; ६. १, ४, ५।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, १०, ६; पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ३, १३; ६. ४, १५; तैत्तिरीय आरण्यक १. २२, ९; ५. २, २; ४, ६; छान्दोग्य उपनिषद् २. २४, १, इत्यादि।
[3] अथर्ववेद १०. ७, २४. २७; ८, ४३; १९. ४३, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ८, ६; तैत्तिरीय उपनिषद् २. १; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ७, ४; ४. ४, ११. १२, इत्यादि।

ब्रह्म-विद्या (ब्रह्म का ज्ञान) उन विज्ञानों में से एक का नाम है जिनकी छान्दोग्य उपनिषद्[1] में गणना कराई गई है। अन्यत्र[2] भी इसका उल्लेख है।

[1] ७. १, २. ४; २, १; ७, १।
[2] बृहदारण्क उपनिषद् १. ४, २०, इत्यादि।

ब्रह्म-वृद्धि का वंश ब्राह्मण[1] में *मित्रवर्चस्* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ३, ३७२, ३८२।

ब्रह्म-हत्या का यजुर्वेद संहिताओं[1] तथा ब्राह्मणों[2] में एक जघन्य अपराध के रूप में उल्लेख है। ऐसी हत्या करनेवाले को 'ब्रह्म-हन्'[3] कहा गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, २; ५. ३, १२, १; वाजसनेयि संहिता ३९. १३, इत्यादि।
[2] शतपथ ब्राह्मण १३. ३, १, १; ५, ३; ५, ४, १; तैत्तिरीय आरण्यक १०. ३८; निरुक्त ६. २७, इत्यादि।
[3] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, २; ६. ५, १०, ३; काठक संहिता ३१. ७; कपिष्ठल संहिता ४७. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, १२; शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ५, ४, इत्यादि। तु० की० धर्म।

ब्रह्मावर्त—देखिये *मध्यदेश*।

ब्रह्मोद्य ब्राह्मणों[1] में ऐसी 'ईश्वरशास्त्र-विषयक समस्याओं' का द्योतक है जो अश्वमेध अथवा दशरात्र जैसे वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध विभिन्न संस्कारों का अनिवार्य अङ्ग होती थीं। कौषीतकि ब्राह्मण[2] में इसका 'ब्रह्म-वद्य' रूप मिलता है, और तैत्तिरीय संहिता[3] के ब्रह्म-वाद्य' का भी कदाचित यही आशय है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ९, २०; ११. ४, १, २; ५, ३, १; ६, २, ५; १३. २, ६, ९; ५, २, ११; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ८, १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २५।
[2] २७. ४।
[3] २. ५, ८, ३।

तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १७२; रिलीजन ऑफ दि वेद, २१६ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ११८, ११९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३९० और बाद; एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, २६, ४५२, ४५३।

ब्रह्मोपनिषद् (ब्रह्म-सम्बन्धी गुह्य सिद्धान्त) छान्दोग्य उपनिषद् (३. ११, ३) में एक शास्त्रीय वार्ता का नाम है।

ब्रह्मौदन, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में यज्ञ करानेवाले 'पुरोहितों के लिये 'पके हुये (ओदन) चावल' का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद ४. ३५, ७; ११. १, १. ३. २०. २३ और बाद; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, ७; ५. ७, ३, ४; ६. ५, ६, १, इत्यादि।
[2] शतपथ ब्राह्मण १३. १, १, १. ४; ३, ६, ६; ४, १, ५, इत्यादि।

१. *ब्राह्मण* (एक 'ब्रह्मन्', अर्थात् एक पुरोहित का वंशज) ऋग्वेद[1] में केवल कुछ ही बार और वह भी अधिकतर उसके अद्यतन भागों में ही मिलता है। अथर्ववेद[2] और बाद[3] में 'पुरोहित' के आशय में यह अत्यन्त प्रचलित है। ऋग्वेद[4] के पुरुष-सूक्त में यह जातियों के चतुर्वर्गीय विभाजन में भी आता है।

यह निश्चित प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में, योद्धा तथा कृषक वर्ग से भिन्न, ब्राह्मणों की एक पृथक जाति बन चुकी थी।[5] वैदिक ग्रन्थों में इन्हें नियमित रूप से *क्षत्रिय* जाति से श्रेष्ठ बताया गया है।[6] यह अपनी अभिचारीय शक्तियों अथवा विभिन्न सांस्कारिक कृत्यों द्वारा जनसामान्य और योद्धाओं को[7], अथवा योद्धाओं के विभिन्न क्षेत्रों को[8], संतुप्त कर सकते थे। यदि यह स्वीकार करना आवश्यक हो, जैसा कभी-कभी किया गया है, कि *राजसूय* के समय ब्राह्मण भी राजा की अभ्यर्चना करते थे,[9] तो भी इस असामान्य स्थिति की इस

[1] १. १६४, ४५; ६. ७५, १०; ७. १०३, १. ७. ८; १०. १६, ६; ७१, ८. ९; ८८, १९; ९०, १२; ९७, २२; १०९, ४। देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १², २५१-२५७; रौथ : ए० नि० १२६; सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, जहाँ ऋग्वेद ८. ५८, १, भी सम्मिलित है; लुडविग ऋग्वेद का अनुवाद ३, २२०-२२६।

[2] २. ६, ३; ४. ६, १; ५. १७, ९; १८, १ और बाद; १९, २ और बाद; ११. १, २८; १९. ३४, ६; ३५, २, इत्यादि।

[3] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ७, २; २. १, २, ८, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ७. ४६, इत्यादि।

[4] १०. ९०।

[5] तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३५; गेल्टनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १४६, नोट १; देखिये वर्ण।

[6] देखिये मैत्रायणी संहिता ४. ३, ८, काठक संहिता २९. १०; वाजसनेयि संहिता २१. २१; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, १५; १३. १, ९, १; ३, ७, ८; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५; ८. ९; पञ्चविंश ब्राह्मण २. ८, २; ११. ११, ९; १५. ६, ३; और तु० की **ब्रह्म-पुरोहित**; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, २७, और बाद।

[7] देखिये मैत्रायणी संहिता २. १, ७; ३. ३, १०; तैत्तिरीय संहिता २. २, ११; २, इत्यादि।

[8] मैत्रायणी संहिता ३. ३, १०।

[9] बृहदारण्यक उपनिषद् १. ४, २३ (माध्यंदिन = १. ४, ११ काण्व)। तु० की० काठक संहिता २८. ५; शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, २; ५. ४, २, ७। इस धारणा की तुलना कीजिये कि केवल सोम ही ब्राह्मणों के राजा हैं, वाजसनेयि संहिता १०. १८; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, २, ३।

सतर्कता के साथ व्याख्या की गई है कि इससे ब्राह्मणों की प्राथमिकता अप्रभावित ही रह जाती है। किन्तु इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि पूर्ण समृद्धि के लिये क्षत्रिय और ब्राह्मण का परस्पर मैत्री-भाव और सहयोग आवश्यक है।[10] यद्यपि यह भी स्वीकार[11] किया गया है कि राजा और सम्भ्रान्त व्यक्ति कभी-कभी ब्राह्मणों को त्रस्त करते हैं, तथापि इस बात का संकेत किया गया है कि ऐसी दशा में उनका (त्रस्त करनेवालों का) निश्चित और शीघ्र पतन हो जाता है।

द्युलोक में रहनेवाले देवों की ही भांति, ब्राह्मणों को पृथ्वी पर रहने वाले देवता कहा गया है;[12] किन्तु ऋग्वेद[13] में ऐसी उक्ति कदाचित ही मिलती है।

ऐतरेय ब्राह्मण[14] में ब्राह्मणों को 'उपहार ग्रहण करनेवाला' (आदायी) और 'समर्पित पदार्थों का पान करनेवाला' (आपायी) बताया गया है। इनके लिये व्यवहृत अन्य दो उपाधियाँ 'अवसायी' और 'यथाकाम-प्रयाप्य' अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्ट हैं। इनमें से प्रथम उपाधि या तो 'सर्वत्र निवास करनेवाला',[15] अथवा 'भोजन ढूंढनेवाला',[16] की द्योतक है, जब कि द्वितीय को सामान्यतया 'स्वेच्छा से भ्रमण करनेवाला' अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु

[10] देखिये तैत्तिरीय संहिता ५. १, १०, ३; काठक संहिता १९. १०; २७. ४; २९. १०; मैत्रायणी संहिता २. २, ३; ७, ७; ३. १, ९; २, ३; ४. ३, ९; वाजसनेयि संहिता २०. २५; पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १७, ४; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ४, ६; ५. ४, ४, १५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १०. १७. २४. २५, इत्यादि। तु० की० **पुरोहित**।

[11] मैत्रायणी संहिता १. ८, ७; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. १०, ८; अथर्ववेद ५. १७-१९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, २, ६; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ५, ४।

[12] अथर्ववेद ५. ३, २; ६. १३, १; ४४, २; १९. ६२, १ (१९. ३२, ८ की तुलना में), और सम्भवतः ५. ११, ११; तैत्तिरीय संहिता १. ७, ३, १; २. ५, ९, ६; काठक संहिता ८. १३; मैत्रायणी संहिता १. ४, ६; शतपथ ब्राह्मण २. २, २, ६; ४, ३, १४; ३. १, १, ११; ४. ३, ४, ४। देखिये वेबर : उ० पु० १०, ३५, ३६; फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, १४६, १४७।

[13] न तो १. १३९, ७, में और न ९. ९९, ६ (देखिये रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'देव') में ही यह आशय किसी प्रकार सम्भव है। त्सिमर ने, आल्टिन्डिशे लेबेन, २०६, में, १. १२८, ८, का उद्धरण दिया है, किन्तु यह भी अनिश्चित ही है।

[14] ७. २९, २। तु० की० **वर्ण**, नोट ७१।

[15] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९. ३२६।

[16] मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४३९।

इससे ब्राह्मणों को आवास-स्थान प्रदान कर सकने के राजा के अधिकार का ही आशय अधिक उपयुक्त होगा।

शतपथ ब्राह्मण[17] में ब्राह्मण के विशेषाधिकारों को इस प्रकार व्यक्त किया गया है: (१) अर्चा; (२) दान; (३) अज्येयता; और (४) अवध्यता। दूसरी ओर इनके कर्त्तव्यों के अन्तर्गत इन बातों को रक्खा गया है: (१) ब्राह्मण्य (आनुवंशिक पवित्रता); (२) प्रतिरूप-चर्या (अपने जातिगत कर्त्तव्यों के प्रति आस्था); और (३) लोक-पक्ति (लोगों को शिक्षा द्वारा पूर्ण बनाना)।

१. ब्राह्मणों का आदर:—ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करनेवाली औपचारिकताओं के सम्बन्ध में वैदिक ग्रन्थों[18] में प्रचुर सन्दर्भ हैं। ब्राह्मणों को 'भगवन्त' कहा गया है[19], और ऐसा विधान है कि यह जहाँ भी जाँय इनका श्रेष्ठ भोजन[20] और मनोरंजन से सत्कार करना चाहिये। पञ्चविंश ब्राह्मण[21] के अनुसार इनकी जातिगत पवित्रता ही इनके वास्तविक ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका किये जाने से इन्हें मुक्त कर देती है।

२. ब्राह्मणों को दान:—ऋग्वेद में 'दानस्तुतियाँ' नियमित रूप से आती हैं, और *दक्षिणा* प्राप्त करने का वैदिक कवियों का लोभ कहीं-कहीं तो सीमा का अतिक्रमण कर गया है। स्वयं वैदिक ग्रन्थों[22] ने ही इस बात को स्वीकार किया है कि दाताओं को प्रसन्न करने के लिये सृजित साहित्य (*नाराशंसी*) अक्सर मिथ्या होता था। फिर भी, यह एक नियम[23] था कि जिस वस्तु को अन्य लोगों ने अस्वीकृत कर दिया हो उसे ब्राह्मणों को स्वीकार नहीं करना चाहिये; इससे ब्राह्मणों द्वारा दान ग्रहण करने में असतर्कता की सम्भावना का तीव्र आभास मिलता है। दान ग्रहण करना इनका ऐसा एकाधिकार था, कि पञ्चविंश ब्राह्मण[24] को इस बात की व्याख्या

[17] ११. ५, ७, १ और बाद। देखिये वेबर: उ० पु० १०, ४१ और बाद।
[18] उदाहरण के लिये, काठक संहिता २५. २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १०, ६; शतपथ ब्राह्मण २. ४, १, १०; ३, ४, ६, इत्यादि।
[19] शतपथ ब्राह्मण १४. ६. १, २।
[20] काठक संहिता १९. १२।
[21] ६. ५, ८; काठक संहिता २७. २।
[22] काठक संहिता १४. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, २, ६. ७।
[23] शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, २५। तु० की बृहदारण्यक उपनिषद् ३. १५, ८; और शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, १४, इत्यादि, भी।
[24] १३. ७, १२।

करनी पड़ी कि *तरन्त* और *पुरुमीळ्ह* ऋग्वेद के एक सूक्त[२५] का निर्माण करके किस प्रकार दान ग्रहण करने के अधिकारी हो सके। पुरोहितों को प्रदत्त दान की अतिरञ्जित प्रशस्ति करने की प्रवृत्ति ने कुछ उपयोगी संख्यावाचक तालिकाओं को जन्म दिया है (*दशन्*)। कुछ स्थलों[२६] पर कुछ उपहारों—अश्व अथवा भेड़—को वर्जित बताया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि सामान्यतया इन नियमों का पालन नहीं किया जाता था।

३. ब्राह्मणों की विमुक्तता:—ब्राह्मणों को साधारण राजशक्ति की सीमा से मुक्त माना जाता था। जब कोई राजा अपना समस्त भूभाग और उस पर स्थित समस्त सम्पत्ति पुरोहित को दान में दे देता था, तो भी, शतपथ ब्राह्मण[२७] के अनुसार ऐसे दान के अन्तर्गत उस भूभाग में बसे ब्राह्मणों की सम्पत्ति सम्मिलित नहीं होती थी। राजा सबको दण्ड दे सकता है किन्तु ब्राह्मण को नहीं,[२८] और वह स्वयं निरापद रहकर एक अयोग्य पुरोहित के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण को त्रस्त भी नहीं कर सकता था।[२९] ब्राह्मण और अब्राह्मण के बीच किसी वैधानिक विवाद में मध्यस्थ को ब्राह्मण के पक्ष में ही अपना निर्णय देना चाहिये।[३०]

ब्राह्मणों का उपयुक्त भोजन *सोम*[३१] है, *सुरा*[३२] अथवा *परिस्रुत्*[३३] नहीं, और इनके लिये कुछ प्रकार का मांस-भक्षण वर्जित है।[३४] दूसरी ओर, यज्ञ के उच्छिष्ट को खाने का अधिकार एकमात्र इन्हें ही है[३५] क्योंकि कोई भी अन्य व्यक्ति ऐसे पवित्र भोजन को ग्रहण करने के योग्य नहीं माना गया है जिसे

[२५] ९. ५८, ३।
[२६] तैत्तिरीय संहिता २. ३, १२, १. २; काठक संहिता १२. ६, इत्यादि।
[२७] १३. ५, ४, २९; ६, २, १८; ७, १, १३।
[२८] वही, ५. ४, २, ३।
[२९] वही, १३. ४, २, १७।
[३०] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ११, ९।
[३१] शतपथ ब्राह्मण १२. ७, २, २; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९। तु० की० काठक संहिता ११. ५; वाजसनेयि संहिता ९. ४०; १०. १८, इत्यादि।
[३२] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, १, ५।
[३३] वही १२. ९, १, १।
[३४] वही, १, २, ३, ९; ७. ५, २, ३७; ऐतरेय ब्राह्मण २. ८।
[३५] शतपथ ब्राह्मण २. ३, १, ३९; ५, ३, १६, इत्यादि। ब्राह्मणों के भोजन के विषय पर, तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १०. ४, ५; १७. १, ९, और ऐतरेय ब्राह्मण ४. ११, भी।

देवों ने ग्रहण कर लिया हो। इसके अतिरिक्त यद्यपि यह चिकित्सक[36] नहीं होते, तथापि चिकित्सक के पास रह कर उसके चिकित्सा-कार्य में सहायता दे सकते हैं।[37] इनकी पत्नी[38] तथा गायें[39] दोनों ही पवित्र मानी गई हैं।

४. ब्राह्मणों की वैधानिक स्थिति :—तैत्तिरीय संहिता[40] में ब्राह्मणों का अनादर करने पर एक सौ (कौन सी वस्तु यह अज्ञात है) और ब्राह्मणों पर प्रहार करने पर एक सहस्र के दण्ड का विधान है; किन्तु ब्राह्मण का रक्त-पात कर देने पर दण्ड का स्वरूप आध्यात्मिक है। शतपथ ब्राह्मण[41] के अनुसार वास्तविक हत्या केवल वही है जिसमें ब्राह्मण का वध किया गया हो। अजुर्वेद[42] में ब्राह्मण की हत्या को किसी अन्य व्यक्ति की हत्या से बड़ा, किन्तु भ्रूण हत्या से छोटा, अपराध माना गया है। किसी ऐसे भ्रूण की हत्या को, जिसका लिङ्ग अनिश्चित हो, ब्राह्मण हत्या के समान अपराध बताया गया है।[43] ब्राह्मण-हत्या का प्रायश्चित केवल अश्वमेध द्वारा,[44] अथवा तैत्तिरीय आरण्यक[45] के अनुसार एक अन्य अपेक्षाकृत छोटे संस्कार द्वारा किया जा सकता है। बाद के संस्कारों में ब्राह्मण के सांस्कारिक-वध की स्वीकृति[46] और *शुनः शेप*[47] की कौतूहलवर्धक कथा में इसका संकेत है। अपने दाता के साथ विश्वासघात करने पर पुरोहित को भी मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है।[48]

[36] तु० की० शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, ८-१४, जहाँ उन अश्विनों को, जो चिकित्सकों के रूप में भी प्रसिद्ध हैं (८. २, १, ३; १२. ७, १, ११) अपवित्र कहा गया है।

[37] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ९, ३। तुलना कीजिये ऋग्वेद १०. ९७, २२, जहाँ इस व्यवसाय के साथ कोई अपयश संयुक्त नहीं है।

[38] अथर्ववेद, ५. १७।

[39] वही ५. १८।

[40] २. ६, १०, २।

[41] १३. ३, ५, ३।

[42] काठक संहिता ३१. ७; कपिष्ठल संहिता, ४७. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, १२।

[43] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, २; काठक संहिता २७. ९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, ४८१; १०, ६६।

[44] शतपथ ब्राह्मण १३. ३, १, १; ५, ४, १, और बाद।

[45] १०. ३८।

[46] शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. १०, १०; १२, १६-२०; वेबर : त्सी० गे० १८, २६८, २६९।

[47] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २०।

[48] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६, ८।

५. **कुलीनता:**—शुद्ध आनुवंशिकता का महत्त्व, किसी ऋषि का वंशज (आर्षेय) होने पर ज़ोर दिये गये होने के तथ्य से स्पष्ट है।[४९] किन्तु, दूसरी ओर, एक अन्य ऐसे सिद्धान्त के चिह्न भी मिलते हैं, जिसके अनुसार दैहिक आनुवंशिकता की अपेक्षा विद्वत्ता को ही ऋषित्व का वास्तविक आधार माना गया है।[५०] इसी के अनुकूल यह तथ्य भी है कि *सत्यकाम जावाल* को अज्ञात पैतृकता के विपरीत भी शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया गया था (इसकी माता एक दासी और अनेक व्यक्तियों से सम्बद्ध थी)।[५१] शतपथ ब्राह्मण[५२] में भी शिष्य के रूप में स्वीकार करने के संस्कार में केवल शिष्य का नाम जानना ही आवश्यक माना गया है। इसीलिये ऋग्वेद के ब्राह्मणों[५३] में *कवष* पर एक *दासी*-पुत्र होने का व्यंग किया गया है, और *वत्स* ने अग्नि परीक्षा[५४] द्वारा इसी प्रकार के आक्षेप से अपने को मुक्त किया था। इसके अतिरिक्त, आनुवंशिकता-संबन्धी सन्देह का निवारण करने के लिये एक अत्यन्त साधारण संस्कार ही पर्याप्त था।[५५] ऐसी दशा में उन *प्रवर* सूचियों को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया होना सन्दिग्ध ही है जिनमें किसी यज्ञ के आरम्भ में होतृ और अध्वर्यु पुरोहितों द्वारा पुरोहितों के पूर्वजों का आवाहन किया गया है।[५६] फिर भी, संस्कार के अनेक अंशों में दो या अधिक पीढ़ियों के ज्ञान की आवश्यकता होती थी,[५७] और एक संस्कार[५८] में दस ऐसे पूर्वजों की आवश्यकता पड़ती थी जिन्होंने सोम-पान किया हो; किन्तु संस्कार का

[४९] देखिये तैत्तिरीय संहिता ६. ६, १, ४; वाजसनेयि संहिता ७. ४६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ४, २; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, १९; १२. ४, ४, ६।

[५०] तैत्तिरीय संहिता ६. ६, १, ४; काठक संहिता ३०. १; मैत्रायणी संहिता ४. ८, १।

[५१] छान्दोग्य उपनिषद् ६. ४, ४।

[५२] ११. ५, ४, १; और तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र के भाष्य में यह उद्धरण: 'जो कोई भी स्तोम भागों (वसिष्ठों की एक विशेषता) का अध्ययन करता है वह एक वसिष्ठ है'; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १०, ७३।

[५३] ऐतरेय ब्राह्मण २. १९; कौषीतकि ब्राह्मण १२. ३; वेबर: उ० पु० २, ३११।

[५४] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६, ६।

[५५] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ६, ४; काठक संहिता २५. ३; पञ्चविंश ब्राह्मण २३. ४, २।

[५६] देखिये वेबर: उ० पु० ९, ३२१; १०, ७८-८१; मैक्स मूलर: ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ३८० और बाद।

[५७] तु० की० उदाहरण के लिये, तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ५; काठक संहिता १३. ५।

[५८] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ५, ४; वेबर: उ० पु० १०, ८५-८८।

अक्षरशः पालन न करना क्षम्य था। इसके अतिरिक्त, *वसिष्ठों* और *विश्वामित्रों* की पृथक् परम्पराओं में संस्कारीय विभेद के स्पष्ट चिह्न वर्तमान हैं।

६. ब्राह्मण का आचरण :—ब्राह्मणों में आचरण-सम्बन्धी उत्कृष्टता का स्तर उच्च होना आवश्यक माना जाता था।[५९] उन्हें सब के प्रति दयालुता[६०] और सज्जनता[६१] प्रदर्शित करना, यज्ञ करना, और दान[६२] ग्रहण करना चाहिये। वाणी की पवित्रता पर विशेष ज़ोर दिया गया है;[६३] इस प्रकार *विश्वन्तर* द्वारा *श्यापर्णों* को अपने अनुचर-वर्ग से वंचित रखने का कारण 'श्यापर्णों' की अपवित्र (अपूता) वाणी ही थी।[६४] इनके जीवन का उद्देश्य ज्ञानोपार्जन[६५] तथा भिक्षाटन[६६] ही होता था। अपने कर्त्तव्यों का पालन न करनेवाले ब्राह्मणों को मिथ्या कहा गया है[६७] (तु० की० *ब्रह्मबन्धु*)। परन्तु सूत्रों में, कर्त्तव्योल्लङ्घन सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का स्वरूप और उनकी प्रकृति अत्यन्त साधारण और अमहत्त्वपूर्ण है।[६८]

७. ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानार्जन :—जैसा कि वैदिक साहित्य[६९] में अनेक स्थलों पर कहा गया है, पुरोहित का उद्देश्य पवित्र ज्ञान (ब्रह्म-वर्चसम्) में प्रवीणता प्राप्त करना होता था। इस प्रकार की प्रवीणता केवल ब्राह्मण जाति तक ही सीमित नहीं थी : राजा लोग भी इसे प्राप्त कर सकते थे, किन्तु वास्तव में इसे क्षत्रियों के लिये विशेष रूप से उपयुक्त नहीं माना जाता था।[७०] अनेक सांस्कारिक कृत्यों को ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति में सहायक बताया

[५९] वेबर : १०, ८८–९६; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४०७ और बाद।

[६०] शतपथ ब्राह्मण २. ३, २, १२।

[६१] वही २. ३, ४, ६।

[६२] वही १३. १, ५, ६।

[६३] वही ३. २, १, २४। तु० की० ४. १, ३, १७; निरुक्त १३. ९; काठक संहिता १४. ५; ३७. २; वाजसनेयि संहिता २३. ६२।

[६४] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७; म्यूर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १² ४३८।

[६५] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ८, ८; ५. १, १।

[६६] वही, ३. ४, १; ४. ४, २६।

[६७] वही ६. ४, ४।

[६८] तैत्तिरीय आरण्यक २. १८, इत्यादि।

[६९] तैत्तिरीय संहिता ४. १, ७, १; ७. ५, १८, १; काठक संहिता, *अश्वमेध*, ५. १४; वाजसनेयि संहिता २२. २२; २७. २; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, १३, १; ऐतरेय ब्राह्मण ४. ११, ६–९; शतपथ ब्राह्मण १३. २, ६, १०; १०. ३, ५, १६; ११. ४, ४, १; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ३, ५।

[७०] शतपथ ब्राह्मण २. १, ३, ६; १३. १, ५, ३. ५; २, ६, ९।

गया है,[७१] किन्तु पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन पर विशेष ज़ोर दिया गया है। इस प्रकार के अध्ययन के महत्व का अनेकशः उल्लेख है।[७२]

अध्ययन का पारिभाषिक नाम 'स्वाध्याय' है : शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के गुणों की विशेष रूप से चर्चा की गई है,[७३] और यह कहा गया है कि एक विद्वान् 'श्रोत्रिय' को प्राप्त आनन्द श्रेष्ठतम सम्भव आनन्द के ही समान होता है।[७४] *नाक मौद्गल्य* के विचार से अध्ययन और अध्यापन सर्वश्रेष्ठ तप (तपस्) हैं।[७५] इस प्रकार के ज्ञानार्जन का उद्देश्य ऋच्, यजुस् और सामन् सम्बन्धी 'त्रयी विद्या' में प्रवीणता प्राप्त करना होता था,[७६] और तीनों वेदों के विद्यार्थी को 'त्रि-शुक्रिय'[७७] अथवा 'त्रि-शुक्र'[७८] कहा गया है। अध्ययन के अन्य विषयों का शतपथ ब्राह्मण,[७९] तैत्तिरीय आरण्यक,[८०] और छान्दोग्य उपनिषद्[८१], इत्यादि, में उल्लेख है। (देखिये *इतिहास, पुराण; गाथा, नाराशंसी; ब्रह्मोद्य; अनुशासन, अनुव्याख्यान, अन्वाख्यान, कल्प, २. ब्राह्मण; विद्या, क्षत्रविद्या, देवजनविद्या, नक्षत्रविद्या, भूतविद्या, सर्पविद्या; अथर्वाङ्गिरसः, दैव, निधि, पित्र्य, राशि; सूत्र* इत्यादि)।

अध्ययन के ठीक-ठीक स्थान तथा समय का तैत्तिरीय आरण्यक[८२] और सूत्रों में निर्देशन मिलता है। यदि ग्राम की सीमा में अध्ययन करना हो तो उसे मन में (मनसा), किन्तु यदि बाहर हो तो बोल कर (वाचा) करना चाहिये।

ऐसे व्यक्तियों से भी विद्वत्ता की आशा की जा सकती है जो सामान्यतया गुरु नहीं होते। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण[८३] के *चरकों* तक को ज्ञान प्राप्त करने का सम्भव स्रोत माना गया है। यहीं ऐसे ब्राह्मणों का भी

[७१] काठक संहिता ३७. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १, १; पञ्चविंश ब्राह्मण २३. ७, ३, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण २, ३, १, ३१, इत्यादि।

[७२] शतपथ ब्राह्मण १. ७, २, ३; ११. ३, ३, ३–६; ५, ७, १०।

[७३] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, ३. ९; ७, १; तैत्तिरीय आरण्यक २. १३।

[७४] बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, ३५–३९; तैत्तिरीय आरण्यक ९. ८।

[७५] वही ७. ८. १०।

[७६] शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, २. ३; २. ६, ४, २–७; ४. ६, ७, १. २; ५. ५, ५, ९; ६. ३. १, १०. ११. २०; १०. ५, २, १. २; ११. ५, ४, १८; १२. ३, ३, २, इत्यादि।

[७७] काठक संहिता ३७. ७।

[७८] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १, २।

[७९] ११. ५, ७, ५–८।

[८०] २. ९. १०।

[८१] ७. १, २. ४; २, १; ७, १।

[८२] २. ११. १२–१५।

[८३] ४. २, ४, १।

उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने राजाओं से ज्ञान प्राप्त किया था, यद्यपि ऐसे राजाओं का सर्वथा महत्त्वपूर्ण होना सन्दिग्ध है, क्योंकि पुरोहितों द्वारा अपने प्रतिपालकों को अपनी पवित्र विद्या में अभिरुचि रखनेवालों के रूप में व्यक्त करना सर्वथा स्वाभाविक ही है : अतः इस प्रकार के उल्लेखों में क्षत्रियों द्वारा वास्तविक और स्वतंत्र अध्ययन का सन्दर्भ देखना बहुत आवश्यक नहीं।[८४] *याज्ञवल्क्य* ने जनक से,[८५] *उद्दालक आरुणि* और दो अन्य ब्राह्मणों ने *प्रवाहण जैवलि* से,[८६] *दृप्तबालाकि गार्ग्य* ने *अजातशत्रु* से,[८७] और 'अरुण' के नेतृत्व में पाँच ब्राह्मणों ने *अश्वपति कैकेय* से,[८८] ज्ञान प्राप्त किया था। कुछ उल्लेखों में ब्रह्मविद्या के वास्तविक शिक्षकों का भी सन्दर्भ है : भ्रमण-शील विद्वान् देशाटन[८९] करते हुये ऐसे शास्त्रार्थों और वाद-विवादों में भाग लेते रहते थे जिनमें दोनों पक्ष पहले से ही हार-जीत के लिये पुरस्कार की घोषणा कर देते थे।[९०] इनके अतिरिक्त जनक-प्रभृत राजा सर्वश्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों को पुरस्कार देते थे;[९१] जनक से ईर्ष्या रखने के कारण अजातशत्रु ने जनक की ही भाँति उदारता प्रदर्शित करने का प्रयास किया था। पुनश्च, ब्राह्मणों[९२] में अनेक विद्वान् महिलाओं का भी उल्लेख मिलता है।

शास्त्रार्थ के एक विशेष रूप को *ब्रह्मोद्य* कहते थे। इसके लिये अश्वमेध[९३] और दशरात्र[९४] आदि यज्ञों के समय नियमित रूप से प्रयोजन होता था। विद्वत्ता का पुरस्कार 'कवि' अथवा 'विप्र' की उपाधि प्राप्त करना होता था।[९५]

[८४] तु० की० (१) क्षत्रिय, और (२) वर्ण।
[८५] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, २, ५।
[८६] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, ११; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, १, और १. ८, १। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४३६, ५१४-५१६।
[८७] बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १; कौषीतकि उपनिषद् ४. १।
[८८] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, २।
[८९] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३, १। तु० की० ३. ७, १।
[९०] शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, १।
[९१] वही ११.६,३,१; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १-९, २०. २९।
[९२] ऐतरेय ब्राह्मण ५. २९; कौषीतकि ब्राह्मण २. ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३, १; ७, १। तु० की० आश्वलायन गृह्य सूत्र, ३. ४, ४; शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४. १०।
[९३] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, २, ११।
[९४] वही, ४. ६, ९, २०।
[९५] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ९, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ५, ३, १; शतपथ ब्राह्मण १. ४, २, ७; ३. ५, ३, १२। तु० की० बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, २९, भी।

८. **ब्राह्मणों के कर्त्तव्य:**—ब्राह्मणों से केवल व्यक्तिगत ज्ञानार्जन की ही नहीं, वरन् एक गुरु अथवा पुरोहित के रूप में दूसरों को भी अपनी योग्यता से लाभान्वित करने की आशा की जाती थी।

इसमें सन्देह नहीं कि एक गुरु के रूप में ब्राह्मण को अपने पुत्र को शिक्षा तथा यज्ञीय संस्कार, दोनों का ज्ञान प्रदान करना होता था।[९६] वैदिक ग्रन्थों में आरुणि और *श्वेतकेतु*,[९७] अथवा पौराणिक 'वरुण' और 'भृगु'[९८] के रूप में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। सामवेद के वंश ब्राह्मण[९९] और शाङ्खायन आरण्यक[१००] के वंश (गुरुओं की तालिका) में मिलनेवाले कुछ नामों से भी यही तथ्य व्यक्त होता है। दूसरी ओर, उक्त तथा शतपथ ब्राह्मण के वंशों द्वारा यह भी स्पष्ट होता है कि पिता अक्सर किसी प्रसिद्ध आचार्य से ही अपने पुत्र को शिक्षित कराना अधिक अच्छा समझता था। गुरु और शिष्य के सम्बन्ध का *ब्रह्मचर्य* के अन्तर्गत उल्लेख किया गया है। एक गुरु अनेक शिष्यों को ग्रहण कर सकता था,[१०१] और उन सभी को उसे अपने समस्त मनोयोग से शिक्षा देनी होती थी।[१०२] गुरु के लिये अपने शिष्यों को समस्त ज्ञान प्रदान करना आवश्यक होता था, और कम से कम उन शिष्यों को तो अवश्य ही, जो एक वर्ष तक उसके साथ रह लेते थे (संवत्सर-वासिन्)[१०३]। इस व्याहृति (संवत्सर-वासिन्) से ऐसा व्यक्त होता है, और जो स्वाभाविक भी था, कि एक शिष्य सरलतापूर्वक अपना गुरु बदल सकता था। किन्तु इसके विपरीत, कुछ ऐसे गुप्त ज्ञान का भी उल्लेख मिलता है जिसे केवल विशेष व्यक्तियों को ही प्रदान किया जाता था।[१०४] प्राचीन ग्रन्थों

[९६] शतपथ ब्राह्मण १. ६, २, ४।
[९७] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १ (माध्यन्दिन = ६. २, १ काण्व)।
[९८] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, १, १।
[९९] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७६।
[१००] १५. १।
[१०१] तैत्तिरीय आरण्यक ७. ३।
[१०२] देखिये तैत्तिरीय आरण्यक ७. ४ (इण्डिशे स्टूडियन, २, २११)।
[१०३] शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, २६. २७। तु० की० ऐतरेय आरण्यक ५. ३, ३।
[१०४] इसी प्रकार वसिष्ठ तथा स्तोमभाग, पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ५, २४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ५, २. १; काठक संहिता ३७. १७; 'प्रवाहण जैवलि' और उनका ब्रह्म-ज्ञान, बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, ११; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, जहाँ यह व्यक्त किया गया है कि 'प्रशासन' क्षत्रियों का कार्य है। अपने भाष्य में शङ्कर ने इस शब्द को 'शिक्षा देना' के अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु इसे असम्भाव्य ही मानना चाहिये; 'नियम' अधिक सम्भव आशय हो सकता है। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, १२८; बौटलिङ्क : बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ८, ९, का अनुवाद।

में तो नहीं, किन्तु सूत्रों[105] में शिक्षण के समय तथा पद्धति का विस्तार से निर्धारण किया गया है।

पुरोहित के रूप में ब्राह्मण लोग सभी बड़े यज्ञों में कार्य करते थे, क्योंकि सरल गृह्य संस्कार साधारणतया इनकी सहायता के बिना भी सम्पन्न किये जा सकते थे। फिर भी, अधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार (श्रौत) इनकी सहायता के बिना सम्भव नहीं होते थे। पुरोहितों की संख्या पृथक्-पृथक् अवसरों पर भिन्न-भिन्न हो सकती थी : सांस्कारिक साहित्य के अनुसार बृहत्तम यज्ञों के समय सोलह पुरोहितों (देखिये ऋत्विज्) की आवश्यकता होती थी। किन्तु अन्य संस्कार चार[106], पाँच[107], छह[108], सात[109], अथवा दस[110] पुरोहितों द्वारा भी सम्पन्न कराये जा सकते थे। पुनश्च, कौषीतकि[111] लोग, साधारणतया निर्धारित सोलह के अतिरिक्त 'सदस्य' नामक एक सत्रहवाँ पुरोहित भी रखते थे, जिसे इसलिये इस नाम से पुकारा गया है कि यह अपने 'सदस्' (आसन) से ही समारोह का अवलोकन करता था। 'सर्प-सत्र' नामक एक अन्य संस्कार के लिये, पञ्चविंश ब्राह्मण[112]

[105] ऋग्वेद प्रातिशाख्य, १५. १ और बाद; ऐतरेय आरण्यक ५. ३, ३; और देखिये वेबर : उ० पु० १०, १२९-१३५।

[106] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३, ६, १-४; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ४, २। चार के नाम इस प्रकार हैं : 'होतृ', 'अध्वर्यु', 'अग्नीध्', और 'उपवक्तृ', : वेबर, १०, १३९, नोट ४।

[107] काठक संहिता ९. १३; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ४, २, जहाँ पिछले नोट में उल्लिखित चार के अतिरिक्त एक दूसरे 'अध्वर्यु' को भी सम्मिलित किया गया है।

[108] काठक संहिता ९. १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, २, ३; तैत्तिरीय आरण्यक ३. ४, ६; शतपथ ब्राह्मण ११. ७, २, ६, जहाँ सूची में 'अध्वर्यु'-'होतृ', 'ब्रह्मन्', के साथ-साथ 'प्रतिप्रस्थातृ', 'मैत्रावरुण', 'आग्नीध्र' भी है।

[109] काठक संहिता ९. १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, २, ५; तैत्तिरीय आरण्यक ३. ५; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ४, २। इनकी संख्या के अन्तर्गत उपरोक्त नोट १०७ के पाँच के अतिरिक्त 'अभिगरौ'—अर्थात् सम्भवतः 'अभिगर' और 'अपगर'—भी सम्मिलित हैं।

[110] काठक संहिता ९. ८, १३-१६; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, ४, १; ३, ६, ४; तैत्तिरीय आरण्यक ३. १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २५; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ४, २। किन दस से तात्पर्य है, यह अनिश्चित है; नोट १०६ के चार की भी गणना कराई गई है।

[111] तु० की० शतपथ ब्राह्मण १०. ४, २, १९; कीथ : ऐतरेय आरण्यक ३७।

[112] २५. १४, ३।

में साधारणतया नियुक्त सोलह के अतिरिक्त और तीन, अर्थात् एक द्वितीय 'उन्नेतृ', एक 'अभिगर', और एक 'अपगर' नामक पुरोहित को भी सम्मिलित किया गया है। बाद के संस्कारों में ब्रह्मन् को अन्य सभी पुरोहितों के ऊपर रक्खा गया है, किन्तु सम्भवतः प्राचीन दृष्टिकोण ऐसा नहीं था (देखिये *ब्रह्मन्*)।

सुचारु रूप से सम्पन्न यज्ञ द्वारा प्रमुखतः 'यजमान'[113] का ही भला होता था, किन्तु पुरोहित भी *दक्षिणा* प्राप्त करने के अतिरिक्त उसके लाभ में भागी होता था। पुरोहितों और यजमानों के बीच विवाद हो जाना दुर्लभ नहीं था, जैसा कि *विश्वन्तर* और *श्यापर्णों*,[114] अथवा *जनमेजय* और *असितमृगों*,[115] के उदाहरण से व्यक्त होता है; और *ऐपावीरों* को भी अवांछित पुरोहित ही कहा गया है।[116] इसके अतिरिक्त, *सुदास्* के पुरोहित एक समय *विश्वामित्र* थे किन्तु बाद में *वसिष्ठ* ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था।

साधारण कर्म-काण्डियों की अपेक्षा *पुरोहित* का पद अनेक अंशों में भिन्न होता था, क्योंकि 'पुरोहित' न केवल यज्ञ ही सम्पन्न कराते थे वरन् राजा के समस्त व्यक्तिगत यज्ञों का भी इन्हीं के द्वारा संचालन होता था। इसीलिये यह लोग लौकिक महत्त्व के विषयों पर अपने प्रतिपालकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव अर्जित कर सकते अथवा कभी-कभी तो निश्चित रूप से कर लेते थे। गृह्य तथा धार्मिक की अपेक्षा राजनैतिक विषयों पर पुरोहितीय शक्ति का प्रभाव निश्चित रूप से पुरोहितों के व्यक्तित्व पर ही आधारित होता था।

वैदिक साहित्य में, बाद में प्रचलित उस नियम की कोई मान्यता नहीं है जिसके अनुसार जीवन का कुछ अंश 'ब्रह्मचारिन्' और कुछ गृहस्थ के रूप में व्यतीत करने के पश्चात् ब्राह्मण लोग संन्यासी[117] (जिसे बाद में

[113] शतपथ ब्राह्मण १. ६, १, २०; ९, १, १२; २. २, २, ७; ३. ४, २, १५; ४. २, ५, ९. १०; ८. ५, ३, ८; ९. ५, २, १६; १२. ८, १, १७, इत्यादि।

[114] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७ और बाद; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४३६ और बाद।

[115] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २७।

[116] तु० की० शतपथ ब्राह्मण ११. २, ७, ३२, जहाँ वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १०, १५३, नोट १, 'ऐपावीर' की एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में नहीं वरन् 'तिरस्कार्य' के अर्थ में व्याख्या करते हैं; किन्तु सायण इसे व्यक्तिवाचक नाम ही मानते हैं और एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ४५, नोट, २, ने भी इसी विचार को ग्रहण किया है।

[117] देखिये, ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स, ३७२ और बाद।

'वानप्रस्थ' और संन्यासिन् के रूप में दो स्तरों में विभक्त कर दिया गया था) बन जाते थे। याज्ञवल्क्य के उदाहरण[११८] से ऐसा प्रकट होता है कि परम तत्व का अध्ययन ऋषि के जीवन को सभी विषयों से रहित करके अपने परिवार तथा पत्नी का भी परित्याग करने के लिये प्रेरित कर देता है। बौद्ध-काल में यही सिद्धान्त ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के लिये भी व्यवहृत हुआ प्रतीत[११९] होता है। इस दिशा में बौद्ध-ग्रन्थों की यूनानी विद्वानों ने कुछ अंशों तक पुष्टि की है।[१२०] महाकाव्य परम्परा[१२१] में सक्रिय जीवन समाप्त होने पर राजाओं द्वारा वन में जाकर संन्यास ले लेने के प्रचलन की भी इस प्रथा के साथ समानता है।

यूनानी आधिकारिक स्रोतों[१२२] से ऐसा भी प्रकट होता है—जैसा कि बौद्ध साहित्य[१२३] की दशा में निश्चित है—कि ब्राह्मण लोग अत्यन्त विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करते थे। वैदिक काल के लिये भी यह कितना सत्य था, इसे बता सकना कठिन है। ड्रुइड्स[१२४] के साथ समानता—जो कुछ दशाओं में अत्यन्त घनिष्ठ है—ऐसा व्यक्त करती है कि ब्राह्मण लोग प्रमुखतः अपने उन व्यवसायों तक ही सीमित रहते थे जिनके अन्तर्गत ज्योतिष,[१२५] इत्यादि जैसे बौद्धिक कार्य ही आते हैं। किसी भी वैदिक प्रमाण द्वारा इसका खण्डन नहीं होता। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के एक सूक्त[१२६] का कवि कहता है कि वह स्वयं एक कवि है और उसका पिता एक *भिषज्* तथा माता *उपल-प्रक्षिणी*। इससे यह प्रकट होता है कि एक ब्राह्मण स्वयं चिकित्सक भी हो

[११८] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, १; ४. ५, १। देखिये ३. ५, १, इनके उन उपदेशों के लिये, इनका व्यवहार जिनका एक तर्कसंगत परिणाम है।

[११९] फिक : डी० ग्ली० ४० और बाद; औल्डेनबर्ग : बुद्ध[५], ७२ और बाद।

[१२०] अर्रियन : इन्डिका, १२. ८. ९; स्ट्राबो, १५. १, ४९. ६०।

[१२१] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १७९ और बाद।

[१२२] देखिये फिक : उ० स्था०।

[१२३] रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया ५७।

[१२४] सीज़र : वेलम गैलिकम, ६. १४। 'ड्रुइड्स' न तो युद्ध करते थे और न कर देते थे; अनेक वर्षों तक अध्ययन करते थे; ज्ञान और संस्कार सम्बन्धी बातों को गुप्त रखते थे; लेखन का प्रयोग नहीं करते थे; और पुनर्जन्म में निश्चित रूप से विश्वास करते थे। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, १९।

[१२५] अतः 'ब्रह्मन्' अट्ठाइसवाँ नक्षत्र है : तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ३, ३; वेबर : नक्षत्र २, ३०६, ३११; इन्डिशे स्टूडियन १०, ४०।

[१२६] ९. ११२।

सकता था जब कि उसकी पत्नी साधारण गृह्य-कार्य करती थी। इसी प्रकार एक पुरोहित युद्धस्थल में जाकर अपनी स्तुतियों द्वारा राजा की सहायता भी कर सकता था, जैसा कि विश्वामित्र[127] तथा बाद में वसिष्ठ[128] ने किया था; किन्तु इससे यह व्यक्त नहीं होता कि पुरोहितगण सामान्यतया युद्ध भी करते थे। ऐसा भी प्रतीत नहीं होता कि यह लोग साधारणतया कृषक अथवा व्यापारी होते थे। दूसरी ओर, यह लोग पशु पालते थे : एक ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य होता था कि वह अपने गुरु के पशुओं की देख-रेख करे।[129] अतः यह मानना निरर्थक ही है कि यह लोग कृषि अथवा व्यवसाय में कभी भी प्रवृत्त नहीं होते थे। बाद में तो निश्चित रूप से यह ऐसे कार्य करते थे। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि उस बौद्ध-काल की अपेक्षा जिसमें वैदिक यज्ञ-विज्ञान और कर्मकाण्ड सर्वथा अप्रचलित हो चला था, बहुत सम्भवतः वास्तविक वैदिक काल में ब्राह्मणों के लिये जीवन-यापन की समस्या उतना अधिक महत्त्व नहीं रखती थी जितनी कुलीनता की।

यह स्पष्ट है कि अपने दोषों के विपरीत भी, ब्राह्मण लोग वैदिक-जीवन के बौद्धिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे, और यदि उस जीवन में क्षत्रियों का कोई महत्त्व था भी तो वह केवल एक गौण तथा अल्प सीमा तक ही। ऐसी मान्यता स्वाभाविक है कि ब्राह्मण लोग ऐसे गीतों या गाथाओं की भी रचना करते थे जिन्हें महाकाव्य की रचना-पद्धति का पूर्वगामी कहा जा सकता है; क्योंकि यद्यपि ऐसी कोई रचना केवल कुछ पंक्तियों से अधिक उपलब्ध नहीं, तथापि प्रतिपालकों की उदारता की प्रशस्तियाँ पुरोहितीय-रचनाओं में निहित और सुरक्षित हैं। शतपथ ब्राह्मण[130] की एक गाथा

[127] ऋग्वेद ३. ३३, ५३।

[128] ऋग्वेद ७. १८।

[129] छान्दोग्य उपनिषद् ४. ४, ५; ऐतरेय आरण्यक ३. १, ६।

[130] १. ४, १, १४–१७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, २५७, २७७, २७८, और ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४४।

ब्राह्मणों के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह वेबर के इन्डिशे स्टूडियन, १०, ४०–१५८ में संग्रहीत है। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २२०–२२६; फिक : डी० ग्ली० (बौद्धकाल के लिये; फिर भी प्रमाण अनिश्चित, और उसका अधिकांश बहुत बाद के काल का ही है); हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ८२, १८२, इत्यादि (महाकाव्य में ब्राह्मणों से सम्बद्ध विवरण के लिये); दि म्यूचुअल रिलेशन्स ऑफ दि फोर कास्ट्स एकार्डिङ्ग टु मानव धर्मशास्त्रम् (धर्म

सम्बन्धी दृष्टिकोण के लिये)। मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], २४८ और बाद, ऋग्वेद में पौरोहित्य के विवरण का अध्ययन करते हैं, और त्सिमर ने आल्टिन्डिशे लेबेन, १९७-२१२, में सभी तथ्यों का एक उत्तम सारांश दिया है।

स्पष्ट रूप से ऐसा व्यक्त करती है कि ब्राह्मण लोग केवल स्वयं को ही सभ्यता का प्रसारक मानते थे : इसमें सन्देह नहीं कि *कोसल* और *विदेह* में भी आर्य लोग ही बसे थे, किन्तु इन स्थानों को रहने योग्य तथा सभ्य बनाने का श्रेय पवित्र ब्राह्मणों को ही है। यद्यपि, हमें इस पर सन्देह नहीं व्यक्त करना चाहिये कि अ-ब्राह्मण जातियाँ (देखिये *व्रात्य*) भी बौद्धिक और भौतिक सभ्यता प्राप्त कर सकी थीं, तथापि यह मान लेना तर्क-संगत होगा कि इनकी सभ्यता का स्तर ब्राह्मणों की अपेक्षा निम्न था, क्योंकि हिन्दुत्व का इतिहास ब्राह्मणों द्वारा अपनी सीमा से बाहर की आर्य अथवा अनार्य जातियों पर—शस्त्र से नहीं वरन् बुद्धि से—विजय का इतिहास है।

२. *ब्राह्मण* (धार्मिक व्याख्या),[१] ग्रन्थों के एक ऐसे वर्ग का नाम है जिनका इस प्रकार केवल निरुक्त[२] और तैत्तिरीय आरण्यक[३] में, और उसके बाद सूत्रों में भी उल्लेख है जहाँ ब्राह्मणों का नाम आता है। इससे यह व्यक्त होता है कि ऐसी साहित्यिक कृतियों का अस्तित्व था।

[१] ऐतरेय ब्राह्मण १. २५, १५; ३. ४५, ८; ६. २५, १, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ३. १, ९, ५; ५, २, १; शतपथ ब्राह्मण ३. २, ४, १, इत्यादि। कौषीतकि ब्राह्मण और शाङ्खायन आरण्यक १. और २., में इसका नियमित प्रयोग है।

[२] २. १६; १३. ७।

[३] २. १०।

३. *ब्राह्मण* को रौथ ने, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश[१] में, ऋग्वेद[२] के दो और अथर्ववेद[३] के एक स्थल पर 'ब्राह्मण का सोम कलश' अर्थ में ग्रहण किया है।

[१] तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], २५३, नोट २६।

[२] १. १५, ५; २. ३६, ५

[३] २०. २, ३।

ब्राह्मणाच्-छंसिन् (ब्राह्मण के बाद उच्चारण करनेवाला—अर्थात् 'ब्रह्मन्'), ब्राह्मण-ग्रन्थों[१] में एक प्रकार के पुरोहित का नाम है। यज्ञ-पुरोहितों (*ऋत्विज्*)

[१] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ४, २; ६, ३. ४; १०, १; १८, ५; ७. १, २; कौषीतकि ब्राह्मण २८. ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ६, ९; शतपथ ब्राह्मण ४. २, ३, १३, इत्यादि।

के पारिभाषिक विभाजन में इसे 'ब्रह्मन' के साथ रक्खा गया है,[2] किन्तु स्पष्ट है कि यह वास्तव में 'होत्रक' अथवा 'होतृ' का सहायक होता था।[3] औल्डेनबर्ग[4] के अनुसार ऋग्वेद में यह *ब्रह्मन्* के रूप में ज्ञात था। गेल्डनर[5] ने इसे अस्वीकार किया और 'ब्रह्मन्' में केवल 'अधीक्षक पुरोहित' अथवा 'पुरोहित' का ही आशय देखा है।

[2] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १४४।
[3] उदाहरण के लिये, आश्वलायन श्रौत सूत्र, ५. १०, १०; वेबर : उ० पु० ९, ३७४–३७६।
[4] रिलीजन देस वेद, ३९६।
[5] वेदिशे स्टूडियन, २, १४५ और बाद। तु० की० **पुरोहित**।

श्लेष्क, काठक संहिता[1] में कण्ठपाश के लिये प्रयुक्त रस्सी या फन्दे का द्योतक है। मैत्रायणी संहिता[2] में इसका अक्षर-विन्यास 'श्लेष्क' है।

[1] २३. ६; ३७. १३. १४।
[2] ३. ६, १०। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १०. १९, १ में 'मेष्क' पाठ है।

भ

भग, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर, हिलेब्रान्ट[2] के अनुसार रथ के एक भाग का द्योतक है।

[1] २. ३४, ८।
[2] वेदिशे माइथौलोजी, ३, ९५।

भगिनी (बहन), जिसका शब्दार्थ इस दृष्टि से 'भाग्यशालिनी' है कि इसका एक भ्राता होता है। यह निरुक्त (३. ६) में आता है।

भगी-रथ ऐक्ष्वाक (*इक्ष्वाकु* का वंशज), जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (४. ६, १. २) में एक राजा का नाम है। यह उल्लेखनीय है कि इसे *कुरु-पञ्चालों* के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखनेवाला बताया गया है, जो ऐसा संकेत करता है कि 'इक्ष्वाकु-गण' पूर्वी भारत में रहनेवाले (जैसा कि बौद्ध ग्रन्थों में है) नहीं वरन् उक्त लोगों (कुरु-पञ्चालों) के साथ सम्बद्ध थे।

भङ्ग का अथर्ववेद[1] में उल्लेख है। ऋग्वेद[2] में यह, सम्भवतः[3] 'मादक' के

[1] ११. ६, १५; कदाचित शाङ्खायन आरण्यक १२. १४, में भी, किन्तु बहुत सम्भाव्य नहीं है।
[2] ९. ६१, १३।
[3] श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, २९९।

आशय में, सोम की एक उपाधि है जो बाद में 'भाँग' की द्योतक बन गई।[४]

[४] इसी से उस आधुनिक 'भाँग' का द्योतक है जो 'भङ्ग' की सुखाई पत्तियों और उसके काण्ड के सूखे टुकड़ों से बना एक मादक पदार्थ होता है। इसे या तो तम्बाकू की भाँति पीया अथवा मिठाई में मिलाकर खाया जाता है। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६८; ग्रियर्सन : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, २३, २६०; यूल और बर्नेल : हॉब्सन-जॉब्सन, व० स्था० 'बन्ग'।

भङ्गाश्विन, बौधायन श्रौत सूत्र[१] में *ऋतुपर्ण* के पिता का नाम है। महाभारत[२] में इसे 'भाङ्गासुरि' कहा गया है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[3] में 'ऋतुपर्ण-कयोवधी' का 'भङ्गयश्विनौ' के रूप में उल्लेख है।

[१] १०. १२।
[२] ३. २७४५।
[3] २१. २०; कैलेण्ड : त्सी० गे० ५७, ७४५।

भङ्‌य-श्रवस्, तैत्तिरीय आरण्यक[१] में किसी व्यक्ति का नाम है।

[१] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ७८।

भजे-रथ का ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर उल्लेख है, जहाँ लुडविग[२] के विचार से इससे किसी स्थान के नाम का आशय है। ग्रिफिथ[3] इस बात को ही सन्दिग्ध मानते हैं कि यह किसी स्थान का नाम है अथवा किसी व्यक्ति का। रौथ[४] मूल पाठ को भ्रष्ट मानते हैं।[५] तु० की० *भगीरथ*।

[१] १०. ६०, २।
[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८, १६५।
[3] ऋग्वेद के सूक्त, २, ४६३।
[४] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[५] ग्रासमैन : वर्टरबुख, व० स्था०, का विचार है कि यौगिक रूप को दो शब्द मानना चाहिये : 'भजे रथस्य (सत्पतिम्), अर्थात् 'रथ के (अधिपति) को विजित करना'।

भद्र-पदा—देखिये *नक्षत्र*।

भद्र-सेन आजातशत्रव (*अजातशत्रु* का वंशज) किसी व्यक्ति, सम्भवतः किसी राजा का नाम है। शतपथ ब्राह्मण (५.५, ५, १४) में ऐसा कहा गया है कि *उद्दालक* ने इसे वशीकृत कर लिया था।

भय-द आसमात्य (*असमाति* का वंशज), जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[१] में किसी राजा का नाम है। फिर भी, ऑर्टेल[२] इस नाम को 'अभयद' के रूप में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि 'भयद' पुराणों में भी नाम ही है।

[१] ४. ८, ७।
[२] ज० अ० ओ० सो० १६, २४७।

भयमान, सायण के अनुसार, ऋग्वेद[1] के एक ऐसे सूक्त में किसी व्यक्ति का नाम है जिसकी रचना का अनुक्रमणी द्वारा इसे ही श्रेय दिया गया है। फिर भी, यह व्याख्या अनिश्चित है।

[1] १. १००, १७। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], २६६।

भरत, ऋग्वेद और बाद के साहित्य में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जाति के लोगों का नाम है। ऋग्वेद में यह तीसरे और सातवें मण्डलों में *सुदास्* और *तृत्सुओं*[1] के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से आते हैं, जब कि छठवें मण्डल में इन्हें *दिवोदास*[2] के साथ सम्बद्ध किया गया है। एक स्थल[3] पर भरत-गण भी, तृत्सुओं की ही भाँति, *पूरुओं* के शत्रु हैं : तृत्सुओं और भरतों को समीकृत करने के लुडविग[4] के दृष्टिकोण की प्रत्यक्ष शुद्धतापर कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है। अपेक्षाकृत अधिक समीचीनता के साथ औल्डेनबर्ग[5] यह विचार व्यक्त करते हैं कि तृत्सुगण वास्तव में भरतों के पारिवारिक गायक *वसिष्ठ* ही हैं; जब कि गेल्डनर[6] कदाचित अधिक सम्भावना के साथ तृत्सुओं में भरतों के राज-परिवार का आशय देखते हैं। त्सिमर[7] का यह विचार कि तृत्सु और भरत परस्पर शत्रु थे, भौगोलिक आधार तक पर भी अत्यन्त असम्भव है, क्योंकि त्सिमर[8] के ही मतानुसार तृत्सुगण *परुष्णी* (रवि) के पूर्व के क्षेत्र में बसे थे, और इसलिये यह मानना पड़ेगा कि तृत्सुओं के विरुद्ध भरतगण पश्चिम दिशा से आये थे;

[1] ३. ५३, ९. १२. २४; ३३, ११. १२ (विश्वामित्र, जिसे ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७, ७, में तदनुसार 'भरत-ऋषभ' अर्थात् 'भरतों का ऋषभ', कहा गया है); ७. ८, ४; ३३, ६, जिस स्थल पर भरतों की एक पराजय और वसिष्ठ की सहायता से उनकी रक्षा का स्पष्ट सन्दर्भ है; यहाँ, जैसा पहले सोचा गया है (उदाहरण के लिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ३५४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२७) तृत्सुओं द्वारा भरतों की पराजय का आशय नहीं है।

[2] ६. १६, ४. ५। तु० की० मन्त्र १९।

[3] ७. ८, ४।

[4] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७२, और बाद।

[5] त्सी० गे० ४२, २०७। बुद्ध, ४०५ और बाद, में आपने लुडविग के समीकरण को स्वीकार कर लिया है।

[6] वेदिशे स्टूडियन, २, १३६ और बाद।

[7] आल्टिन्डिशे लेबेन, १२७। ब्लूमफील्ड का भी यही विचार है (देखिये ज० अ० ओ० सो० १६, ४१, ४२)।

[8] उ० पु० १२४।

जब कि ऋग्वेद[9] में दो भरत राजाओं को, *सरस्वती*, *आपया* और *दृषद्वती*— अर्थात् भारत के पवित्र क्षेत्र *मध्यप्रदेश* में, रहनेवाला बताया गया है। हिले-ब्रान्ट[10] तृत्सुओं और भरतों के सम्बन्ध में दो जातियों के मिश्रण का आभास देखते हैं; किन्तु यह आपकी इस मान्यता के अतिरिक्त और किसी भी प्रमाण से पुष्ट नहीं होता कि *भरद्वाज* परिवार के सम्बन्ध में दिवोदास के उल्लेख तथा उसी के पुत्र अथवा कदाचित पौत्र सुदास् (तु० की० *पैजवन*) के वसिष्ठों और *विश्वामित्रों* के साथ सम्बद्ध होने के तथ्य की व्याख्या करने के लिये इस प्रकार के सिद्धान्त की ही आवश्यकता है।

बाद के साहित्य में भरत-गण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण[11] में एक राजा तथा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले के रूप में 'भरत दौःषन्ति' का, और *शतानीक सात्राजित* नामक एक अन्य भरत का भी यही यज्ञ करने वाले के रूप में उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[12] में *दीर्घतमस् मामतेय* द्वारा अपना राज्याभिषेक करानेवाले के रूप में 'भरत दौःषन्ति' का, और 'शतानीक' का उस *सोमशुष्मन् वाजरत्नायन* नामक पुरोहित द्वारा अभिषिक्त हुये होने के रूप में उल्लेख है जिसके नाम का स्वरूप बहुत बाद का प्रतीत होता है। भरत लोगों की भौगोलिक स्थिति इस तथ्य द्वारा स्पष्ट हो जाती है कि भरत राजा *काशियों* को विजित और *यमुना* तथा *गङ्गा* के तट पर यज्ञ करते हैं।[13] इसके

[9] ३. २३, ४ : दूसरे मन्त्र में **देवश्रवस्** और **देववात** का भरतों के रूप में उल्लेख है। औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४१०, नोट, यह उल्लेख करते हैं कि महाभारत, ३. ६०६५ में सरस्वती की एक सहायक नदी को 'कौशिकी' कहा गया है, और 'कुशिक-गण' निःसन्देह उस विश्वामित्र-परिवार के ही सदस्य थे जिनका भरतों के साथ सबम्बद्ध होना निर्विवाद है।

[10] वेदिशे माइथौलोजी, १, १११। आप का यह विचार है कि सुदास् और भरत-गण उन तृत्सुओं के बाद आये जिन्होंने इन्हें एक जाति के रूप में परिणत कर दिया तथा वसिष्ठ-गण भरतों के पुरोहित बन गये। आपके मतानुसार वसिष्ठ-गण मूलतः इन्द्र-सोम के नहीं वरन् विशेषतः वरुण के भक्त थे; किन्तु इन दोनों में किसी मत के पक्ष में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है। तु० की० ब्लूमफील्ड को, उक्त नोट ७ में उद्धृत रूप में।

[11] १३. ५, ४।

[12] ८. २३, और २१।

[13] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ११. २१।

अतिरिक्त, सर्वसाधारण के लिये राजा के घोषणा-पत्र में उल्लिखित[14] विभेदों के अन्तर्गत 'कुरवः', 'पञ्चालाः', 'कुरु-पञ्चालाः', और भरताः' आते हैं; और महाभारत में नियमित रूप से कुरुओं के राज-परिवार को भरत-वंशीय ही माना गया है।[15] अतः औल्डेनबर्ग[16] का यह मानना अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के काल तक भरत-गण कुरु-पञ्चाल जाति में विलीन हो चुके थे।

भरतों के सांस्कारिक प्रचलनों का पञ्चविंश ब्राह्मण[17], ऐतरेय ब्राह्मण[18], शतपथ ब्राह्मण[19], और तैत्तिरीय आरण्यक[20] में बहुधा उल्लेख है। ऋग्वेद[21]

[14] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १०, २, और तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ४, २ में 'एष वो, भरता, राजा' वाक्पद है। काण्व शाखा की वाजसनेयि संहिता, ११. ३, ३; ६, ३, में 'कुरवः, पञ्चालाः (प्रत्यक्षतः एक सम्मिलित जाति के के रूप में) है। आपस्तम्ब १८. १२, ७, में जिस जाति के राजा हैं उसके अनुसार विकल्पों के रूप में 'भरताः', 'कुरवः', 'पञ्चालाः', 'कुरु-पञ्चालाः', और 'जनताः' दिया गया है। काठक संहिता १५. ७, और मैत्रायणी संहिता २. ६, ७ में 'एस ते जनते राजा' पाठ है। देखिये वेवर : इन्डियन लिटरेचर, ११४, नोट; फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४६५।

[15] औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०९।

[16] उ० पु० ४०८। आप यह संकेत करते हैं (४०५, नोट) कि शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, में उन जातियों का उल्लेख किये बिना कि यह किस पर राज्य करते थे, केवल कुरु राजा **जनमेजय** और भरत राजाओं का उल्लेख है।

[17] १४. ३, १३; १५. ५, २४ और सम्भवतः १८. १०, ८, जिस पर देखिये, वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, २८, नोट २; नीचे, पृष्ठ—

[18] २. २५; ३. १८। यहाँ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०. २ द्वारा माने गये 'धनलुब्ध सैनिक' के आशय को (जिसका अब बौटलिङ्क के कोश में उल्लेख नहीं है) स्वीकार नहीं किया जा सकता। देखिये वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, २५४; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०७, नोट। दूसरी ओर, ऐयरेय ब्राह्मण (८. १४) की भौगोलिक सूचियों में, मानव धर्म शास्त्र में, अथवा बौद्ध ग्रन्थों में भरतों का उल्लेख नहीं है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि इस समय तक भरत-गण एक जाति नहीं वरन् एक बृहत्तर जाति के अन्तर्गत एक परिवार या उप जाति मात्र रह गये थे।

[19] ५. ४, ४, १।

[20] १. २७, २।

[21] २. ७, १. ५; ४. २५, ४; ६. १६, १९; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ९, १; शतपथ ब्राह्मण १. ४, २, २। रौथ का विचार है कि अग्नि की इस उपाधि का अर्थ सम्भवतः 'युद्धोपम' है, किन्तु यह असम्भाव्य है।

तक में 'अग्नि भारत' (भरतों की) का उल्लेख किया गया है। आप्री सूक्त[२१] में एक देवी 'भारती' भी आती है, जो कि भरतों की मूर्तीकृत दिव्य सुरक्षात्मक शक्ति है : इन सूक्तों में इस देवी के सरस्वती के साथ सम्बद्ध होने के कारण ऋग्वेद[१] में सरस्वती के साथ भरतों के सम्बन्ध का आभास मिलता है। पुनः शतपथ ब्राह्मण[२३] में अग्नि को 'ब्राह्मण भारत' (भरतों का पुरोहित) कहा गया है, और हवि को 'मनुष्वत् भरतवत्' (मनु की भाँति, भरत की भाँति) विसर्जित करने के लिये अग्नि को आहूत किया गया है।[२४]

एक अथवा दो स्थलों[२५] पर सुदास् अथवा दिवोदास, और दूसरी ओर पुरुकुत्स अथवा त्रसदस्यु का सम्बन्ध मित्रवत प्रतीत होता है। जैसा कि औल्डेनबर्ग[२६] का विचार है, सम्भवतः यह तथ्य भरतों और पूरुओं का कुरुओं के साथ सम्मिलन व्यक्त करता है।

ऋग्वेद[२७] के पाँचवें मण्डल में एक भरत का उल्लेख है, किन्तु यह कौन था यह अनिश्चित है।

[२१] ऋग्वेद १. २२, १०; १४२, ९; १८८, ८; २. १, ११; ३, ८; ३. ४, ८, इत्यादि।

[२३] १. ४, २, २।

[२४] १. ५, १, ७।

[२५] १. ११२, १४; ७. १९, ८।

[२६] उ० पु० ४१०।

[२७] ५. ५४, १४।

भरत की एक बाद की गाथा के लिये तु० की० ल्यूमैन : त्सी० गे० ४८, ८० और वाद; फ़ॉन ब्राड्के : वही, ४९८–५०३; और देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ३३८, ३४०, और वाद।

भरद्-वाज, ऋग्वेद के छठवें मण्डल के प्रख्यात[१] प्रणेता का नाम है। यह तथ्य इतना अधिक ठीक है कि 'भरद्वाज[२]' तथा 'भरद्वाजों'[3] का इस मण्डल में गायकों के रूप में वहुधा उल्लेख है। भरद्वाज के सन्दर्भ की प्रकृति से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे इन सूक्तों में से कदाचित ही किसी का

[१] तु० की आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३, ४, २; शाङ्खायन गृह्य सूत्र, ४. १०; बृहद्देवता, ५. १०२ और वाद, जहाँ इसे बृहस्पति का पुत्र और अङ्गिरस का पौत्र कहा गया है (तु० की० ऋग्वेद ६. २, १०; ११, ३ इत्यादि); आर्नाल्ड : वैदिक मीटर, ६१, ६२।

[२] ऋग्वेद ६. १५, ३; १६, ५. ३३; १७, ४; ३१, ४; ४८, ७. १३; ६३, १०; ६५, ६। देखिये ऋग्वेद १. ११२, १३; ११६, १८; १०. १५०, ५; १८१, २, भी।

[3] ऋग्वेद ६. १०, ६; १६, ३३; १७, १४; २३, १०; २५, ९; ३५, ४; ४७, २५; ५०, १५। देखिये ऋग्वेद १. ५९, ७, भी।

समकालीन माना जा सकता है।[४] पञ्चविंश ब्राह्मण[५] के अनुसार यह *दिवोदास* का पुरोहित था। दिवोदास और इसे समान मानने के रौथ[६] के विचार की अपेक्षा यही व्याख्या अधिक उपयुक्त है। दिवादास के गृह के साथ इसके सम्बन्ध का काठक संहिता[७] की उस उक्ति से भी पता चलता है जिसके अनुसार भरद्वाज ने *प्रतर्दन* को राज्य प्रदान किया था। यह मानना अनावश्यक है कि इन दोनों दशाओं में एक ही भरद्वाज से तात्पर्य है, और यह कि प्रतर्दन दिवोदास का पुत्र था: वाद की संहिताओं में कालक्रम पर ध्यान दिये विना ही भरद्वाज का अन्य महान ऋषियों की भाँति उल्लेख है।

भरद्वाजों ने अपने काव्यों में *वृवु, वृसय* और *पारावतों* का उल्लेख किया है।[८] हिलेब्रान्ट[९] ने यह संकेत किया है कि यह लोग *सृञ्जयों* के साथ भी सम्बद्ध थे। विशेष रूप से, शाङ्खायन श्रौत सूत्र[१०] में यह उल्लेख है कि भरद्वाज ने *प्रस्तोक सार्ञ्जय* से पारितोषिक प्राप्त किया था। किन्तु इन सब लोगों, तथा दिवोदास को, अर्कोसिया और ड्रैन्जियाना में स्थिति करना ठीक भी है कि नहीं यह अत्यन्त सन्दिग्ध है।

एक प्रणेता और द्रष्टा के रूप में भरद्वाज का वाद की संहिताओं[११] और ब्राह्मणों[१२] में अक्सर उल्लेख है।

[४] औल्डेनवर्ग: त्सी० गे० ४२, २१०, २१२।
[५] १५. ३, ७।
[६] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। देखिये ऋग्वेद १. ११६, १८; ६. १६, ५; ३१, ४।
[७] ११. १० (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७८)
[८] ६. ६१, १-३।
[९] वेदिशे माइथौलोजी, १, १०४।
[१०] १६. ११: ११।
[११] अथर्ववेद २. १२, २; ४. २९, ५; १८. ३, १६; १९. ४८, ६; काठक संहिता १६. १९; २०. ९; मैत्रायणी संहिता २. ७, १९; ४. ८, ४; वाजसनेयि संहिता १३. ५५, इत्यादि।
[१२] ऐतरेय ब्राह्मण ६. १८; ८. ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ११, १३; ऐतरेय आरण्यक १. २, २; ४, २; २. २, २, ४, इत्यादि; कौषीतकि ब्राह्मण १५. १; २९, ३; ३०. ९।

तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १२८; वेवर: ए० रि० ३१।

भरन्त्, बहुवचन में पञ्चविंश ब्राह्मण[१] के एक स्थल पर, सायण का अनुगमन करते हुये वौटलिङ्क[२] के अनुसार 'योद्धा जाति' का द्योतक है, किन्तु

[१] १८. १०, ८।
[२] डिक्शनरी, व० स्था०।

आशय निश्चित नहीं । वेबर[3] इसमें भरतों का ही सन्दर्भ देखने के पक्षपाती थे, यद्यपि यह शब्द वर्तमानकालिक कृदन्त है ।[4]

[3] इन्डिशे स्टूडियन, १०, २८, नोट २ । तु० की० **भरत,** नोट १७ ।

[4] 'भरताम्' की सायण ने 'भरणं कुर्वतां क्षत्रियाणाम्' के रूप में व्याख्या की है

भरूजी, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर, रौथ[2] के अनुसार, किसी अपकारक पशु का द्योतक हो सकता है ।

[1] २. २४, २८ ।

[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था ।

भर्तृ का, शाब्दिक आशय 'वाहक' के अतिरिक्त, प्राचीन साहित्य[1] में 'पोषक', अथवा 'प्रतिपालक' अर्थ है; किन्तु यहाँ 'पति' का भी आशय मिलता है अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध है । ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर 'पति' ही निश्चित रूप से सर्वोपयुक्त और स्वाभाविक आशय हो सकता है, किन्तु जैसा कि डेल-ब्रुक[3] का उपयुक्त-सा मत है, यहाँ भी 'पिता' का अर्थ सम्भव है, क्योंकि 'माता' को यत्र-तत्र[4] 'भर्त्री' कहा गया है ।

[1] अथर्ववेद ११. ७, १५; १८. २, ३०; शतपथ ब्राह्मण २. ३, ४, ७ (जहाँ 'पति' सम्भव है); ४. ६, ७, २१, इत्यादि ।

[2] ५. ५८, ७ ।

[3] डॉ० व० ४१५, नोट १ ।

[4] अथर्ववेद ५. ५, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, १, ४ ।

भलानस् (बहु०) ऋग्वेद[1] में *पक्थों,* भलानसों, *अलिनों, विषाणिनों,* और *शिवों* के नाम से प्रख्यात उन पाँच जातियों में से एक का नाम है, जिनका दस राजाओं (*दाशराज्ञ*) के युद्ध में *सुदास्* के शत्रु-पक्ष[2] के साथ होने के रूप में उल्लेख है । यह लोग इन राजाओं के विरुद्ध नहीं थे, जैसा कि रौथ[3] और कभी त्सिमर[4] का भी विचार था । बोलन दर्रे के साथ इसके नाम का तुलना करते हुये त्सिमर ऐसा विचार व्यक्त करते हैं कि इस जाति का मूल आवास क्षेत्र पूर्वी कबूलिस्तान था । यह दृष्टिकोण बहुत कुछ तर्क-सम्मत प्रतीत होता है ।

[1] ७. १८, ७ ।

[2] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६०, २६१, जो इस नाम के रूप को 'भलान' मानते हैं (किन्तु ऋग्वेद के मूल पाठ में 'भलानसः' है) और त्सिमर के बाद के विचार पर ध्यान नहीं देते ।

[3] त्सु० वे० ९५ ।

[4] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२६ ।

[5] ऊ० पु० ४३१ । तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७३, २०७

भव-त्रात शायस्थि, वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४,३७२; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४३।

भस्त्रा, शतपथ ब्राह्मण (१. १, २, ७; ६, ३, १६) में चमड़े की बोतल का द्योतक है।

भाकुरि—देखिये *वेकुरा*।

भाग-दुघ (वितरक), यजुर्वेद संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में राजा के रत्नों (*रत्निन्*) में से एक का नाम है। इसके ठीक-ठीक क्या कार्य थे यह अनिश्चित है। कुछ स्थलों[3] पर सायण इस शब्द का 'कर एकत्र करनेवाला', किन्तु कुछ अन्य[4] पर 'नक्काशी काटनेवाला' अनुवाद करते हैं, और इस प्रकार इसे या तो एक कर-अधिकारी अथवा एक राज्य कर्मचारी मात्र मानते हैं।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, २; काठक संहिता १५. ४; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५; ४. ३, ८; वाजसनेयि संहिता ३०. १३।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ५; ३. ४, ८, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, २, १७; ५. ३, १, ९।

[3] तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर, और शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ९, पर।

[4] शतपथ ब्राह्मण १. १, २, १७ पर। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ६३, नोट।

भाग-वित्ति ('भगवित्त' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित 'चूड'[1] अथवा 'चूल'[2] नामक एक गुरु का पैतृक नाम है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १७. १८ माध्यंदिन।

[2] वही, ६. ३ ९ काण्व।

भाडितायन ('भडित' का वंशज), वंश ब्राह्मण[1] में *शाकदास* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३।

भानुमन्त् औपमन्यव (*उपमन्यु* का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में, *आनन्दज* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

भाय-जात्य ('भयजात' का वंशज), वंश ब्राह्मण[1] में *निकोथक* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिट्टरेचर, ४४४।

भारत—देखिये *भरत*।

भारद्-वाज (*भरद्वाज* का वंशज), अनेक गुरुओं का पैतृक नाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् के वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में 'भारद्वाजों को 'भारद्वाज[1]', *पाराशर्य*[2], *वलाकाकौशिक*[3], *ऐतरेय*[4], *असुरायण*[5], और *वैजवापायन*[6] के शिष्यों के रूप में उल्लेख है। ऋग्वेद[7] में भी एक 'भारद्वाज' आता है, और वंश ब्राह्मण[8] में *शूष वाह्नेय* का एक भारद्वाज के रूप में उल्लेख है।

[1] २. ५, २१; ४. ५, २७ (माध्यंदिन = २. ६, २ काण्व)।
[2] २. ६, २, काण्व।
[3] ४. ५, २७, माध्यंदिन।
[4] २. ५, २१; ४. ५, २७ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।
[5] २. ५, २१; ४. ५, २७ माध्यंदिन।
[6] २. ५, २१; ४. ५, २७ माध्यंदिन।
[7] ५. ६१, २।
[8] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

भारद्वाजायन (*भरद्वाज* का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का पैतृक नाम है।

[1] १०. १२, १; निदान सूत्र, ९. ९। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६१, नोट २।

भारद्वाजी-पुत्र (*भरद्वाज* के एक स्त्री-वंशज का पुत्र), बृहदारण्यक उपनिषद् में क्रमशः *पारशरीपुत्र*[1], *पैङ्गीपुत्र*[2] और *वात्सीमाण्डवीपुत्र*[3] के शिष्यों के रूप में अनेक गुरुओं का मातृनामोद्भूत नाम है।

[1] ६. ४, ३१ (माध्यंदिन = ६. ५, २ काण्व।
[2] ६. ४, ३० माध्यंदिन।
[3] वही।

भार्गव (*भृगु* का वंशज), *च्यवन*[1] और *गृत्समद*[2] सहित अनेक गुरुओं का पैतृक नाम है। व्यक्तिगत नामों का संकेत किये बिना भी अनेक अन्य 'भार्गवों का उल्लेख मिलता है।[3]

[1] शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, १; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१।
[2] कौषीतकि ब्राह्मण २२. ४ ('वाभ्रव' पाठांतर सहित)।
[3] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १८, १; शाङ्खायन आरण्यक ७. १५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ८. २, १. ५; प्रश्न उपनिषद् १. १ (वैदर्भि), इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ३, २३; ९, १९. ३९, इत्यादि। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३५।

भार्गायण ('भर्ग' का वंशज), एतरेय ब्राह्मण (८·२८) में *सुत्वन्* का पैतृक नाम है।

भार्म्य्-अश्व ('भृम्यश्व' का वंशज), निरुक्त (९.२३) और बृहद्देवता (६.४६; ८.१२) में *मुद्गल* का पैतृक नाम है।

भार्या, जो कि बाद में सामान्य रूप से 'पत्नी' का द्योतक है, संहिताओं में कहीं भी इस आशय में नहीं आता। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार यह सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण[1] में मिलता है, जहाँ यद्यपि, डेलब्रुक[2] के विचार से इससे केवल परिवार के एक सदस्य (जिसका भरण-पोषण किया जाय) मात्र ही अर्थ है। फिर भी शतपथ ब्राह्मण[3] में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों को इसी नाम से पुकारा गया है।

[1] ७. ९. ८।
[2] डी० व० ४१५। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण १. २९, २०।
[3] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १; ४. ५, १।

भालन्दन ('भलन्दन' का वंशज) तैत्तिरीय संहिता[1], काठक संहिता[2] और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में *वत्सप्री* का पैतृक नाम है।

[1] ५. २, १, ६।
[2] १९. ११।
[3] १२. ११, २५; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५९।

भालुकी-पुत्र ('भालुकी' का पुत्र), बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में, *क्रौञ्चिकीपुत्र*[1] अथवा *प्राचीनयोगीपुत्र*[2] के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] ६. ५, २ काण्व।
[2] ६. ४, ३२ माध्यंदिन।

भाल्ल, उस गुरु का पैतृक नाम है जो जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ३१, ४) में 'प्रातृद' पैतृक नाम धारण करता है।

भाल्लवि, एक ऐसी परम्परा का नाम है, जिसकी आधिकारिता का पञ्चविंश ब्राह्मण (२. २, ४) में उल्लेख है।

भाल्लविन्, ('भल्लविन्' का शिष्य), जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में वर्णित गुरुओं की एक परम्परा का नाम है।

[1] २. ४, ७ (भाल्लविन्' के रूप में अक्षर-विन्यास)। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४४; २, १००; ३९०; निदान सूत्र ५. १; अनुपद सूत्र, २. १; ७. १२; बृहद्देवता ५. २३. १५९

भाल्लवेय (*भाल्लवि* का वंशज), शतपथ ब्राह्मण[1] और छान्दोग्य उपनिषद्[2] में इन्द्रद्युम्न का पैतृक नाम है। सम्भवतः उस 'भाल्लवेय' से भी इसी व्यक्ति का तात्पर्य है, जिसका एक अधिकारी के रूप में अक्सर इसी ब्राह्मण[3] में उल्लेख है।

[1] १०. ६, १, १।
[2] ५. ११, १।
[3] १. ७, ३, १९; २. १, ४, ६; १३. ४, २, ३; ५, ३, ४।

भावयव्य—देखिये *भाव्य*।

भाव्य, जैसा कि ऋग्वेद[1] से प्रकट होता है, एक प्रतिपालक का नाम है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में 'भावयव्य' रूप है जो *कक्षीवन्त्* के प्रतिपालक *स्वनय* का पैतृक नाम है। यह सम्बन्ध ऋग्वेद द्वारा भी पुष्ट होता है जहाँ एक ही मन्त्र[3] में 'कक्षीवन्त्' और 'स्वनय' दोनों का उल्लेख है, जब कि उसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र[4] में भी 'स्वनय' का ही आशय होना चाहिये जहाँ 'भाव्य' का 'सिन्धु के तट पर रहनेवाले' के रूप में उल्लेख है। रौथ[5] का यह विचार कि 'भाव्य' यहाँ सम्भवतः 'पूज्य' के आशय में क्रिया-वाचक है, बहुत सम्भव नहीं। लुडविग[6] का विचार है कि 'स्वनय' *नहुषों* के साथ सम्बद्ध था।

[1] १. १२६, १; निरुक्त ९. १०।
[2] १५. ११, ५। तु० की० बृहद्देवता ३. १४०।
[3] १. १२६, ३।
[4] १. १२६, १।
[5] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था० १, और बाद।
[6] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५१। तु० की० वेबर : ए० रि० २२; औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १२८

भाषा, निरुक्त[1] और पाणिनि[2] में वैदिक भाषा के विपरीत प्रचलित लोकभाषा का द्योतक है। तु० की० *वाच्*

[1] १, ४, ५। तु० की० २. २।
[2] ३. २, १०८; ६. १, १८१। तु० की० फ्रैन्के : बेजेनबर्गर का बीट्रेज, १७, ५४ और बाद, जो पाणिनी के नियमों द्वारा नियामित भाषा का, वार्तालाप में प्रयुक्त 'भाषा' के साथ, विभेद करते हैं। किन्तु देखिये वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १, xliv; कीथ: ऐतरेय आरण्यक, १७९, १८०।

भास, अद्भुत ब्राह्मण[1] में तथा अक्सर महाकाव्य में एक हिंसक पक्षी का नाम है।

[1] ६. ८; देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०।

भिक्षा, शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार *ब्रह्मचारिन्* के कर्त्तव्यों में से एक है। अथर्ववेद[2] में इस शब्द से 'भिक्षा द्वारा प्राप्त पदार्थ' का भी आशय है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश[3] के अनुसार छान्दोग्य उपनिषद्[4] में भी इससे यही आशय है, किन्तु यहाँ इसका शुद्ध पाठ कदाचित *आभिक्षा* है।

[1] ११. ३, ३, ७। तु० की० आश्वलायन गृह्य सूत्र १. ९, इत्यादि, में एक मन्त्र; और 'भिक्षाचर्य', बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १; ४. ४, २६।

[2] ११. ५, ९।

[3] व० स्था० २।

[4] ८. ८, ५, जहाँ भाष्यकार इस शब्द की 'सुगन्धि, पुष्पहार, भोजन' इत्यादि (गन्धमाल्यान्नादि) के रूप में व्याख्या करते हैं।

भिक्षु, एक ऐसा शब्द है जो वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। बाद की आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत *ब्रह्मचारिन्* का भिक्षाटन उस 'भिक्षु-जीवन' के कर्त्तव्यों से सर्वथा भिन्न है जिसमें परिवार का परित्याग कर देने के पश्चात् जीवन के अन्तिम आश्रम में ब्राह्मण केवल भिक्षावृत्ति पर ही निर्भर रहता है। देखिये, *१. ब्राह्मण*।

भित्ति, शतपथ ब्राह्मण[1] में नरकट की पटरियों से विनी चटाई का द्योतक है।

[1] ३. ५, ३, ९। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र, ८. ३, २४।

१. भिषज् (चिकित्सक), ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बहुधा मिलनेवाला एक साधारण शब्द है। ऋग्वेद में इस बात का कोई भी चिह्न नहीं कि इस व्यवसाय को अनादर की दृष्टि से देखा जाता था: अश्विनों,[3] वरुण,[4] और रुद्र,[5] सभी को 'भिषज्' कहा गया है। दूसरी ओर धर्म-शास्त्रीय साहित्य[6] में

[1] २. ३३, ४; ६. ५०, ७; ९. ११२, १; विशेषण 'भेषज', २. ३३, ७; १०. १३७, ६; विशेष्य के रूप में, १. २३, १९. २०; २. ३३, २. ४; ६. ७४, ३; ७. ४६, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ५. २९, १; ६. २४, २; तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ९, २; वाजसनेयि संहिता १६. ५; १९. १२. ८८; ३०. १०, इत्यादि; 'भेषज', विशेषण, अथर्ववेद ६. १०९, ३; वाजसनेयि संहिता १६. ४५, इत्यादि; विशेष्य के रूप में, अथर्ववेद ५. २९, १; ६. २१, २; ११. १, ९, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १. ११६, १६; १५७, ६; ८. १८, ८; ८६, १; १०. ३९, ३. ५; अथर्ववेद ७. ५३, १; ऐतरेय ब्राह्मण १. १८।

[4] देखिये, ऋग्वेद १. २४, ९।

[5] ऋग्वेद २. ३३, ४. ७।

[6] देखिये आपस्तम्ब धर्म सूत्र, १. ६, १८, २०; १९, १५; गौतम धर्म सूत्र, १७. १७; वसिष्ठ धर्म सूत्र १४. २, १९; विष्णु ५१. १०; ८२. ९; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद का अनुवाद, l।

यह व्यवसाय सर्वथा घृणित है। घृणा का यह भाव यजुर्वेद संहिताओं[7] जैसे प्राचीन समय में भी मिलता है, जहाँ अश्विनों की इसलिए भर्त्सना की गई है कि वह 'भेषज' हैं और उनका यह व्यवसाय उन्हें मनुष्यों के अत्यधिक सम्पर्क में ला देता है। यहाँ अविवेकपूर्ण सम्पर्क-सम्बन्धी जातीय घृणा का भाव ही लक्षित होता है।

ऋग्वेद[8] में एक ऐसा सूक्त है जिसमें एक भेषज अपने पौधों और उनकी उपशामक शक्तियों की प्रशस्ति करता है। इसके अतिरिक्त अश्विनों द्वारा आश्चर्यजनक उपचार के भी सन्दर्भ मिलते हैं : लँगड़े[9] और नेत्रहीनों[10] का उपचार, वृद्ध *च्यवन*[11] और *पुरंधि* के पति[12] को पुनः युवक बना देना; *विश्पला*[13] को एक लौह-पाद (जङ्घा आयसी) प्रदान करना, जो कृत्य उस समय और भी आश्चर्यजनक प्रतीत होगा जब हम, जैसा कि पिशल[14] ने विचार व्यक्त किया है, यह मान लें कि विश्पला एक अश्वी थी। यह स्वीकार[15] कर लेना प्रायः एक त्रुटि ही होगी कि वैदिक-भारतीय शल्य-क्रिया से भी परिचित थे : इसमें सन्देह नहीं कि वह घावों की साधारण चीड़-फाड़ करते थे,[16] किन्तु उनकी औषधि और उनकी शल्य-क्रिया दोनों ही अत्यन्त आदिम ही रही होंगी। औषधि के सम्बन्ध में अथर्ववेद में जो कुछ भी विवरण उपलब्ध है उससे केवल अभिचारों[17] के साथ कुछ जड़ी-बूटियों के, तथा जल (तु० की० *जलाष*) के प्रयोग के प्रचलन का ही पता चलता है। इन उपचारीय पद्धतियों की प्रकृति भारोपीय है और इनका विशेष वैज्ञानिक महत्त्व नहीं। दूसरी ओर, शरीर-व्यवच्छेदशास्त्र का ज्ञान (देखिये *शरीर*)

[7] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ९, ३। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. ६, २; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, १४; ब्लूमफील्ड : उ० पु० xxxix, xl।

[8] १०. ९७।

[9] ऋग्वेद १. ११२, ८; १०. ३९, ३, इत्यादि।

[10] तु० की० 'ऋज्राश्व' का दृष्टान्त, ऋग्वेद १. ११६, १७।

[11] ऋग्वेद १०. ३९, ४।

[12] १. ११६, १३।

[13] ऋग्वेद १. ११६, १५, इत्यादि।

[14] वेदिशे स्टूडियन १, १७१ और बाद; ३०५।

[15] जैसा कि त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३९८, में मानने के लिये प्रवृत्त हैं।

[16] तु० की० ऋग्वेद ९. ११२, १।

[17] पञ्चविंश ब्राह्मण, १२. ९, १०, में इस प्रकार कहा गया है : 'भेषजं वा आथर्वणानि' (अथर्वन्-सूक्त ही औषधियाँ हैं); १६. १०, १०; और तु० की० वही, २३, १६, ७; काठक संहिता ११. ५, और २. भिषज्।

जो यद्यपि गम्भीर अशुद्धियों से युक्त है, सर्वथा अमहत्त्वपूर्ण नहीं; किन्तु निश्चित रूप से यह ज्ञान मुख्यतः यज्ञ के समय पशुओं की चीड़-फाड़ पर ही आधारित था।

ऋग्वेद[18] में इस बात के भी कुछ प्रमाण हैं कि चिकित्सा-कार्य उस समय तक एक व्यवसाय बन चुका था। यह तथ्य यजुर्वेद[19] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत एक चिकित्सक के सम्मिलित किये जाने से पुष्ट होता है। ब्लूमफील्ड[20] के अनुसार अथर्ववेद[21] के एक सूक्त में एक चिकित्सक द्वारा अपने कार्यात्मक प्रशिक्षण पर आधारित होने की अपेक्षा घर में बनी औषधियों के प्रयोग को अनुचित बताया गया है।

[18] ९. ११२, जहाँ एक व्यवसाय का ही अर्थ होना चाहिये। वही ३, में चिकित्सक के पारिश्रमिक का सन्दर्भ है। तु० की० १०. ९७, ४. ८, भी।

[19] वाजसनेयि संहिता ३०. १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ४, १।

[20] अथर्ववेद के सूक्त ४५६।

[21] ५. ३०, ५। किन्तु यह आशय संदिग्ध है। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २७७।

तु० की० त्सिमर : उ० पु० ३९७-३९९; ब्लूमफील्ड : उ० पु० (देखिये पृ० ६९७ पर उद्धृत सन्दर्भ); अथर्ववेद ५९ और बाद; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ४२० और बाद; जॉली : मेडिसिन, १६, १७; विन्टर्निज़ : नेचर, १८९८, २३३-२३५; कैलेण्ड : आल्टिन्डिशे त्सावररिचुअल।

२. *भिषज् आथर्वण*, काठक संहिता[1] में उल्लिखित किसी पौराणिक चिकित्सक का नाम है।

[1] १६. ३ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४५९)। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त xxi; ज० अ० ओ० सो० १७, १८१।

भीम वैदर्भ (विदर्भ का राजा), का ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४) में गुरुओं की एक परम्परा के माध्यम से, *पर्वत* और *नारद* द्वारा सोम-रस के स्थापनापन्न के सम्बन्ध में निर्देशन प्राप्त करनेवाले के रूप में उल्लेख है।

भीम-सेन, शतपथ ब्राह्मण[1] में *जनमेजय* के भ्राताओं, *पारिक्षितीयों*, में से एक का नाम है।

[1] १३. ५, ४, ३। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १६. ९, ३।

१. *भुज्यु*, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, ऋग्वेद[1] के दो और वाज-

[1] ४. २७, ४; १०. ९५, ८।

सनेयि संहिता[२] के एक स्थल पर 'जोड़नेवाले' का द्योतक है। किन्तु इन सब स्थलों पर आशय संदिग्ध ही है।

[२] १८. ४२।
तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १२६, जो ऋग्वेद १०. ९५, ८, में 'भुज्यु' को 'उत्कट', 'रतलोलुप', के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

२. *भुज्यु*, *तुग्र* के पुत्र, एक व्यक्ति का नाम है जिसका ऋग्वेद[१] में अश्विनों द्वारा पाताल से बचाये गये होने के रूप में बहुधा उल्लेख है। बूहलर[२] के अनुसार इस स्थल पर हिन्द महासागर में यात्रा करते समय जलयान के भग्न हो जाने पर भुज्यु की रक्षा करने का सन्दर्भ है, किन्तु इस निष्कर्ष की पुष्टि करने के लिये प्रमाण अपर्याप्त हैं। तु० की० *समुद्र* ।

[१] १. ११२, ६. २०; ११६, ३; ११७, १४; ११९, ४; ६. ६२, ६; ७. ६८, ७; ६९, ७; १०. ४०, ७; ६५, १२; १४३, ५।
[२] इन्डिशे पालियोग्राफी, १७
तु० की० वॉनैक, कुन के त्सी०, ३५, ४८५ में; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, २१४; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३. १६, नोट ५; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २४४, २४५; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ५२।

भुज्यु लाह्यायनि ('लह्यायन' का वंशज), बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ३, १) में, *याज्ञवल्क्य* के समकालीन, एक गुरु का नाम है।

भुरिज् (केवल द्विवचन में ही प्रयुक्त) कुछ संदिग्ध आशयवाला शब्द है। रौथ[१] ने इसे कुछ स्थलों[२] पर 'कैंची' और अन्य[३] पर रथकारों द्वारा लकड़ियों को यथा-स्थान लगाने के लिये प्रयुक्त बहुत कुछ बढ़ई के वॉक जैसे दो भुजाओं वाले एक यन्त्र के अर्थ में ग्रहण किया है। *क्षुर* भी देखिये।

[१] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४६६।
[२] ऋग्वेद ८. ४, १६; अथर्ववेद २०. १२७, ४।
[३] ऋग्वेद ४. २, १४; ९. २६, ४; ७१, ५, जहाँ पिशल (वेदिशे स्टूडियन १, २३९–२४३) यह विचार व्यक्त करते हैं कि रथका 'दण्ड' अर्थ है (तु० की० गोभिल गृह्य सूत्र ३. ४, ३१ जिससे ऐसा प्रकट होता है कि रथ का 'दण्ड', जिसे दो भुजाओंवाला कहा गया है, द्विशिख' होता था)। नोट २ में उद्धृत स्थलों के सम्बन्ध में भी यही मत एक ऐसे चर्मपट के बने यन्त्र का आशय व्यक्त करता है जिसमें लकड़ी के दो टुकड़े लगे होते हैं और जिसके बीच में ही पत्थर की चक्की घूमती है।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २५२, २५५।

भूत-विद्या, छान्दोग्य उपनिषद्[१] में उल्लिखित विज्ञानों में से एक है।

[१] ७. १, २. ४; २, १; ७, १। तु० की० लिटिल : ग्रामेटिक इन्डेक्स, ११५।

इससे मनुष्यों को त्रस्त करनेवाले 'पशुओं के विज्ञान' तथा उनको दूर भगाने के उपायों का तात्पर्य प्रतीत होता है।

भूत-वीर, पुरोहितों के परिवार का नाम है, जिनको, ऐतरेय ब्राह्मण[1] के अनुसार, *जनमेजय* ने *कश्यपों* की उपेक्षा करते हुये अपने लिये नियुक्त किया था। फिर भी, इस बाद के व्यक्ति के परिवार के लोगों, *असितमृगों*, ने भूतवीरों को अपदस्थ करते हुये जनमेजय को पुनः अपने अनुकूल बना लिया था।

[1] ७. २७। तु० की० रौथ : त्सु० वे० ११८; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३४४, नोट ३; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ४३७ और बाद।

भूतांश, ऋग्वेद[1] में 'कश्यप' के वंशज, एक कवि का नाम है।

[1] १०. १०६, ११। देखिये, निरुक्त, १२. ४१; बृहद्देवता ८. १८. १९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३३।

भूति, एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'सम्पन्नता' के आशय में प्रयुक्त हुआ है।

[1] ८. ५९, ७। तु० की० १. १६१, १ (यह दोनों ही अपेक्षाकृत बाद के स्थल हैं)।

[2] अथर्ववेद ९. ६, ४५; १०. ३, १७; ६, ९; ११. ७, २२; ८, २१; तैत्तिरीय संहिता २. १, १, १; ३, ५, इत्यादि; 'भूति-काम' (सम्पन्नता का आकांक्षी) तैत्तिरीय संहिता २. १, १, १; २, ३, ३; ५. १, ९, १, इत्यादि।

भूमि अथवा *भूमी*, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में पृथ्वी के लिये प्रयुक्त साधारण और *पृथिवी* का समानार्थी शब्द है। देवों द्वारा आर्यों को प्रदत्त भूमि[3], और दान में दी हुई भूमियों[4] के लिये भी, इन शब्दों का प्रयोग मिलता है।

[1] १. ६४, ५; १६१, १४; २. १४, ७, इत्यादि। इसी प्रकार १०. १८, १० में 'माता पृथ्वी' मृतकों के अवशेषों को ग्रहण करती हैं।

[2] अथर्ववेद ६. २, १, जहाँ यह कहा गया है कि 'भूमि', तीनों पृथिवियों में से सर्वोच्च है; ११. ७, १४; यहाँ नौ पृथिवियों और समुद्रों का उल्लेख हैं; २. ९, ४; ६. ८, २, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद ४. २६, २। तु० की० ६. ४७, २०।

[4] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, २४; ६, २, १८।

भूमि-दुन्दुभि, भूमि में बने एक ऐसे गड्ढे का द्योतक है जिसे चर्म से ढक दिया जाता था। इसका महाव्रत संस्कार के समय प्रयोग किया जाता था और संहिताओं[1] तथा ब्राह्मणों[2] में इसका उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ९, ३; काठक संहिता ३४. ५।

[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ५, १९; ऐतरेय आरण्यक ५. १, ५। तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक २७७, नोट १४।

भूमि-पाश, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक प्रकार के पौधे, सम्भवतः किसी लतिका का नाम है।

[1] १३. ८, १, १६। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ४२७, नोट १।

भृगवाण, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर, प्रत्यक्षतः[2] उस व्यक्ति का नाम है जिसे *घोष* कहा गया है। फिर भी, लुडविग[3] का विचार है कि इसका नाम *घोष* था। अन्यत्र यह शब्द 'अग्नि' की उपाधि के रूप में आता है, जिससे निःसन्देह *भृगुओं* द्वारा अग्नि-पूजा का ही आशय है।

[1] १. १२०, ५।

[2] पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ४; २, ९२

[3] ऋ० ऋ० ४।

भृगु, ऋग्वेद और बाद में प्रायः एक सर्वथा पौराणिक व्यक्तित्व है। इसे वरुण के पुत्र के रूप में व्यक्त किया गया है[1], और यह 'वारुणि' पैतृक नाम धारण करता है।[2] बहुवचन में भृगुओं को बहुधा[3] अग्नि-पूजकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह लोग ऋग्वेद में स्पष्टतः[4] जातिवाचक

[1] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, १. १; तैत्तिरीय आरण्यक ९. १। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ९, २; निरुक्त ३. १७।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४, और नोट १४। कथा के एक भिन्न रूप के लिये तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ५।

[3] ऋग्वेद १. ५८, ६; १२७, ७; १४३, ४; २. ४, २; ३. २, ४; ४. ७, १, इत्यादि; देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, ५१। इनके द्वारा रथ-निर्माण की कथा का (ऋग्वेद ४. १६, २०; १०. ३९, १४) आरम्भ, जैसा कि रौथ ने सेन्टपीटर्स वर्ग कोश, व० स्था० पर व्यक्त किया है, 'ऋभुओं' के ही मिथ्या ग्रहण के कारण हुआ प्रतीत होता है। फिर भी, यह उन ऐतिहासिक भृगुओं को उद्दिष्ट करके भी कहा गया हो सकता है जिन्हें हम दस राजाओं के युद्ध में देखते हैं।

[4] जैसा कि ऋग्वेद ३. ५, १०, में मातरिश्वन् द्वारा इनके लिये अग्नि लाने की कथा से व्यक्त होता है।

'भृगु'[5] नामधारी प्राचीन पुरोहितों और पूर्वजों के एक वर्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसके अपवाद स्वरूप ऋग्वेद के केवल तीन ही स्थल[6] ऐसे हैं जहाँ इन्हें प्रत्यक्षतः एक ऐतिहासिक परिवार माना गया है। फिर भी, यह स्पष्ट नहीं है कि यह लोग पुरोहित थे या योद्धा : दस राजाओं के युद्ध में भृगुगण *द्रुह्युओं* के साथ, सम्भवतः उनके पुरोहितों के रूप में आते हैं, किन्तु यह निश्चित नहीं है।[7]

बाद के साहित्य में भृगु-गण एक वास्तविक परिवार हैं और कौपीतकि ब्राह्मण[8] के अनुसार *ऐतशायन* भी इनके एक अङ्ग हैं। पुरोहितों के रूप में भृगुओं का 'अग्निस्थापन'[9] और 'दशपेयक्रतु'[10] जैसे अनेक संस्कारों के सम्बन्ध में उल्लेख है। अनेक स्थलों पर यह लोग *अङ्गिरसों*[11] के साथ भी संयुक्त हैं। इन दोनों परिवारों का घनिष्ठ सम्बन्ध इस तथ्य से प्रकट होता है कि शतपथ

[5] १. ६०, १, जहाँ, यद्यपि, रौथ : उ० स्था०, एकवचन को सामूहिक आशय में ग्रहण करते हैं। यह व्याख्या ठीक हो सकती है, किन्तु आवश्यक नहीं है।

[6] ऋग्वेद ७. १८, ६; ८. ३, ९; ६, १८, जिसके आधार पर मैकडौनेल : उ० स्था०. द्वारा प्रस्तुत सूची में रौथ ८. १०२, ४ (और्व-भृगु-वत्) को भी सम्मिलित करते हैं। तु०की० यह तथ्य कि ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३३ में *और्वों* ने कौपीतकि ब्राह्मण ३०. ५, के भृगुओं का स्थान ग्रहण कर लिया है।

[7] ८. ३, ९; ६, १८; १०२, ४, में एक पुरोहित-परिवार का सन्दर्भ अधिक स्वाभाविक है; ७. १८, ६ में योद्धाओं का अर्थ हो सकता है। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६२, नोट, जहाँ आप, सम्भवतः इसी राजा को व्यक्त करनेवाले के रूप में, ९. १०१, १३ का उदाहरण देते हैं।

[8] ३०. ५। देखिये, नोट ६।

[9] तैत्तिरीय संहिता ४. ६, ५, २; ५. ६, ८, ६; अथर्ववेद ४. १४, ५; मैत्रायणी संहिता १. ४, १ (पृ० ४८)।

[10] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १८; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ९, २।

[11] तैत्तिरीय संहिता २. १, ७, २; मैत्रायणी संहिता; ?. १, ८; वाजसनेयि संहिता १. १८; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ४, ८; ३. २, ७, ६; शतपथ ब्राह्मण १. २, १, १३, इत्यादि। तु० की० ऋग्वेद ८. ३५, ३; ४३, १३; १०. १४, ६, जिनमें से प्रथम और अन्तिम स्थलों पर 'अथर्वन्' भी आते हैं। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, xxvii, नोट २। इसीलिये अथर्वन सांस्कारिक ग्रन्थों में 'भृग्वङ्गिरसः' शब्द अथर्ववेद के लिये व्यवहृत हुआ है (ब्लूमफील्ट : अथर्ववेद, ९. १०, १०७ और बाद)।

ब्राह्मण[12] में 'च्यवन' को 'भार्गव' या 'आङ्गिरस' दोनों ही कहा गया है। अथर्ववेद[13] में, ब्राह्मणों को त्रस्त करनेवाले लोगों पर पड़नेवाली विपत्तियों का दृष्टान्त देने के लिये 'भृगु' नाम का उपयोग किया गया है : 'भृगु' पर आक्रमण करने के परिणाम-स्वरूप *सृञ्जय वैतहव्यों* का सर्वनाश हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण[14] में भी 'भृगु' का ऐसा ही प्रतिनिधि व्यक्तित्व है। तु० की० *भृगवाण* और *भार्गव*।

[12] ४. १, ५, १।
[13] ५. १९, १।
[14] २. २०। जैमिनीय ब्राह्मण १. ४२-४४ (ज० अ० ओ० सो० १५, २०४) में 'भृगु वारुणि' एक विद्यार्थी के रूप में आता है। तु० की० तैत्तिरीय उपनिषद् ३. १।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १६९-१७३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १४०; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४४३ और बाद।

भृङ्गा, मधुमक्खी की एक जाति का नाम है जिसे अथर्ववेद[1] और यजुर्वेद की संहिताओं[2] में बड़ी और काली बताया गया है। उक्त बाद के ग्रन्थ में इसे अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में भी सम्मिलित किया गया है।

[1] ९. २, २२।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ८; वाजसनेयि संहिता २४. २९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९६।

भृम्य्-अश्व, निरुक्त (९. २४) में *मुद्गल* के पिता का नाम है।

भेकुरि—देखिये *बेकुरा*।

१. भेद, जो कि *सुदास्* और *तृत्सु-भरतों* के शत्रुओं में से एक था, *यमुना*[1] के तट पर प्रत्यक्षतः दस राजाओं के युद्ध के पश्चात् उस द्वितीय संघर्ष में सुदास् द्वारा पराजित हुआ था जिसमें सुदास् ने अपने राज्य की पश्चिमी सीमा की संघबद्ध शत्रुओं से सफलतापूर्वक रक्षा की थी। यदि 'भेद' एक राजा था तो, *अज*, *शिग्रु*, और *यक्षु* आदि, जिनका भी पराजित होनेवालों के रूप में उल्लेख है, इसके ('भेद' के) नेतृत्व में संगठित हुये होंगे; अथवा, जैसा कि रौथ[2] का विचार है, भेद-गण एक अलग जाति ही रहे हो सकते हैं। हॉपकिन्स[3] का यह विचार कि इनकी पराजय *परुष्णी* के तट पर हुई थी और यमुना इसी नदी का दूसरा नाम है, अत्यन्त असम्भव है। यह

[1] ऋग्वेद ७. १८, १८. १९; ३३, ३; ८३, ४।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० १२। (यह शब्द सदैव एकवचन में ही प्रयुक्त हुआ है)।
[3] इन्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, ५२।

दृष्टिकोण भी आवश्यक नहीं कि 'भेद' दस राजाओं में से ही एक था।[४]
तु० की० *तुर्वश*।

[४] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६० और बाद।
तु० की० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, २०, नोट; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२६; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ३१९, ३२७।

२. भेद का, अथर्ववेद[१] में, इसलिये विनाश हो गया होने का उल्लेख है कि इसने माँगने पर इन्द्र को एक गाय (वशा) देना अस्वीकृत कर दिया था। यह गत 'भेद' से भिन्न है, जैसा रौथ[२] मानते हैं, अथवा नहीं, यह अनिश्चित है। वास्तव में बहुत सम्भव यह है कि पराजय के कारण ही एक दुष्ट व्यक्ति के दुःखद अन्त का प्रतिनिधित्व करनेवाले के रूप में इसे चुन लिया गया है। इसके अतिरिक्त, यदि *अज* और *शिग्रु*, जिनके साथ इसे ऋग्वेद में संयुक्त या सम्बद्ध किया गया है, अनार्य जातियाँ रही हों, जैसा कि सम्भव तो है किन्तु किसी प्रकार निश्चित नहीं, तो भेद के चरित्र को अधर्मिक मान लिया गया होने का कारण इन अनार्य जातियों का नेतृत्व करना भी हो सकता है।[3]

[१] १२.४, ४९.५०।
[२] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० १३।
[3] तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथोलोजी पृ० १५३, इन्हें *अनार्य* जातियाँ मानते है, किन्तु केवल इनके नाम ही इस अनुमान की पुष्टि करते है। अतः इसी मान्यता के आधार पर इन्हें सम्भवतः अनार्य कहा गया है। तु० की० **अज**।

१. भेषज, जो कि 'औषधि' अथवा 'उपचारक माध्यम' का द्योतक है, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में मिलता है। इसका लाक्षणिक आशय में भी प्रयोग किया गया है।[3] पौधों[४], जलों[५], और अभिचारों[६] की, बहुधा ही, औषधियों

[१] १.८९, ४; २.३३, २, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद ५.२९, १; ६.२१, २, इत्यादि।
[3] शतपथ ब्राह्मण १३.३, १, १; ५, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ३.४१।
[४] ऋग्वेद १०.९७, और अथर्ववेद में सर्वत्र।
[५] १.२३, १९.२०; ३४, ६, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ६.४, ९, २; कौषीतकि ब्राह्मण १६.७, इत्यादि। सम्भवतः आल्टिन्डिशे लेबेन ३९९, में त्सिमर के इस मत में कुछ सत्यता है कि यहाँ स्नान के लाभकर प्रभाव का ही सन्दर्भ है।
[६] अथर्ववेद और कौशिक सूत्र के औषधिक अभिचारों में व्यक्त।

के रूप में गणना कराई गई है। अथर्ववेद की अधिकांश चिकित्सात्मक पद्धतियाँ केवल सहानुभूतिपूर्ण अभिचार की ही उदाहरण हैं। उदाहरण के लिये, एक सूक्त[७] में 'पीतरोग' के पीतत्व को पीत पक्षियों पर स्थानान्तरित हो जाने की स्तुति की गई है। एक अन्य[८] सूक्त में ज्वर को मेढक के माध्यम से भगाने का उल्लेख है; क्योंकि मेढक को, जो कि अग्नि[९] को ठंडा करने का एक समर्थ माध्यम है (जल के साथ अपने सम्बन्ध के कारण), इसी समानता के आधार पर ज्वराग्नि को भगानेवाला माना गया है। देखिये *भिषज्*।

[७] १. २२; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, २६४ और बाद।
[८] ७. ११६; ब्लूमफील्ड : उ० पु०, ५६५ और बाद।
[९] तु० की० ऋग्वेद १०. १६, १४; अथर्ववेद १८. ३, ६०।

२. *भेषज*, बहुवचन में अथर्ववेद[१] और सूत्रों[२] में मिलता है। यह इस आशय में अथर्ववेद के सूक्तों का द्योतक है कि उसके सूक्त उपशामक शक्ति से युक्त हैं।

[१] ११. ६, १४।
[२] आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७, ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २, १०; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ९, १०। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३१, ६२८।

भैम-सेन (*भीमसेन* का वंशज), मैत्रायणी संहिता (४. ६, ६) में एक व्यक्ति का नाम है।

भैम-सेनि (*भीमसेन* का वंशज) काठक संहिता[१] में *दिवोदास* का पैतृक नाम है।

[१] ७. ८ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६०, ४७२)।

भैषज्य, शतपथ ब्राह्मण (१२. ७, १, १२) और निरुक्त (१०. ७. २५) में, *भेषज* की ही भाँति, 'उपशामक औषधि' का द्योतक है।

भोग, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में सर्प के 'मण्डल' का द्योतक है।

[१] ७. २९, ६; ६. ७५, १४ (जहाँ धनुर्धर के हस्तघ्न की सर्प से तुलना की गई है)।
[२] अथर्ववेद ११. ९, ५; तैत्तिरीय संहिता २. १, ४, ५. ६; ५. ४, ५, ४; काठक संहिता १३. ४; २१. ८, इत्यादि।

भोज, ऐतरेय ब्राह्मण (८. १२. १४. १७) के अनेक स्थलों पर राजा की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

भौज्य, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *भोज* उपाधि धारण करनेवाले राजा के पद का द्योतक है।

[1] ७. ३२; ८. ६. १२. १४. १६।

भौमक, अद्भुत ब्राह्मण[1] में किसी पशु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०।

भौमी, तैत्तिरीय संहिता[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किसी पशु का नाम है।

[1] ५. ५, १८, १। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।

भौवन ('भुवन' का वंशज), शतपथ (१३. ७, १, १५) और ऐतरेय (८. २१, ८. १०) ब्राह्मणों तथा निरुक्त (१०. २६) में पौराणिक *विश्वकर्मन्* का पैतृक नाम है।

भौवायन ('भुव' का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *कपिवन* का पैतृक नाम है। यह यजुर्वेद संहिताओं[2] में भी मिलता है।

[1] २०, १३, ४।

[2] काठक संहिता ३२. २ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७३); मैत्रायणी संहिता, १. ४, ५; और वाजसनेयि संहिता १३. ५४, जहाँ 'कपिवन' का उल्लेख नहीं है। तु० की० हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ५५, ६९।

भ्रातृ, ऋग्वेद[1] और उसके बाद से 'भ्राता' के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द है। सामान्य रूप से घनिष्ठ मित्र या सम्बन्धी के लिए भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है,[2] किन्तु ध्यान रखना चाहिये कि ऋग्वेद[3] में इस प्रकार व्यक्त व्यक्ति देवगण ही हैं जिन्हें परस्पर अथवा स्तुति करनेवाले का भ्राता कहा गया है। अतः प्राचीन साहित्य में इस शब्द का ठीक-ठीक आशय वास्तविक रूप से लुप्त नहीं हुआ है। 'भृ' (पोषण) धातु से इसकी व्युत्पत्ति कदाचित् ठीक है और इसके अनुसार यह अपनी बहन का पोषण करनेवाले के रूप में भ्राता

[1] १. १६४, १; ४. ३, १३; ५. ३४, ४, इत्यादि; अथर्ववेद १. १४, २; २. १३, ५; तैत्तिरीय संहिता ६. २, ८, ४; इत्यादि; 'भ्रातृत्व', ऋग्वेद ८. २०, २२; ८३, ८; १०. १०८, १०।

[2] बौटलिङ्क और रौथ: सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; डेलब्रुक: डी० व० ४६२।

[3] १. १६१, १; १७०, २; ३. ५३, ५; ४. १, २; ६. ५१, ५; ८. ४३, १६। तु० की० अथर्ववेद ४. ४, ५; ५. २२, १२।

का द्योतक है। इस तथ्य के साथ भी इसकी संगति है कि वैदिक साहित्य में पिता की मृत्यु के पश्चात् भ्राता ही बहन का रक्षक होता था, और भ्रातृ-विहीन (अभ्रातृ) कन्याओं को दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता था।[४] घर में सम्बन्धियों का महत्त्व-क्रम छान्दोग्य उपनिषद्[५] की उस तालिका से व्यक्त होता है जहाँ पिता, माता, भ्राता, और भगिनी का क्रम से उल्लेख है। भ्राताओं के बीच कलह का भी अक्सर उल्लेख है।[६]

[४] ऋग्वेद १. १२४, ७; ४. ५, ५; अथर्ववेद, १. १७, १; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३२८। तु० की० **अयोगू**।

[५] ७. १५, २।

[६] तु० की० अथर्ववेद ३. ३०, २; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, ३, जहाँ यह एक गम्भीर अस्तव्यस्तता का चिह्न है; ज० अ० ओ० सो० ११, cxlv; ब्लूमफील्ड अथर्ववेद, ७२।

भ्रातृव्य, अथर्ववेद[१] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ इसका भ्राता और भगिनी के साथ उल्लेख होने के कारण यह निश्चित रूप से किसी सम्बन्धी का ही द्योतक होगा। इससे 'पिता के भ्राता के पुत्र', अर्थात् 'चचेरे भाई'[२] का आशय प्रतीत होता है, क्योंकि केवल यही आशय अथर्ववेद[३] में अन्यत्र और अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों[४] में मिलनेवाले 'शत्रु' या 'प्रतिद्वन्द्वी' के आशय का समाधान करता है। एक सम्मिलित परिवार में चचेरे भाइयों का सम्बन्ध अत्यन्य सरलता के साथ शत्रुता या प्रतिद्वन्दिता में परिणत हो सकता है। फिर भी, इसका मूल अर्थ 'भतीजा'[५] रहा हो सकता है, जैसा कि इसके साधारण व्युत्पत्तिजन्य आशय 'भ्राता का पुत्र' से व्यक्त होता है; किन्तु यह आशय इसके बाद के अर्थ का उतने संतोषप्रद रूप से समाधान नहीं करता।

[१] ५. २२, १२, और सम्भवतः १०. ३, ९।

[२] व्हिट्ने ने अथर्ववेद (१०. ६, १; १५. १, ८) के अनुवाद में इस शब्द का 'चचेरा भाई' ही अनुवाद किया है।

[३] २. १८, १; ८. १०, १८. ३३; १०. ९, १।

[४] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ९, २, इत्यादि; काठक संहिता १०. ७; २७. ८; वाजसनेयि संहिता १. १७; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ७, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, २१, इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १३, २। तु० की० ऋग्वेद ८. २१, १३।

[५] व्हिट्ने अथर्ववेद (२. १८, १) के अनुवाद में इस शब्द का 'विरोधी' अनुवाद करते हुये टिप्पणी में यह व्याख्या करते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ 'भतीजा' या 'भ्राता-पुत्र' है।

काठक संहिता[६] में 'भ्रातृव्य' से मिथ्या-भाषण की अभिव्यक्ति की गई है, और बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों[७] में इसके लिये 'द्विषन्', 'अप्रिय', और 'पाप्मन्' आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद[८] में भी विभिन्न प्रकार के ऐसे अभिचार उपलब्ध हैं जिनके द्वारा अपने प्रतिद्वन्दियों को बहिस्कृत या विनष्ट किया जा सकता है।

[६] २७, ८।

[७] देखिये नोट ४ में उद्धृत अनेक स्थल।

[८] २. १८, १; १०, ९, १, इत्यादि। तु० की० तैत्तिरीय संहिता १. ३. २. १, इत्यादि।

तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ५०१, ५०६, ५०७, जिनका विचार है कि इससे एक प्रकार के भ्राता का अर्थ है, और आरम्भिक पारिवारिक स्थितियाँ चचेरे भाइयों तक ही सीमित थीं; बौटलिङ्क और रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, ३०७।

भ्रूण-हन और *भ्रूण-हत्या*, एक ऐसे अपराध को व्यक्त करनेवाले शब्द हैं जिसे बाद की संहिताओं[१] में बहुधा ही अत्यन्त गम्भीर और निषिद्ध बताया गया है। इसका पाप मिटाया नहीं जा सकता। अनेक बाद के स्थलों[२] पर भी इसी अपराध का, सदैव तीव्र निन्दात्मक रूप से ही सन्दर्भ मिलता है। यह तथ्य अकेले ही उस सिद्धान्त[३] की त्रुटि को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त है, जिसके अनुसार ऐसा माना गया है कि यदि पिता चाहता था तो एक बार जन्म ले लेने पर भी अपनी पुत्री को मृत्यु के लिने छोड़ दे सकता था।

[१] मैत्रायणी संहिता ४. १, ९, काठक संहिता ३१. ७; कपिष्ठल संहिता ४७. ७ (डेलब्रुक : डी० व० ५७९, ५८०, में उद्धृत); अथर्ववेद ६. ११२, ३; ११३, २। तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, ३ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ११, में इसके स्थान पर 'ब्रह्म-हन्' है; किन्तु देखिये वही, १२।

[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, १५, ३; तैत्तिरीय आरण्यक २. ८, २; १०. १, १५; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, २२। विशेष्य के रूप में इन स्थलों पर मिलता है : तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, २०, १; तैत्तिरीय आरण्यक २. ७, ३; ८, ३; कौषीतकि उपनिषद् ३. १; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १८, १९; निरुक्त ६. २७। 'भ्रूण', ऋग्वेद १०. १५५, २ में आता है।

[३] देखिये **पति**, और उसका नोट १३१।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९. ४८१; १०, ६६; ब्लूमफील्ड : अ० फा० १७, ४३०, अथर्ववेद के सूक्त ५२१, ५२२।

म

मकक, एक बार अथर्ववेद (८. ६, १२) में मिलनेवाला ऐसा शब्द है जो किसी अज्ञात प्रकार के पशु का नाम हो सकता है। किन्तु सम्भवतः यह एक विशेषण है जिसका 'रेभण' जैसा कुछ आशय है।

मकर को, जो कि एक पशु, सम्भवतः 'मगर'[1] का नाम है, यजुर्वेद संहिताओं[2] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

[1] हिन्दू अलङ्कारिक मूर्तियों के रूप में 'मकर' मूलतः 'मगर' को ही व्यक्त करता था। तु० की० एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्कियालौजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, १९०३–४, पृ० २२७–२३१ में कज़िन का लेख (जहाँ वरुण और गङ्गा के वाहन के रूप में 'मकर' आता है। तु० की० उ० पु० १९०४-५, पृ० ८०, ८३, ८४ भी।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १३, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १६; वाजसनेयि संहिता २४. ३५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७।

मक्ष (मक्खी), ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में मिलता है जहाँ मीठी वस्तु के प्रति इसके प्रेम का उल्लेख है। तु० की० *अग्रसद्*।

[1] ४. ४५, ४; ७. ३२, २।

[2] ९. १, १७ (तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७।

मक्षा, मक्षिका, ऋग्वेद और उसके बाद से 'मक्खी'[1] और 'मधुमक्खी'[2] दोनों के ही द्योतक हैं।

[1] 'मक्षिका', ऋग्वेद १. १६२, ९; अथर्ववेद ११. १, २; ९, १०; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३, २।

[2] 'मक्षा' ऋग्वेद १०. ४०, ६; 'मक्षिका' १. ११९, ९; प्रश्न उपनिषद् २. ४, जहाँ एक 'राजा मधुमक्खी' (मधुकर-राजन्) का उल्लेख है।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथोलोजी, १, २४०, नोट १।

मख, ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर किसी व्यक्ति का द्योतक प्रतीत होता है, किन्तु इन दोनों में से किसी भी स्थल का सन्दर्भ इस बात को प्रकट नहीं करता कि यह कौन था। सम्भवतः इससे एक प्रकार के दानव का अर्थ

[1] ९, १०१, १३, जहाँ 'मख' के विरोधियों के रूप में भृगुओं का उल्लेख है (तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ५१); १०. १७१, २।

है। बाद की संहिताओं[2] में 'मख के मस्तक' का भी उल्लेख है, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों[3] के लिये यह व्याहृति अबोधगम्य है।

[2] वाजसनेयि संहिता ११. ५७; ३७. ७; तैत्तिरीय संहिता १, १, ८, १; ३. २, ४, १।

[3] शतपथ ब्राह्मण १४. १, २, १७। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

मगध, एक ऐसी जाति के लोगों का नाम है, जिनका अल्प प्रसिद्धिवाले लोगों के रूप में वैदिक साहित्य में सर्वत्र उल्लेख है। यद्यपि यह नाम वस्तुतः ऋग्वेद[1] में नहीं मिलता, तथापि अथर्ववेद[2] में आता है जहाँ ज्वर को उत्तर में *गान्धारियों* और *मूजवन्तों* पर तथा पूर्व में *अङ्गों* और मगधों पर स्थान्तरित होने की स्तुति की गई है। पुनः यजुर्वेद[3] में 'अति-क्रुष्ट' (तीव्र ध्वनि, ?) को समर्पित किये जानेवाले के रूप में 'मागध', अथवा मगध के निवासी को पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है, जब कि अथर्ववेद[4] के *व्रात्य*-सूक्त में 'मागध' को व्रात्य के साथ, उसके 'मित्र', 'मन्त्र', 'हास' और चतुर्दिक गर्जन के रूप में, सम्बद्ध किया गया है। श्रौत सूत्रों[5] में ऐसा कथन है कि व्रात्य को आर्य-ब्राह्मण समुदाय के अन्तर्गत सम्मिलित करने के पूर्व उसके विशेष उपकरणों को मगध-निवासी एक अश्रेष्ठ ब्राह्मण (ब्रह्म-बन्धु मागध-देशीय) को दे दिया गया था; किन्तु पञ्चविंश ब्राह्मण[6] में यह तथ्य नहीं मिलता। दूसरी ओर कभी-कभी मगध में प्रतिष्ठित ब्राह्मण भी निवास करते थे, क्योंकि कौषीतकि आरण्यक[7] में *मध्यम, प्रातीबोधी-पुत्र*, आदि को 'मगध-वासिन्' कहा गया है। फिर भी, इसे एक असाधारण घटना मानते हुये औल्डेनबर्ग[8] स्पष्टतः ठीक प्रतीत होते हैं।

[1] देखिये कीकट।

[2] ५. २२, १४, जहाँ पैप्पलाद शाखा में 'मयेभिः' है, जो केवल एक गम्भीर अशुद्धि है, किन्तु अङ्गों के स्थान पर **काशियों** को सम्मिलित किया गया है।

[3] वाजसनेयि संहिता ३०. ५. २२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १, १।

[4] १५. २, १-४।

[5] लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ६, २८; कात्यायन श्रौत सूत्र २२. ४, २२। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, १६. १७ पर सायण।

[6] १७. १, १६।

[7] ७. १३; ऐतरेय आरण्यक के आरम्भिक अंशों में इसका उल्लेख नहीं है।

[8] बुद्ध, ४००, नोट; वेबर : इन्डियन लिट-रेचर ११२, नोट।

बौधायन तथा अन्य सूत्रों[९] और सम्भवतः ऐतरेय आरण्यक[१०] में भी, मगध-गण, प्रत्यक्षतः एक जाति के रूप में ही आते हैं। अतः त्सिमर[११] का यह विचार अत्यन्त असम्भाव्य प्रतीत होता है कि, यजुर्वेद[३] और अथर्ववेद[४] में 'मागध' एक मगध-वासी नहीं वरन् एक *वैश्य* से विवाहित *क्षत्रिय* स्त्री से उत्पन्न मिश्रित जाति का सदस्य है।[१२] मिश्रित जाति के सिद्धान्त का, जो कि निश्चित रूप से कुछ सन्दिग्ध है, 'मागध' जैसे स्पष्ट जातीय नामों की व्याख्या के लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस तथ्य का कि बाद के समय में अक्सर 'मागध' को चारण माना गया है, इस मान्यता से समाधान हो जाता है कि यह देश चारणों का गृह था और इसलिये मगध के भ्रमण-शील चारण पश्चिम के देशों में भी जाते रहे होंगे। बाद के ग्रन्थों में इस वर्ग को एक ऐसी जाति कहा गया है जिसकी उत्पत्ति पूर्व-स्थापित जातियों के बीच अन्तर-वैवाहिक सम्बन्धों से हुई मानी गई है।

कीकटों के भी कदाचित मगधों का ही प्रतिरूप होने के कारण मगधों के प्रति घृणा का भाव, जो ऋग्वेदिक हो सकता है और जैसा कि ओल्डेनबर्ग[१३] का विचार है, बहुत कुछ इस तथ्य के कारण विकसित हो गया था कि मगध-गण वास्तव में ब्राह्मण-धर्मावलम्बी नहीं थे। यह शतपथ ब्राह्मण[१४] के इस प्रमाण के भी सर्वथा अनुकूल है कि अत्यन्त आरम्भिक काल में न तो *कोसल* और

[९] बौधायन धर्म सूत्र, १. २, १३; बौधायन श्रौत सूत्र २०. १३; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, २२. ६, १८; हिरण्यकेशि श्रौत सूत्र १७. ६। देखिये, कैलण्ड : त्सी० गे० ५६, ५५३।

[१०] २. १, १। देखिये, कीथ : ऐतरेय आरण्यक, २००; शाङ्खायन आरण्यक ४६, नोट ४।

[११] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३५। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, २ (ग)।

[१२] मनु, १०. ११; गौतम धर्म सूत्र, ४. १७। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण उ० स्था० पर सायण 'मागध' की व्याख्या करते हैं और वाजसनेयि संहिता पर महीधर इसे एक पाठ के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

[१३] बुद्ध, ४००, नोट।

[१४] १. ४, १, १० और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १७० और बाद; ओल्डेनबर्ग : उ० पु० ३९८। यहाँ 'विदेह' की अपेक्षा 'कोसल' पर ब्राह्मण धर्म का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है; यह विशेष उल्लेखनीय है कि जहाँ 'मागध' की ही भाँति 'वैदेह' भी बाद के सिद्धान्त में एक निश्चित जाति के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वहाँ 'कौसल्य' इतना पतित नहीं है (ओल्डेनबर्ग, ३९९, नोट)।

न *विदेह* ही ब्राह्मण-धर्मावलम्बी थे। मगध-गण तो और भी कम। वेबर[१५] ऐसे दो अन्य आधार भी प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने वस्तुस्थिति को प्रभावित किया हो सकता है—आदिवासी रक्त का संचार और बौधद्धर्म का विकास। यह बाद का आधार यजुर्वेद अथवा अथर्ववेद के लिये कदाचित ही व्यवहृत हो सकता है; किन्तु इसके स्थान पर यदि औल्डेनबर्ग के विचार के अनुसार ब्राह्मणत्व के अपर्याप्त प्रसार के सिद्धान्त को मान लिया जाय तो उसमें कुछ शक्ति होगी। औल्डेनबर्ग के सन्देह के विपरीत भी प्रथम आधार सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। पार्जिटर[१६] ने तो यहाँ तक कहा है कि मगध में जाकर आर्यों को पूर्व से समुद्र-मार्ग से आये आक्रामकों का सामना करना पड़ा और वह उनके साथ मिश्रित हो गये। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में इस दृष्टिकोण के समर्थन के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि यह मान लेना तर्क-सम्मत हो सकता है कि आर्यगण जितना ही अधिक पूर्व में बढ़ते गये, आदिवासियों पर उतना ही कम अपना प्रभाव डाल सके। आधुनिक वंश-विज्ञान द्वारा इसकी इस अंश तक पुष्टि होती है कि हम ज्यों-ज्यों पूर्वी भारत की ओर बढ़ते हैं आर्य-जातीय गुणों में क्रमिक कमी लक्षित होती है। फिर भी, भारत में जातियों के अत्यन्त अन्तर-मिश्रण के कारण इस प्रकार का प्रमाण निर्णायक नहीं है।

[१५] देखिये इन्डिशे स्टूडियन १, ५२, ५३; १८५; १०, ९०, इन्डियन लिटरेचर ७९, नोट १; १११, ११२।

[१६] ज० ए० सो० १९०८, पृ० ८५१-८५३ तु० की० रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, ६, २४, २६०, २६७।

मगुन्दी, अथर्ववेद के एक सूक्त[१] में आनेवाले किसी ऐसे घातक जीव का नाम है जिसका दुष्प्रभावों को उत्पीड़ित करने के लिये प्रयोग किया गया है। इस मन्त्र द्वारा गोष्ठों, रथों और ग्रहों से 'मगुन्दी की पुत्रियों को बहिष्कृत किया जाता था। यह निश्चित नहीं है कि इससे पशु, कीटाणु, अथवा दानवी, किसका अर्थ है।[२]

[१] २. १४, २।
[२] तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५८।

मघ, ऋग्वेद[१] में 'उदारता' का द्योतक है। पुरोहितों को उदारता-

[१] १. ११, ३; १०४, ५; ३. १३, ३; १९, १; ४. १७, ८; ५. ३०, १२; ३२, १२, इत्यादि; निरुक्त ५. १६। बाद में अत्यन्त दुर्लभ रूप से, यथा, वाजसनेयि संहिता २०. ६७।

पूर्वक दान देनेवालों का वैदिक नाम 'मघवन्'[२] है। 'मघवन' लोग इससे कुछ और अधिक थे, अथवा वैदिक समाज में इनका एक वर्ग के रूप में कोई विशेष पद होता था, यह अनिश्चित है। देखिये *सभा*।

[२] ऋग्वेद १. ३१, १२; २. ६, ४; २७, १७; ५. ३९, ४; ४२, ८; ६. २७, ८, इत्यादि। इसी प्रकार 'मघ-त्ति', ऋग्वेद ४. ३७, ८; ५. ७९, ५; ८. २४, १०, इत्यादि; 'मघ-देय', ७. ६७, ९; १०. १५६, २; 'मघवत्-त्व', ६. २७, ३। मघवन्' शब्द ऋग्वेद (३. ३०, ३; ४. १६; १; ३१, ७; ४२, ५, इत्यादि) में इन्द्र की विशिष्ट उपाधि और वैदिकोत्तर साहित्य में इन्द्र का नाम ही बन गया है। अन्यथा बाद की संहिताओं तक में यह अत्यन्त दुर्लभ, और प्रत्यक्षतः केवल एक दिव्य उपाधि के रूप में ही आता है (तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ८, १; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ३, १३; कौषीतकि उपनिषद् २. ११, आदि में यह इन्द्र की उपाधि है।)

मघा—देखिये *नक्षत्र* और *अघा*।

मङ्गल, बौधायन श्रौत सूत्र (२६. २) में एक गुरु का नाम है।

मङ्गीर, वैतान[१] के एक अस्पष्ट श्लोक तथा अन्य[२] सूक्तों में गायों के सन्दर्भ में मिलता है। यह सर्वथा अनिश्चित है कि इससे नदी अथवा व्यक्ति,[३] किसका अर्थ है। इसी श्लोक में गङ्गा और यमुना, दोनों का ही उल्लेख है। इस शब्द का शुद्ध रूप भी संदिग्ध है।[४]

[१] ३४. ९।

[२] *मानव श्रौत सूत्र* ७. २, ७; 'मन्दीरस्य', कात्यायन श्रौत सूत्र, १३. ३, २१; 'माङ्गीरस्य', आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, २१. २०, ३।

[३] प्रत्यक्षतः इसी प्रकार, गार्बे : वैतान सूत्र का अनुवाद, ९७; ब्लूमफील्ड : दास वैतान सूत्र, १०२; बौटलिङ्क : *डिक्शनरी*, व० स्था०।

[४] देखिये नोट २, में विभिन्न विभेदात्मक रूप।

मञ्जिष्ठा का, ऐतरेय (३. २, ४) और शाङ्खायन (८. ७) आरण्यकों में उल्लेख है।

मटची, छान्दोग्य उपनिषद्[१] के एक स्थल पर आता है, जहाँ 'मटचीयों'[२] द्वारा *कुरुओं* के पराभूत होने का उल्लेख है। शङ्कर ने इस शब्द की 'वज्र' (अशनयः) के रूप में व्याख्या की है, जब कि अपने भाष्य में आनन्दतीर्थ इसका 'पाषाण-वृष्टयः' (पत्थरों की वृष्टि) अनुवाद करते हैं, और यही

[१] १. १०, १।

[२] 'मटची-हत'।

आशय ठीक भी हो सकता है। आनन्दतीर्थ[3] से सहमत होते हुए शब्दकल्पद्रुम[4] का यह कथन है कि 'मटची', एक प्रकार की छोटी लाल चिड़िया' (रक्त-वर्ण-क्षुद्र-पक्षि-विशेष) का द्योतक है। जैकब[5] के विचार से इसका 'टिड्डी' अर्थ है।

[3] ब्रह्मसूत्र, ३. ४, २८, पर।
[4] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[5] ज० ए० सो० १९११, पृ० ५१०।

मणि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक ऐसे 'रत्न' का द्योतक है जिसका सभी प्रकार की विपत्तियों के विरुद्ध कवच के रूप में प्रयोग होता था। इससे 'मोती'[3] अथवा 'हीरा'[4] क्या अर्थ है यह स्पष्ट नहीं।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि मणि को धागे (सूत्र) में लटकाया जा सकता था क्योंकि पञ्चविंश ब्राह्मण[6] और अन्यत्र[7] ऐसा उल्लेख है। मणि को निश्चित रूप से गले में भी पहना जाता था, क्योंकि ऋग्वेद[8] में 'मणि-ग्रीव' विशेषण आता है। शाङ्खायन आरण्यक[9] में 'विल्व' के एक कवच की प्रशस्ति तथा अनेक प्रकार के कवचों की गणना मिलती है।[10] यजुर्वेद[11] में 'मणि-कार' को पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत रक्खा गया है।

[1] १. ३३, ८।
[2] अथर्ववेद, १. २९, १; २. ४, १. २; ८. ५, १ और बाद; १०. ६, २४; १२. १, ४४; तैत्तिरीय संहिता ७. ३, ४, १; काठक संहिता ३५. १५; ऐतरेय ब्राह्मण ४. ६; निरुक्त ७, २३, जहाँ दुर्ग ने अपने भाष्य में 'मणि' को 'आदित्य-मणि' के अर्थ में ग्रहण किया है; जब कि सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० का विचार है कि ज्वलन्त शीशे के रूप में प्रयुक्त एक 'सितमणि' का अर्थ है।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[4] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ५३।
[5] ऋग्वेद १. ३३, ८, में 'हिरण्य मणि' का सम्भवतः 'अलङ्कार के रूप में स्वर्ण' अर्थ हो सकता है; किन्तु 'स्वर्ण (और) रत्न' अर्थ अधिक सम्भाव्य हैं। तु० की० अथर्ववेद १२. १, ४४, जहाँ 'मणि हिरण्यम्' का 'एक रत्न (और) स्वर्ण' अर्थ ही होना चाहिये।
[6] २०. १६, ६।
[7] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १८, ८। तु० की० ३. ४, १३; जैमिनीय ब्राह्मण २. २४८; शतपथ ब्राह्मण १२. ३, ४, २।
[8] १. १२२, १४।
[9] १२. १८ और बाद।
[10] १२. १८।
[11] वाजसनेयि संहिता ३०. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ३, १।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, २३७; त्सिमर : उ० पु० २५३; वेवर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३१७, ३७४; इन्डिशे स्टूडियन, २,

२, नोट ४; ५, ३८६; १८, ३७; प्रो० अ० १८९१, ७९६ । वेबर 'मणि' को बेबिलोनिया से व्युत्पन्न मानने का विचार व्यक्त करते हैं (तु० की० **मना**) किन्तु इस विचार के पक्ष में प्रमाण विश्वसनीय नहीं हैं ।

मणिक, अद्भुत ब्राह्मण[1] नामक एक बाद के ग्रन्थ, तथा सूत्रों[2] में बृहत् 'जल-पात्र' का द्योतक है ।

[1] वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३१६ ।
[2] आश्वलायन गृह्य सूत्र २. ९, ३; ४. ६, ४; गोभिल गृह्य सूत्र १. १, २६; ३. ९, ६. ७, इत्यादि; शाङ्खायन गृह्य सूत्र २. १४ ।

मण्ड (संज्ञा), यौगिक शब्द 'नौ-मण्ड' (द्विवचन) में मिलता है और शतपथ ब्राह्मण[1] में एक नौका के दो 'पतवारों' का द्योतक है ।

[1] २. ३, ३, १५ । तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ३४५, नोट ३, जो भाष्य का अनुसरण करते हुये इसके अर्थ के रूप में 'पार्श्व' को ग्रहण करते हैं; कैलेण्ड : ऊ० वौ० ६० ।

मण्डूक, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'मेढक' का नाम है। इसका स्त्रीलिङ्ग 'मण्डूकी' भी मिलता है ।[3] ऋग्वेद[4] के प्रसिद्ध मण्डूक-सूक्त में वर्षा ऋतु के आरम्भ होते ही पुनः क्रियाशील होकर मण्डूकों की टरटराहट के साथ ब्राह्मणों की तुलना की गई है । मैक्स मूलर[5] ने इस स्थल की ब्राह्मणों पर व्यङ्ग होने के रूप में व्याख्या की है । इसी दृष्टिकोण से सहमत होते हुए गेल्डनर[6] का विचार है कि यह व्यंग इस सूक्त प्रणेता *वसिष्ठ* द्वारा अन्य प्रतिद्वन्दी ब्राह्मणों,

[1] ७. १०३, १; १०. १६६, ५ ।
[2] अथर्ववेद ७. ११२, २; तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ४, ३; ७, ११, १; काठक संहिता १३. १; २१. ७; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २; वाजसनेयि संहिता २४. ३६; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ४, १६; शतपथ ब्राह्मण ९. १, २, २० और बाद; निरुक्त ९. ५ ।
[3] ऋग्वेद १०. १६, १४; अथर्ववेद १८. ३, ६०; वाजसनेयि संहिता १७. ६; तैत्तिरीय संहिता ४. ६, १, २; काठक संहिता १७. १७; मैत्रायणी संहिता २. १०, १; तैत्तिरीय आरण्यक ६. ४, १ ।
[4] ७. १०७ । तु० की० अथर्ववेद ४. १५, १२, की जैसी पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, २२३, ने व्याख्या की है, और जहाँ पृथ्वी के विवरों (इरिण) में रहनेवाले मण्डूकों का सन्दर्भ है ।
[5] ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४९४, ४९५ ।
[6] ऋग्वेद, कमेन्टर, ११७ ।

कदाचित् *विश्वामित्रों*[7] पर किया गया है। फिर भी, सम्पूर्ण रूप से वही दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जो इस सूक्त की वर्षा-अभिचार[8] के रूप में व्याख्या करता है। जल के साथ सम्बद्ध होने के कारण मण्डूक को शीतलता प्रदान करनेवाले गुणों से युक्त माना जाता था। अतः शव का अग्नि-संस्कार कर लेने के पश्चात्, संस्कार के स्थान को शीतल करने के लिये, मण्डूक को आमन्त्रित किया जाता था।[9] इसी प्रकार अथर्ववेद में ज्वराग्नि के विरुद्ध भी मण्डूक का आवाहन किया गया है।[10]

[7] गेल्डनर : उ० स्था० बहुत कुछ उपयुक्त रूप से यह व्यक्त करते हैं कि इस वसिष्ठ-सूक्त का अन्तिम 'पाद' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विश्वामित्र-सूक्त (ऋग्वेद ३. ५३, ७) से ही लिया गया है।

[8] यास्क : निरुक्त, ९. ५; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १७, १७३-१७९ तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १५१; संस्कृत लिटरेचर, १२१, १२२।

[9] ऋग्वेद १०. १६, १४। देखिये ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११. ३४२-३५०; व्हिट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद (८५०) में लैनमैन।

[10] अथर्ववेद ७. ११६। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५६५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९५।

१. *मत्स्य* (मछली) का ऋग्वेद[1] में तो केवल एक बार ही किन्तु बाद में बहुधा[2] उल्लेख है।

[1] १०. ६८, ८।

[2] अथर्ववेद ११. २, २५; मैत्रायणी संहिता ३. ९, ५; १४, २; वाजसनेयि संहिता २४. २१. ३४; तैत्तिरीय संहिता २. ६, ६, १; शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, १ (प्रलय जल का प्रसिद्ध मत्स्य); छान्दोग्य उपनिषद् १. ४, ३; कौषीतकि उपनिषद् १. २; 'महा-मत्स्य', बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, १८। शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, १२ (तु० की० आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७, ८; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २, २३) में एक 'मत्स्य सांमद' का मछलियों के राजा के रूप में मूर्तीकरण किया गया है।

२. *मत्स्य*, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर एक जाति के लोगों का नाम प्रतीत होता है, जहाँ इसे *सुदास्* के अन्य शत्रुओं के साथ रक्खा गया है, यद्यपि इस स्थल पर भी इससे केवल 'मछली' का आशय मानना भी सम्भव है। शतपथ ब्राह्मण[2] में अश्वमेधियों की सूची में *ध्वसन् द्वैतवन* का एक

[1] ७. १८, ६।

[2] १३. ५, ४, ९।

'मत्स्य-राजा' (*मात्स्य*) के रूप में उल्लेख है। कौषीतकि उपनिषद्[3] में *वशों*[4] के सन्दर्भ में और गोपथ ब्राह्मण[5] में *शाल्वों* के सन्दर्भ में भी, मत्स्य-गण एक जाति के रूप में आते हैं। मनु[6] में कुरुक्षेत्र, मत्स्य-गण, *पञ्चाल* और *शूरसेनक* ब्रह्मर्षियों के देश (ब्रह्मर्षि-देश) के अन्तर्गत रक्खे गये हैं। इस बात पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि मत्स्य-गण बहुत कुछ उसी क्षेत्र में रहते थे जहाँ महाकाव्य-काल में मिलते हैं और यह बहुत कुछ आधुनिक अलवर, जैपुर, भरतपुर आदि का ही क्षेत्र था।[7]

[3] ४. १।

[4] यही सर्वसम्भव पाठ है, जो गोपथ ब्राह्मण (१. २, ९) के उस स्थल के साथ तुलना के आधार पर निष्कृष्ट होता है जहाँ 'शाल्व-मत्स्येषु' के बाद 'सवश-उशीनरेषु' ('शवश' के रूप में मुद्रण- अशुद्धि) आता है। देखिये कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ३६७। प्राचीन दृष्टिकोण 'सत्वन्-मत्स्येषु' था, कोवेल का अनुसरण करते हुये मैक्स-मूलर : से० बु० ई०, १, lxxvii। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोष, द० स्था० 'सत्वन्त्'

[5] १. २, ९।

[6] २. १९; ७. १९३।

[7] देखिये विन्सेन्ट स्मिथ : ज़्सी० गे० ५६, ६७५।

तु० की० फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, १६६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २११; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२७।

मदा-वती (मादक), अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के पौधे का नाम है।

[1] ६. १६, २; तु० की० ४. ७, ४। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २९२; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४६५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७२।

मदुघ (मधु-पौधा[1]), अथर्ववेद[2] में एक मीठी जड़ी का नाम है। इसका अक्षर विन्यास बहुत कुछ अनिश्चित है क्योंकि अनेक पाण्डुलिपियों में 'मधुघ'[3] पाठ मिलता है।

[1] इसका शब्दार्थ सम्भवतः 'मधु प्रदान करनेवाला' है और भाष्यकार के अनुसार यह शब्द उस 'मधु-दुघ' से व्युत्पन्न हुआ है जो वास्तव में ऋग्वेद (६. ७०, १. ५,) में आता है।

[2] १. ३४, ४; ६. १०२, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, ३८६, नोट; ४०४; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३४, ३५, ३५५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २७५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६९।

[3] इस शब्द के यह दोनों रूप कदाचित 'म[धु]दुघ' और 'मधु-[दु] घ' के स्थान पर ही अदृष्टवशात् व्युत्पन्न हो गये हैं। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर ६४, १ (क)।

मद्गु ('गोता लगानेवाला', 'मज्ज्,' अर्थात् 'गोता लगाना', धातु से) एक ऐसे जलीय पक्षी का नाम है जिसका यजुर्वेद संहिताओं[2] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत और अक्सर अन्यत्र[3] भी उल्लेख है।

[1] देखिये, मैक्डौनेल : वैदिक ग्रामर, ३८ ग; ४४ क, ३ क।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ३; वाजसनेयि संहिता २४. २२. ३४।
[3] छान्दोग्य उपनिषद् ४. ८, १. २। तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन, ९३।

मद्य (मादक-द्रव) का छान्दोग्य उपनिषद्[1] के उस स्थल के पहले उल्लेख नहीं मिलता जहाँ यह 'मद्य-पा' यौगिक शब्द के रूप में आता है।

[1] ५. ११, ५। यह शब्द महाकाव्य में, और अक्सर धर्मशास्त्रों तथा चिकित्सा-शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है।

मद्र, एक जाति के लोगों का द्योतक है जिनका बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में उल्लेख है; उस समय *काप्य पतञ्चल* इन्हीं के बीच रहता था। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी केवल एक शाखा के रूप में *उत्तर मद्रों* का उल्लेख है, जिनका ऐतरेय ब्राह्मण[2] में हिमालय पर्वत के उस पार (परेण हिमवन्तम्) *उत्तर कुरुओं* के पड़ोस में, सम्भवतः जैसा कि त्सिमर[3] का अनुमान है, कश्मीर क्षेत्र में, निवास करनेवालों के रूप में उल्लेख है। उपनिषदों में वर्णित मद्र-गण भी, *कुरुओं* की ही भाँति, सम्भवतः *मध्यदेश* के *कुरुक्षेत्र* नामक स्थान में बसे थे। तु० की० *मद्रगार*।

[1] ३. ३, १; ७, १।
[2] ८. १४, ३।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, १०२।

मद्र-गार शौङ्गायनि ('शुङ्ग' का वंशज) उस गुरु का नाम है, जिसका वंश ब्राह्मण[1] के अनुसार *काम्बोज औपमन्यव* शिष्य था। सम्भावनापूर्वक त्सिमर[2] का यह निष्कर्ष है कि इन नामों से 'कम्बोजों' और 'मद्रों' के सम्बन्ध का संकेत मिलता है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन, १०२।

मधु, भोजन के रूप में प्रयुक्त किसी भी मीठे पदार्थ, और विशेषतः

'मधु'[1] का द्योतक है और इसका यह आशय ऋग्वेद[2] में अक्सर मिलता है। अधिक उपयुक्ततः यह 'सोम'[3] अथवा 'दुग्ध'[4] का, या अपेक्षाकृत कम स्थलों पर उस 'शहद'[5] का द्योतक है, जो बाद के साहित्य में इसका सर्वाधिक निश्चित आशय है। मधु के प्रयोग के विरुद्ध निषेधों का भी उल्लेख है।[6]

[1] व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द यूनानी 'मेथ' ($\mu\varepsilon\theta\upsilon$) और ऐंग्लो-सैक्सन 'मेदु' (medu) के ही समान है।

[2] एक विशेषण (मीठा) के रूप में प्रयुक्त ऋग्वेद १. ९०, ६. ८; १८७, २; ३. १, ८; ४. ३४, २; ४२, ३; वाजसनेयि संहिता ३८, १०, इत्यादि; एक विशेष्य के रूप में ऋग्वेद १. १५४, ४; २. ३७, ५; ३. ३९, ६; ४. ३८, १०, इत्यादि; अथर्ववेद ६. ६९, १; ९. १, २२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, २, ४. १३, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १. १९, ९; २. १९, २; ३४, ५; ३६, ४; ३. ४३, ३; ४. १८, १३, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद १, ११७, ६; १६९, ४; १७७, ३; ३. ८, १; ७. २४, २; वाजसनेयि संहिता ६. २, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद ८. ४, ८ (जहाँ 'सारघ' अर्थात 'मधु-मक्खी से निष्कृष्ट', विशेषण द्वारा आशय निश्चित हो जाता है); कदाचित ४. ४५, ४; ७. ३२, २; ८. २४, २०, भी, और हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २३९ और बाद, के अनुसार अनेक अन्य स्थलों पर; अथर्ववेद ९. १, १७. १९; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, १०, १; मैत्रायणी संहिता ४. ९, ७, ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५; ८. ५. २०; शतपथ ब्राह्मण १. ६, २, १. २; ११. ५, ४, १८; बृहदारण्यक, २. ५, १; छान्दोग्य उपनिषद् ६. ९, १, इत्यादि।

[6] स्त्री की दशा में, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ५५, २; विद्यार्थियों का, शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ४, १८।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३२१; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था।

मधुक पैङ्ग्य ('पिङ्ग' का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका शतपथ[1] और कौषीतकि[2] ब्राह्मणों में उल्लेख है।

[1] ११. ७, २, ८; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १७. १८ (माध्यंदिन = ६. ३, ८ काण्व)।

[2] १६. ९।

मधु-कशा[1] अथवा *मधोः कशा*[2] ऋग्वेद में अश्विनों की उस मधु-कशा का नाम है जिससे वह लोग यज्ञों को मधुरता प्रदान करते हैं। रौथ[3]

[1] ऋग्वेद १. २२, ३; १५७, ४; अथर्ववेद १०. ७, १९; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १०, १२।

[2] अथर्ववेद ९. १, ५।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था।

अत्यन्त कुशलतापूर्वक यह अनुमान करते हैं कि इसका विचार, दुग्ध को पीटने के लिये प्रयुक्त नथ्री से युक्त एक उपकरण से निष्कृष्ट हुआ है।

मधु-कृत् (मधु-निर्माण करनेवाला), बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'मधु-मक्खी' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ५. ६, ५; ४. २, ९, ६, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०, १०, १; शतपथ ब्राह्मण १. ६, २, १. २; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १, २; ६. ९, १, इत्यादि

मधु-छन्दस् का, जो कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के दस आरम्भिक सूक्तों का प्रख्यात प्रणेता है, एक ऋषि के रूप में कौषीतकि ब्राह्मण[1] और ऐतरेय आरण्यक[2] में उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में यह *विश्वामित्र* का इक्यावनवाँ पुत्र है और इसके 'प्रउग' (प्रातःकालीन स्तुति-सूक्त) का शतपथ ब्राह्मण[4] में उल्लेख है।

[1] २८. २।
[2] १. १, ३।
[3] ७. १७, ७; १८, १; तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २६, १ और बाद। तु० की० कीथ: ऐतरेय आरण्यक, १६७।
[4] १३. ५, १, ८।

मधु-ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण[1] में किसी रहस्यवादी सिद्धान्त का नाम है।

[1] ४. १, ५, १८; १४. १, ४, १३; बृहदारण्यक उपनिषद २. ५, १६। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, २९०।

मध्य-देश, मानव धर्म शास्त्र[1] के अनुसार, उस भूभाग का नाम है जिसके उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, पश्चिम में *विनशन* और पूर्व में प्रयाग (अब इलाहाबाद) स्थित थे; अर्थात यह मरुभूमि में *सरस्वती* के विलीन हो जाने के स्थान से लेकर *यमुना* और *गङ्गा* के सङ्गम के बीच स्थित क्षेत्र था। इसी ग्रन्थ[2] में 'ब्रह्मर्षि-देश' को *कुरुक्षेत्र*, *मत्स्यों*, *पञ्चालों* और *शूरसेनकों* का भूभाग, और ब्रह्मावर्त[3] को सरस्वती तथा *दृषद्वती* के बीच का विशेष रूप से पवित्र क्षेत्र बताया गया है। बौधायन धर्म सूत्र[4] में आर्यावर्त की 'विनशन' के पूर्व, कालक-वन अथवा कदाचित 'हरद्वार' के निकट स्थित

[1] २. २१।
[2] २. १९।
[3] २. १७. १९।
[4] १. २, ९; वसिष्ठ धर्मसूत्र, १. ८।

'कनखल' के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण और 'पारियात्र' अथवा 'पारिपात्र' पर्वतमाला के उत्तर स्थित भूभाग के रूप में परिभाषा की गई है। यहीं यह भी कहा गया है कि अन्य लोगों[5] के मत से यह यमुना और गङ्गा के बीच का क्षेत्र था, जब कि *भाल्लविनों*[6] ने इसे सीमावर्ती नदी (अथवा कदाचित सरस्वती)[7] और सूर्योदय के स्थान के बीच स्थिति भूभाग के रूप में ग्रहण किया था। मानव धर्म शास्त्र[8] भी, जो वसिष्ठ धर्म सूत्र[9] के साथ सहमत है, आर्यावर्त की विन्ध्य और हिमालय के बीच के क्षेत्र के रूप में परिभाषा देता है और कौषीतकि उपनिषद्[10] में भी आर्य-देश की सीमाओं के रूप में इन्हीं दोनों पर्वत मालाओं को स्वीकार किया गया है।

'मध्यदेश' शब्द वैदिक नहीं है, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण[11] में 'मध्यमा प्रतिष्ठा दिश्' (मध्य में प्रतिष्ठित क्षेत्र) व्याहृत से इसका प्रमाण मिलता है और कुरुओं, पञ्चालों, *वशों* और *उशीनरों* को इस क्षेत्र का निवासी बताया गया है। बाद में 'वश' और 'उशीनर' जातियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं और मध्यदेश कुरु-पञ्चालों का वह क्षेत्र रह जाता है जहाँ बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों की रचना हुई थी और जिसके पूर्व में *कोसल-विदेह* थे तथा पश्चिम में

[5] बौधायन १. २, १०; वसिष्ठ, १. १२। 'कनखल' के लिये देखिये फ्लुश: इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, ३४, १७९।

[6] बौधायन, १. २, ११. १२; वसिष्ठ १. १४. १५, प्रत्येक दशा में निदान के एक मन्त्र का उद्धरण देते हुये (किस ग्रन्थ का सन्दर्भ है, यह निश्चित नहीं; इसी प्रकार बृहद्देवता ५. २३, के अनुसार निदान में 'भाल्लवि ब्राह्मण' का उल्लेख होना भी सन्दिग्ध है, जिसके लिये देखिये मैकडौनेल की टिप्पणी और तु० की० बूहलर : से० बु० ई० १४, ३, नोट।

[7] पाठ सन्दिग्ध है और 'सिन्धुर् विधारणी' अथवा 'विधरणी' तथा 'सिन्धुर् विचरणी' अथवा 'विसरणी' आदि पाठ-भेद मिलते हैं। इस बाद की व्याहृति से सरस्वती का ही तात्पर्य होना चाहिये; प्रथम से भी यही हो सकता है किन्तु अनिवार्यतः ऐसा ही है यह नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः 'सिन्धु' नदी से तात्पर्य है, क्योंकि यह एक महती सीमा थी, जिसके पूर्व में आर्य जाति निवास करती थी।

[8] २. २२।

[9] १. ९।

[10] २. १३। तु० की० कीथ: शाङ्खायन आरण्यक, २८, नोट १।

[11] ८. १४, ३। 'उशीनरों' को उत्तर में बसा माना जा सकता है, क्योंकि बौद्ध-ग्रन्थों में मध्य देश की उत्तरी सीमा के रूप में 'उशीरगिरि' का उल्लेख है। देखिये, फ्लुश: इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, ३४, १७९।

मरुभूमि। शतपथ[12] और ऐतरेय[13] दोनों ही ब्राह्मणों में पश्चिमी जातियों को अमान्यता प्रदान की गई है, जब कि कुरु-पञ्चाल देश से कोसलों और विदेहों के ब्राह्मणीकरण की परम्परा शतपथ ब्राह्मण[14] में सुरक्षित है।

[12] ९. ३, १, ८।

[13] ३. ४४, ३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २४५।

[14] १. ४, १।

तु० की० बूहलर : से० बु० ई० १४, २, ३; १४६, १४७ जो यह व्यक्त करते हैं कि 'पारिपात्र' पर्वत माल्वा में विन्ध्य पर्वतमाला का ही एक भाग है। आपका यह भी विचार है कि पश्चिमी सीमा पर मूलतः 'आदर्श' पर्वत था, क्योंकि पाण्डुलिपियों में और वसिष्ठ धर्मसूत्र १. ८, में कृष्ण पण्डित का पाठ 'प्राग् आदर्शनात्' है 'अदर्शनात्' नहीं (बौधायन धर्मसूत्र १. २, ९ के 'विनशन' के ही समान); और पाणिनि २. ४, १० पर महाभाष्य में 'प्राग् आदर्शात्' है। बौद्धों के मध्य देश के लिये भी देखिये रिज़ डेविड्स : ज० ए० सो० १९०४, ८३ और बाद में एक लेख और उस पर फ्लीट : वही, १९०७, ६५७, के संशोधन; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ५८, ५९; इण्डियन एम्पायर, १, ३०३, ३०४, जहाँ इस असाधारण सिद्धान्त को ग्रहण किया गया है कि मध्य देश में आगत आर्यों की एक ऐसी नवीन जाति बसी थी, जो चित्राल और गिलगिट के मार्ग से आई थी, जिसके साथ स्त्रियाँ नहीं थीं और जिसने द्रविड़ स्त्रियों के साथ विवाह करके तथाकथित आर्य-द्रविड़ जाति को उत्पन्न किया था। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये वैदिक साहित्य में कोई भी प्रमाण ढूढ़ पाना असम्भव है। यह कहना, जैसा कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कहा गया है, कि 'वैदिक सूक्तों में आर्यों के भारत प्रवेश के मार्ग के, अथवा सिन्धु के किनारे उनकी आरम्भिक बस्तियों के सम्बन्ध में कोई सन्दर्भ नहीं और इसकी इस सिद्धान्त से ही व्याख्या हो सकती है कि भारतीय आर्य चित्राल के मार्ग से ही आये थे, एक निरर्थक उक्ति होगी। यह सिद्धान्त बाद की लोक-भाषाओं और उनके सम्बन्धों पर आधारित है (देखिये ग्रियर्सनः इण्डियन एम्पायर, १, ३५७ और बाद); इसे सम्भवतः किसी भी काल के लिये उपयुक्त नहीं मानना चाहिये। जो कुछ भी हो यह आठवीं शताब्दी ई० पू० के लिये तो किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं है।

मध्यं-दिन (मध्याह्न) ऋग्वेद[1], बाद की संहिताओं[2] और ब्राह्मणों[3] में एक बहुप्रयुक्त समय-वाचक शब्द है। तु० की० *अहन्*।

[1] ४. २८. ३; ८. १, २९; १३, १३; २७, १९; १०. १५१, ५, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद, ९. ६, ४६; तैत्तिरीय संहिता ६. २, ५, ४, इत्यादि।

[3] पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ९, १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ३, २; शतपथ ब्राह्मण

२. २, ३, ९; छान्दोग्य उपनिषद् २.९, ६; १४, ,१ इत्यादि। ऐतरेय ब्राह्मण ३. १०, २. ५; और कौषीतकि ब्राह्मण २९. ८, में यह शब्द कभी कभी 'मध्याह्न हवि' (जिस प्रकार 'मध्याह्न के भोजन' के लिये जर्मन शब्द mittag) के लिये संक्षिप्त रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

मध्यम-वह् रथ के एक विशेषण के रूप में ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है। इसकी ठीक-ठीक व्याख्या संदिग्ध है। रौथ[2] ने इस व्याहृति को 'रथ-काण्ड के बीच केवल एक अश्व द्वारा रथ चलाते हुये' अर्थ में ग्रहण किया है। सायण की व्याख्या के अनुसार इसका 'मध्यमगति से रथ चलाते हुये' अर्थ है। इसका अर्थ 'मध्य तक रथ चलाते हुये' अर्थात 'केवल आधी दूर तक'[3] हो सकता है।

[1] २. २९, ४।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था।
[3] तु० की० औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २१०। यहाँ प्रसंग के अन्तर्गत 'यज्ञ से दूर रहने' के आशय की आवश्यकता है।
तु० की० **पूर्ववह्**।

मध्यम-शी ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ रौथ[2] इस शब्द को 'मध्यस्थ' का आशय प्रदान करते हैं और जिसे ही त्सिमर[3] एक वैधानिक शब्द के रूप में 'मध्यस्थ' के आशय में ग्रहण कर लेते हैं; किन्तु लैनमैन[4] का विचार है कि रौथ इस शब्द को इसी सूक्त में व्यक्त व्याधि के 'प्रतिरोधक' अथवा 'विरोधी' का आशय प्रदान करना चाहते थे। व्हिट्ने[5] का विचार है कि इससे उस 'मध्य में स्थित मनुष्य' अथवा 'प्रधान' का आशय है, जिसके चतुर्दिक उसके अनुगामी शिविरस्थ रहते थे।[6] फिर भी गेल्डनर[7] के विचार से इससे एक ऐसे तृतीय राजा का आशय है जो दो शत्रुओं के बीच तटस्थ रहता है।

[1] १०. ९७, २२ = अथर्ववेद ४. ९, ४ = वाजसनेयि संहिता १२. ८६।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[3] आल्टिन्डिशे लेवेन, १८०। तु० की० **धर्म**।
[4] व्हिट्ने : अथर्ववेद के अनुवाद, १५९ में। किन्तु देखिये रौथ : सीवेनजिग लीडर, १७४, जिस पर लैनमेन की दृष्टि नहीं पड़ी प्रतीत होती, क्योंकि वह इसका उद्धरण नहीं देते।
[5] उ० स्था०।
[6] जैमिनीय ब्राह्मण २. ४०८, में 'मध्यम-शीवन' अस्पष्ट है।
[7] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १३१; कमेन्टर, १९६ (जहाँ आप इसके 'श्रृ' से नहीं वरन् 'शी' से व्युत्पन्न हुये होने के पक्ष में निर्णय देते प्रतीत होते हैं।

मध्यम-स्थ,[1] *मध्यमे-ष्ठ*[2] बाद की संहिताओं में, अपने अनुगामियों (सजात) के सन्दर्भ में प्रधान का द्योतक है। तु० की० *मध्यमशी*।

[1] वाजसनेयि संहिता २७. ५।
[2] अथर्ववेद ३. ८, २, और तु० की० तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ५, १, में 'मध्यमस्थेय' (प्रधान की स्थिति)।
तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९६।

मध्या-वर्ष (वर्षा का मध्य) का कौषीतकि ब्राह्मण[1] और सूत्रों[2] में विशेष रूप से वर्ष के एक समय के रूप में उल्लेख है।

[1] १. ३।
[2] शाङ्खायन श्रौत सूत्र, ३. ५, ५. ७, इत्यादि।

मनस, जो कि ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है, सायण की व्याख्या के अनुसार स्पष्टतः किसी ऋषि का नाम प्रतीत होता है।
[1] ५. ४४, १०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३९।

मना उपहारों की गणना के अन्तर्गत ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है, जहाँ इसे 'स्वर्णिम' (सचा मना हिरण्यया) कहा गया है। अतः यह किसी अलङ्कार अथवा सम्भवतः तौल का द्योतक है और इसी दृष्टि से इसकी यूनानी 'म्ना' (μνᾶ, हिरोडोटस में μνεα है), तथा लैटिन 'मिना' (Mina) के साथ तुलना[2] की गई है। इन तीनों ही शब्दों की उत्पत्ति सेमिटिक मानी गई है, जिसके अनुसार यूनानी शब्द फोनेशियनों[3] से, रोमन (लैटिन) शब्द एट्रूरिया के रस्ते कार्थेज अथवा सिसली से, और भारतीय शब्द बेबिलोन से लिये गये हैं। जहाँ तक 'मना' का सम्बन्ध है यह समीकरण अत्यन्त अनुमानात्मक और केवल बेबिलोनिया, अर्थात प्रलय आप्लावन की कथा

[1] ८. ७८, २।
[2] जैसा कि, त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५०, ५१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५. ३८६; १७, २०२, २०३; वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे लेबेन, १, xxii; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १६. २७८, आदि ने किया है।
[3] अथवा सम्भवतः एशिया माइनर के रास्ते बेबीलोनियों से। यूनानी जीवन पर फोनेशियनों के प्रभाव को अब अत्यन्त सीमित माना जाने लगा है। जहाँ तक 'मिन' का सम्बन्ध है, इस शब्द के ग्रहण किये जाने में व्यावसायिक अन्तर्क्रियाओं को इसका कारण माना जा सकता है।

और नक्षत्रों की पद्धति से गृहीत[४] हुये होने की सम्भावना-मात्र पर आधारित है। दूसरी ओर यह 'मना' भी ऋग्वेद[५] में अनेक बार 'इच्छा' के आशय में (मन् अर्थात् 'विचारना' धातु से) आनेवाले उस 'मना' शब्द के समान हो सकता है, जिसका इस स्थल पर 'वाञ्छित पदार्थ' का वास्तविक आशय है। यह भी उल्लेखनीय है कि बौटलिङ्क के कोश में केवल एक ही 'मना' शब्द आता है जिसे 'इच्छा', 'कामना' और 'ईर्ष्या' जैसे आशय प्रदान किये गये हैं।

[४] देखिये, उदाहरण के लिये, औल्डेनबर्ग: रिलीजन देस वेद, २७६; त्सी० गे० ५०, ४३ और बाद; बूहलर : इन्डियन स्टडीज़, ३, १६ और बाद; इन्डिशे पालियोग्राफी, १७; विन्सेन्ट स्मिथ : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, ३४, २३०। इसके विपरीत मत के लिये देखिये, मैक्समूलर : इन्डिया, १३३-१३८; हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया; १६०; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १३९ (जहाँ तक आप्लावन की कथा का सम्बन्ध है); ब्लूमफील्ड : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया, १३३ और बाद (जहाँ तक 'आदित्यों' का सम्बन्ध है)।

[५] १. १७३, २; ४. ३३, २; १०. ६, ३; वाजसनेयि संहिता ४. १९; 'ईर्ष्या', ऋग्वेद २. ३३, ५; कौशिक सूत्र १०७. २। यह सभी 'मना-य' ('विचारना', ईर्ष्या करना) से भी व्युत्पन्न होते हैं : ऋग्वेद १. १३३, ४; २. २६, २; 'मना-यु' (आकांक्षी) : ऋग्वेद १, ९२, ९; ४. २४, ७; 'मना-वसु' (भक्ति में सम्पन्न) : ऋग्वेद ५. ७४, १।

मनावी ('मनु' की पत्नी) का काठक संहिता[१] और शतपथ ब्राह्मण[२] में उल्लेख है। देखिये *मनु*।

[१] ३०. १ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६२)। | [२] १. १, ४, १६।

मनु को ऋग्वेद[१] अथवा बाद[२] में भी कोई ऐतिहासिकता नहीं प्रदान की जा सकती। यह केवल प्रथम मनुष्य और मानव जाति का पिता, तथा यज्ञ और अन्य विषयों का मार्ग-दर्शक है। अतः मूल ग्रन्थों में वंशानुक्रम सम्बन्धी

[१] १. ८०, १६; २. ३३, १३; ८. ६३, १; १०. १००, ५, इत्यादि। देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, ५०

[२] अथर्ववेद १४. २, ४१; तैत्तिरीय संहिता, १. ५, १, ३; ७. ५, १५, ३; २. ५, ९, १; ६, ७, १; ३. ३, २, १; ५. ४, १०, ५; ६. ६, ६, १; काठक संहिता ८. १५; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १४, इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १५, २, इत्यादि।

दृष्टिकोणों को मनु और उसके सबसे छोटे पुत्र *नाभानेदिष्ठ*[3] पर आरोपित कर दिये गये हैं। जल-प्लावन[4] की वैदिक कथा में भी यह नायक के रूप में आता है।

मनु को 'विवस्वन्'[5] अथवा 'वैवस्वत'[6] ('विवस्वन्त्' का पुत्र); 'सावर्णि'[6] ('सवर्णा' का वंशज; सवर्णा अपने विवाह की कथा में 'सरण्यू' के नाम से आती है); और 'सांवरणि'[7] ('संवरण' का वंशज), भी कहा गया है। इनमें से प्रमथ नाम निःसन्देह पौराणिक है। अन्य दो को ऐतिहासिक माना गया है, जिनमें से 'सावर्णि' को लुडविग[8] ने *तुर्वशों* का राजा कहा है, किन्तु यह अत्यन्त सन्दिग्ध है।

[3] तैत्तिरीय संहिता ३. १, ९, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४, १. २।

[4] शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, १ और बाद; काठक संहिता ११. २।

[5] ऋग्वेद ८. ५२, १।

[6] अथर्ववेद ८. १०, २४; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, ३; आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७; निरुक्त १२. १०।

[7] ऋग्वेद ८. ५१, १; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १८०, नोट, इसके स्थान पर 'सावर्णि' का ही अनुमान करते हैं। तु० की० शेफ्टेलोवित्स: डी० ऋ० ३८।

[8] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १९५; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० ११, २४०; लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ११४ और बाद; सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट, १², १६१ और बाद; बूहलर : से० बु० ई० २५. lvii और बाद; लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३४० और बाद।

मनोर् अवसर्पण शतपथ ब्राह्मण[1] में उस पर्वत का नाम है जिस पर आकर मनु की नौका टिक गई थी। महाकाव्य में इसका नाम 'नौबन्धन' है, किन्तु उस दृष्टिकोण[2] का कि अथर्ववेद[3] में इससे (नौबन्धन से) *नावप्रभ्रंशन* ही उद्दिष्ट है अब परित्याग[4] कर दिया गया है।

[1] १. ८, १, ८।

[2] देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १३९; ह्विट्ने : इन्डिशे स्टूडियन, १, १६२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ६७६।

[3] १९. ३९, ८।

[4] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९६१; मैकडौनेल : ज० ए० सो, १९०७, ११०७।

मनुष्य-राज[1] और *मनुष्य-राजन्*[2], दोनों ही बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में 'मनुष्यों के राजा' के द्योतक हैं। तु० की० *राजन्*।

[1] वाजसनेयि संहिता २४. ३०; ऐतरेय ब्राह्मण १, १५, ६; काठक संहिता २४. ७।

[2] पञ्चविंश ब्राह्मण १८. १०, ५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २६, ४।

मनुष्य-विश्[1], *मनुष्य-विश*[2] और *मनुष्य-विशा*[3] बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में 'मानव जाति' के द्योतक हैं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण १. ९, १।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५, ४, ७, ७; ६. १, ५, ३।

[3] काठक संहिता ११. ६; २३. ८।

मन्त्र ('मन्' अर्थात विचारना, धातु से), ऋग्वेद[1] और बाद[2] में गायकों के सृजनात्मक विचारों के उत्पादन के रूप में 'सूक्त' का द्योतक है। ब्राह्मणों[3] में इस शब्द का ऋषियों की पद्यात्मक और गद्यात्मक उक्तियों के लिये नियमित रूप से प्रयोग किया गया है। इसके अन्तर्गत न केवल संहिताओं के पद्यात्मक ही वरन् वह गद्यात्मक स्थल भी आ जाते हैं जो अपनी शैली के द्वारा अपनी विशेष तथा पुरातन प्रकृति को व्यक्त करते हैं।[4]

[1] १ ३१, १३; ४०, ५; ६७, ४; ७४, १; १५२, २; २. ३५, २, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १५. २, १; १९. ५४, ३; तैत्तिरीय संहिता १. ५, ४, १; ५, १, इत्यादि।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४, २३; ६. १; कौषीतकि ब्राह्मण २६. ३, ५; शतपथ ब्राह्मण १. ४, ४, ६; ११. २, १, ६; निरुक्त, ७. १, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १, ३।

[4] ब्लूमफील्ड : वैदिक कॉन्कॉर्डेन्स viii; कीथ : ऐतरेय आरण्यक २९८। मैकडौनेल के वैदिक ग्रामर में पद्य अथवा गद्य दोनों ही प्रकार की वैदिक संहिताओं की समस्त मन्त्र सामग्री को इसके अन्तर्गत रक्खा गया है।

मन्त्र-कृत्, ऋग्वेद[1] और ब्राह्मणों[2] में 'मन्त्रों के रचयिता' का द्योतक है।

[1] ९. ११४, २।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ६. १, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ३, २४; तैत्तिरीय आरण्यक ४. १, १।

मन्थ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक ऐसे पेय का द्योतक है जिसमें कुछ ठोस पदार्थों, सामान्यतया भुने हुये जौ (*सक्तु*) को दूध में मिलाकर और

[1] १०. ८६, १५।

[2] अथर्ववेद २. २९, ६; ५. २९, ७; १०. ६, २; १८. ४, ४२; २०. १२७, ९; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ५, १, इत्यादि

मथकर तैयार किया जाता था।[3] शांङ्खायन आरण्यक[4] में इस प्रकार के अनेक मिश्रित पेयों का उल्लेख है।

[3] शतपथ ब्राह्मण, ४. २, १, २; सुश्रुत, १, २३३, १२, सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, १ (ख) में।

[4] १२. ८। तु० की० त्सिमरः : आल्टिन्डिशे लेवेन, २६८, २६९; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, १०८।

मन्था, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर 'मन्थनी' का द्योतक है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता[2] में 'मथ्' धातु, मन्थन करने की द्योतक है। अथर्ववेद[3] के एक स्थल पर यह शब्द, *मन्थ* की ही भाँति, एक पेय के वाचक के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

[1] १. २८, ४।

[2] २. २, १०, २; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, २, ६; छान्दोग्य उपनिषद् ६. ६, १। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १६१।

[3] २०, १२७, ९। खिल ५. १०, ३ में शेफ्टेलोवित्स, कश्मीर की पाण्डुलिपि का अनुसरण करते हुये 'मन्थाम्३' को प्लुति के साथ पढ़ते हैं, किन्तु यह अथर्वन् के मूलपाठ का मिथ्या-उद्धरण ही है।

मन्थावल, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में किसी पशु, सेन्ट पीटर्सवर्ग कोष के अनुसार एक प्रकार के सर्प, का नाम है। सायण[2] ने इसे एक ऐसे पशु के अर्थ में ग्रहण किया है जो वृक्षों की शाखाओं पर सर नीचा करके लटका रहता है और जिससे सम्भवतः 'उड़नेवाली लोमड़ी'[3] (चमगादड़) से तात्पर्य है। तु० की० *मान्थाल*, *मान्थीलव*।

[1] ३. २६, ३।

[2] पृ० २९१ (ऑफरेख्त द्वारा सम्पादित)। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन ८६।

[3] बौटलिङ्क : कोष, व० स्था०, के अनुसार इस शब्द का यही सम्भव अर्थ है।

मन्थिन्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में मन्थन द्वारा *सक्तु* में मिलाये गये सोमरस का द्योतक है।

[1] ३. ३२, २; ९. ४६. ४। तिलक का यह अनुमान कि इससे ग्रहों का तात्पर्य है, अनुपयुक्त प्रतीत होता है। देखिये ओरायन, १६२; ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो, १६, xciv।

[2] तैत्तिरीय संहिता ३. १, ६, ३; ६. ४, १०, १; ७. २, ७, ३; वाजसनेयि संहिता ७. १८; ८. ५७; १३. ५७; १८. १९; ऐतरेय ब्राह्मण ३. १, ६, इत्यादि।

मन्दीर, सम्भवतः एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जिसके पशुओं ने, कात्यायन श्रौतसूत्र (१३. ३, २१) के अनुसार *गङ्गा* के जल का पान नहीं किया था। देखिये *मङ्गीर*।

१. *मन्धातृ*, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर आता है, जहाँ सभी स्थानों पर रौथ[2] ने इस शब्द को 'पवित्र व्यक्ति' के आशय में प्रयुक्त एक विशेषण के अर्थ में ग्रहण किया है। एक स्थल[3] पर, जहाँ यह शब्द अग्नि के लिये व्यवहृत हुआ है, इसी आशय में प्रयुक्त है, किन्तु एक अन्य[4] स्थल पर 'मन्धातृवत्' को 'अङ्गिरस्वत्' (अङ्गिरस् की भाँति) के समानान्तर होने के कारण स्वभावतः एक व्यक्तिवाचक नाम मानना चाहिए, और सम्भवतः पिछले सूक्त[5] में भी इस शब्द का यही आशय है। प्रथम मंडल[6] में एक भिन्न मन्धातृ[6] का आशय हो सकता है जहाँ उसका अश्विनों के एक आश्रित, प्रत्यक्षतः किसी राजा, के रूप में उल्लेख है। इन दोनों व्यक्तियों में समीकरण स्थापित करना और मन्धातृ से एक राजर्षि का अर्थ निकालना, जैसा कि लुडविग[7] और ग्रिफिथ[8] मानते हैं, अनावश्यक और असम्भाव्य है।

[1] १. ११२, १३; ८. ३९, ८; ४०, १२; १०. २, २।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।
[3] ऋग्वेद १०, २, २।
[4] ऋग्वेद ८. ४०, १२।
[5] ऋग्वेद ८. ३९, ८।
[6] ऋग्वेद १. ११२, १३।
[7] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०७, जहाँ आप ऋग्वेद ८. ३९–४२ को नाभाक (नभाक का वंशज) के रूप में इसे आरोपित करते हैं।
[8] ऋग्वेद के सूक्त, १, १४७।

२. *मन्धातृ यौवनाश्व* ('युवनाश्व' का वंशज) गोपथ ब्राह्मण[1] में एक ऐसे राजा का नाम है जिसको *कबन्ध आथर्वण* के पुत्र *विचारिन्* ने शिक्षित किया था।

[1] १. २, १० और बाद। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, १११।

मन्या, बहु०, किसी व्याधि के विरुद्ध प्रयुक्त अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर आता है, जहाँ ब्लूमफील्ड[2] ने इस व्याधि को 'गण्डमाल' के रूप में ग्रहण किया है। आप वाइज़[3] द्वारा वर्णित 'मन्सकुन्डेर' (यह उन

[1] ६. २५, १।
[2] प्रो० सो०, अक्तूबर, १८८७, xix; अ० फा०, ११, ३२७ और बाद; अथर्ववेद के सूक्त, ४७२।
[3] सिस्टम ऑफ हिन्दू मेडिसिन, ३१६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १७, २०२; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २९८, २९९।

'मन्या' और 'स्कन्ध्या' शब्दों का समस्त रूप प्रतीत होता है, जो कि अथर्ववेद के उक्त सूक्त के प्रथम और तृतीय मन्त्रों में आते हैं) नामक व्याधि के साथ इसकी तुलना करते हैं।

ममता, सायण के अनुसार, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर 'उचथ्य' की पत्नी और *दीर्घतमस्* की माता का नाम है। किन्तु यह शब्द 'स्वार्थ' के अर्थ में केवल एक भाववाचक संज्ञा हो सकता है, और बाद की भाषा में अक्सर इसका यही आशय है। औल्डेनबर्ग[2] ऋग्वेद[3] के एक मन्त्र में *भरद्वाज* के नाम के रूप में 'ममत' (पुल्लिङ्ग) का उल्लेख देखते हैं।

[1] ६. १०, २। तु० की० महाभारत, १. ४१७९ और बाद।
[2] त्सी० गे०, ४२, २१२।
[3] ६. ५०, १५ जहाँ प्राप्त मूल ग्रन्थ में 'मम तस्य' पाठ है।

मय, वाजसनेयि संहिता (२२. १९) में एक बार 'अश्व' के आशय में मिलता है।

मयु, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है। तैत्तिरीय संहिता[1] के भाष्यकार ने इस शब्द की 'वनमानुष' (किंपुरुष) अथवा 'जंगली मोर' (आरण्य-मयूर) के अर्थ में व्याख्या की है। प्रथम आशय वाजसनेयि संहिता[2] के उस दूसरे स्थल द्वारा भी पुष्ट होता है, जहाँ, एक मनुष्य के स्थानापन्न के रूप में प्रयुक्त हुये होने के कारण मयु को निश्चित रूप से वनमानुष ही होना चाहिए। यही आशय एक अन्य स्थल[3] पर मिलनेवाले इस शब्द के प्रयोग के भी अनुकूल है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; वाजसनेयि संहिता २४. ३१।
[2] ८. ४७; तैत्तिरीय संहिता ४. २, १०, १ में 'मयु आरण्य' है।
[3] शतपथ ब्राह्मण ७. ५, २, २२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, २४६।

मयूख, ऋग्वेद और उसके बाद[1] से मुख्यतः जाल को खिंचा रखने के लिये[2] प्रयुक्त एक खूँटी का द्योतक है। तु० की० *ओतु*०।

[1] ऋग्वेद ७. ९९, ३; तैत्तिरीय संहिता २. ३, १, ५; काठक संहिता ११. ६; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १५, ९, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १०. १३०, २ (एक रूपक में); अथर्ववेद १०. ७, ४२; काठक संहिता २६. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५, ५, ३, इत्यादि।

मयूर, इन्द्र के अश्वों का वर्णन करनेवाले समस्त पदों के रूप में ऋग्वेद में आता है, यथाः 'मयूर-रोमन'[1] (मयूर-पंखों की भाँति रोम वाला), 'मयूर-शेप्य'[2] (मयूर-पंखों की भाँति पूँछ वाला)। यजुर्वेद संहिताओं[3] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत भी मयूर आता है। ऋग्वेद[4] और अथर्ववेद[5] में मयूरी का उल्लेख है जहाँ दोनों ही दशाओं में विष के विरुद्ध इसके प्रभावशाली होने का संदर्भ है, और यह एक ऐसा अन्धविश्वास है जिसके साथ मयूर-पंख के प्रति आधुनिक अप्रिय भावना की तुलना की जा सकती है।

[1] ऋग्वेद ३. ४५, १।
[2] ऋग्वेद ८. १, २५।
[3] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ४; वाजसनेयि संहिता २३. २४. २७।
[4] १. १९१, १४ (एक बाद का सूक्त)।
[5] ७. ५६, ७।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ९०।

मरीचि, वेबर[1] के अनुसार बहुवचन में उन 'ज्योतिकणों' अथवा 'चमकदार कणों' का द्योतक है जो प्रकाश-रश्मियों के विपरीत वायुमंडल में व्याप्त रहते हैं। यही अर्थ आरम्भिक वैदिक साहित्य[2] के उन स्थलों के भी अनुकूल है, जहाँ यह शब्द आता है; किन्तु उपनिषदों[3] में 'रश्मि' का, तथा प्राचीन आशय[4] भी, स्पष्ट रूप से मिलता है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ९, ९, जिसे सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० ने स्वीकार किया है।
[2] ऋग्वेद १०. ५७, १२; १७७, १; अथर्ववेद ४. ३८, ५ (जहाँ 'रश्मि' और 'मरीचि' परस्पर विरोधी हैं); ५. २१, १०; ६. ११३, २; तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ५, ५ ('मरीचि-प अर्थात् 'ज्योतिकणों का पान करनेवाला' देवों के लिये प्रयुक्त हुआ है); तैत्ति-ब्राह्मण २. २, ९, २ (जहाँ सायण की 'सर्वत्र-प्रसृत-प्रभा द्रव्य' उक्ति से सर्वत्र व्याप्त प्रकाश का तात्पर्य है), इत्यादि।
[3] प्रश्न उपनिषद् ४. २।
तु० की० तैत्तिरीय उपनिषद् १. १, २; २, १; मैत्रायणी उपनिषद् ६. ३१
[4] ऐतरेय उपनिषद् १. २।

मरु का, बहुवचन में तैत्तिरीय आरण्यक[1] में कुरुक्षेत्र के 'उत्कर' (वेदिका[2] को खोदने से निकली हुई मिट्टी का टीला) के रूप में उल्लेख है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मरु-प्रदेश (बाद में 'मरु-स्थल'[3]) को

[1] ५. १, १।
[2] एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, १२, २५, ५४।
[3] तु० की० त्सिमर: अल्टिन्डिशे लेबेन, ४८, और धन्वन्।
तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, ७८।

इसलिये इस रूप में व्यक्त किया गया है कि इसका कुरुक्षेत्र रूपी वेदिका के साथ वही सम्बन्ध था जो उत्कर की फेंकी हुई मिट्टी और यज्ञ की वेदिका के बीच होता है।

मरुत्त आवि-क्षित ('अविक्षित्' का वंशज) *काम-प्रि* ('कामप्र' का वंशज) एक राजा का नाम है जो ऐतरेय ब्राह्मण[1] के अनुसार *संवर्त* द्वारा अभिषिक्त हुआ था। इसी राजा से सम्बन्धित शतपथ ब्राह्मण[2] के विवरण में इसे *आयोगव* कहा गया है।

[1] ८. २१, १२।
[2] १३. ५, ४, ६। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६, ९, १४. १६; और मैत्रायणी उपनिषद् १. ४, भी।

मरुद्-वृधा[1], ऋग्वेद[2] की 'नदीस्तुति' में *असिक्नी* और *वितस्ता* के साथ उल्लिखित एक नदी का नाम है। रौथ[3] का विचार है कि मरुद्वृधा उस नदी की द्योतक है जो उक्त दोनों नदियों के मिलने के बाद बनती है और *परुष्णी* में मिलती है। त्सिमर[4] ने इसी मत को स्वीकार किया है। दूसरी ओर, लुडविग[5] का विचार है कि मरुद्वृधा उस नदी की द्योतक है जो परुष्णी, तथा असिक्नी और वितस्ता की सम्मिलित जल धारा के संगम के बाद बनती है। यह दृष्टिकोण अपेक्षाकृत कम सम्भव प्रतीत होता है।

[1] शब्दार्थ, 'मरुतों में वृद्धि को प्राप्त करने वाली'—अर्थात् 'तूफानी वर्षा से बढ़ी हुई'। इस नाम का एक अशुद्ध अक्षर-विन्यास, 'मरुद्-वृद्धा', मैकडौनेल की वैदिक माइथौलोजी, पृ० ८०, ८८, पर मिलता है, जिसे उस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका और शुद्धि-पत्र में संशोधित किया गया है। इस नाम के स्वरों के लिये देखिये, पाणिनि, ६, २, १०६, पर वार्तिक २।
[2] १०. ७५, ५।
[3] त्सु० वे० १३८ और बाद।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, ११, १२।
[5] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।

१. मर्क, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ रौथ[2] 'सूरो मर्कः' व्याहृति में 'सूर्य-ग्रहण' का आशय देखते हैं। सायण[3] के विचार से इसका अर्थ 'पवित्र करना'[4] है।

[1] १०. २७, २०।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। फिर भी आपका विचार है कि यदि इस शब्द का अर्थ 'ग्रहण' है तो यह 'मृच्' (क्षति पहूँचना) धातु से व्युत्पन्न नहीं हो सकता।
[3] जैसा कि 'मृज्' से निष्कृष्ट होता है, यद्यपि यह व्युत्पत्ति ध्वन्यात्मक दृष्टि से पुष्ट नहीं होती।
[4] लुडविग ने ऋग्वेद में 'ग्रहण' सम्बन्धी अपने लेख (प्रोसीडिङ्गस ऑफ बोहेमियन अकेडमी, १८८५) में इस स्थल

को इस बात के प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है कि वैदिक ऋषि चन्द्रमा द्वारा सूर्य-ग्रहण उत्पन्न करने के तथ्य से परिचित थे; किन्तु देखिये ह्विट्ने का उत्तर, ज० अ० ओ० सो० १३, lxi और बाद, और सूर्य।

२. मर्क, तैत्तिरीय संहिता[१] और अन्यत्र[२] असुरों के पुरोहित के रूप में, *शण्ड* के साथ उल्लेख है, जब कि बृहस्पति देवों के पुरोहित हैं। मर्क का अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है।[३] जैसा कि हिलेब्रान्ट[४] और हॉपकिन्स[५] ने माना है इस नाम पर बहुत कुछ ईरानी प्रभाव हो सकता है। हिलेब्रान्ट[६] ने ऋग्वेद[७] और अन्यत्र[८] उल्लिखित एक 'गृध्र' में भी 'मर्क' का ही प्रतिरूप देखा है।

[१] ६. ४, १०, १।
[२] मैत्रायणी संहिता ४. ६, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १, ५; शतपथ ब्राह्मण ४. २, १, ४।
[३] वाजसनेयि संहिता ७. १६. १७।
[४] वेदिशे माइथौलोजी, ३,४४२ और बाद।
[५] तु० की० ट्रा० सा० १५, ४९, नोट १।
[६] उ० पु० १. २२३ और बाद।
[७] ५. ७७, १।
[८] तैत्तिरीय आरण्यक ४. २९; मैत्रायणी संहिता ४. ९, १९।
तु० की एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, २७९ और बाद।

मर्कट, (बन्दर) का 'यजुर्वेद संहिताओं'[१] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत उल्लेख है। 'मुख से पकड़ने वाले' (मुखादान) के विपरीत 'हाथ से पकड़ने वाले' (हस्तादान) के रूप में इसे इन्हीं संहिताओं[२] में मनुष्य और हाथी के साथ वर्गीकृत किया गया है। इस पशु का अनेक बार अन्यत्र[३] भी उल्लेख मिलता है। तु० की० *पुरुष हस्तिन्, मयु*।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ११; वाजसनेयि संहिता २४. ३०।
[२] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ५, ७; मैत्रायणी संहिता ४. ५, ७।
[३] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; जैमिनीय ब्राह्मण १. १८४; तैत्तिरीय आरण्यक ३, ११, ३२, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८५।

१. मर्य, ऋग्वेद[१] में एक ऐसे पुरुष का द्योतक है जिसे विशेषतः युवा और प्रेमी माना गया है तथा जिसका नियमित रूप से 'युवतियों (युवती) के के साथ रहनेवाले के रूप में उल्लेख है।

[१] ३. ३१, ७; ३३, १०; ४. २०, ५; ९. ९६, २०, इत्यादि; 'मर्य-श्री', २. १०, ५। तु० की० निरुक्त ३. १५; ४. २।

२. *मर्य*[1], ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर 'अश्व'[2] का द्योतक है। एक स्थल[3] पर इसका 'पस्त्यावन्त्' के रूप में उल्लेख है; अर्थात् इसकी सतर्कतापूर्वक देख-रेख की जाती थी और बाहर चरने नहीं दिया जाता था।

[1] ७. ५६, १६; ८. ४३, २५।

[2] यह निःसन्देह 'पुरुष' अर्थ वाले १. मर्य का एक विशिष्ट अर्थ मात्र है (तु० की लैटिन Mas, maritus)। यह विशिष्ट अर्थ बहुत कुछ अंग्रेज़ी में 'Sire' के प्रयोग के समान है।

[3] ऋग्वेद ९. ९७, १८। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २ में रौथ का विचार है कि ऋग्वेद १. ९१, १३ का भी यही आशय हो सकता है।

मर्यक, केवल एक बार ऋग्वेद[1] में आता है और एक ऐसे बैल का द्योतक प्रतीत होता है जिसे गायों से बिछुड़ गया कहा गया है।

[1] ५, २, ५। तु० की० औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३१३।

मर्यादा (सीमा), शतपथ ब्राह्मण[1] में मिलता है, जहाँ इससे *कोसलों* और *विदेहों* के बीच की सीमा का सन्दर्भ है। सामान्यतया यह शब्द लाक्षणिक आशय में ही प्रयुक्त हुआ है।[2]

[1] १. ४, १, १७। तु० की० १३. ८, ४, १२।

[2] ऋग्वेद ४. ५, १३; १०. ५, ६; अथर्ववेद ६. ८१, २ (एक कवच की)। अथर्ववेद के स्थल पर, ह्विट्ने (अथर्ववेद का अनुवाद ३९२) ने इस शब्द के अत्यन्त विचित्र प्रयोग के कारण ही इसे 'मर्य-दा' (पुत्र प्रदान करनेवाला) के रूप में संशोधित किये जाने का विचार व्यक्त किया है।

मल, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर, मुनियों के परिधान के लिये प्रयुक्त हुआ है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश इसे 'चर्म परिधान'[2] के अर्थ में ग्रहण करता है; किन्तु लुडविग और त्सिमर[3] का विचार है कि इससे केवल 'मलिन' परिधान मात्रा से तात्पर्य है, जो अर्थ निःसन्देह, अथर्ववेद[4] में इस शब्द के साधारण आशय और बड़े-बड़े केशों वाले (केशिन्) मुनियों (*मुनि*) की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। तु० की० *मलग*।

[1] १०. १३६, २।

[2] यदि यह ठीक है, तो इस शब्द को 'चर्म परिष्कार' के आशय में 'म्ला' से व्युत्पन्न माना जा सकता है। तु० की० **चर्मन्**, विशेषतः नोट ६ और ७।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, २६२।

[4] ६. ११५, ३; ७. ८९, ३; १०. ५, २४ इत्यादि।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३३३, नोट।

मल-ग, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर 'धोबी' अथवा 'वस्त्रों का परिष्कार करनेवाले' का द्योतक है; किन्तु इस शब्द की व्युत्पत्ति कुछ अनिश्चित[2] ही है।

[1] १२. ३, २१।
[2] सम्भवतः इसका मूलतः 'मल से सम्बद्ध' अर्थ रहा हो सकता है। देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०, 'ग' १, समस्त पदों में 'ग' के साथ बने यौगिक शब्दों के लिये; और तु० की० मल।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६२; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, १८८।

मलिम्लु, यजुर्वेद संहिता[1] में विशिष्टतः एक 'डाकू' का, किन्तु भाष्यकार महीधर के अनुसार 'चोर' अथवा 'घर में सेंध लगानेवाले' का द्योतक है। तु० की० *तायु*, *तस्कर*, *स्तेन* और *देवमलिम्लुच्*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ३, २, ६; वाजसनेयि संहिता ११. ७८. ७९; अथर्ववेद १९. ४९, १०।

मलिम्लुच, काठक संहिता[1] में एक मलमास का द्योतक है। देखिये *मास*।

[1] ३५. १०, ३८. १४। तु० की० वेबर : ज्योतिष, १००, १०२; नक्षत्र, २, ३५०।

१. मशक, एक 'काटनेवाली मक्खी' अथवा 'मच्छर' का द्योतक है, जिसका अथर्ववेद[1] में 'शीघ्रता (?) से काटने वाले' (तृप्र-दंशिन्), और विषयुक्त दंश से युक्त होने के रूप में वर्णन किया गया है। इसके दंश से हाथियों[2] के विशेष रूप त्रस्त होने का उल्लेख है। अन्यत्र[3] भी इस कीटाणु का सन्दर्भ मिलता है। तु० की० *दंश*।

[1] ७. ५६, ३।
[2] अथर्ववेद ४. ३६, ९।
[3] अथर्ववेद ११. ३, ५; अश्वमेध के समय, मैत्रायणी संहिता, ३. १४, ८; वाजसनेयि संहिता २४. २९; २५. ३; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ३, २४ (माध्यंदिन = १. ३, २२ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद्, ६. ९, ३; १०, २।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७।

२. मशक गार्ग्य (*गर्ग* का वंशज), वंश ब्राह्मण[1] में *स्थिरक गार्ग्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है। सामवेद के सूत्रों[2] में भी इसका उल्लेख है। यह एक उपलब्ध कल्पसूत्र का प्रसिद्ध लेखक भी है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३, ३८२।
[2] लाट्यायन श्रौत सूत्र ७. ९, १४; अनुपद सूत्र ९. ९।
तु० की० वेबर : इन्डियन लिट-रेचर, ७५, ७६; ८३, ८४।

मशर्शार, लुडविग[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] में नहुषों के एक राजा का नाम है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०६। | [2] १. १२२, १५।

मष्णार, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उस स्थान का नाम है जहाँ एक कुरु राजा ने विजय प्राप्त की थी।

[1] ८. २३, ३ (तु० की० भागवत पुराण, ५. १३, २६ और बाद; ल्यूमैन : त्सी० गे० ४८, ८०, नोट २।

मसूर, वाजसनेयि संहिता[1] और बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में एक प्रकार की दाल (Ervum Hirsutum) का द्योतक है।

[1] १८. १२।
[2] ६. ३, २२ (माध्यंदिन = ६. ३, १३, काण्व)।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४१।

मसूस्य, जो कि तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ८, १४, ६) में आता है, भाष्यकार के अनुसार उत्तर-देश के एक अन्न का नाम है।

मस्तु, यजुर्वेद संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'खट्टी दधि' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६, १, १, ४; काठक संहिता ३६. १।
[2] शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, ७; ३. ३, ३, २, इत्यादि।

मह-र्त्विज्, ब्राह्मणों[1] में चार प्रमुख पुरोहितों—अध्वर्यु, ब्रह्मन्, होतृ, और उद्गातृ—का सामूहिक नाम है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, २, ४; शतपथ ब्राह्मण १३. १, १, ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १, ७, इत्यादि।

मह-र्षभ, (महान् बैल) का अथर्ववेद (४. १५, १) में उल्लेख है।

मह-र्षि, का, तैत्तिरीय आरण्यक (१. ९, ६) में उल्लेख है। तु० की० *महाब्राह्मण*।

महा-कुल, (महान कुल से उत्पन्न) ऋग्वेद (१. १६१, १) में किसी पात्र अथवा प्याले (*चमस*) का द्योतक है। इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग यह व्यक्त करता है कि ऋग्वेद के काल में भी कुछ परिवारों की उच्च स्थिति को मान्यता मिल चुकी थी।

महा-कौषीतक, ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों[1] में एक वैदिक ग्रन्थ—महा कौषीतक (ब्राह्मण)—का नाम है।

[1] आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४, ४; गुरु के रूप में 'महाकौषीतकि', शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४. १०; ६. १, इत्यादि में। तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० २९, ३, ४।

महाज, (महान् बकरा, *अज*) का शतपथ ब्राह्मण (३. ४, १, २) में उल्लेख है।

महा-धन, ऋग्वेद में या तो एक 'महान् युद्ध'[1] का अथवा युद्ध के परिणाम स्वरूप प्राप्त 'महान् पुरस्कार'[2] का द्योतक है। अनेक दशाओं में इस युद्ध से केवल रथ के दौड़ की प्रतिस्पर्धा मात्र का ही अर्थ हो सकता है।

[1] ऋग्वेद १. ७, ५; ४०, ८; ११२, १७; ६. ५९, ७, इत्यादि।

[2] ९. ८६, १२।

महा-नग्नी, अथर्ववेद[1] में एक 'राजनर्तकी' का द्योतक है। सम्भवतः इसका पुल्लिङ्ग रूप 'महा-नग्न'[2], स्त्रीलिङ्ग 'महानग्नी'[3] से ही व्युत्पन्न हुआ है।

[1] १४. १, ३६; २०. १३६, ५ और बाद; ऐतरेय ब्राह्मण १. २७, १।

[2] अथर्ववेद २०. १३६, ११; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. २४, १४। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ७४७; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, २८०, नोट १।

[3] जिस प्रकार 'स-पत्न' (प्रतिद्वन्द्वी) निश्चित रूप से 'स-पत्नी' से ही बना है।

महा-नाग (महान सर्प) का शतपथ ब्राह्मण (११. २, ७, १२) में उल्लेख है, जहाँ यह सर्वथा पौराणिक ही है।

महा-निरष्ट (एक महान् बधिया बैल) का, यजुर्वेद संहिताओं[1] में *राजसूय* के समय *सूत* के गृह में *दक्षिणा* के रूप में उल्लेख है। तु० की० *अनड्वाह* और *गो*।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; काठक संहिता १५. ४, ९; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५।

महा-पथ, ब्राह्मणों[1] में दो ग्रामों के बीच स्थित 'उच्च पथ' का द्योतक है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ४. १७, ८; छान्दोग्य उपनिषद् ८. ६, २। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २७१, नोट।

महा-पुर, यजुर्वेद संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में एक महान् 'दुर्ग'[1] का द्योतक है। सम्भवतः पुर् और महापुर में एक मात्र केवल आकार का ही अन्तर होता था।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ३, १; काठक संहिता २४. १०; मैत्रायणी संहिता ३. ८, १।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण १. २३, २; गोपथ ब्राह्मण २. २, ७।

महा-ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद् (२. १, १९. २२) में मिलता है और एक महान् ब्राह्मण का द्योतक है। तु० की० *महर्षि*।

महाभिषेक, का ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उल्लेख है। यहाँ इसका महान् राजाओं के लिये सम्पन्न समारोह के रूप में वर्णन है, और ऐसे राजाओं की एक सूची भी दी हुई है। यह *राजसूय* के समान होता था।

[1] ८. १४, ४; १९, २। तु० की० वेबर : ए० रि० ८। सूची में निम्नलिखित नाम हैं : जनमेजय पारिक्षित, जिनका मित्र तुर कावषेय था; शार्यात मानव और च्यवन भार्गव; सतानीक सात्राजित और सोमशुष्म भार्गव; अम्बरीष और पर्वत और नारद; युधांश्रौष्टि औग्रसैन्य और वही दोनों ऋषि; विश्वकर्मन भौवन और कश्यप; सुदास् पैजवन और वसिष्ठ; मरुत्त आविक्षित और संवर्त; अङ्ग वैरोचन और उदमय आत्रेय; भरत दौःषन्ति और दीर्घतमस् मामतेय; दुर्मुख पाञ्चाल और बृहदुक्थ; अत्यराति जानंतपि और वासिष्ठ सात्यहव्य।

महा-भूत, निरुक्त (१४. ५, १०) और ऐतरेय उपनिषद् (३. २, ३) में पञ्चभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश) का द्योतक है।

महा-मत्स्य, का बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ३, १८) में उल्लेख है।

महा-मेरु, तैत्तिरीय आरण्यक[1] में एक पर्वत का नाम है।

[1] १. ७, १. ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ७८; ३, १२३।

महा-रथ (महान रथवाला, अर्थात् एक महारथी योद्धा) उस महान् योद्धा की उपाधि है जिसकी यजुर्वेद संहिताओं[1] के अश्वमेध संस्कार में स्तुति की गई है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ७, ५, १८, १; वाजसनेयि संहिता २२. २२।

महा-राज का ब्राह्मणों[1] में बहुधा ही उल्लेख मिलता है। इससे सम्भवतः केवल एक राजा (जिसे *राजन्* कहा गया है) के विपरीत एक महाराज, अथवा एक राज्य करनेवाले शक्तिशाली राजा के अतिरिक्त और कुछ अधिक अर्थ प्रतीत नहीं होता।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४, ९; कौषीतकि ब्राह्मण ५. ५; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ४, २१; २. ५, ४, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १९ और बाद; मैत्रायणी संहिता २. १, इत्यादि।

महा-रात्र, कौषीतकी ब्राह्मण[1] और सूत्रों[2] में मिलनेवाला शब्द है और मध्यरात्रि के पश्चात् तथा उषाकाल के पूर्व के बीच के रात्रि के भाग का द्योतक है।

[1] २. ९; ११. ८।
[2] शाङ्खायन श्रौत सूत्र ६. २, १; १७. ७, १, इत्यादि।

महार्णव (महासागर) एक ऐसा शब्द है जो मैत्रायणी उपनिषद् (१. ४) के पहले नहीं मिलता। इस उपनिषद् में 'महासागरों' के सूखने को महान् आश्चर्यों में से एक कहा गया है। तु० की० *समुद्र*।

महा-वीर (एक महान् नायक), बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों[1] में एक मिट्टी के बृहत् पात्र का नाम है जिसे आग पर भी रक्खा जा सकता था और जो 'प्रवर्ग्य' नामक आरम्भिक सोम-संस्कार के समय विशेष रूप से प्रयुक्त होता था।

[1] वाजसनेयि संहिता १९. १४; शतपथ ब्राह्मण १४. १, २, ९. १७; ३, १, १३; ४, १६; २, २, १३. ४०; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. १०, १; कौषीतकि ब्राह्मण ८. ३, ७, इत्यादि।

महा-वृक्ष का कभी-कभी पञ्चविंश ब्राह्मण (७. ६, १५; १४. १, १२) और सूत्रों में उल्लेख है।

महा-वृष, अथर्ववेद[1] में *मूजवन्तों* के साथ उल्लिखित एक ऐसी जाति का नाम है जिन पर ज्वर को स्थानान्तरित किया गया है। इन्हें एक उत्तरी जाति के रूप में ग्रहण करना तर्कसंगत प्रतीत होता है, यद्यपि ब्लूमफील्ड[2] ऐसा विचार व्यक्त करते हैं कि इस नाम को भौगोलिक स्थिति की अपेक्षा

[1] ५. २२, ४. ५. ८।
[2] अथर्ववेद के सूक्त ४४६।

ध्वनि तथा आशय की दृष्टि से (जैसे, व्याधि का प्रतिरोध करने को 'महान् शक्ति' रखने वाला) ही ग्रहण करना चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद्[3] में *रैक्वपर्ण* नामक स्थान को महावृष-क्षेत्र में स्थित बताया गया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[4] में *हृत्स्वाशय* को महावृषों का राजा कहा गया है। बौधायन श्रौत सूत्र[5] के भी एक श्लोक में 'महावृषों' का सन्दर्भ मिलता है।

[3] ४. २, ५।
[4] ३. ४०, २।
[5] २. ५।
तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ७०, १४७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२९; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २५९, २६०।

१. *महा-शाल* (शब्दार्थः 'एक महान् गृहवाला')—एक 'महान् गृहस्थ' के आशय में यह व्याहृति छन्दोग्य उपनिषद् (५. ११, १) में उन ब्राह्मणों के लिये व्यवहृत हुई है जिनको *अश्वपति* ने शिक्षा दी थी। इसमें सन्देह नहीं कि इन ब्राह्मणों के महत्त्व पर जोर देने के लिये ही इनका इस प्रकार वर्णन किया गया है। तु० की० *महाब्राह्मण*।

२. *महा-शाल जाबाल*, एक ऐसे गुरु का नाम है जिसका शतपथ ब्राह्मण में दो बार उल्लेख है : एक बार *धीर शातपर्णेय*[1] को शिक्षित करने वाले के रूप में, तथा एक अन्य बार उन ब्राह्मणों में से एक के रूप में जिन्होंने *अश्वपति*[2] से शिक्षा प्राप्त की थी। छान्दोग्य उपनिषद्[3] के समानान्तर स्थल पर इस नाम का रूप *प्राचीनशाल औपमन्यव*[4] है। इस शब्द को एक विशेषण (१. *महाशाल*) मानने की अपेक्षा, जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश[5] ने माना है, व्यक्तिवाचक नाम ही मानना चाहिये।

[1] १०. ३, ३, १।
[2] १०. ६, १, १।
[3] ५. ११, १।
[4] तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३९३, नोट १।
[5] मुण्डक उपनिषद् १. १, ३, में इस शब्द का 'शौनक' के लिये, सम्भवतः केवल एक उपाधि के रूप में ही व्यवहार किया गया है। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, १६१।

महा-सुपर्ण, शतपथ ब्राह्मण (१२. २, ३, ७) में एक प्रकार के 'महान् पक्षी' अथवा 'महान् श्येन' का द्योतक है।

महा-सुहय (एक महान् अश्व) व्याहृति द्वारा बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में

[1] ६. २, १३। तु० की० शाङ्खायन आरण्यक ९. ७; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १, १२; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, २३४, २३५; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, ५७, नोट ३। तु० की० *पड्वीश*।

सिन्धु-क्षेत्र (सैन्धव) के एक ऐसे अश्व का वर्णन किया गया है जो अपने 'पाद-पाश' को तोड़ देता था (पड्वीश-शङ्खु)।

महा-सूक्त, पु०, वहु०, का ऋग्वेद[1] के दसवें मण्डल के बड़े-बड़े सूक्तों के रचयिताओं के रूप में ऐतरेय आरण्यक[2] और सूत्रों[3] में उल्लेख है। तु० की० *क्षुद्र-सूक्त*।

[1] १०. १–१२८।
[2] २. २, २।
[3] आश्वलायन गृह्य सूत्र, ३. ४, २: शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४. १०।

तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ११५; ३९०; रौथ : त्सु० वे० २७।

महाह्न, कौषीतकि ब्राह्मण (२. ९) में दिन के उत्तरार्ध—अर्थात् मध्याह्नोत्तर काल का द्योतक है। तु० की० *महारात्र*।

महि-दास ऐतरेय ('इतर' अथवा 'इतरा' का वंशज) एक ऋषि का नाम है जिसके आधार पर ही ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक ने अपने नाम धारण किये हैं। इसका ऐतरेय आरण्यक[1] में अनेक बार उल्लेख है, किन्तु इसके रचयिता के रूप में नहीं। छान्दोग्य उपनिषद्[2] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] में इसकी आयु ११६ वर्ष बताई गई है।

[1] २. १, ८; ३, ७।
[2] ३. १६, ७।
[3] ४. २, ११ (तु० की० ज० अ० ओ० सो० १५, २४६)। तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक १६, १७।

महिष (शक्तिशाली) ऋग्वेद और बाद के ग्रन्थों में *मृग* (वन्य पशु) के साथ[1] अथवा बिना[2] भी, 'भैंसे' का द्योतक है। इसका स्त्रीलिङ्ग 'महिषी' बाद की संहिताओं[3] में मिलता है।

[1] ऋग्वेद ८. ५८, १५; ९. ९२, ६; ९६, ६; १०. १२३, ४।
[2] ऋग्वेद ५. २९, ७; ६. ६७, ११; ८. १२, ८; ६६, १०; ९. ८७, ७; १०. २८, १०; १८९, २; वाजसनेयि संहिता २४. २८, इत्यादि।
[3] काठक संहिता २५. ६; मैत्रायणी संहिता ३. ८, ५; पड्विंश ब्राह्मण ५. ७, ११।

१. महिषी—देखिये *महिष*।

२. महिषी (शक्तिशाली) का, जो राजा की चार पत्नियों में से प्रथम

का द्योतक है (देखिये *पति*), बाद के साहित्य[1] में अक्सर उल्लेख है। सम्भवतः ऋग्वेद[2] तक में 'प्रथम पत्नी' का पारिभाषिक आशय वर्तमान है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; काठक संहिता १५. ४; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १, ४; शतपथ ब्राह्मण ६. ५, ३, १; ७. ५, १, ६, इत्यादि।

[2] ५. २, २; ३७, ३।

महैतरेय, ऋग्वेद[1] के गृह्य सूत्रों के अनुसार एक वैदिक ग्रन्थ का नाम है।

[1] आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४, ४; शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४. १०; ६. १, में एक गुरु का। तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक ३९; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० २९, ३, ४।

महोक्ष, का शतपथ ब्राह्मण (३. ४. १, २) में उल्लेख है।

मांस—वैदिक ग्रन्थों में मांस खाना बहुत कुछ नियमित ही प्रतीत होता है क्योंकि इनमें अहिंसा अथवा पशुओं को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाने के सिद्धान्त का कोई चिह्न नहीं मिलता। उदाहरण के लिये सांस्कारिक मांसार्पण के पीछे यही मान्यता है कि देवगण उसे खायेंगे, और ब्राह्मण लोग देवों की समर्पित वस्तुयें खाते ही थे।[1] पुनश्चः आतिथ्य-सत्कार के लिये एक 'महान् बैल' (महोक्ष) अथवा 'महान् बकरे' (महाज) के वध का नियमित विधान है;[2] और *अतिथिग्व* नाम का भी सम्भवतः 'अतिथियों के लिये गायों का वध करना' अर्थ है।[3] महर्षि *याज्ञवल्क्य* दुग्धा गायों और बैलों (धेन्व्-अनडुह) का ऐसा मांस खा सकते थे जो अंसल ('दृढ़' और 'कोमल')[4] हो। *अगस्त्य* नामक एक याज्ञिक को एक सौ बैलों (उक्षन्) के वध का श्रेय दिया गया है।[5] विवाह-संस्कार के समय बैलों का, स्पष्टतः खाने के लिये ही, वध किया जाता था।[6]

[1] इसलिये अग्नि को 'बैल और गाय का भक्षक' कहा गया है : ऋग्वेद ८. ४३, ११ = अथर्ववेद ३. २१, ६ = तैत्तिरीय संहिता १. ३, १४, ७; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १७, २८०, २८१; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, ३५५

[2] शतपथ ब्राह्मण ३. ४, १, २। तु० की० शाङ्खायन गृह्य सूत्र २. १५, २।

[3] ब्लूमफील्ट : अ० फा० १७, ४२६; ज० अ० ओ० सो० १६, cxxiv। तु० की० 'अतिथिनीर् गाः' (अतिथियों के योग्य गायें) ऋग्वेद १०. ६८, ३।

[4] शतपथ ब्राह्मण ३. १, २, २१। भाष्य में 'अंशल' का आशय 'स्थूल' दिया गया है। तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र ७. २, २३–२५। एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ११, ने 'कोमल' माना है। 'स्कन्ध (अंस) से' भी एक आशय हो सकता है।

[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ११, १; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १४, ५

[6] ऋग्वेद १०. ८५, १३। तु० की० विण्टर्निज़ : डा० हो० ३३।

मांस-भक्षण के प्रति किसी सामान्य आपत्ति या निषेध का होना अत्यन्त असम्भाव्य है। कभी-कभी यह वर्जित था, जैसे जब कोई व्यक्ति किसी व्रत[7] का पालन कर रहा हो; अथवा इसको अमान्यता भी प्रदान की गई हो सकती है, जैसा कि अथर्ववेद[8] के उस स्थल पर है जहाँ मांस को सुरा के साथ-साथ एक बुरे पदार्थ के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। पुनश्च, ऋग्वेद[9] में उन *अघाओं* में गायों के वध का उल्लेख है जो *मघाओं* का ही एक जानबूझ कर किया गया विभेदात्मक रूप है; किन्तु यह, उस दशा में भी, जब केवल गायों का ही वध होता रहा होगा, मृत्यु के साथ संयुक्त शोक की भावना के स्वाभाविक साहचर्य का ही परिणाम हो सकता है। ब्राह्मणों में भी यह सिद्धान्त मिलता है कि जो इस संसार में मांस-भक्षण करते हैं दूसरे संसार में उनके ही मांस का भक्षण किया जाता है।[10] किन्तु इसे मांस-भक्षण को नैतिक अथवा धार्मिक अमान्यता प्रदान करनेवाला सिद्धान्त नहीं मानना चाहिये, यद्यपि इसमें निःसन्देह इस प्रकार के दृष्टिकोण का अंकुर वर्तमान है; यह अस्तित्व की एकता के उस विचार के भी अनुकूल है जो ब्राह्मणों में स्पष्ट हो गया है। किन्तु एक विकसित और स्पष्ट अहिंसा के सिद्धान्त का, पुनर्जन्म के उस विचार की स्वीकृति के फलस्वरूप ही विकास हुआ होगा जो अपने आधारभूत रूप में ब्राह्मण-काल के बाद का ही है।[11]

[7] कात्यायन श्रौत सूत्र २. १, ८। अतः एक ब्रह्मचारिन् को मांस नहीं खाना चाहिये। देखिये औल्डेनबर्ग : उ० पु० ४६८, नोट ३। किसी पशु का रक्त सदैव ही एक रहस्यात्मक तथा भयंकर पदार्थ माना गया है; इसीलिये मांस-भक्षण पर प्रतिबन्ध है, जिसकी उत्पत्ति एक दूसरे रूप में, मृतक की प्रेतात्मा के भय के कारण ही हुई है (तु० की० औल्डेनबर्ग : उ० पु० ४१४, नोट १)। देखिये शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, २९; कीथ : ज० ए० सो० १९०९, ५८८, नोट ४; आदि भी।

[8] ६. ७०, १। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४९३।

[9] १०. ८५, १३। अथर्ववेद १४. १, १३, में साधारण सा शब्द 'मघायें' मिलता है, और इसमें सन्देह नहीं कि इसे ही ग्रहण करना चाहिये। देखिये, वेबर : प्रो० अ० १८९४, ८०७।

[10] तु० की० भृगु वारुणि की कथा, शतपथ ब्राह्मण ११. ६, १, १ और बाद; जैमिनीय ब्राह्मण १, ४२-४४; ऐतरेय आरण्यक २. १, २, कीथ की टिप्पणी (पृ० २०२, २०३) सहित।

[11] तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफ़ी ऑफ दि उपनिषद्स, ३१७ और बाद; कीथ : ज० ए० सो० १९०९, ५६५।

दूसरी ओर, यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद[12] तक में गाय एक विशेष पवित्रता अर्जित करने लगी थी, जैसा कि इसके लिये अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'अघ्न्या'[13], (अवध्य) उपाधि से स्पष्ट होता है। किन्तु इस तथ्य को ऐसा व्यक्त करनेवाला नहीं माना जा सकता कि मांस खाना सामान्य रूप से निषिद्ध था। पृथिवी अथवा अदिति के साथ गाय के समीकरण (जो निःसन्देह केवल पुरोहितीय बुद्धि की उपज मात्र होने से कहीं अधिक है) जैसे पौराणिक तथ्यों के विपरीत भी, गोमांस खाने की अपेक्षा गाय की अन्य दृष्टियों से इतनी अधिक उपयोगिता थी कि उसे पवित्र मानने के विचार का पर्याप्त समाधान हो जाता है। साथ ही, इसके अंकुर भारतीय-ईरानी काल में भी देखे जा सकते हैं।[14] इसके अतिरिक्त, गाय का वध मृतकों के अन्त्येष्टि संस्कार का अनिवार्य अंग था, क्योंकि मृतक शरीर को ढँकने के लिये गोमांस का प्रयोग होता था।[15]

जहाँ तक मांस का सम्बन्ध है, वैदिक भारतीयों के सामान्य भोजन की, यज्ञ के बलि-प्राणियों की तालिका के आधार पर कल्पना की जा सकती है। मनुष्य जो स्वयं खाता था वही—जैसे भेड़, बकरी, और बैल—देवों को भी समर्पित करता था। अश्वमेध एक असाधारण अपवाद था : अश्वमेध को, भोजन के रूप में अश्व के मांस के प्रयोग का द्योतक नहीं मानना चाहिये, यद्यपि विभिन्न देश और काल में भोजन के रूप में अश्व के मांस के व्यापक व्यवहार को देखते हुये इस प्रकार के सम्भावना की उपेक्षा नहीं की जा

[12] ८. १०१, १५..१६; वाजसनेयि संहिता ४. १९, २०; अथर्ववेद १०. १०; १२. ४, ५; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १५१।

[13] 'अघ्न्य' (पु०) के विपरीत ऋग्वेद में सोलह बार मिलता है; मैकडौनेल : उ० स्था०। फिर भी, 'जिसका वध न किया जाय' के विपरीत सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश द्वारा ग्रहण किया गया 'जिसे वशीभूत करना कठिन हो', आशय सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है। वेबर : उ० स्था० १७, २८१, ने इस शब्द को 'अहन्य' (दिन की भांति उज्ज्वल वर्ण) से व्युत्पन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु इस व्युत्पत्ति को अनुचित ही मानना चाहिये।

[14] तु० की० मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, ६८।

[15] ऋग्वेद १०. १६, ७। देखिये औल्डेनबर्ग : उ० पु० ५७६।

सकती। फिर भी, जैसा कि औल्डेनबर्ग[१६] तर्क उपस्थित करते हैं, अधिक सम्भवतः इस यज्ञ का उद्देश्य अश्वों की अभिचारीय शक्ति, गति, और स्फूर्ति को देवों तथा उनके उपासकों पर स्थानान्तरित करना ही होता था।

[१६] रिलीजन देस वेद, ३५६, नोट ४। बौद्धकाल में मांस-भक्षण के लिये, तु० की० सूकर-मांस युक्त भोजन से बुद्ध की मृत्यु, फ्लीट : ज० ए० सो०, १९०६, ८८१, ८८२; औल्डेनबर्ग : बुद्ध[५], २३१, नोट २ (इसके विपरीत न्यूमैन : डी रेडेन डेस गौतमो बुद्धो, १, xix)। महाकाव्य में मांस-भक्षण के लिये, देखिये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ११९, १२०; ग्रेट इपिक ऑफ इण्डिया, ३७७-३७९; और आधुनिक उदाहरणों के लिये देखिये, जॉली : म्यूट्रश रुण्डशौ, जुलाई, १८८४, ११८; बूह्लर : रिपोर्ट, २३।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐण्टिक्विटीज़, ३१६; हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, १५६, १८९।

मांसौदन, शतपथ ब्राह्मण[१] में 'चावल के साथ पके मांस' की एक थाली का द्योतक है।

[१] ११. ५, ७, ५; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १८; शाङ्खायन आरण्यक १२. ८।

माक्षव्य ('मक्षु' का वंशज) ऐतरेय आरण्यक[१] में एक गुरु का पैतृक नाम है।

[१] ३. १, १, जिसकी ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विवेचना की गई है। तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन, १, ३९१; २, २१२।

मागध—देखिये *मगध*।

मागध-देशीय (*मगध* देश का रहने वाला) द्वारा सूत्रों[१] में मगध के एक ब्राह्मण का वर्णन किया गया है।

[१] कात्यायन श्रौत सूत्र २२. ४, २२; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ६, २८।

माचल, जिसका जैमिनीय ब्राह्मण[१] में उल्लेख है, प्रत्यक्षतः *विदर्भ* में प्राप्त एक प्रकार के कुत्ते का द्योतक है।

[१] २. ४४०। तु० की०, ज० अ० ओ० सो० १९, १०३, नोट ३।

माठरी ('मठर' का स्त्री वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३१ माध्यंदिन) में एक गुरु के कुछ कौतूहल-वर्धक से नाम, *काश्यपी-बालाक्य-माठरी-पुत्र*, में आता है।

माण्टि, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में, *गौतम* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८ (मध्यन्दिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।

माण्डवी ('मण्डु' का स्त्री-वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३० माध्यंदिन) में *वात्सी-माण्डवी-पुत्र* नामक एक गुरु के नाम में आता है।

माण्डव्य ('मण्डु' का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[1], शाङ्खायन आरण्यक[2] और सूत्रों[3] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *कौत्स* के शिष्य के रूप में भी इसी का उल्लेख है।

[1] १०. ६, ५, ९।
[2] ७. २।
[3] आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४, ४; शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४. १०; ६. १। तु० कीं० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १, ४८२ (महाकाव्य में जनक का एक मित्र इसी नाम से आता है)।
[4] ६. ५, ४ काण्व।

माण्डूकायनि ('माण्डूक' का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[1] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] १०. ६, ५, ९; बृहदारण्यक उपदिषद् ६. ५, ४ काण्व।

माण्डूकायनी-पुत्र ('माण्डूक' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में, *माण्डूकीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] ६. ४, ३२ (माध्यंदिन = ६. ५, २ काण्व)।

माण्डूकी-पुत्र ('मण्डूक' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में, *शाण्डिलीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ४, ३२ (माध्यन्दिन = ६. ५, २ काण्व)।

माण्डूकेय ('माण्डूक' का वंशज) ऋग्वेद के आरण्यकों में अनेक गुरुओं का पैतृक नाम है, यथा :—*शूरवीर*[1], *ह्रस्व*[2], *दीर्घ*[3], *मध्यम प्रातीबोधीपुत्र*[4]। माण्डूकेय-लोग आरण्यकों[5] में एक मत-सम्प्रदाय के रूप में भी आते हैं :

[1] ऐतरेय आरण्यक ३. १, १; शाङ्खायन आरण्यक ७. २. ८. ९. १०।
[2] शाङ्खायन आरण्यक ७. १२; ८. ११।
[3] वही ७. २।
[4] वही ७. १३।
[5] ऐतरेय आरण्यक ३. १, १; शाङ्खायन आरण्यक ७. २।

प्रत्यक्षतः ऋग्वेद के पाठ की एक विशेष शाखा इन्हीं से सम्बद्ध थी।[६]

[६] तु० की० 'माण्डूकेयीय अध्याय', ऐतरेय आरण्यक ३. १, ६; शाङ्खायन आरण्यक ८. ११; शेफ्टेलोवित्सः डी० ऋ० १२; कीथ : ज० ए० सो० १९०७, २२७; ऐतरेय आरण्यक २३९; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन, १, ३९१।

मातरिश्वन् का ऋग्वेद[१] के वालखिल्य-सूक्त में *मेध्य* और *पृषध्र* के साथ-साथ, एक यज्ञकर्त्ता के रूप में उल्लेख है। एक, अथवा सम्भवतः दो[२] अन्य स्थलों पर भी इसी का उल्लेख प्रतीत होता है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[३] में ऋग्वेद के पाठ के मिथ्याग्रहण के कारण *पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्* अथवा *मातरिश्व* नामक एक प्रतिपालक का सृजन हो गया है।

[१] ऋग्वेद ८. ५२, २।
[२] ऋग्वेद १०. ४८, २; १०५, ६। बाद की अपेक्षा प्रथम सन्दर्भ कहीं अधिक सम्भव है।
[३] १६. ११, २६; वेबर : ऐ० रि० ३९, ४०। पाण्डुलिपियों में कहीं 'मातरिश्वन्' और कहीं 'मातरिश्व' पाठ है। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६३।

मातुर्-भ्रात्र एक कौतूहलवर्धक समस्त पद है जो मैत्रायणी संहिता[१] में एक बार उस 'मामा' के वाचक के रूप में आता है जो सूत्रकाल में *मातुल* नाम धारण करता है। इस प्रकार वैदिक काल में 'मामा' की बहुत चर्चा नहीं मिलती : चाचा (पितृव्य) की तुलना में इसकी प्रमुखता के चिह्न महाकाव्य[२] के पूर्व नहीं मिलते। आरम्भिक भारतीय पारिवारिक संगठन की पितृसत्ता प्रधान प्रकृति के लिये इस तथ्य का पर्याप्त महत्त्व है।[३]

[१] १. ६, १२।
[२] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १४१।
[३] डेलब्रुक : डॉ० व० ४८४, ५८६–५८८। तु० की० रिवर्स : ज० ए० सो० १९०७, ६२९ और बाद, भी।

मातुल[१] (मामा) केवल सूत्रों[२] तथा बाद में मिलता है।

[१] इस शब्द का यह विचित्र रूप सम्भवतः लोकभाषा का ही था जिसने कालान्तर में लिखित भाषा में स्थान बना लिया।
[२] आश्वलायन गृह्यसूत्र १. २४, ४, इत्यादि।

मातृ, ऋग्वेद और उसके बाद[1] से 'माता' के लिये प्रयुक्त नियमित शब्द है। इसके रूप का निर्माण सम्भवतः अम्बा[2] और *नना*[3] की ही भाँति प्रयुक्त 'मा'[4] शब्द के ध्वन्यानुकरणात्मक प्रभाव के कारण ही हुआ होगा।

पत्नी और पति, तथा माता और पुत्र-पुत्रियों के सम्बन्धों की *पति* के अन्तर्गत चर्चा की जा चुकी है। अतः यहाँ केवल इतना ही कहना और शेष रह जाता है कि सूत्रों[5] में माता के प्रति आदर व्यक्त करने तथा माता से सम्बद्ध अन्य संस्कारों का उल्लेख है। अपनी सन्तान के भाग्य में भी माता अभिरुचि रखती है, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण[6] में वर्णित उस कथा द्वारा व्यक्त होता है जिसमें *विश्वामित्र* द्वारा दत्तक लिये जाने के लिये *शुनःशेप* के विक्रय की चर्चा है।

परिवार में पिता के बाद माता का ही स्थान आता था (देखिये *पितृ*)। अक्सर माता-पिता दोनों के लिये ही 'मातरा' का प्रयोग किया गया है, जैसा कि 'पितरा' और 'मातरा पितरा'[7] तथा 'माता-पितरः'[8] का भी इसी आशय में प्रयोग हुआ है।

[1] १. २४, १; ७. १०१, ३, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १३. २१, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण २. ६, इत्यादि।

[2] तु० की० 'अम्बे अम्बिके अम्बलिके', वाजसनेयि संहिता २३. १८; जिसका तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, १; मैत्रायणी संहिता ३. १२, २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, ६, ३; में थोड़ा पाठान्तर है। कौषीतकि उपनिषद् १. ३, में भी देखिये 'अम्बा अम्बायवी, अम्बया'।

[3] ऋग्वेद ९. ११२, ३ (उपलप्रक्षिणी) देखिये फॉन श्रोडर : मि० ४१२।

[4] बौटलिङ्क और रौथ : सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० नोट।

[5] तु० की० डेलब्रुक : डॉ० व० ४६०, ४७६, ४७७।

[6] ७. १८ और बाद। तु० की० लीस्ट : आ० जे० १०४; और जॉली : डी एडॉप्शन इन इण्डियन, १६, १७।

[7] ऋग्वेद ३. ३३, ३; ७. २, ५, इत्यादि। 'मतरा पितरा' के लिये देखिये ऋग्वेद ४. ६, ७; वाजसनेयि संहिता ९. १९।

[8] तैत्तिरीय संहिता १. ३, १०, १; ६. ३, ११, ३।

मातृ-वध का कौषीतकि उपनिषद् (३. १) में एक अत्यन्त गम्भीर अपराध के रूप में उल्लेख है। किन्तु ब्रह्म-ज्ञान द्वारा इसका प्रायश्चित किया जा सकता था

मातृ-हन्, पाणिनि[1] के भाष्यकार द्वारा उद्धृत एक वैदिक उद्धरण में आता है।

[1] पाणिनि ३. २, ८८, पर काशिका वृत्ति : 'मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्'।

मनु-तन्तव्य ('मनुतन्तु' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (५. ३०, १५) में ऐकादशाक्ष का पैतृक नाम है। शतपथ ब्राह्मण (१३. ५, ३, २) में 'सौमापौ मानुतन्तव्यौ' ('मनुतन्तु' के वंशज, दो 'सौमाप') का उल्लेख है।

मान्थाल, तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ५, ८, ४) में नीचे दिये जा रहे नाम का रूप है।

मान्थालव,[1] *मान्थीलव*,[2] यजुर्वेद संहिओं में अश्वमेध के बलि-प्राणियों के नाम हैं। यह प्राणी क्या था, यह अज्ञात है : भाष्यकार महीधर[3] का विचार है कि यह एक प्रकार का मूषक (चूहा) था; सायण इसकी 'जल-मुर्गे' (जल-कुक्कुट) के रूप में व्याख्या करते हैं। सम्भवतः यदि एक सामान्तर से शब्द *मन्थावल* पर सायण[4] की व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाय तो इससे एक प्रकार की 'उड़नेवाली लोमड़ी' (चमगादड़) अर्थ हो सकता है।[5]

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १९, जहाँ एक विभेद 'मातालव' है; वाजसनेयि संहिता २४. ३८।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १८, १।
[3] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था०, पर।
[4] तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था०, पर। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८६
[5] बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०, और व० स्था० 'मान्थाल' भी।

मान्दार्य मान्य (*मान* का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है। बहुत सम्भवतः इससे स्वयं *अगस्त्य* का ही आशय है।[2]

[1] १. १६५, १५ = १. १६६, १५ = १. १६७, ११ = १. १६८, १०।
[2] तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १३५; बर्गेन : रिलीजन वेदिके, २, ३९४; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २२१; सीग : सा० ऋ० १०७; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, १८३, और बाद, २०६।

मान्य (*मान* का वंशज) ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर *मान्दार्य* का पैतृक नाम है, किन्तु अन्य स्थानों[2] पर अकेले भी आता है। यह सम्भवतः *अगस्त्य* का द्योतक है।

[1] देखिये **मान्दार्य**, नोट १।
[2] १. १६५, १४; १७७, ५; १८४, ४। तु० की० सीग : सा० ऋ० १०७।

मान्यमान, ऋग्वेद[1] में देवक शब्द के साथ आता है। यह शब्द

[1] ८. १८. २०।

'मान्यमान' का पैतृक नाम प्रतीत होता है जिसका अर्थ 'अभिमानी व्यक्ति का पुत्र'[2] है। रौथ ने दोनों शब्दों का 'देव-पुत्र, अभिमान-पुत्र' अनुवाद किया है।

[2] सायण ने 'मन्यमान' को एक व्यक्ति-वाचक नाम माना है। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १५, २६४।

मामतेय ('ममता' का वंशज), ऋग्वेद[1] और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में *दीर्घतमस्* का मातृनामोद्धृत नाम है।

[1] १. १४७, ३; १५२, ६; १५८, ६।
[2] ८. २३, १; शाङ्खायन आरण्यक २. १७। 'ममता' के लिये, तु० की० बृहद्देवता, ३. ५६; ४. ११।

मायव ('मयु' अथवा 'मायु' का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक प्रतिपालक, संभवतः जैसा कि लुडविग[2] का विचार है, *राम* का पैतृक नाम है।

[1] १०. ९३, १५।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६६।

माया, शतपथ ब्राह्मण (१३. ४, ३, ११) में *असुरविद्या* (इन्द्रजाल) का समानार्थी है।

मायु, ऋग्वेद[1] में गायों के रँभन और भेड़ बकरियों के 'निनाद' का, तथा अथर्ववेद[2] में बन्दरों की बोली का द्योतक है।

[1] १. १६४, २८ (गाय); ७. १०३, २ (गाय); १०. ९५, ३ (मेषी); निरुक्त २. ९।
[2] ६. ३८, ४; १९. ४९, ४; ('पुरुष' कहा गया है; तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ८५, ८६; सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० 'मायु'।

मारुत ('मरुत्' का वंशज), *द्युतान* और *नितान* का पैतृक नाम है।

मारुताश्व ('मरुताश्व' का वंशज), लुडविग[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] में एक प्रतिपालक का पैतृक नाम है। फिर भी, यह शब्द केवल एक विशेषण हो सकता है जिसका अर्थ 'वायु के समान क्षिप्रगति वाले अश्वों से युक्त' हो सकता है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५५। यह च्यवतान का पैतृक नाम हो सकता है।
[2] ५. ३३, ९।

मार्गवेय, ऐतरेय ब्राह्मण (७. २७, ३. ४) में *राम* का पैतृक अथवा मातृनामोद्भूत नाम है और यहाँ इसका एक *श्यापर्ण* के रूप में उल्लेख है।

मार्गार, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों में से एक का नाम है। 'मृगारि' (जंगली पशुओं का शत्रु) से बने पैतृक नाम के रूप में इस शब्द का आशय प्रत्यक्षतः 'व्याध' अथवा 'मछुआ'[2] है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०, १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १।

[2] तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर सायण।

१. माल्य, (हार) उपनिषदों[1] में मिलता है।

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ८. २, ६; कौषीतकि उपनिषद् १. ४, इत्यादि।

२. माल्य ('माल' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१३. ४, ११) में *आर्य* का पैतृक नाम है।

माष, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में एक प्रकार के बीज (Phaseolus radiatus) का नाम है। यह आज भी भारत में अपने समान पौधों में सर्वाधिक उपयोगी है। इसके बीजों[3] को, अथर्ववेद[4] के अनुसार, पीस (पिष्ट) लिया जाता था। इसके बीज हेमन्त ऋतु में पकते थे।[5] संस्कार में यज्ञ के लिये मानव-मस्तक को इक्कीस माषों[6] में क्रय किया जाता था : यह स्पष्ट नहीं है कि यहाँ इस शब्द से किसी धातु के बटखरे का आशय है, जैसा कि अक्सर बाद[7] में है, अथवा नहीं। यजुर्वेद संहिताओं[8] में माषों से सम्बन्धित एक निषेध मिलता है।

[1] ६. १४०, २; १२. २, ५३।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. १, ८, १; ७. २, १०, २; काठक संहिता १२. ७; ३२. ७; ३७. १; मैत्रायणी संहिता ४. ३, २; वाजसनेयि संहिता १८. १२; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, १०; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, २२ (माध्यंदिन = ६. ३, १३ काण्व)।

[3] बाद में इसे काले और भूरे धब्बों से चिह्नित बताया गया है। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० :

[4] १२. २, ५३। वही, १२. २, ४, जहाँ पिसे हुए माषों (माषाज्य) के हवि का उल्लेख है।

[5] तैत्तिरीय संहिता ७. २, १०, २।

[6] वही ५. १, ८, १; काठक संहिता २०.८

[7] वेबर : इन्डि० स्टू०, १८, २६७। मनु० ८. १३४ के अनुसार एक माष पाँच (प्रस्तुत ग्रन्थ के भाग एक, पृष्ठ २०५ में भूल से चार कहा गया है) कृष्णलों के बराबर है। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था० २, भी।

[8] काठक संहिता ३२. ७; मैत्रायणी संहिता १. ४, १०। तु० की० फॉन श्रोडर :

वि० ज०, १५, १८७-२१२; कीथ : ज० ए० सो०, १९०९, ५८७, ५८८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवन, २४०।

मास्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में दुर्लभ रूप से 'चन्द्रमा'[3] और अक्सर 'महीने का द्योतक है। देखिये *मास*।

[1] ऋग्वेद १. २५, ८; ४. १८, ४; ५. ४५, ७. ११; ७. ९१, २, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ८. १०, १९; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २, २; पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ४, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ९, १, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १०. १२, ७। तु० की० ८. ९४, २ में यौगिक शब्द 'सूर्या-मासा' (सूर्य और चन्द्रमा); १० ६४, ३; ६८, १०; ९२, १२; ९३, ५ जो, 'मास' से बना हो सकता है। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर पृ० २२०, नोट २०।

मास, 'महीना' अथवा समय की एक अवधि का द्योतक है और ऋग्वेद तथा बाद में इसका बहुधा उल्लेख है।

मास के विशिष्ट दिन (अथवा कदाचित् रात्रियाँ) अमा-वस्या (घर पर वास करने की रात्रि) और पूर्ण-मासी थे। अथर्ववेद[1] के दो सूक्त क्रमशः इनकी प्रशस्ति करते हैं। चन्द्रमा के विभिन्न पक्षों का मूर्त्तीकरण इन चार नामों से व्यक्त होता है : 'सिनीवाली'[2], अमावस्या के पहले का दिन; 'कुहू'[3], जिसे 'गुङ्गू'[4] भी कहा गया है और जो अमावस्या का दिन होता है; 'अनुमति'[5], पूर्णिमा के पहले का दिन; और 'राका'[6], पूर्णिमा का दिन। अमावस्या और पूर्णिमा का महत्त्व 'दर्श-पूर्णमासौ' अथवा क्रमशः अमावस्या और पूर्णिमा के दिनों के उत्सवों से प्रगट होता है।

[1] ७. ७९ और ८०। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ३. ५, १, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ५, १३, इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ८, १; ३. ४, ९, १; ऋग्वेद २. ३२, ६; अथर्ववेद २. २६, २; ६. ११, ३; वाजसनेयि संहिता ११. ५५. ५६; ३४. १०; काठक संहिता १२. ८; षड्विंश ब्राह्मण ५. ६।

[3] अथर्ववेद ७. ४७; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ८, १; ३. ४, ९, १; काठक संहिता १२. ८, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद २. ३२, ८, जहाँ सायण इसे 'कुहू' के साथ समीकृत करते हैं।

[5] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ८, १; ३. ४, ९, १; काठक संहिता १२. ८; वाजसनेयि संहिता २९. ६०; ३४. ८. ९; षड्विंश ब्राह्मण ५. ६।

[6] ऋग्वेद २. ३२, ४; ५. ४२, १२; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ८, १; ३. ४, ९, १। तु० की० निरुक्त ११. ३१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, २२८ और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १८९।

मास में एक दिन, *एकाष्टका*, अथवा पूर्णिमा के बाद का आठवाँ दिन, विशेष महत्त्वपूर्ण होता था। पञ्चविंश ब्राह्मण[७] में वर्ष में इस प्रकार के बारह दिनों का उल्लेख है जिन्हें पूर्णिमा के बारह और अमावस्या के बारह दिनों के बीच स्थिर किया गया है। किन्तु यजुर्वेद संहिताओं तथा अन्यत्र[८] एक 'एकाष्टका' को विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण बताया गया है। अधिकांश भाष्यकारों के समान मतों के अनुसार यह *माघ* की पूर्णिमा के बाद का आठवाँ दिन होता था। इसी दिन गतवर्ष समाप्त और नववर्ष आरम्भ होता था। यद्यपि कौषीतकि ब्राह्मण[९] मकर-संक्रान्ति को माघ की अमावस्या के दिन स्थिर करता है, तथापि कदाचित् इस बाद की तिथि से माघ-पूर्णिमा के पहले की अमावस्या का तात्पर्य है,[१०] न कि पूर्णिमा के बाद की अमावस्या

[७] १०. ३, ११। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, २३; अथर्ववेद १५. १६, २

[८] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, ८, १; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ९, १। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ८, ४; ४. ३, ११, ३; ५. ७, २, २; अथर्ववेद ३. १०; ८. ९, १०; काठक संहिता ३९. १०; मैत्रायणी संहिता २.१३, २१, इत्यादि। देखिये कात्यायन श्रौत सूत्र, १३. १, २, भाष्य सहित; पञ्चविंश ब्राह्मण उ० स्था०, सायण की टिप्पणी सहित; वेवर: नक्षत्र, २, ३४१, ३४२; इन्डिशे स्टूडियन, १७, २१९ और बाद।

[९] १९. २३।

[१०] कौषीतकि ब्राह्मण उ० स्था०, पर विनायक; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. १९, १ पर आनर्तीय; वेवर : उ० स्था० २, ३४५, ३४६, ३५३, ३५४; यही अर्थ ग्रहण करते हैं। वेवर भाष्यकारों के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि यहाँ 'माघ' का आरम्भ 'तैष' पूर्णिमा के बाद के दिन से माना गया है। किन्तु यहाँ यह मान लेना अधिक सरल है कि 'माघ' का आरम्भ अमावस्या के बाद के दिन से नहीं वरन् अमावस्या से ही होता था, और उसका अन्त अगली अमावस्या के एक दिन पूर्व होता था। बौधायन श्रौत सूत्र (२. १२; ४. १; २६. १८; ३०, ३; देखिये कैलेण्ड : उ० बौ० ३६, ३७) के अनेक स्थल कौषीतकि ब्राह्मण (१. ३), और शतपथ ब्राह्मण (११. १, १, ७) इस बात का संकेत करते हैं कि पूर्णिमा मास के मध्य में पड़ती थी, और अमावस्या को या तो मास का आरम्भ माना जाता था अथवा अन्त। हॉपकिन्स (नोट ११) का विचार है कि कौषीतकि ब्राह्मण ५. १ और शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, १८, मास के पूर्णिमा से आरम्भ होने का संकेत करते हैं। यदि इसे मान लिया जाय तो 'अष्टका', माघ में मकर संक्रान्ति के एक सप्ताह पूर्व पड़ेगी।

तैत्तिरीय संहिता ३. ५, १, ३, के अनुसार मास का आरम्भ अमावस्या से होता है।

का। किन्तु नव-वर्षारम्भ के पश्चात् प्रथम अष्टका के रूप में एकाष्टका को ग्रहण करने का सम्भवतः पर्याप्त औचित्य सिद्ध किया जा सकता है।

यह निश्चित् नहीं कि ठीक-ठीक मास की गणना किस दिन से किस दिन तक होती थी। यह गणना अमावस्या के बाद के दिन से अगली अमावस्या तक होती थी, जिस पद्धति को 'अमान्त' कहते हैं, अथवा पूर्णिमा के बाद के दिन से अगली पूर्णिमा तक जिसे 'पूर्णिमान्त' पद्धति कहते हैं और जिसका बाद में उत्तर भारत में अनुसरण होता था, जब कि दक्षिण में प्रथम पद्धति प्रचलित थी। याकोबी[11] यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वर्ष का आरम्भ फाल्गुन की पूर्णिमा से होता था और केवल नक्षत्रों के साथ पूर्णिमा के संयोग के आधार पर ही मास को जाना जा सकता था। औल्डेनबर्ग[12] इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि पूर्णिमा की अपेक्षा अमावस्या कहीं अधिक स्पष्ट पर्व है; ग्रीक, रोमन, और यहूदीयों के वर्षों का अमावस्या से ही आरम्भ होता था; और इसका वैदिक प्रमाण मास का पूर्वार्द्ध और अपरार्द्ध के रूप में विभाजन है जिसमें प्रथमार्द्ध शुक्ल होता था और द्वितीयार्द्ध कृष्ण। थिबो[13] का विचार है कि वेदों के लिये पूर्णिमान्त पद्धति को ग्रहण करना अनावश्यक, यद्यपि संभव है। वेबर[10] यह मानते हैं कि भाष्यकारों के अनुसार कौषीतकि ब्राह्मण में यही मान्यता है। किन्तु इस स्थल पर बहुत ज़ोर देना अथवा यह मानना कि वेदों में विशुद्धतः अमान्त पद्धति को भी मान्यता थी, सम्भवतः एक भूल होगी : कम से कम ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि एक अस्पष्ट रूप से अमावस्या के दिन मास का आरम्भ माना जाता था जिससे अमावस्या उस पूर्णिमा के पहले आती थी जो मास के मध्य में पड़ती थी, मास के आरम्भ अथवा अन्त में नहीं।

एक मास में नियमिय रूप से तीस दिन माने जाते थे। इसका उन

[11] त्सी० गे० ४९, २२९, नोट १; ५०, ८१। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० २४, २०।

[12] वही, ४८, ६३३, नोट १; ४९, ४७६, ४७७। महाकाव्य का यही नियम है, हॉपकिन्स : उ० स्था०।

[13] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, २४, ८७। कोई भी प्रमाण किसी भी पक्ष के लिये निर्णायक नहीं है। यह सम्भव है कि विभिन्न परिवारों या नगरों में अलग अलग प्रचलन रहे हों। तु० की० थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक, १२।

अनेक स्थलों द्वारा निर्णायक प्रमाण मिलता है जिनमें वर्ष में बारह महीने और ३६० दिन बताये गये हैं। इस प्रकार का मास प्राचीनतम ग्रन्थों में भी ज्ञात था और इसका प्रत्यक्ष संकेत और सन्दर्भ मिलता है[१४]। ब्राह्मणों[१५] में इसी प्रकार के मास का नियमित उल्लेख है और इसे ही वैदिक भारतीयों द्वारा मान्य मास के रूप में स्वीकार करना चाहिये। ब्राह्मण साहित्य में किसी भी अन्य प्रकार के मास का उल्लेख नहीं है। यह केवल सूत्रों में ही देखा जा सकता है जहाँ विभिन्न अवधि के मासों का उल्लेख है। सामवेद के सूत्रों[१६] में यह संदर्भ हैं:—(१) ३२४ दिनों का वर्ष—अर्थात् २७ दिनों वाले १२ मासों का वर्ष; (२) ३५१ दिनों का वर्ष—अर्थात् २७ दिनों के १२ मासों तथा २७ दिन के ही एक सौर-मास का वर्ष; (३) ३५४ दिनों का वर्ष—अर्थात् ३० दिनों के ६ महीनों और २९ दिनों के ६ महीनों का वर्ष, अथवा चान्द्रसंयुति वर्ष; (४) ३७८ दिनों का वर्ष—जिसके सन्बन्ध में थिबो[१७] स्पष्ट रूप से यह दिखाते हैं कि यह तृतीय वर्ष होता था जिस में ३६० दिनों के दो वर्षों के पश्चात् १८ दिन इसलिये जोड़ दिये जाते थे कि नागरिक वर्ष और ३६६ दिनों के सौर-वर्ष में समानता आ जाय। किन्तु सामसूत्रों तक में ३६६ दिनों के वर्ष का उल्लेख नहीं है, और ऐसे वर्ष सर्वप्रथम ज्योतिष[१८] और गर्ग[१९] में ही मिलते।

वैदिक काल ३५४ दिनों के वर्ष से परिचित था इसे भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। त्सिमर[२०] वस्तुतः इसे इस तथ्य द्वारा प्रमाणित मानते हैं कि गर्भावस्था को १० मास, अथवा कभी-कभी १ वर्ष माना गया

[१४] ऋग्वेद, १. १६४, ११. १४. ४८; १०. १८९, ३; १९०, २; अथर्ववेद ४. ३५, ४; १०. ७, ६; ८, २३; १३. ३, ८, इत्यादि।

[१५] मैत्रायणी संहिता १. १०, ८; ऐतरेय ब्राह्मण ४. १२; काठक संहिता ३६. २, ३; कौषीतकि ब्राह्मण ३. २; ऐतरेय आरण्यक ३. २, १; बौधायन श्रौत सूत्र २६. १०; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, २२। देखिये वेबर: नक्षत्र २, २८८, भी; थिबो: ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रोलोजी, उन्ट मैथमेटिक, ८।

[१६] लाट्यायन श्रौत सूत्र ४. ८, १ और बाद; निदान सूत्र ५. ११. १२; वेबर: नक्षत्र, २. २८१-२८८:

[१७] उ० पु०, ८, ९।

[१८] श्लोक २८।

[१९] ज्योतिष, १० पर भाष्य में उद्धृत।

[२०] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३६५, ३६६।

है।[21] किन्तु यहाँ वेबर[22] यह मानते हुये ठीक हो सकते हैं कि इस अवधि की गणना २७ दिन के मासों के आधार पर की गयी है, क्योंकि वर्ष के आधार पर गणना करने पर यह अवधि बहुत अधिक बढ़ जायेगी। दूसरी ओर १० महीने की अवधि उस दशा में गर्भावस्था के सर्वथा अनुकूल होगी जब दसवें महीने में गर्भ का जन्म हो जाय और इस आशय में ३० दिनों के मास का ही तात्पर्य होना सर्वथा उचित है।

तीस-तीस दिनों के बारह महीनों का वर्ष निश्चय ही अवैज्ञानिक होने के कारण, त्सिमर[23] का यह दृढ़ मत है कि ऐसे वर्ष का इस तथ्य की मान्यता के साथ हो व्यवहार होता था कि मलमास भी पड़ सकते थे, और यह कि स्वयं वर्ष भी एक अपेक्षाकृत अधिक जटिल और सामान्यतया पाँच वर्ष की युग-चक्र पद्धति का ही अंश होता था। ज्योतिष द्वारा यह पद्धति भली प्रकार विदित होती है : इसमें २९$\frac{३६}{३१}$ दिनों वाले ६२ मास = १,८३० दिन (इनमें से दो मास मलमास होते थे जिनमें से एक युग के मध्य में तथा दूसरा अन्त में पड़ता था), अथवा ३० दिनोंवाले ६१ मास, अथवा ३०$\frac{१}{२}$ दिनों वाले ६० मास होते थे, जिसमें वर्ष की इकाई स्पष्टतः ३६६ दिनों का एक सौर-वर्ष होती थी। यह एक आदर्श पद्धति नहीं है, क्योंकि वर्ष की अवधि अत्यधिक लम्बी है;[24] किन्तु यह ऐसी अवश्य है जिसका अस्तित्व ब्राह्मण काल में नहीं रहा हो सकता क्योंकि इस काल में वर्ष की वास्तविक अवधि के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं किया गया प्रतीत होता। ऋग्वेद[25] में त्सिमर द्वारा देखे गये इसके सन्दर्भ तर्क की दृष्टि से भी

[21] ऋग्वेद ५. ७८, ७–९; १०. १८४, ३; अथर्ववेद १. ११, ६; ३. २३, २; ५. २५, १३; काठक संहिता २८. ६; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, २, ४. ५ (वही ९. ५, १, ६३, में यह कथन है कि छह मास का भ्रूण भी जीवित रह सकता है), इत्यादि में दस मास की गर्भावस्था का उल्लेख है। एक वर्ष की अवधि का पञ्चविंश ब्राह्मण १०. १, ९ (६. १. ३, में दस मास); काठक संहिता ३३. ८; शतपथ ब्राह्मण ६. १, ३, ८; ११. ५, ४, ६–११; ऐतरेय ब्राह्मण ४. २२; इत्यादि में उल्लेख है।

[22] नक्षत्र २, ३१३, नोट १।

[23] उ० पु० ३६९, ३७०।

[24] युग लगभग चार दिनों से लम्बा है। वास्तविक वर्ष ३६५ दिन, ५ घण्टे, ४८ मिनट, ४६ सेकेन्ड, का होता है। तु० की० थिबो: उ० पु० २४, २५।

[25] १. १६४, १४; ३. ५५, १८।

यह स्थल निःसन्देह अस्पष्ट है; किन्तु इनकी युग के दस अर्द्ध-वर्षों के रूप में व्याख्या करना विशेष रूप से सहानुभूति दिखाना मात्र है।

सम्भव नहीं प्रतीत होते, जब कि इनके द्वारा पञ्चविंश ब्राह्मण[26] से उद्धृत 'पञ्चक युग' एक भाष्य के उद्धरण मात्र में आता है, जिसका स्वयं मूलग्रन्थ के लिये कोई आधिकारिक महत्त्व नहीं।

दूसरी ओर, इसमें सन्देह नहीं कि ३६० दिनों के वर्ष—एक चान्द्र-संयुति वर्ष—को मोटे रूप से वास्तविकता के साथ सम्बद्ध करने का कुछ प्रयास किया गया था। एक सामसूत्र[27] इसे एक सौर-वर्ष मानते हुये यह मत व्यक्त करता है कि सूर्य प्रत्येक नक्षत्र का १३⅓ दिनों में परिभ्रमण करता है; जब कि अन्य स्रोतों ने इसी *समानता* को *प्राप्त* करने के लिये प्रत्येक तीसरे वर्ष प्रत्यक्षतः १८ दिन जोड़ देने के विधान का प्रतिपादन किया है। किन्तु ऋग्वेद[28] तथा उसके बाद[29] का वैदिक साहित्य मास की अवधि-निर्णय सम्बन्धी कठिनाईयों से परिपूर्ण है, क्योंकि मास की अवधि विभिन्न रूप से ३० दिन[30], ३५ दिन[31], अथवा ३६ दिन[32] बताई गई है। इस अन्तिम संख्या से सम्भवतः ६ वर्षों (६ × ६ = ३६, अथवा सांस्कारिक प्रयोजन की दृष्टि से ३५) के पश्चात् मलमास का संकेत मिलता है, किन्तु

[26] १७. १३, १७। थिबो : उ० पु० ७, ८; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ९१, और उसमें उद्धृत सन्दर्भ भी देखिये। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मलमास के लिये पाँच वर्ष की अवधि को स्वीकृत करने की प्रवृत्ति का आरम्भ हो चला था, जो अन्ततो-गत्वा ज्योतिष में विकसित दिखाई पड़ती है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि इस समय के पूर्व भी ३६६ दिनों का वर्ष ज्ञात था।

[27] लाट्यायन श्रौत सूत्र ४. ८, में ऐसा कुछ नहीं, किन्तु निदान सूत्र ५. १२, २. ५, सर्वथा स्पष्ट है।

[28] १. २५, ८; कदाचित १६५, १५।

[29] *शतपथ ब्राह्मण* ४. ३, १, ५; ६. २, २, २९; १२. २, १, ८; ऐतरेय ब्राह्मण १. १२; काठक संहिता ३४. १३; पञ्चविंश ब्राह्मण १०. ३, २; २३. २, ३; तैत्तिरीय आरण्यक ५. ४, २९; वेबर : नक्षत्र २, ३३६, नोट १।

[30] अथर्ववेद १३. ३, ८।

[31] *शतपथ ब्राह्मण* १०. ५, ४, ५।

[32] वही ९. १, १, ४३; ३, ३, १८। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, १६७, नोट १। शामशास्त्री (गवाम् अयन, १२२) इन स्थलों की एक अत्यन्त असम्भव रूप से व्याख्या करते हैं। महाकाव्य में ३५–३६ दिनों के मास का कोई चिह्न नहीं है : हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० २४, ४२।

इसके लिये कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं। १२ या १३ मासों वाले वर्ष का भी अनेक सन्दर्भ[33] मिलता है।

यह भी कौतूहलवर्धक है कि मासों के नाम प्राचीन नहीं। यज्ञीय विषय-वस्तु से परिपूर्ण यजुर्वेद में उस स्थल पर इनका स्पष्टतम् रूप मिलता है जहाँ 'अग्निचयन' का वर्णन किया गया है।[34] यहाँ उपलब्ध नाम इस प्रकार हैं : (१) मधु; (२) माधव (वसन्त-मास : 'वासन्तिकाव् ऋतू'); (३) शुक्र; (४) शुचि (ग्रीष्म-मास : 'ग्रैष्माव् ऋतू'); (५) नभ (अथवा 'नभस्')[35]; (६) नभस्य (वर्षा-मास : 'वार्षिकाव् ऋतू'); (७) इष; (८) ऊर्ज (शरद्-मास : 'शारदाव् ऋतू'); (९) सह (अथवा 'सहस्')[35]; (१०) सहस्य (हेमन्त-मास : 'हैमन्तिकाव् ऋतू'); (११) तप (अथवा 'तपस्')[35]; (१२) तपस्य (शीतल-मास : 'शैशिराव् ऋतू')।

सोम-यज्ञ[36] तथा अश्वमेध-यज्ञ[37] के वर्णनों में भी इसी प्रकार की सूचियाँ हैं, और अनिवार्य अंशों में सभी एक दूसरे के समान हैं। कुछ और कल्पनाशील नामोंवाली अन्य सूचियाँ भी मिलती हैं,[38] किन्तु वास्तविक विभाजन के प्रचलित आशय को व्यक्त करने की दृष्टि से इनका कोई महत्त्व नहीं है। ऊपर दी हुई सूची एक पुरोहितीय आविष्कार के अतिरिक्त कुछ और भी है, यह कह सकना सन्दिग्ध ही है। वेबर ऐसा संकेत करते हैं कि 'मधु' और 'माधव' बाद में वसन्त के नाम के रूप में

[33] तैत्तिरीय संहिता ५. ६. ७. १; काठक संहिता २१. ५; ३४, ९; मैत्रायणी संहिता १. १०, ८; कौषीतकि ब्राह्मण ५. ८; कौषीतकि उपनिषद् १. ६; शतपथ ब्राह्मण २. २, ३, २७; ३. ६, ४, २४; ५. ४, ५, २३; ७. २, ३, ९, इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १०, ६।

[34] तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ११, १; काठक संहिता १७. १०; ३५. ९; मैत्रायणी संहिता २. ८, १२; वाजसनेयि संहिता १३. २५; १४. ६. १५. १६. २७; १५. ५७।

[35] मैत्रायणी, काठक और वाजसनेयि संहिताओं में। देखिये नोट ३४, ३६।

[36] तैत्तिरीय संहिता १. ४, १४, १, मैत्रायणी संहिता १. ३, १६; ४. ६, ७; काठक संहिता ४. ७; वाजसनेयि संहिता ७. ३० (जहाँ मास के नामों के रूप में 'इष्' और 'ऊर्ज्' आते हैं)।

[37] मैत्रायणी संहिता ३. १२, १३; वाजसनेयि संहिता २२. ३१।

[38] देखिये, उदाहरण के लिये, तैत्तिरीय संहिता १. ७, ९, १; ४. ७, ११, २; वाजसनेयि संहिता ९. २०; १८. २८; २२. ३२; काठक संहिता ३५. १०। वेबर, २, ३४९, ३५०।

आते हैं और इन दोनों का तैत्तिरीय आरण्यक[39] में इस प्रकार उल्लेख है मानो यह वास्तविक रूप से ही प्रयुक्त हुये हों; किन्तु यह दिखाने के लिये प्रमाण अत्यन्त अपर्याप्त हैं कि मासों के अन्य नाम भी साधारण प्रयोग में प्रचलित थे।[40]

इन सूचियों में से कुछ में मलमास का भी उल्लेख है। वाजसनेयि संहिता[41] में इसे 'अंहसस्पति' नाम दिया गया है, जब कि तैत्तिरीय[42] और मैत्रायणी[43] संहिताओं में 'संसर्प' नाम आता है। काठक संहिता[44] इसे 'मलिम्लुच' नाम प्रदान करती है, जो अन्यत्र भी कल्पनाशील नामों की सूचियों में से एक में, 'संसर्प' के साथ-साथ आता है।[45] इसमें सन्देह नहीं कि इसकी अस्थिर प्रकृति के कारण ही अथर्ववेद[46] 'सनिस्रस' (फिसलनेवाला) के रूप में इसका वर्णन करता है।

मासों के नामकरण की एक अन्य पद्धति का आधार नक्षत्र हैं। ब्राह्मण-काल में इस पद्धति के प्रयोग का आरम्भ मात्र हुआ था किन्तु महाकाव्य तथा उसके बाद में यह विकसित रूप में मिलती है। ज्योतिष[47] में ऐसा उल्लेख है कि 'माघ' और 'तप' समान थे: इस स्थल की, जिसमें 'मधु' और 'चैत्र' का समीकरण भी मिलता है, यही उचित व्याख्या है और यह परिणाम ब्राह्मणों में अक्सर उपलब्ध इस दृष्टिकोण के समान है कि 'फल्गुनी' नहीं वरन् 'चित्रा' की पूर्णिमा से ही वर्षारम्भ होता था।[48]

[39] ४. ७, २; ५. ६, १६।

[40] मेघदूत, १, ४, पर मल्लिनाथ द्वारा प्रयुक्त 'नभस्' जैसे उदाहरण केवल आडम्बर मात्र हैं।

[41] ७. ३०; २२. ३१।

[42] १. ४, १४, १।

[43] ३. १२, १३।

[44] ३८. ४।

[45] वही ३५, १०; वाजसनेयि संहिता २२. ३०।

[46] ५. ६, ४।

[47] यजुस् शाखा का मन्त्र ५ = ऋक् शाखा का मन्त्र ५: वेबर, २, ३५४ और बाद

[48] वेबर का यह सिद्धान्त (३५९) कि फाल्गुन के बाद चैत्र ही वसन्त का द्वितीय मास है, निःसन्देह एक त्रुटि है; क्योंकि विषुव-पूर्वायणों के कारण फाल्गुन स्वतः वसन्त का प्रथम मास बन गया, जब कि चैत्र स्वभावतः गत ऋतु का अन्तिम मास हो गया। सत्य यह है कि वर्ष का छह ऋतुओं में विभाजन कृत्रिम है, और फाल्गुन अथवा चैत्र दोनों में से किसी से भी बिना किसी विशेष प्राथमिकता के वसन्त का आरम्भ माना जा सकता है। देखिये वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, ९, ४५७; १०, २३१, २३२; व्हिट्ने: ज० अ० ओ० सो० ८, ७१, ३९७, ३९८।

मास के शुक्ल और कृष्ण पक्षों के लिये शतपथ ब्राह्मण[४९] में 'यव' और 'अयव' नामक दो कौतूहलवर्धक व्याहृतियाँ मिलती हैं, जहाँ मास का आरम्भ स्पष्ट रूप से शुक्ल पक्ष से ही माना गया है। जैसा कि एग्लिङ्ग[५०] का विचार है, यह शब्द सम्भवतः दुष्टात्माओं के सन्दर्भ में 'यु' (भगाना) से व्युत्पन्न हुये हैं। पर्वन् (जोड़ = समय का विभाजन) शब्द कदाचित्[५१] ऋग्वेद[५२] तक में सम्भवतः मास के अर्द्ध-भाग का द्योतक है। अधिक उपयुक्त आशय में प्रथमार्द्ध अर्थात् प्रकाश की वृद्धि के समय को 'पूर्व-पक्ष'[५३], तथा द्वितीयार्द्ध अर्थात् प्रकाश की क्रमिक समाप्ति के समय को 'अपर-पक्ष'[५४] कहा गया है। इन दोनों में से किसी को भी 'अर्द्ध-मास'[५५] कहा जा सकता है।

[४९] ८. ४, २, ११; ३, १८, देखिये वाजसनेयि संहिता १४. २६. ३१। तैत्तिरीय संहिता ४. ३, १०, ३ में शब्दों का रूप 'याव' और 'अयाव' हैं, जिनकी ५. ३, ४, ५ मे व्याख्या की गई है।

[५०] से० बु० ई० ४३, ६९, नोट।

[५१] बृहदारण्यक उपनिषद् १. १, १, में मास और अर्द्ध-मास यज्ञ-अश्व के 'पर्वाणि' है। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३५; ६. २, २, २४; वाजसनेयि संहिता १३. ४३; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ४, जहाँ आशय को अस्पष्ट छोड़ दिया गया है।

[५२] १. ९४, ४। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १८९।

[५३] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ९, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ४. २५, ३; शतपथ ब्राह्मण ६. ७, ४, ७; ८. ४, २, ११; निरुक्त ५. ११; ११. ५. ६।

[५४] शतपथ ब्राह्मण ६. ७, ४, ७; ८. ४, २, ११; ११. १, ५, ३; बृहदारण्यक उपनिषद्, ३. १, ५; निरुक्त, ५. ११; ११. ६, इत्यादि।

[५५] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ५, २१; बृहदारण्यक उपनिषद्, १. १, १; ३. ८, ९, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ७. १, १५, १; तैत्तिरीय संहिता ३. १२, ७; वाजसनेयि संहिता २२. २८।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ३६४ और बाद; थिबो: ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक, ७–९; वेबर: प्रो० अ० १८९४, ३७, और बाद; नक्षत्र, २, और सर्वत्र।

मासर का, यजुर्वेद संहिताओं[१] में एक पेय के रूप में उल्लेख है। इसके निर्माण की विधि का कात्यायन श्रौत सूत्र[२] में पूरी तरह वर्णन किया गया है।

[१] मैत्रायणी संहिता ३. ११, २, ९; वाजसनेयि संहिता १९. १४. ८२; २०. ६८; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ११, ४, इत्यादि।

[२] १९. १, २०. २१; वाजसनेयि संहिता १९. १. १४, पर महीधर।

तु० की० ग्रिफिथ: वाजसनेयि संहिता, १७२, नोट।

यह सम्भवतः चावल और घास सहित *श्यामाक*, भूने जौ, इत्यादि का मिश्रण होता था।

माहकि ('महक' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३८२।

माहा-चमस्य ('महाचमस' का वंशज) उस गुरु का नाम है जिसे तैत्तिरीय आरण्यक[1] में, 'भूर्, भुवस्, स्वर्'[2] की त्रयी में महस् संयुक्त करने का श्रेय दिया गया है।

[1] १. ५, १।

[2] तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक, १८०।

माहा-रजन (केशर से रंगा हुआ, 'महा-रजन'), बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ३, १०) में एक प्रकार के परिधान (*वासस्*) के लिये व्यवहृत हुआ है।

माहा-राज्य (एक महान् राजा का वैभव, 'महा-राज') का ऐतरेय ब्राह्मण (८. ६, ५; १२, ४; १५, ३) में उल्लेख है।

माहित्थि ('महित्थ' का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका शतपथ ब्राह्मण[1] में अनेक बार उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में इसे *वाम-कक्षायण* का शिष्य बताया गया है।

[1] ६. २, २, १०; ८. ६, १, १६ और बाद; ९. ५, १, ५७; १०. ६, ५, ९।

[2] ६. ५, ४ काण्व।

माहीन, ऋग्वेद[1] के उस स्थल पर आता है जहाँ एक राजा के रूप में *असमाति* की प्रशस्ति की गई है। बहुवचन में प्रयुक्त यह शब्द असमाति की प्रशस्ति करनेवाले पुरोहितों का पैतृक नाम हो सकता है, अथवा एक विशेषण भी जिसका अर्थ अनिश्चित है।

[1] १०. ६०, १। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३८।

मित्र, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में मित्र का द्योतक है। तैत्तिरीय संहिता[3] के

[1] पुलिङ्ग : १. ५८, १; ६७, १; ७५, ४; १५६, १; १७०, ५; २. ४, १. ३, इत्यादि।

[2] पुलिङ्ग : अथर्ववेद ५. १९, १५; ११. ९, २; काठक संहिता २७. ४; तैत्तिरीय आरण्यक १०. ८०। क्लीव : तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ८, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ८, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ६. २०, १७; ८. २७, २; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ४, ८; ५. ३, ५, १३; ११. ४, ३, २०, इत्यादि।

[3] ६. २, ९, २।

अनुसार पत्नी मनुष्य की मित्र होती है और शतपथ ब्राह्मण[४] में मित्र के महत्व पर जोर दिया गया है। मित्र के प्रति विश्वासघात की भर्त्सना की गई है।[५]

[४] १. ५, ३, १७।

[५] तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १, ७।

मित्र-भू काश्यप ('कश्यप' का वंशज) वंश ब्राह्मण[१] में *विभण्डक काश्यप* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७४।

मित्र-भूति लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *कृष्णदत्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

मित्र-वर्चस् स्थैरकायण ('स्थिरक' का वंशज) वंश ब्राह्मण[१] में *सुप्रतीत औलुण्ड्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

मित्र-विन्द काश्यप ('कश्यप' का वंशज) वंश ब्राह्मण[१] में *सुनीथ* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

मित्रातिथि का ऋग्वेद[१] के एक सूक्त में *कुरुश्रवण* के पिता और *उपमश्रवस्* के पितामह के रूप में उल्लेख है। प्रत्यक्षतः यह सभी राजा हैं।

[१] १०. ३३, ७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६५; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १५०, १८४; कीथ : ज० ए० सो०, १९१०, ९२२, ९२३; लैनमैन : संस्कृत रीडर ३८४; बृहद्देवता, ७. ३५. ३६, मैकडौनेल के नोट सहित।

मुक्षीजा ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ स्पष्ट रूप से इसका आशय पशुओं के पकड़ने के लिये प्रयुक्त 'जाल' है। तु० की० *पदि*।

[१] १. १२५, २; निरुक्त ५. १९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४४।

१. मुञ्ज, एक ऐसी घास (Saccharum munja) का द्योतक है जो बहुत बढ़ती है और लगभग १० फीट तक ऊँची हो जाती है। इसका

अन्य प्रकार की घासों के साथ ऋग्वेद[1] में विषैले जीवों के निवास-स्थान के रूप में उल्लेख है। इसी ग्रन्थ[2] में मुञ्ज घास को परिष्कारक भी कहा गया है जिसका प्रत्यक्षतः सोम को छानने के लिये प्रयोग किया जाता था। बाद की संहिताओं[3] और ब्राह्मणों[4] में भी इस घास का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[5] में इसे खोखला (सुषिर) कहा गया है और यह सिंहासन (*आसन्दी*)[6] के बिने हुये भाग के लिये प्रयुक्त होता था।

[1] १. १९१, ३।
[2] १. १६१, ८ ('मुञ्ज-नेजन' जिसकी सायण 'अपगत-तृण' अर्थात् 'हटाई हुई घास सहित', के रूप में व्याख्या करते हैं।
[3] अथर्ववेद १. २, ४; तैत्तिरीय संहिता ५. १, ९, ५; १०, ५, इत्यादि।
[4] कौशीतकि ब्राह्मण १८. ७; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ३, १६; ६. ६, १, २३; ७, १५. १६, इत्यादि। तु० की० सेन्ट-पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, 'मौञ्ज'।
[5] ६. ३, १, २६।
[6] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ६। तु० की० त्सिमर आल्टिन्डिशे लेबेन ७२।

२. *मुञ्ज साम-श्रवस* ('सामश्रवस' का वंशज) एक व्यक्ति, सम्भवतः किसी राजा, का नाम है। इसका जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] और षड्विंश ब्राह्मण[2] में उल्लेख है।

[1] ३. ५, २।
[2] ४. १ (इन्टिशे स्टूडियन १, ३९)।

मुण्डिभ औदन्य[1] अथवा *औदन्यव*,[2] शतपथ ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में किसी व्यक्ति का नाम है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ५, ४। प्रत्यक्षतः यह शब्द एक पैतृक नाम 'उदन्य का पुत्र', है (एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ३४१, नोट १, यही मानते हैं) अथवा 'ओदन का पुत्र', (सेन्ट-पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० यही मानता है)।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, १५, ३ ('उदन्यु' का वंशज)।

मुद्ग, जो कि एक प्रकार के बीज (Phaseolus Mungo) का द्योतक है, वाजसनेयि संहिता[1] में वनस्पतियों की सूची में आता है। शाङ्खायन आरण्यक[2] और सूत्रों में 'बीजों के साथ पके चावल के रस' (मुद्गौदन) का उल्लेख है। तु० की० सम्भवतः *मुद्गल*।

[1] १८. १२।
[2] १२. ८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४०।

मुद्गल और *मुद्गलानी* ('मुद्गल' की पत्नी) दोनों ही ऋग्वेद[1] के उस सर्वथा अस्पष्ट सूक्त में आते हैं जिसकी पिशल[2], और गेल्डनर[3] तथा फॉन ब्राड्के[4] ने विभिन्न रूप से यह व्याख्या की है कि यह स्थल एक ऐसे वास्तविक रथ के दौड़ का वर्णन करता है जिसमें कठिनाईयों के विपरीत भी अपनी पत्नी की सहायता से मुद्गल विजयी हुआ था। भारतीय परम्परा में भी उतना ही विभेद है जितना आधुनिक विद्वानों की व्याख्या में। षड्गुरुशिष्य[5] यह व्याख्या करते हैं कि बैल चोरी हो जाने पर मुद्गल ने उन चोरों का केवल एक बचे हुये वृद्ध बैल द्वारा पीछा किया और अपने हथौड़े (द्रु-घण) को फेंककर भागने वाले चोरों को पकड़ लिया। दूसरी ओर, यास्क[6] यह व्यक्त करते हैं कि मुद्गल ने दो बैलों की अपेक्षा एक बैल और एक द्रुघण द्वारा किसी दौड़ को जीत लिया था। यह बहुत कुछ स्पष्ट है कि, जैसा कि रौथ[7] ने व्यक्त किया है, परम्परागत व्याख्या केवल एक अनुमान मात्र है और इस अस्पष्ट से सूक्त की बहुत स्पष्ट व्याख्या भी नहीं करता; औल्डेनबर्ग[8] ने भी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। ब्लूमफील्ड[9] ने इस कथा की, मानवीय नहीं वरन् दिव्य घटना के रूप में, व्याख्या की है। मुद्गल, जो सम्भवतः उस 'मुद्गर'[10] का एक विभेदात्मक रूप है जिसका बाद की भाषा में हथौड़ा अथवा इसी समान किसी अस्त्र का अर्थ है, वास्तविक व्यक्ति की अपेक्षा इन्द्र के वज्र का मूर्त्तीकरण हो सकता है।[11] बाद[12] में मुद्गल एक पौराणिक ऋषि है।

[1] १०. १०२।

[2] वेदिशे स्टूडियन १, १२४।

[3] वही १, १३८; २, १-२२।

[4] त्सी० गे० ४६, ४४५ और बाद।

[5] मैकडौनेल का सर्वानुक्रमणीका संस्करण, पृ० १५८।

[6] निरुक्त ९. २३. २४।

[7] ए० नि०, १२९।

[8] त्सी० गे० ३९, ७८।

[9] वही ४८, ५४७।

[10] गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १, के अनुसार, १०. १०२, २, में मुद्गलानी का नाम इन्द्रसेना है; किन्तु इसका आशय (इन्द्र का वज्र) कदाचित् इस स्थल के पौराणिक प्रकृति की ओर संकेत करता है।

[11] यदि इस नाम से किसी वास्तविक व्यक्ति का अर्थ है तो इसे मुद्ग (माष) के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४०।

[12] अथर्ववेद ४, २९, ६; आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. १२; बृहद्देवता ६. ४६; ८. १२. ९०।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६६, १६७; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, २८०; कीथ : ज० ए० सो०, १९११, १००५, नोट १

मुनि, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में आता है जहाँ यह दिव्य इष्ट (देवेषित) और अभिचारी शक्तियों से युक्त तपस्वी का द्योतक और बाद के भारत के कुछ विचित्र तपस्वियों का पूर्वगामी प्रतीत होता है। यह इस तथ्य के भी अनुकूल है कि ऐतरेय ब्राह्मण[2] में *ऐतश* मुनि को उसका पुत्र मनोविकृत मानता है। ऐतश प्रलाप[3] के नाम से जो कुछ भी मूर्खतापूर्ण वार्तालाप है वह यदि इसी का है तो उक्त मत अनुपयुक्त भी नहीं। ऋग्वेद[4] इन्द्र को 'मुनियों का मित्र' कहता है और अथर्ववेद[5] में भी एक दिव्य मुनि (देवमुनि) का सन्दर्भ है जिससे इसी समान किसी मुनि का तात्पर्य हो सकता है।

उपनिषदों[6] में मुनि का स्वरूप कुछ अधिक विशिष्ट है : यह अध्ययन, अथवा यज्ञ, अथवा प्रायश्चित्त, अथवा व्रत, अथवा श्रद्धा से ब्रह्म की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करनेवालों में से एक है। फिर भी, ऐसा नहीं मानना चाहिए कि प्राचीन और बाद के मुनियों में कोई स्पष्ट विभेद किया गया है : दोनों ही दशाओं में व्यक्ति एक विशेष आह्लादपूर्ण स्थिति में होता है, किन्तु उपनिषदों का आदर्श उस प्राचीनतर मुनि के चित्र से अपेक्षाकृत कम भौतिक है जो एक ऋषि की अपेक्षा 'चिकित्सक' अधिक था। साथ ही वैदिक ग्रन्थों में मुनि के सन्दर्भों की अपेक्षाकृत दुर्लभता द्वारा यह निष्कर्ष भी नहीं निकालना चाहिये कि वैदिक काल में यह एक दुर्लभ व्यक्तित्व था : संस्कारों का पालन करनेवाले पुरोहितों द्वारा सम्भवतः इसे मान्यता नहीं दी गई थी : और पुरोहितों के दृष्टिकोण भी अनिवार्यतः मुनियों के आदर्शों से भिन्न थे क्योंकि मुनिगण सन्तान और *दक्षिणा* की इच्छा जैसे पार्थिव विचारों से ऊपर थे।[7]

[1] १०. १३६, २. ४. ५। प्रथम मन्त्र में इनका 'लम्बे केशवालों' के रूप में वर्णन किया गया है।

[2] ६. ३३. ३।

[3] देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, ९८, और बाद।

[4] ८. १७, १४। तु० की० ७. ५६, ८; मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, ३७६

[5] ७. ७४, १। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ४४०; शतपथ ब्राह्मण ९. ५, २, १५; और मुनिमरण।

[6] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १; ४. ४, २५; तैत्तिरीय आरण्यक २. २०।

[7] तु० की० ओल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, ४०६; त्सी० गे० ४९, ४८०; बुद्ध,[5] ३६।

मुनि-मरण, उस स्थान का नाम है जहाँ पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ४, ७) के अनुसार *वैखानसों* का वध किया गया था।

मुलालिन (पुल्लिङ्ग) अथवा *मुलाली* (स्त्री०), अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के खाने के योग्य कमल (सम्भवतः Nymphaea esculenta) के किसी भाग का नाम है।

[1] ४. ३४, ५। तु० की० कौशिक सूत्र ६६. १०; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १८, १३८; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ७०; व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद २०७।

मुषीवन्, ऋग्वेद (१. ४२, ३) के एक स्थल पर 'डाकू' का द्योतक है।

मुष्कर अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर, जैसा कि रौथ[2] का विचार है, सम्भवतः किसी छोटे पशु या कीटाणु के आशय में आता है। फिर भी, रौथ इस स्थल को भ्रष्ट मानते हैं। ब्लूमफील्ड[3] का विचार है कि पैप्पलाद शाखा का 'पुष्करम' (नील कमल) पाठ ही शुद्ध है।

[1] ६. १४, २।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था।
[3] अथर्ववेद के सूक्त, ४६३, ४६४। तु० की० व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, २९७।

मुष्टि-हन्[1], *मुष्टि-हत्या*,[2] ऋग्वेद और अथर्ववेद में क्रमशः 'आमने-सामने के युद्ध', अर्थात् रथी के विरुद्ध साधारण योद्धा के बीच युद्ध, और स्वयं 'युद्ध' के भी द्योतक हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद[3] में 'रथिन्' के विरुद्ध पैदल सैनिक (पत्ति) हैं, और ऋग्वेद[4] में सैनिकों का एक दल (ग्राम) रथियों का विरोध करता है। यूनानी और अन्य आर्य जातियों के समानान्तर प्रमाणों से ऐसा व्यक्त होता है कि क्षत्रियगण रथों पर बैठ कर युद्ध करते थे जब कि साधारण सैनिक पैदल रहते थे।

[1] ऋग्वेद ५. ५८, ४; ६. २६, २; ८. २०, २०; अथर्ववेद ५. २२, ४।
[2] ऋग्वेद १. ८, २।
[3] ७. ६२, १।
[4] १. १००, १०। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २९७।

मुसल, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'मूसल' का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद १०. ९, २६; ११. ३, ३; १२. ३, १३; तैत्तिरीय संहिता १. ६, ८, ३, इत्यादि।
[2] शाङ्खायन आरण्यक १२. ८; शतपथ ब्राह्मण १२. ५, २, ७; जैमिनीय ब्राह्मण १. ४२. ४४ (ज० अ० ओ० सो०, १५, २३५, २३७) में 'मुसलिन्' का अर्थ 'गदाधारी व्यक्ति' है।

मुहूर्त ब्राह्मणों[1] में दिन के तीसवें भाग, अथवा अड़तालीस मिनट के एक घण्टे जैसी समय की अवधि का द्योतक है। ऋग्वेद[2] में केवल 'क्षण' का ही आशय मिलता है। तु० की० *अहन्*।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, १, १ (नामों के लिये); ९, ७; १२, ९, ६; शतपथ ब्राह्मण १०. ४, २, १८. २५. २७; ३, २०; १२. ३. २, ५; १०. ४, ४, ४, इत्यादि।

[2] ३. ३३, ५; ५३, ८। 'क्षण' का आशय ब्राह्मणों में भी सामान्य रूप से मिलता है।

तु० की०, त्सी० गे०, १, १३९ और बाद; इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ९२ और बाद।

मूचीप अथवा *मूवीप*, एक बर्बर जाति के नाम के रूप में, शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५. २६, ६) में, ऐतरेय ब्राह्मण के *मूतिब* का विभेदात्मक पाठ है।

तु० की०, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ६७, नोट १।

मूजवन्त्, एक जाति के लोगों का नाम है जिनका *महावृषों*, *गन्धारियों* और *बल्हिकों* के साथ-साथ उन सुदूर-वासियों के रूप में अथर्ववेद[1] में उल्लेख है जिन पर ज्वर को बहिष्कृत किया जाता था। इसी प्रकार यजुर्वेद संहिताओं[2] में भी मूजवन्तों को एक ऐसे दूरस्थ लोगों के रूप में चुना गया है जिनसे, धनुष सहित और आगे जाने के लिये रुद्र की, स्तुति की गई है। ऋग्वेद[3] में सोम का 'मौजवत' (मूजवन्तों के पास से आने वाला, अथवा जैसा कि यास्क[4] ने माना है 'मूजवन्त पर्वत से प्राप्त') के रूप में वर्णन किया गया है। मूजवन्त को एक पर्वत के रूप में ग्रहण करने में भारतीय भाष्यकार[5] यास्क से सहमत हैं, और यद्यपि हिलेब्रान्ट[6] यह कहने में ठीक हो सकते हैं कि त्सिमर[7] द्वारा कश्मीर की दक्षिण-पश्चिमी निचली पहाड़ियों

[1] ५. २२, ५. ७. ८. १४। तु० की० बौधायन श्रौत सूत्र २. ५।

[2] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ६, २; काठक संहिता ९. ७; ३६. १४; मैत्रायणी संहिता १. ४, १०, २०; वाजसनेयि संहिता ३. ६१; शतपथ ब्राह्मण २. ६, २, १७।

[3] १०. ३४, १।

[4] निरुक्त ९. ८।

[5] वाजसनेयि संहिता उ० स्था० पर महीधर; ऋग्वेद १. १६१, ८, पर सायण; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथोलोजी, १. ६३ में उद्धृत बौधायन श्रौत सूत्र और प्रयोग।

[6] उ० पु० १. ६५।

[7] आल्टिन्डिशे लेबेन, २९।

के साथ मूजवन्त के समीकरण में प्रमाणों का अभाव है, तथापि इस तथ्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि मूजवन्त् एक ऐसा पर्वत था जिसके आधार पर ही इस जाति के लोगों ने अपना नाम ग्रहण किया था। यास्क[८] यह विचार व्यक्त करते है कि मूजवन्त् वास्तव में उस मुञ्जवन्त् के समान है जो बाद में महाकाव्य[९] में हिमालय के अन्तर्गत एक पर्वत का नाम है।

[८] उ० स्था०। तु० की० पाणिनि ४. ४, ११० पर सिद्धान्त कौमुदी, जहाँ ऋग्वेद १०. ३४, १ में 'मौजवत' के स्थान पर 'मौञ्जवत' पढ़ा गया है।

[९] महाभारत १०. ७८५; १४. १८०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १९८।

मूत बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[१] में 'बिनी हुयी टोकरी' का द्योतक है। 'मूतक' का अर्थ 'छोटी टोकरी' है।[२]

[१] काठक संहिता ३६. १४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, १०, ५; लाट्यायन श्रौत्र सूत्र ८. ३, ८।

[२] शतपथ ब्राह्मण २. ६, २, १७।

मूतिव ऐतरेय ब्राह्मण[१] में ऐसी बर्बर जाति के लोगों के रूप में आता है जिनकी *विश्वामित्र* की जाति-बहिष्कृत संतानों के रूप में गणना करायी गयी है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[२] में इनका नाम *मूचीप* अथवा *मूवीप* के रूप में आता है।

[१] ७. १८, २।

[२] १५. २६, ६। तु० की० मुइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ३५८, ४८३।

मूल, मूलवर्हण—देखिये *नक्षत्र*।

मूस्[१], *मूषिका*[२], चूहों के नाम हैं जो ऋग्वेद[१] तथा यजुर्वेद संहिताओं[२] में आते हैं।

[१] ऋग्वेद १. १०५, ८ = १०. ३३, ३; निरुक्त ४. ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८५; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, २४८।

[२] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १७; वाजसनेयि संहिता २४. ३६।

१. *मृग* से ऋग्वेद[१] तथा बाद[२] में 'वन्य-पशु' जैसा एक जातिवाचक

[१] १. १७३, २; १९१, ४; ८. १, २०; ५, ३६; १०. १४६, ६ इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ४. ३, ६; १०. १, २६; १२. १, ४८ (सूकर); १९. ३८, २. पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ७, १०; २४. ११, २; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३१, २; ८. २३, ३, इत्यादि।

आशय है। कभी-कभी इसके लिये भयानक (भीम)[3] विशेषण का भी प्रयोग किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द से किसी मांसाहारी वन्य-पशु का अर्थ है। अन्यत्र भैंसे को उस 'महिष'[4] (शक्तिशाली) उपाधि द्वारा व्यक्त किया गया है जो बाद में भैंसे का नाम ही बन गया है। अधिक विशिष्टतः इस शब्द से मृग (हिरन) के प्रकार के किसी पशु का तात्पर्य है।[5] कुछ स्थलों[6] पर रौथ[7] ने इस शब्द में 'पक्षी' का भी आशय देखा है। *मृग हस्तिन्* और पुरुष *हस्तिन्* भी देखिये।

[3] ऋग्वेद १. १५४, २; १९०, ३; २. ३३, ११; ३४, १; १०. १८०, २, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद ८. ६९, १५; ९. ९२, ६; १०. १२३, ४।

[5] ऋग्वेद १. ३८, ५; १०५, ७; ६. ७५, ११; ९. ३२, ४; अथर्ववेद ५. २१, ४ (निश्चित दृष्टान्त नहीं है); तैत्तिरीय संहिता ६. १, ३, ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, २, ५, ६; शतपथ ब्राह्मण ११. ८, ४, ३, इत्यादि।

[6] ऋग्वेद १. १८२, ७; १०. १३६, ६, और सम्भवतः १. १४५, ५; ७. ८७, ६।

[7] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १. ९९; २, १२२।

२. *मृग*, सायण भाष्य के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *मृगशिरस्* नामक नक्षत्र-पुञ्ज का द्योतक है। किन्तु अधिक सम्भव[2] यह प्रतीत होता है कि वास्तव में यहाँ 'मृग' 'कालपुरुष' नामक सम्पूर्ण नक्षत्रपुञ्ज का ही द्योतक है। इससे केवल मृगशिरस् नामक कालपुरुष के शीर्ष भाग में अप्रखर-से तारक-पुञ्ज-मात्र का नहीं वरन् उसके स्कन्ध भाग के अल्फा (α) तारे का जिसे आर्द्रा के नाम से पुकारा जाता है, और उसके बायें स्कन्ध के γ तारे का भी आशय है। फिर भी तिलक[3] ने 'मृग' अथवा 'मृगशिरस्' को एक भिन्न समूह माना है जिसके अन्तर्गत 'कालपुरुष' के कटिबन्ध के समस्त तारे, घुटने के दो तारे और बायें स्कन्ध का एक तारा आ जाता है। इस प्रकार निर्मित नक्षत्र पुञ्ज को तिलक एक ऐसे मृग की आकृति मानते हैं जिसके सर के भाग में एक तीर बिंधा है, किन्तु यह सर्वथा असम्भव और अनुचित मान्यता है। तु० की० *मृगव्याध*।

[1] ३. ३३, ५।

[2] देखिये ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो०, १६, xcii।

[3] ओरायन, ९९ और बाद।

३. *मृग हस्तिन्* (हस्त-युक्त पशु) का ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर उल्लेख है, जहाँ रौथ[2] यह तो मान लेते हैं कि इससे हाथी का अर्थ है, किन्तु यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस शब्द का यौगिक रूप इस बात का प्रमाण है कि वैदिक भारतीयों के लिये हाथी एक नवीन वस्तु था।[3] बाद में *हस्तिन्* विशेषण अकेले ही इस पशु का नियमित नाम बन गया है (भैंसे के लिये *महिष* की भाँति)। ऋग्वेद में वर्णनात्मक व्याहृति 'मृग वारण'[4] (वन्य अथवा भयानक पशु) द्वारा भी हाथी को ही व्यक्त किया गया है और उक्त विशेषणों की ही भाँति 'वारण' विशेषण भी बाद की भाषा में हाथी का एक नाम बन गया है। पिशल का यह दृष्टिकोण[5] कि ऋग्वेद[6] तक में पालतू हथिनी के माध्यम से हाथी को पकड़ने का सन्दर्भ है, अत्यन्त सन्दिग्ध प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण[7] में हाथियों का 'काले, श्वेत-दन्त और स्वर्ण अलंकृत' होने के रूप में वर्णन किया गया है।

[1] १. ६४, ७; ४. १६, १४।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; ए० नि० ७९।

[3] पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, ९९, १००, इस मत का विरोध करते हैं कि हाथी वैदिक भारतीयों के लिये एक नया जीव था, क्योंकि आपके अनुसार भैंसे और सूकर को व्यक्त करने के लिये भी क्रमशः 'मृग महिष' तथा 'मृग सूकर' (अथर्ववेद १२. १, ४८) का प्रयोग मिलता है। किन्तु **महिष** के सम्बन्ध में रौथ का निष्कर्ष ठीक प्रतीत होता है; जब कि **सूकर** ऋग्वेद में अकेले आता है, और 'मृग सूकर' का अथर्ववेद (१२. १, ४८) के एक स्थल पर उसी मन्त्र में आने वाले **वराह** के साथ विभेद स्पष्ट करने के लिये प्रयोग किया गया है।

[4] ऋग्वेद ८. ३३, ८; १०. ४०, ८।

[5] वेदिशे स्टूडियन, २, १२१–१२३; ३१७-३१९। तु० की० स्ट्राबो, पृ० ७०४, ७०५; अर्रियन : इण्डिका, १३. १४ (मेगास्थनीज़ से)।

[6] ८. २, ६; १०. ४०, ८।

[7] ८. २३, ३ (हिरण्येन परीवृतान् कृष्णाञ्छुक्लदतो मृगान्)। देखिये पिशल : उ० पु० २, १२२।

तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८०।

मृगय ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर इन्द्र द्वारा पराजित हुये होने के रूप में आता है। इसका एक मानव शत्रु होना, जैसा कि लुडविग[2] का विचार है, असम्भाव्य प्रतीत होता है : अधिक सम्भवतः यह एक दानव था, जैसा कि 'मृग' निःसन्देह है ही।[3]

[1] ४. १६, १३; ८. ३, १९; १०. ४९, ५।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३. १६६।

[3] ऋग्वेद १. ८०, ७; ५. २९. ४, इत्यादि।

मृगयु (व्याध) बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में मिलता तो है किन्तु बहुत अधिक बार नहीं। फिर भी, वाजसनेयि संहिता[3] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में अनेक नामों को सम्मिलित किया गया है जो ऐसे व्यक्तियों के नाम प्रतीत होते हैं जो मछली मारकर अथवा आखेट द्वारा जीविकोपार्जन करते थे, जैसे *मार्गार*, *कैवर्त्त* अथवा *केवर्त*, *पौञ्जिष्ठ*, *दाश*, *मैनाल* और सम्भवतः *बैन्द*, तथा *आन्द*[5], जो सभी एक न एक प्रकार के मछूये ही प्रतीत होते हैं।

यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि प्राचीनतम वैदिक काल में किसी भी वैदिक जाति की आजीविका का साधन आखेट था : पशुपालन और *कृषि* ही निश्चित रूप से उनकी आजीविका के आधार थे। किन्तु आखेट नहीं किया जाता था ऐसा मानना भी अतर्कसङ्गत होगा क्योंकि मनोरञ्जन, भोजन और साथ ही साथ पालतू पशुओं की जङ्गली पशुओं से रक्षा करने के लिये आखेट का आश्रय लिया जाता था। आखेट के सम्बन्ध में विवरण के लिये स्वभावतः ऋग्वेद ही हमारा प्रमुख स्रोत है। कभी-कभी बाण का प्रयोग होता था;[6] किन्तु जैसा कि पुरातन मनुष्यों की दशा में अन्यत्र भी है, पशुओं को पकड़ने के लिये जाल और गड्ढे ही सामान्य उपकरण होते थे। पक्षियों को नियमित रूप से जालों (*पाश*[7], *निधा*[8], *जाल*[9]) में ही पकड़ा जाता था और पक्षी पकड़नेवाले को 'निधापति'[10] कहा गया है। जाल को खूटियों[11] के सहारे (जैसा कि पक्षी पकड़ने के लिये प्रयुक्त आधुनिक जालों की दशा में भी किया जाता है) तान दिया जाता था। जाल का दूसरा नाम प्रत्यक्षतः *मुक्षीजा* था।

मृगों (*ऋश्य*) को पकड़ने के लिये गड्ढों का प्रयोग होता था और इसलिये इन्हें 'ऋश्य-द'[12] कहा गया है। जैसा कि प्राचीन यूनानी समय में भी

[1] अथर्ववेद १०. १, २६; वाजसनेयि संहिता १६. २७; ३०. ७, इत्यादि। तु० की० 'मृगण्यु', ऋग्वेद १०. ४०, ४।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १. ५, १, १; ३. ४, ३, १; पंचविंश ब्राह्मण १४. ९, १२, इत्यादि।

[3] ३०।

[4] ३. ४।

[5] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, १२, १।

[6] ऋग्वेद २. ४२, २।

[7] पाशिन् (व्याध), ऋग्वेद ३. ४५, १।

[8] ऋग्वेद ९. ८३, ४; १०. ७३. ११।

[9] अथर्ववेद १०. १, ३०।

[10] ऋग्वेद ९. ८३, ४।

[11] अथर्ववेद ८. ८, ५।

[12] ऋग्वेद १०. ३९, ८।

होता था, हाथियों को पालतू हथिनियों की सहायता से पकड़ा जाता था (देखिये *मृग हस्तिन्*)। प्रत्यक्षतः शूकरों को दौड़ाकर और कुत्तों की सहायता से[53], पकड़ा जाता था; किन्तु जिस स्थल के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है उसका विषय-वस्तु अनिश्चित और पुराकथात्मक है। भैंसे (*गौर*) को पकड़ने का भी एक अस्पष्ट सन्दर्भ[54] मिलता है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं कि यहाँ बाण से वध करने का तात्पर्य है अथवा रस्सियों या जाल से पकड़ने का। सिंह को या तो गड्ढों में गिराकर पकड़ा जाता था,[55] अथवा अनेक व्याध घेरकर उसका वध कर देते थे।[56] एक अत्यन्त अस्पष्ट स्थल पर, प्रच्छन्न स्थान की सहायता से सिंह को पकड़ने का सन्दर्भ है जिससे सम्भवतः केवल ढँके हुये गड्ढों के ही प्रयोग का तात्पर्य है।[57] मछली पकड़ने की पद्धतियों के सम्बन्ध में बहुत कम विवरण उपलब्ध है क्योंकि जो एक मात्र प्रमाण मिलता है वह यजुर्वेद में वर्णित विभिन्न नामों की व्याख्या पर आधारित है। सायण[58] का कथन है कि धैवर उन्हें कहते थे जो किसी तालाब में दो किनारों से जाल लगाकर मछलियाँ पकड़ते थे; दाश और *शौष्कल* कटिये (वडिश) से मछलियाँ पकड़ते थे; बैन्द, कैवर्त, और मैनाल, जाल की सहायता से पकड़ते थे; मार्गार जल में अपने हाथ से पकड़ते थे; आन्द प्रत्यक्षतः एक छोटा बाँध बनाकर पकड़ते थे; जब कि *पर्णक* जल पर विषैली पत्तियों को रखकर पकड़ते थे। किन्तु इनमें से किसी भी व्याख्या को सर्वथा प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

53 ऋग्वेद १०. ८६, ४।
54 ऋग्वेद १०. ५१, ६।
55 ऋग्वेद १०. २८, १०।
56 ऋग्वेद ५. १५, ३।
57 ऋग्वेद ५. ७४, ४। तु० की० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ५४२, नोट।
58 तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १, पर। तु० की० वेबर : त्सी० गे० १८, २८१। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४३–२४५।

मृग-व्याध ऐतरेय ब्राह्मण[1] में प्रजापति की पुत्री की कथा में एक नक्षत्र-पुञ्ज का नाम है। प्रजापति (काल पुरुष) अपनी पुत्री रोहिणी का पीछा करता है और इसीलिये धनुर्धर मृग-व्याध उसका वध कर देता है। इसमें

1 ३. ३३, ५। तु० की० हिलेब्रान्ट : माइथौलोजी, २, २०५, नोट १, २०८, नोट; ३; तिलक : ओरायन, ९८ और बाद; सूर्य सिद्धान्त ८. १०; ९. १२, में भी यह नाम सुरक्षित है।

सन्देह नहीं कि प्रजापति की कथा के आकाश में स्थानान्तरण का कारण इस नक्षत्रपुञ्ज की एक धनुर्धर के विचार के साथ समानता ही है।

मृग-शिरस्, मृग-शीर्ष । देखिये *नक्षत्र*, १. और २. *मृग* ।

मृगाखर तैत्तिरीय संहिता (७. ५, २१, १) और ब्राह्मण (३. ९, १७, ३) में 'जङ्गली पशुओं के विवर' का द्योतक है।

मृड यजुर्वेद संहिताओं[1] में केवल समस्त पदों के अन्तर्गत आता है और स्वर्ण की एक छोटी तौल का द्योतक प्रतीत होता है। इसका 'मृद' पाठ निश्चित नहीं, जैसा कि व्याकरण परम्परा[2] में है।

[1] 'उपचाय-मृडं हिरण्यम्', काठक संहिता ११. १; 'अष्टा-मृडं हिरण्यम्', वही १३. १०; 'अष्टा-प्रुड्-ढिरण्यम्', तैत्तिरीय संहिता ३. ४, १, ४।

[2] देखिये पाणिनि ३. १, १२३ और उस पर वार्त्तिक; फॉन श्रोडर : त्सी० गे० ४९, १६४।

मृत्तिका (मिट्टी) का बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में उल्लेख है।[1] तु० की० *मृद्*।

[1] वाजसनेयि संहिता १८. १३; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४, २; छान्दोग्य उपनिषद् ६. १, ४; तैत्तिरीय आरण्यक १०. १, ८. ९।

मृत्यु का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक भयङ्कर वस्तु के रूप में बहुधा उल्लेख मिलता है। मृत्यु के लगभग एक-सौ-एक रूप बताये गये हैं जिनमें से जरावस्था[3] की मृत्यु को सबसे स्वाभाविक माना गया है, जब कि अन्य सौ प्रकार की मृत्यु से बचने[4] का प्रयास करना चाहिये। जरावस्था के पूर्व (पुरा

[1] ७. ५९, १२; १०. १३, ४; १८, १. २; १०. ४८, ५; ६०, ५। इसी प्रकार 'मृत्यु-बन्धु', ऋग्वेद ८. १८, २२; १०. ९५, १८।

[2] तैत्तिरीय संहिता १. ५, ९, ४, जहाँ संसार को 'मृत्यु के साथ सन्नद्ध' (मृत्यु संयुत) कहा गया है; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ९, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ८, २; १४, १. २. ३; शतपथ ब्राह्मण १०. ६, ५, १, इत्यादि। इसी प्रकार अक्सर 'मृत्यु पाश', अथर्ववेद ८. २, २; ८, १०. १६; १७. १, ३०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ८, २; काठक उपनिषद् १. १८, इत्यादि।

[3] अथर्ववेद २. १३, २; २८, २।

[4] अथर्ववेद १. ३०, ३; २. २८, १; ३. ११, ५; ८. २, २७; ११. ६, १६, इत्यादि।

जरसः[5]) की मृत्यु को निश्चित अवधि के पूर्व (पुरा आयुषः[6]) हुई मृत्यु कहा गया है। जीवन की सामान्य अवधि को वैदिक साहित्य में सर्वत्र सौ वर्ष माना गया है।[7] दूसरी ओर दैहिक शक्ति के ह्रास के रूप में वृद्धावस्था के कष्टों को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है[8]: अश्विनों के चमत्कारी कृत्यों में से एक वृद्ध *च्यवान* को पुनः यौवन और शक्ति प्रदान करना तथा दूसरा *कलि*[9] को यौवन दान देना था। मृत्यु से बचने और दीर्घायु (आयुष्य) प्राप्त करने के लिये अथर्ववेद[10] में अनेक प्रकार के अभिचार मिलते हैं।

मृतकों के संस्कार के लिये गाड़ना और अग्नि में जलाना दोनों ही पद्धतियाँ प्रचलित थीं (देखिये *अग्निदग्ध*)। यह दोनों ही पद्धतियाँ आरम्भिक वैदिक काल में प्रयुक्त होती थीं,[11] जैसा कि यूनान में भी था;[12] किन्तु प्रथम पद्धति अपेक्षाकृत कम प्रचलित थी और इसे बहुत कुछ अमान्यता ही प्रदान की गयी है। मृतकों की अस्थियों पर, चाहे वे जली हों अथवा नहीं, एक *श्मशान* का निर्माण करा दिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण[13] में श्मशान के निर्माण की पद्धति के सम्बन्ध में तीव्र मतभेद के अनेक चिह्न वर्त्तमान हैं। जलते हुये जलयान में मृतकों के शव को समुद्र में छोड़ देने की उत्तरी देशों में प्रचलित पद्धति का ऋग्वेद में कोई संकेत[14] नहीं मिलता: एक जलयान[15] का सन्दर्भ मृत्यु के पश्चात् के पौराणिक संकटों की ओर ही संकेत करता है, अन्त्येष्टि की पद्धति की ओर नहीं।

[5] ऋग्वेद ८. ६७, २०; अथर्ववेद ५. ३०, १७; १०. २, ३०; १२. ३, ५६।

[6] शतपथ ब्राह्मण २. १, ४, १।

[7] ऋग्वेद १. ६४, १४; ८९, ९; २. ३३, २, इत्यादि। तु० की० लैनमैन: संस्कृत रीडर, ३८४; वेबर, इन्डिशे स्टूडियन १७. १९३; फ़ो० रौ०, १३७।

[8] ऋग्वेद १. ७१, १०; १७९, १।

[9] १०. ३९, ८। तु० की० मुइर: संस्कृत टेक्स्ट्स ५, २४३।

[10] देखिये ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद, ६२ और बाद।

[11] देखिये हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १६, clii; विन्टरनित्स: गे० लि०, १, ८४, ८५।

[12] देखिये लैङ्ग: होमर एण्ड हिज़ ऐज, ८२ और बाद; तु० की० बरोज़: डिस्कवरीज़ इन क्रीट, २०९-२१३।

[13] १३. ८, २, १।

[14] तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ४१०; वीनहोल्ड: आल्टनॉर्डिशे लेबेन ४८३ और बाद।

[15] ऋग्वेद १०. ६३, १०; १३५, ४; अथर्ववेद ७. ६, ३, और तु० की० वेबर: प्रो० अ०, १८९५, ८५६।

वैदिक भारतीयों की दृष्टि में मृत्यूपरान्त जीवन इस लोक के जीवन की पुनरावृत्ति मात्र होता था। मृतक दूसरे लोक में 'सर्वतनुः साङ्गः' (समस्त शरीर और अङ्गों के साथ[16]) जाता था, और वहाँ उन्हीं सुखों का उपभोग करता था जो उसे इस पृथ्वी पर उपलब्ध थे। ऋग्वेद[17] तक में पापियों को दूसरे लोक में कष्ट मिलने के संकेत उपलब्ध हैं, किन्तु यातनात्मक नरकों की कल्पना अथर्ववेद[18] और ब्राह्मणों[19] के पूर्व नहीं मिलती, और केवल ब्राह्मणों[20] में ही ऐसा कथन है कि इस लोक के श्रेष्ठ अथवा दुष्कर्मों के आधार पर ही मृतकों को दूसरे लोक में स्वर्ग अथवा नरक प्राप्त होता है। किन्तु दुष्टों के भाग्य में मृत्यूपरान्त सर्वथा उन्मूलन[21] के दण्ड की कल्पना का, जैसा कि रौथ[22] मानते हैं, ऋग्वेद में कोई संकेत नहीं है। नैतिक दृष्टि से वैदिक कवियों का चरित्र बहुत उन्नत न होने के कारण उनकी रचनाओं में भी भावी न्याय का कोई ऐसा विशेष समावेश नहीं है जैसा कि पाप में पूर्ण आस्था रखनेवाले व्यक्तियों की रचनाओं में होना चाहिये।

[16] अथर्ववेद ५. ६, ११; १८. ४, ६४; शतपथ ब्राह्मण ५. ६, १, १; ११. १, ८, ६; १२. ८, ३, ३१, और तु० की० तैत्तिरीय संहिता ५. ३, ५, २; ६, ४; ६, ६, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, २०, ५; १०, ११, १।

[17] ऋग्वेद २. २९, ६; ३. २६, ८; ४. ५, ५; २५, ६; ७. १०४, ३. ११. १७; १०. १५२, ४।

[18] २. १४, ३; ५. १९, ३; ३०, ११; ८. २, २४; १२. ४, ३६; १८. ३, ३। तु० की० ५. १९, और वाजसनेयि संहिता ३०. ५, भी।

[19] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, १, १ और बाद; वेबर : त्सी० गे०, ९, २४०, और बाद; जैमिनीय ब्राह्मण १. ४२-४४ (ज० अ० ओ० सो०, १५, २३६ और बाद)।

[20] शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, २७; १०. ६, ३, १; कौषीतकि ब्राह्मण १२. ३, इत्यादि।

[21] तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६९।

[22] ज० अ० ओ० सो० ३, ३२९-३४७; वेबर : उ० पु० २३८ और बाद।

मृद्, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'मिट्टी' का द्योतक है (तु० की० *मृत्तिका*)। ब्राह्मणों[3] में 'सनी मिट्टी' का और मैत्रायणी उपनिषद्[4] में

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ७, ९, २; वाजसनेयि संहिता ११. ५५।

[2] शतपथ ब्राह्मण ६. १, १, १३; २, ३४; ३, ३; ३, १, २२. ३२; ३, १; मैत्रायणी उपनिषद् ६. २७, इत्यादि।

[3] शतपथ ब्राह्मण ६. ४, २, १; ५, २, १; १४. २, १, ८; छान्दोग्य उपनिषद् ६. १, ४।

[4] २. ६; ३. ३।

एक कुम्हार (मृत्-पच) का भी उल्लेख है। एक 'मृत्पात्र'[5] (मिट्टी का वर्त्तन) और मिट्टी के वने (मृन्-मय)[6] पात्रों का उल्लेख है। कब्र को 'मिट्टी का गृह'[7] कहा गया है।

[5] काठक संहिता ३१. २।
[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, १, ३. ४, इत्यादि।
[7] ऋग्वेद ८. ८९, १ (मृन्मय गृह)।

मृध्, ऋग्वेद[1] और वाद[2] में 'शत्रु' का द्योतक है।

[1] १. १३१, ६; १३८, २; १८२, ४; २. २२, ३; २३, १३; २८, ७; ३. ४७, २; ५. ३०, ७ इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ५. २०, १२; ६. २, २; ८. ५, ८; १३. १, ५. २७; १८. २, ५९; तैत्तिरीय संहिता, २. २, ७, ४; ५, ३, १; वाजसनेयि संहिता ५. ३७; ११. १८. ७२, इत्यादि।

मृध्र-वाच्, देखिये दस्यु और दास।

मेक्षण, ब्राह्मणों[1] में हवि (चरु) को चलाने के लिये प्रयुक्त लकड़ी के एक चम्मच जैसे उपकरण का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, १०, ४; ३. ७, ४, ९; शतपथ ब्राह्मण २. ४, २, १३ इत्यादि।

मेखला, वाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में करधनी का द्योतक है। ब्रह्मचारिन् करधनी धारण करते थे।[3]

[1] अथर्ववेद ६. १३३, १; तैत्तिरीय संहिता १. ३, ३, ५; ६. २, २, ७; काठक संहिता २३. ४; २४. ९; मैत्रायणी संहिता ३. ६, ७, इत्यादि।
[2] शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, १०; ४. ४, ५, २; ६. २, २, ३९, इत्यादि।
[3] गृह्यसूत्रों में ब्राह्मणों की करधनी को मुञ्ज की, क्षत्रिय की करधनी को धनुष के प्रत्यञ्चा की, और वैश्यों की करधनी को ऊन अथवा सन की वनी वताया गया है। देखिये आश्वलायन गृहसूत्र १. १९, १२, इत्यादि।

मेघ, ऋग्वेद[1] और वाद[2] में आकाश के वादलों का द्योतक है।

[1] १. १८१, ८।
[2] अथर्ववेद ४. १५, ७; शतपथ ब्राह्मण ३. २, २, ५; १२. ३, २, ६; 'महा-मेघ', ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; शाङ्खायन आरण्यक ७. ३; ८. ७। क्रिया शब्द 'मेघय्' तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ५, १ में मिलता है और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, ४, १, में 'मेघयन्ती' सात **कृत्तिकाओं** में से एक का नाम है; वेवर : नक्षत्र, २, ३०१, ३६८।

मेथि, अथर्ववेद[1] में मिलता है और स्तम्भ का द्योतक है। विवाह-संस्कार[2] के सम्बन्ध में भी यह शब्द मिलता है जहाँ इससे सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार रथ के स्तम्भों को उपस्तम्भित करनेवाले स्तम्भ का आशय है। ऋग्वेद के एक स्थल पर सम्भवतः इससे शङ्कुवृत्त के रूप में लगे स्तम्भों का आशय है।[3] पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में यह 'मेथी' के रूप में आता है और उस स्तम्भ का द्योतक है जिसमें यज्ञीय गाय बाँधी जाती थी। इस शब्द के विविध अक्षर विन्यास मिलते हैं जैसे 'मेधि', और 'मेठी'।

[1] ८. ५, २०।

[2] अथर्ववेद १४. १, ४०। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६. २, ९, ४; काठक संहिता २५. ८; ऐतरेय ब्राह्मण १. २९, २२; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, ३, २१।

[3] ८. ५३, ५ (रौथ: त्सी० गे० ४८, १०९ द्वारा-'मेधाभिः' के स्थान पर 'मित-मेथीभिः' का अनुमान किया गया है)।

[4] १३. ९, १७। तु० की० जैमिनीय ब्राह्मण १, १९, १ (ज० अ० ओ० सो०, २३, ३२९)।

मेघ, ऋग्वेद[1] के वालखिल्य सूक्त में आनेवाला एक अनिश्चित आशय का शब्द है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार इससे किसी यज्ञकर्त्ता के व्यक्ति-वाचक नाम का तात्पर्य हो सकता है।

[1] ८. ५०, १० (तु० की० ८. ४९, १०) जहाँ निश्चित रूप से यज्ञ के आशय को पर्याप्त माना गया है।

मेधातिथि[1], *मेध्यातिथि*[2], दोनों ही शब्द एक ही व्यक्ति के नाम प्रतीत होते हैं। यह व्यक्ति कण्व का वंशज और प्रसिद्ध वैदिक ऋषि था जिसे अनुक्रमणी द्वारा विभिन्न सूक्तों[3] के प्रणयन का भी श्रेय दिया गया है। ऋग्वेद[4] में ऐसा कथन है कि इन्द्र इसके पास एक मेष के रूप में आये थे: यह पुराकथा उस सुब्रह्मण्या मन्त्र[5] में भी निहित है जिसका यज्ञ कक्ष में सोम को ले जाते

[1] बाद के ग्रन्थों और ऋग्वेद ८. ८, २० में यही रूप है जहाँ यह कण्व के साथ आता है।

[2] ऋग्वेद १. ३६, १०. ११. १७; ८. १, ३०; २, ४०; ३३, ४; ४९, ९; ५१, १; ९. ४३, ३; में यही रूप है।

[3] १. १२-२३; ८. १-३; ३२. ३३; ९. ४१-४३। विभिन्न उल्लेखों में मेधातिथि और मेध्यातिथि का अस्त व्यस्त प्रयोग मिलता है।

[4] ८. २, ४०। तु० की० १. ५१, १, जहाँ यद्यपि मेधातिथि का उल्लेख नहीं है।

[5] जैमिनीय ब्राह्मण २. ७९; षड्विंश ब्राह्मण १. १; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १८; तैत्तिरीय आरण्यक १. १२, ३। इनके अतिरिक्त शाट्यायनक में भी इस कथा का वर्णन है। देखिये ऋग्वेद १. ५१, १; ८. २, ४० पर सायण और ऑर्टेल: ज० अ० ओ० सो०, १६, ccxl। कथा की व्याख्या के लिये तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन ९, ३८ और बाद।

समय पुरोहित उच्चारण करते हैं और जिसमें इन्द्र को 'मेधातिथि का मेष' कहा गया है। यह उस *वत्स* के प्रतिद्वन्द्वी के भी रूप में आता है जिस पर इसने हीन कुलत्व का लांछन लगाया था, किन्तु वत्स ने अग्नि परीक्षा द्वारा इसे इसकी इस त्रुटि का विश्वास दिलाया था (तु० की० *दिव्य*)[६]। अथर्ववेद[७] में इसका अनेक ऋषियों के साथ उल्लेख है और यह अन्यत्र[८] भी एक ऋषि के ही रूप में आता है।

[६] पंचविंश ब्राह्मण १४. ६, ६।
[७] ४. २९, ६।
[८] विभिन्दुकीयों के यज्ञ में गृहपति के रूप में, जैमिनीय ब्राह्मण, ३. २३३ (ज० अ० ओ० सो०, १८, ३८); पञ्चविंश ब्राह्मण १५. १०, १; कौषीतकि ब्राह्मण २८. २।
तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०२, १०५; मैकडौनेल: वैदिक माइथौलोजी, पृ० १४६।

मेध्य, ऋग्वेद[१] के एक सूक्त में किसी प्राचीन यज्ञकर्त्ता का नाम है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[२] में इसे *प्रस्कण्व काण्व* के प्रतिपालक *पृषध्र मेध्य मातरिश्वन्* के नाम में त्रुटिपूर्वक सम्मिलित कर दिया गया है।

[१] ८. ५२, २।
[२] १६. ११, २६।
तु० की० वेबर: ए० रि०, ३९; लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३. १६३।

मेध्यातिथि—देखिये *मेधातिथि*।

मेनका—देखिये २. *मेना*।

१. मेना, ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर 'स्त्री'[१] का द्योतक है। अश्वी[२] अथवा गाय[३] जैसे मादा पशुओं के आशय में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

[१] ऋग्वेद १. ६२, ७; ९५, ६; २. ३९, २।
[२] ऋग्वेद १. १२१, २।
[३] १०. १११, ३।
तु० की० पिशल: इन्डिशे स्टूडियन, २, ३१६, ३१७।

२. मेना[१], अथवा *मेनका*[२] का ऋग्वेद[३] और ब्राह्मणों[४] में *वृषणश्व* की

[१] इस नाम का यही साधारण रूप है।
[२] षड्विंश ब्राह्मण १. १ में यही रूप है जहाँ पुल्लिङ्ग रूप 'मेन' वृषणश्व की एक उपाधि है।
[३] ऋग्वेद १. ५१, १३ जहाँ सायण शाट्यायनक से कथा का उद्धरण देते हैं।
तु० की० ऑर्टेल: ज० अ० ओ० सो०, १६, ccxl।
[४] षड्विंश ब्राह्मण १. १; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १८ तैत्तिरीय आरण्यक १. १२, ३; लाट्यायन श्रौत सूत्र १. ३, १७
तु० की० एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, २६, ८१, नोट।

पुत्री अथवा सम्भवतः पत्नी के रूप में उल्लेख है। इससे सम्बद्ध कथा का अर्थ सर्वथा अज्ञात है। तु० की० *मैनाक* अथवा *मैनाग*।

मेष, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में भेड़े का द्योतक है, जबकि मेषी का अर्थ भेड़[3] है। मुख्यतः सोमरस छानने के लिये व्यवहृत भेड़ के ऊन[4] को व्यक्त करने के लिये भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। वाजसनेयि संहिता[5] में एक 'आरण्य' मेष का भी उल्लेख है।

[1] १. ४३, ६; ११६, १६; ८. २, ४०; १०. २७, १७ इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ६. ४९, २; वाजसनेयि संहिता ३. ५९; १९. ९०; २४. ३०; तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १२, १; षड्विंश ब्राह्मण १. १; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १८ इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. ४३, ६; वाजसनेयि संहिता ३. ५९; २४. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ४, ४ इत्यादि।
[4] 'मेष', ऋग्वेद ८. ८६, ११; 'मेषी', ९. ८, ५; ८६, ४७; १०७, ११।
[5] २४. ३०।
तु० की० हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १७, ६६; ६७।

मेहत्नू, ऋग्वेद[1] में नदी स्तुति में एक नदी का नाम है। प्रत्यक्षतः यह *सिन्धु* की एक सहायक नदी थी और *क्रुमु* तथा *गोमती* (गोमल) के पहले ही सिन्धु में मिलती थी। अनुमानतः यह क्रुमु की ही सहायक नदी रही होगी।

[1] १०. ७५, ६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १४; मूइर : संस्कृत टेक्सट्स ५, ३४४।

मैत्रायणीय ब्राह्मण, एक वैदिक ग्रन्थ का नाम है जिसका बौधायन[1] के शुल्व सूत्र में उल्लेख है।

[1] बौधायन श्रौतसूत्र ३२. ८।
तु० की० कैलेण्ट : ऊ० बौ०, ४१, जो मैत्रायणी संहिता में इसका उल्लेख नहीं पाते।

मैत्रेय, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *कौषारव* का पैतृक अथवा मातृनामोद्भृत[2] नाम है। छान्दोग्य उपनिषद्[3] में यह *ग्लाव* के लिए भी व्यवहृत हुआ है।

[1] ८. २८, १८।
[2] पाणिनि ६. ४, १७४; ७. ३, २; के अनुसार मित्रयु से निष्कृष्ट पैतृक नाम। छान्दोग्य उपनिषद् १. १२, १ के भाष्यकार के अनुसार 'मित्रा' से निष्कृष्ट मातृनामोद्भृत नाम।
[3] १. १२, १; गोपथ ब्राह्मण १. १, ३१ और बाद; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद ११०।

मैत्रेयी, बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ४, १ और बाद; ४. ५, २ और बाद) के अनुसार *याज्ञवल्क्य* की पत्नियों में से एक का नाम है।

मैनाक (*मेनका* का वंशज) तैत्तिरीय आरण्यक[1] में हिमालय के अन्तर्गत एक पर्वत का नाम है। मैनाग के रूप में इसका एक विभेदात्मक पाठ भी मिलता है।

[1] १. ३१, २। तु० को० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. ७८; इन्डियन लिटरेचर ९३।

मैनाल, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका के अन्तर्गत आता है। जैसा कि सायण[2] और महीधर[3] व्याख्या करते हैं, इसका अर्थ स्पष्टतः मछुआ ('मीन' अर्थात् मछली से निष्कृष्ट) है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर।
[3] वाजसनेयि संहिता उ० स्था० पर।

मौजवत—देखिये *मूजवन्त्*।

मौद्गल्य (*मुद्गल* का वंशज), अनेक व्यक्तियों, जैसे *नाक*[1], *शतबलाक्ष*[2], और *लाङ्गलायन*[3] का पैतृक नाम है। *ग्लाव मैत्रेय* के साथ विवाद करते हुये एक *ब्रह्मचारिन्* का भी गोपथ ब्राह्मण[4] में इसी नाम से उल्लेख है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १२. ५, २, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, ४; तैत्तिरीय उपनिषद् १. ९, १।
[2] निरुक्त ११. ६।
[3] ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३, ८।
[4] १. १, ३१; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, ११०। तु० की० कैलेण्ड : ऊ० वौ०, ३५।

मौन ('मुनि' का वंशज) कौषीतकि ब्राह्मण (२३. ५) में *अरुणीचिन्* का पैतृक नाम है।

मौषिकी-पुत्र ('मूषिका' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३०) के अन्तिम वंश में *हारिकर्णीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

म्लेच्छ शतपथ ब्राह्मण[1] में बर्बर भाषा के आशय में आता है। इस स्थल पर ब्राह्मणों को बर्बर भाषा के प्रयोग से वर्जित किया गया है। ऐसी भाषा के लिये 'हेऽलवो' का उदाहरण[2] दिया गया है जिसकी सायण ने

[1] ३. २, १, २४।
[2] ३. २, १, २३।

'हेऽरयः' (हे शत्रुओं) के रूप में व्याख्या की है। यदि यह ठीक है—काण्व शाखा में एक भिन्न पाठ[3] है—तो यहाँ उद्दिष्ट वर्वरों से ऐसे आर्यों का ही तात्पर्य है जो संस्कृत नहीं वरन् प्राकृत भाषा बोलते थे।[4] तु० की० वाच् ।

[3] देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६, ३१, नोट ३ ।
[4] वेवर : इण्डियन लिटरेचर १८०; तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक १७९, १८०, १९६ ।

य

यक्षु, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] के अनेक ऐसे स्थलों पर मिलता है जहाँ देशीय भाष्यकारों के साथ सहमत होते हुए लुडविग[3] इस शब्द में एक भोजनोत्सव अथवा किसी पवित्र आयोजन का आशय देखते हैं। फिर भी, किसी भी स्थल पर ऐसा आशय अत्यन्त संदिग्ध है।[4]

[1] १. १९०, ४; ४. ३, १३; ५. ७०, ४; ७. ५६, १६; ६१, ५; १०. ८८, १३ ।
[2] ८. ९, २५; १०. २, ३२; ७, ३८; ८, ४३; ११. २, २४ इत्यादि ।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २६२ ।
[4] तु० की० सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० और गेल्डनर द्वारा पूर्ण विवेचन : वेदिशे स्टूडियन ३, २२६-१४३ ।

यक्षु का एक वार एकवचन में और एक वार वहुवचन में ऋग्वेद[1] के उस सूक्त में उल्लेख है जिसमें दस राजाओं के विरुद्ध सुदास् के युद्ध की प्रशस्ति की गई है। यह कौन थे और उस युद्ध में इनका क्या योगदान था यह सर्वथा अनिश्चित है। मूलपाठ के शब्द-विन्यास द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने, जैसा कि त्सिमर[2] का कथन है, दो संघर्षों में—एक परुष्णी (रवि) और दूसरा यमुना के तटों पर—भेद के नेतृत्व में अजों और शिग्रुओं की सहायता से भाग लिया था। फिर भी कम से कम यह सम्भव है कि प्रथम स्थल पर 'यक्षु' के स्थान पर यदु पढ़ा जाय, अथवा जैसा कि हॉपकिन्स[3] का विचार है, निश्चित रूप से प्रसिद्ध यदुओं के नाम के स्थान पर यक्षु को किसी अनार्य अथवा असहत्त्वपूर्ण जाति (जैसा कि इनके

[1] ७. १८, ६. १९ ।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन १२६, १२७
[3] ज० अ० ओ० सो० १५, २५९ और वाद। फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि हॉपकिन्स के विचार से यहाँ यदुओं का ही तात्पर्य है अथवा नहीं, किन्तु ऐसा सम्भव प्रतीत होता है।

मित्र अज और शिग्रुगण स्पष्टतः थे) के भर्त्सनात्मक स्थानापन्न नाम के रूप में ग्रहण कर लिया जा सकता है। तु० की० *तुर्वश*।

यक्ष्म, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में अक्सर सामान्य रूप से एक ऐसी व्याधि का द्योतक है जिसमें शरीर अक्षम हो जाता है। वाजसनेयि संहिता[3] में यक्ष्म के सौ प्रकारों का उल्लेख है और काठक संहिता[4] में 'अ-यक्ष्म' का अर्थ 'व्याधि-मुक्त' है। यजुर्वेद संहिताओं[5] में यक्ष्म की उत्पत्ति का विवरण मिलता है जहाँ इसके तीन प्रकार निश्चित किये गये हैं—*राज-यक्ष्म*, पाप-यक्ष्म और *जायेन्य*। इन नामों में से द्वितीय अन्यत्र अज्ञात है और इसकी कदाचित् ही परिभाषा की जा सकती है क्योंकि इसका अर्थ केवल 'गम्भीर अथवा घातक व्याधि' मात्र है।

[1] १. १२२, ९; १०. ८५, ३१; ९७, ११. १२; १३७, ४; १६३, १-६।

[2] २. १०, ५. ६; ३. ३१, १; ५. ४, ९; ३०, ६; ८. ७, २; ९. ८, ३. ७. १०; १२. २, १. २; ४, ८; १९. ३६, १; ३८, १।

[3] १२. ९७।

[4] १७. ११।

[5] तैत्तिरीय संहिता २. ३, ५, २; ५, ६, ५; काठक संहिता ११. ३; मैत्रायणी संहिता २. २, ७; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ३, ९।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३७५ और बाद; ग्रॉहमैन : इन्डिशे स्टूडियन ९, ४००; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद ६०; जॉली : मेडिसिन, ८९।

यजत, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में आता है जहाँ यह सम्भवतः कोई ऋषि या यज्ञकर्त्ता है।

[1] ५. ४४, १०. ११। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८।

यजुर्-वेद (यजुस्) का ब्राह्मणों[1] और उपनिषदों[2] में बहुधा उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ९, १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३२, १; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ८, ३; १२. ३, ४, ९।

[2] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ३. ५; शाङ्खायन आरण्यक ८. ३. ८; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५. ५; २. ४, १०; ४. १, २; ५, ११; छान्दोग्य उपनिषद् १. ३, ७; ३. २, १. २; १५, ७; ७. १, २. ४; २, १; ७, १; आश्वलायन १०. ७, २; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. श्रौतसूत्र २, ६ इत्यादि।

यजुस् का वैदिक साहित्य[1] में *ऋच्* और *सामन्* के साथ बहुधा विभेद किया गया है। यजुस् के अन्तर्गत यज्ञ के समय उच्चरित मन्त्र आते हैं जिनका स्वरूप गद्यात्मक या पद्यात्मक दोनों ही हो सकता है और इस शब्द के द्वारा यह दोनों ही अर्थ व्यक्त होते हैं।

[1] ऋग्वेद १०, ९०, ९; अथर्ववेद ५. २६, १; ९. ६, २; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ३, १; ९, ४; वाजसनेयि संहिता १. ३०; ४. १; १९. २८; ऐतरेय ब्राह्मण १. २९, २१; ८. १३, २; शतपथ ब्राह्मण १. २, १, ७; ६. ५, १, २; ३, ४, इत्यादि। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, ३३ में **वाजसनेय याज्ञवल्क्य** द्वारा प्रतिपादित (शुक्लानि यजूंषि) का सन्दर्भ मिलता है जिससे ही वाजसनेयि संहिता साधारणतया शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रचलित है। इसके सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को कि इसका कारण वाजसनेयि संहिता के मन्त्रभाग के साथ ब्राह्मण स्थल का संयुक्त न होना है यद्यपि वेबर: इन्डियन लिटरेचर १०३, १०४; एग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, xxvii तथा अन्य ने स्वीकृत कर लिया है, तथापि अब इसका परित्याग कर देना चाहिये। तैत्तिरीय आरण्यक ५. १०, में 'शुक्र-यजूंषि' व्याहृति द्वारा इसी आरण्यक के चौथे और पाँचवें भागों का तात्पर्य प्रतीत होता है। तु० की० विन्टरनिज़: गे० लि० १, १४९ नोट।

यज्ञ-गाथा, किसी भी प्रकार[1] के यज्ञ से सम्बन्धित *गाथा* का, अथवा जैसा कि महाभारत[2] में इसका वर्णन है, यज्ञ के सम्बन्ध में गाये गये श्लोकों (गाथा यज्ञ-गीता) का द्योतक है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४३, ५; आश्वलायन श्रौतसूत्र २. १२, ६; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ८, २६; ९, ६, इत्यादि

[2] १२. ७९१. २३१६।

यज्ञ-वचस् राजस्तम्बायन ('राजस्तम्ब' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार *तुर कावषेय* के शिष्य, एक गुरु का नाम है। मैत्रायणी संहिता[2] में भी इसका उल्लेख है।

[1] १०. ४, २, १; ६, ५, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५, ४ काण्व।

[2] ३. १०, ३; ४. ८, २।

यज्ञ-सेन का यजुर्वेद संहिताओं[1] में *चैत्र* अथवा *चैत्रियायण* पैतृक नाम सहित एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ३, ८, १ (चैत्रियायण); काठक संहिता २१. ४ (चैत्र)।

यज्ञेषु, तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में किसी व्यक्ति का नाम है। यज्ञ के ठीक-ठीक मुहुर्त्त से परिचित इसके *मात्स्य* नामक पुरोहित ने इसे सम्पन्न बनने में सहायता प्रदान की थी।

[1] १. ५, २, १। तु० की० वेवर : नक्षत्र, २, ३०६।

यज्ञोपवीत, यज्ञ के समय वायें कन्धे पर से 'जनेऊ' धारण करने का द्योतक है और इसका तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] जैसे प्राचीन ग्रन्थ तक में उल्लेख मिलता है। फिर भी, तिलक[2] का विचार है कि मूलतः, धागे का यज्ञोपवीत नहीं वरन्, एक प्रकार का वस्त्र (*वासस्*) अथवा मृग चर्म (*अजिन*) धारण किया जाता था। यह बहुत कुछ सम्भव प्रतीत होता है।

[1] ३. १०, ९, १२। तु० की० तैत्तिरीय संहिता २. ५, ११, १; शतपथ ब्राह्मण २. ४, २, १; ६, १, १२; और प्राचीनावीत।

[2] तैत्तिरीय आरण्यक २. १, और मीमांसकों (जैमिनीय न्यायमाला-विस्तर, ३. ४, १) के मत को उद्धृत करते हुए, ओरायन, १४५ और बाद। काल-पुरुष के कटिबन्ध सम्बन्धी उस सर्वथा असंगत विचार से यह मत प्रभावित नहीं हुआ है, जिसका इस ग्रन्थ में उल्लेख है। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ३६१, ४२४।

यति, एक प्राचीन कबीले का नाम है जिसे ऋग्वेद[1] के उन दो स्थलों पर *भृगुओं* के साथ सम्बद्ध किया गया है जहाँ यति-गण निश्चित रूप से वास्तविक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। फिर भी, एक अन्य सूक्त[2] में यह प्रायः पौराणिक प्रतीत होते हैं। यजुर्वेद संहिताओं[3] और अन्यत्र[4] भी यतिगण एक ऐसी जाति के लोग हैं जिन्हें इन्द्र ने एक अशुभ मुहूर्त में लकड़बग्घों (*सालावृक*) को दे दिया था : यहाँ ठीक-ठीक क्या तात्पर्य है यह अनिश्चित है। यति का भृगु के साथ सामवेद[4] के एक मन्त्र में भी उल्लेख है।

[1] ८. ३, ९; ६, १८; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६५, नोट।

[2] १०. ७२, ७।

[3] तैत्तिरीय संहिता २. ४, ९, २; ६. २, ७, ५; काठक संहिता ८. ५; ११. १०; २५. ६; ३६. ७; पञ्चविंश ब्राह्मण ८. १, ४; १३. ४. १६; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २८, १; कौषीतकि उपनिषद् १. ३, इत्यादि; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४३७ और बाद।

[4] २. ३०४। अथर्ववेद २. ५, ३, के एक समानान्तर स्थल पर 'यतीर्' पाठ मिलता है जो 'यतीन्' के स्थान पर अथवा स्वतन्त्र रूप से ही एक त्रुटि है। तु० की० मूइर : उ० पु० ५, ४९, नोट ९२; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४४; आश्वलायन श्रौतसूत्र ६. ३, १।

तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १४६।

यदु, एक जाति तथा उसके राजा का नाम है। इस जाति के लोगों का ऋग्वेद[1] में बहुधा और सामान्यतया *तुर्वश* के साथ-साथ उल्लेख है। *सुदास्* के विरुद्ध महायुद्ध में भी इन लोगों ने भाग लिया था :[2] इस युद्ध में यदु तथा तुर्वश राजा अपनी जान बचाकर भाग निकले थे, जब कि *अनु* और *द्रुह्यु* राजा मारे गये थे। अनेक स्थलों[3] की कम से कम यही सर्व-स्वाभाविक व्याख्या है, यद्यपि इन स्थलों पर सम्भवतः *सरयु* के उस पार सफल आक्रमण तथा अर्ण और चित्ररथ[4] नामक दो राजाओं की पराजय का सन्दर्भ है। तुर्वश का एक यदु-राजा होना, जैसा कि हॉपकिन्स[5] मानते हैं, अत्यन्त असम्भाव्य है।

[1] १. ३६, १८; ५४, ६: १७४, ९; ४. ३०, १७; ५. ३१, ८; ६. ४५, १; ८. ४, ७; ७, १८; ९, १४; १०, ५; ४५, २७; ९. ६१, २; १०. ४९, ८; बहुवचन में, १. १०८, ८। देखिये तुर्वश, और हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २५८ और बाद।

[2] ऋग्वेद ७. १८, ६, में 'यदु' पढ़ना चाहिये अथवा नहीं यह निश्चित नहीं; सम्भवतः 'यदुओं' का अर्थ है। तु० की० यक्षु।

[3] ऋग्वेद १. १७४, ९; ४. ३०, १७; ५. ३१, ८; ६. २०, १२।

[4] ऋग्वेद ४. ३०, १८।

[5] उ० स्था०।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२२, १२४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०५; ४, १४२; वेबर : ऐ० रि० ३७।

यन्तृ, ऋग्वेद[1] और सूत्रों[2] में रथाश्वों को हाँकने वाले अथवा 'सारथी' का द्योतक है।

[1] १. १६२, १९; १०. २२, ५।

[2] कात्यायन श्रौतसूत्र १५. ६, २९, इत्यादि

यम, यमजों का द्योतक है जिनके जन्म का वैदिक साहित्य[1] में अक्सर उल्लेख है। 'यमौ मिथुनौ'[2] व्याहृति से सम्भवतः विषम-लैङ्गिक यमजों का तात्पर्य है। इस विश्वास के भी अनेक चिह्न हैं—नीग्रो तथा अन्य जातियों में भी व्यापक रूप से प्रचलित—कि यमज अद्भुत तथा अशुभसूचक[3] होते हैं,

[1] ऋग्वेद १. ६६, ४; १६४, १५; २. ३९, २; ३. ३९, ३; ५. ५७, ४; ६. ५९, २; १०. १३, २; ११७, ९; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. ४, १० इत्यादि।

[2] काठक संहिता १३. ४; निरुक्त १२. १०।

[3] अथर्ववेद ३. २८; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ९, ८; कात्यायन श्रौत सूत्र २५. ४, ३५; शाङ्खायन श्रौतसूत्र ३. ४, १४ इत्यादि। तु० की० यमसू; युक्ताश्व।

किन्तु इसके विपरीत यमजों के शुभ सूचक[४] होने के विश्वास के भी अनेक संकेत मिलते हैं।

[४] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण २४, १२, ३; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ८, और तु० की० ऋग्वेद ३. ३९, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २९८. ३००; नक्षत्र, २, ३१४, नोट।

यम-नक्षत्र—देखिये *नक्षत्र*।

यम-सू (यमजों का वाहक) यजुर्वेद[१] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है।

[१] वाजसनेयि संहिता ३०. १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ११, १।

यमुना एक नदी का नाम है जिसे गङ्गा के समानान्तर बहने के कारण इस नाम से पुकारा गया है। इसका ऋग्वेद[१] में तीन वार उल्लेख है और बाद में भी बहुत दुर्लभ नहीं। ऋग्वेद[२] के अनुसार *तृत्सुओं* और *सुदास्* ने यमुना के तट पर अपने शत्रुओं पर एक महान् विजय प्राप्त की थी। हॉपकिन्स[3] के इस विचार को स्वीकार करने का कोई आधार[४] नहीं है कि यहाँ यमुना वास्तव में *परुष्णी* (रवि) का ही दूसरा नाम है। अथर्ववेद[५] में, उपयोगी होने के रूप में यमुना के *आञ्जन* का *त्रिककुद्* के अञ्जन के साथ-साथ उल्लेख है। ऐतरेय[६] और शतपथ[७] ब्राह्मणों में यमुना के तट पर *भरतों* के विजयी होने की प्रसिद्धि है। अन्य ब्राह्मणों[८] में भी इस नदी का उल्लेख है। मन्त्रपाठ[९] में ऐसा कथन है कि *साल्व-गण* इसी के तट पर रहते थे।

[१] ५. ५२, १७; ७. १८, १९; १०. ७५, ५।
[२] ७. १८, १९। देखिये **भरत** और **कुरु**।
[3] इन्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, ५२।
[४] तृत्सुओं का क्षेत्र यमुना के पूर्व तथा **सरस्वती** के पश्चिम के बीच के क्षेत्र में स्थित था।
[५] ४. ९, १०।
[६] ८. २३।
[७] १३. ५, ४, ११।
[८] पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ४, ११। (तु० की० **पारावत**), २५. १०, २४; १३, ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. २९, २५. ३३; कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ६, १०. ३९; लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १९, ९. १०; आश्वलायन श्रौत सूत्र, १२. ६, २८ इत्यादि।
[९] २. ११, १२। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, ५; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३२३।

ययाति का ऋग्वेद[1] में एक बार एक प्राचीन यज्ञकर्त्ता के रूप में और एक बार प्रत्यक्षतः *नहुष* नामक राजा के वंशज, नहुष्य के रूप में उल्लेख है। पुरु के साथ इसके सम्बन्ध का, जैसा कि महाकाव्य[2] में है, कोई चिह्न नहीं मिलता। इसलिये महाकाव्य की परम्परा को निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण मानना चाहिये।

[1] १. ३१, १७; १०. ६३, १।
[2] तु० का० : लुडविग ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४७; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], २३२।

१. यव, ऋग्वेद[1] में केवल 'जौ' के लिये ही नहीं वरन् किसी भी अन्न के लिये प्रयुक्त जातिवाचक शब्द है। 'जौ' का आशय कदाचित् अथर्ववेद[2] में मिलता है और बाद में सर्वथा प्रचलित हो गया है। जौ की फसल वसन्त[3] ऋतु के बाद ग्रीष्म[4] ऋतु में तैयार होती थी। यद्यपि यह निश्चित नहीं कि ऋग्वेदिक काल[5] में भी जौ की खेती होती थी, तथापि यह बहुत सम्भव[6] प्रतीत होता है।

[1] १. २३, १५; ६६, ३; ११७, २१; १३५, ८; १७६, २; २. ५, ६; १४, ११; ५. ८५, ३; ७. ३, ४; ८. २, ३; २२, ६; ६३, ९; ७८, १० इत्यादि।
[2] २. ८, ३; ६. ३०, १; ५०, १. २; ९१, १; १४२, २; १४१, १. २; ८. ७, २०; ९. १, २२; ६, १४; १२. १, ४२; तैत्तिरीय संहिता ६. २, १०, ३; ४, १०, ५; ७. २, १०, २; काठक संहिता २५. १०; २६. ५; मैत्रायणी संहिता ४. ३, २; वाजसनेयि संहिता ५. २६; १८. १२; २३. ३०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ४, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, २०; २. ५, २, १; ३. ६, १, ९. १०; ४. २, १, ११; १२. ७, २, ९; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४, ३, इत्यादि; कौषीतकि ब्राह्मण ४. १२।
[3] कौषीतकि ब्राह्मण ४. १३।
[4] तैत्तिरीय संहिता ७. २, १०, २।
[5] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ८६, नोट।
[6] अन्न के बोने (वप्) का ऋग्वेद १. ११७, २१ में; अन्न के पकने का १. १३५, ८ में, और जुताई (कृष्) का १. १७६, २ में, उल्लेख है। २. ५, ६ में अन्न के वर्षा में अच्छी तरह उपजने का सन्दर्भ है। देखिये कृषि।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, २८२; कुन : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५५, ३५६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३८, २३९।

२. यव—देखिये *मास*।

यवस, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उस घास का द्योतक है जिसे पशु खाते हैं और जो दावाग्नि[3] में भस्म हो जाती है।

[1] १. ३८, ५; ९१, १३; ३. ४५, ३; ४. ४१, १०; ४२, ५; ७. १८, १०; ८७, २; ९३, २; १०२, १, इत्यादि।
[2] वाजसनेयि संहिता २१. ४३, इत्यादि।
[3] तु० की० अग्नि, 'यवसाद्', ऋग्वेद १. ९४, ११ में। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ४७; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ८७।

यवागू का अर्थ 'जौ का हलुआ'[1] है। अन्य प्रकार के अन्न[2] से बने क्वाथ के लिये भी इसका प्रयोग किया गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ५, २; काठक संहिता ११. २; तैत्तिरीय आरण्यक २. ८, ८; कौषीतकि ब्राह्मण ४. १३, इत्यादि।
[2] जर्तिल और गवीधुक का, तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ३, २।

यवाशिर्, ऋग्वेद[1] में *सोम* की एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ 'अन्न-मिश्रित' है।

[1] १. १८७, ९; २. २२, १; ३. ४२, ७; ८. ९४, ४। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १. २२७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७९।

यवाप—देखिये *येवाष*।

यव्य, शतपथ ब्राह्मण (१. ७, २, ४६) में मास का द्योतक है (शब्दार्थ, 'प्रथमार्धं से युक्त', देखिये २. *यव*)

यव्यावती, ऋग्वेद[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में एक नदी का नाम है। हिलेब्राण्ट[3] का विचार है कि यह नदी इर्याब (हलियाब) के निकट स्थित ईरान की जूब (जूव) नदी है, किन्तु इस समीकरण को स्वीकार करने के लिये कोई आधार नहीं है।

[1] ६. २७, ६।
[2] २५. ७, २।
[3] वेदिशे माइथौलोजी, ३, २६८, नोट १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १८, १९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०४; केगी : ऋग्वेद, नोट ३३८; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १६८, नोट १।

यशस्विन् जयन्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) में *कृष्णरात त्रिवेद लौहित्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

यष्टि (डंडा या छड़ी) का ब्राह्मणों के बाद के अंशों में उल्लेख है।[1]

[1] शतपथ ब्राह्मण २. ६, २, १७ ('वेणु' अर्थात् बाँस का); बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, ७; कौषीतकि उपनिषद् ४. १९, इत्यादि।

यस्क एक व्यक्ति का नाम है। गिरिक्षित् के वंशज (गैरिक्षिताः) यस्कों का काठक संहिता[1] में उल्लेख है तु० की० *यास्क*।

[1] १३. १२। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३. ४७५ और बाद; ८, २४५ और बाद; इन्डियन लिटरेचर ४१, नोट ३०।

याज्ञ-तुर ('यज्ञतुर' का वंशज), शतपथ ब्राह्मण[1] में २. *ऋषभ* का पैतृक नाम है।

[1] १२. ८, ३, ७; १३. ५, ४, १५; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ९, ८. १०।

याज्ञ-वल्क्य ('यज्ञवल्क्य' का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[1] में सांस्कारिक समस्या सम्बन्धी एक अधिकारी विद्वान् के रूप में बहुधा उल्लेख है। फिर भी बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में इसे दार्शनिक समस्याओं का विद्वान होने का भी श्रेय दिया गया है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ओल्डेनबर्ग[3] का यह विचार ठीक है कि उक्त बाद की स्थिति में याज्ञवल्क्य के उल्लेख को बहुत अधिक महत्व प्रदान नहीं किया जा सकता। इसे उस *उद्दालक आरुणि*[4] का शिष्य बताया गया है जिसे इसने शास्त्रार्थ में परास्त किया था।[5] बृहदारण्यक उपनिषद्[6] में इसकी *मैत्रेयी* और *कात्यायनी* नामक दो पत्नियों का भी उल्लेख

[1] १. १, १, ९; ३, १, २१. २६; ९, ३, १६; २. ३, १, २१; ४, ३, २; ५, १, २ (जहाँ इसे ऋग्वेद का विरोधी बताया गया है); ३. १, १, ४; २, २१; ३, १०; ८, २, २४ (चरक नामक गुरु द्वारा शापित); ४. २, १, ७; ६, १, १०; ८, ७, इत्यादि। ५–९ काण्डों में याज्ञवल्क्य का कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत इन काण्डों के सिद्धान्तों के निर्माण का श्रेय तुर कावषेय तथा शाण्डिल्य को दिया गया है; किन्तु १०–१४ काण्डों में याज्ञवल्क्य की पुनः प्रसिद्धि है—उदाहरण के लिये देखिये ११. ३, १, २; ४, २, १७; ३, २०; ६, २, १; ३, १; १२. ४, १, १०, इत्यादि।

[2] ३. १, २ और बाद; २, १० और बाद; ३, १; ४, १; ५, १; ६, १; ७, १ इत्यादि।

[3] बुद्ध[5], ३४, नोट १।

[4] ६, ४, ३३ (माध्यन्दिन = ६. ५, ४ काण्व)।

[5] ३. ७, १।

[6] २. ४, १; ४. ५, १ और बाद।

है। बृहदारण्यक उपनिषद् के निष्कर्ष[७] के अनुसार याज्ञवल्क्य वाजसनेय को शुक्ल यजुर्वेद (शुक्लानि यजूंषि) के प्रणयन का भी श्रेय दिया गया है। यह उल्लेखनीय है कि याज्ञवल्क्य का, शाङ्खायन आरण्यक के अपवाद सहित, शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी भी अन्य वैदिक ग्रन्थ में उल्लेख नहीं है। शाङ्खायन आरण्यक[८] में भी जो दो सन्दर्भ मिलते हैं वह शतपथ[९] से ही गृहीत हैं। औल्डेनबर्ग[१०] तथा अन्य विद्वानों ने यह माना है कि याज्ञवल्क्य *विदेह* के रहने वाले थे किन्तु जनक द्वारा इन्हें संरक्षण प्रदान करने की कथा के विपरीत भी *उद्दालक* और *कुरु-पञ्चाल* के साथ इनका सम्बन्ध इस तथ्य को संदिग्ध बना देता है।

[७] ६. ४, ३३ (माध्यन्दिन = ६. ५, ४ काण्व)।
[८] ९. ७; १३. १।
[९] वेबर : इन्डियन लिटरेचर १३२, नोट*; कीथ : ज० ए० सो०, १९०८, ३७४।
[१०] बुद्ध,[५] ३४, नोट १।
तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १२० और बाद; इन्डिशे स्टूडियन १, १७३; १३, २६५–२६९; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xxx और बाद; फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, १८८।

याज्या, बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में यज्ञ के समय उच्चरित शब्दों का द्योतक है।

[१] तैत्तिरीय संहिता १. ५, २, १; ६, १०, ५; वाजसनेयि संहिता १९. २०; २०. १२, इत्यादि।
[२] ऐतरेय ब्राह्मण १. ४, ८; ११, १०; २. १३, २; २६, ३. ५. ६; ४०, ८; ३. ३२, १; शतपथ ब्राह्मण १. ४, २, १९; ३. ४, ४, २; ७. २, ७, ११, इत्यादि।

यातु-धान ऋग्वेद[१] और बाद[२] में एक ऐन्द्रजालिक का द्योतक है। ऋग्वेद[३] का आशय स्पष्टतः इन्द्रजाल के प्रतिकूल है। स्त्रीलिङ्ग 'यातुधानी' का भी ऋग्वेद और बाद में उल्लेख है।[४]

[१] १. ३५, १०; १०. ८७, २. ३. ७. १०; १२०, ४।
[२] अथर्ववेद १. ७, १; ४. ३, ४; ६. १३, ३; ३२, २; ७. ७०, २; १९, ४६, २; काठक संहिता ३७. १४; वाजसनेयि संहिता १३. ७; शतपथ ब्राह्मण ७. ४, १, २९, इत्यादि।
[३] ७. १०४, १५।
[४] १. १९१, ८; १०. ११८, ८; अथर्ववेद १. २८, २४; २. १४, ३; ४. ९, ९; १८, १७; १९. ३७, ८, इत्यादि।
तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, २६, ६५ और बाद।

यातु-विद्, जो कि बहुवचन में 'इन्द्रजाल वेत्ताओं' का द्योतक है, शतपथ ब्राह्मण[1] में अथर्ववेद का वाचक है।

[1] १०. ५, २, २०। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद का अनुवाद xxii; अथर्ववेद, १. ८, ९, २३।

याद्व (*यदु* का वंशज) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर एक यदु राजा का द्योतक है, जब कि याद्वों[2] की मुक्त-हस्तता का अन्यत्र उल्लेख है। एक अन्य स्थल पर *यदुओं अथवा याद्वों के पशु का भी उल्लेख है।*[3] तु० की० *यदु*।

[1] ७. १९, ८।
[2] ऋग्वेद ८. ६, ४६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, १४२।
[3] ऋग्वेद ८. १, ३१। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर ३; ऐ० रि०, ३७।

यान ऋग्वेद[1] और बाद[2] में किसी भी गाड़ी का द्योतक है।

[1] ४. ४३, ६।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ३, ७; षड्विंश ब्राह्मण ६. ३, १०; छान्दोग्य उपनिषद् ८. १२, ३, इत्यादि।

याम बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है और अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर रौथ[2] के अनुसार उन नक्षत्रों का द्योतक है जिनके बीच सूर्य (भग) भ्रमण करता है। किन्तु ब्लूमफील्ड[3] और ह्विटने[4] इससे रात के प्रहरियों का तात्पर्य मानते हैं जो बाद की भाषा में इसका नियमित आशय है।

[1] ६. २१, २।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, १ (घ)।
[3] अथर्ववेद के सूक्त, ३०।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद, ३९६।

यामन्, ऋग्वेद[1] में किसी युद्ध में अभियान अथवा चढ़ाई करने का द्योतक है।

[1] ४. २४, २; ७. ६६, ५; ८५, १; ९. ६४, १०; १०. ७८, ६; ८०, ५।

यायावर[1] यजुर्वेद संहिताओं[2] में ऐसे व्यक्ति का द्योतक है जिसका कोई निश्चित आवास न हो।

[1] 'या' (जाना) से व्युत्पन्न शब्दार्थ 'इधर-उधर फिरना'।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. २, १, ७; काठक संहिता १९. १२।

याव—देखिये *मास* ।

यास्क ('यस्क' का वंशज) का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *आसुरायण* के सम-सामयिक और *भारद्वाज* के गुरु के रूप में उल्लेख है। निरुक्त[2] का लेखक, यास्क यही व्यक्ति था अथवा नहीं यह कह सकना असम्भव है।

[1] २. ५, २१; ४. ५, २७ (माध्यन्दिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।
तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १२८।

[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य १७. २५; वेबर : उ० पु० २५, २६, इत्यादि; इन्डिशे स्टूडियन १. १७, १०३; ३, ३९६; ८, २४३, इत्यादि; इन्डियन लिटरेचर ४१, नोट ३०।

यु, जो कि द्विवाचक के रूप में आता है, शतपथ ब्राह्मण (३. ७, ४, १०) में जुते हुये या सन्नद्ध पशुओं का द्योतक है।

युक्, शतपथ ब्राह्मण (६. ७, ४, ८; १२. ४, १, २) में बैलों के 'जूये' का द्योतक है। तु० की० *१. युग*।

युक्ताश्व का, उस व्यक्ति के नाम के रूप में उल्लेख है जिसे पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक सामन् का द्रष्टा बताया गया है। ऐसा कथन है कि इसने यमजों के एक जोड़े का परित्याग कर दिया था[2], किन्तु हॉपकिन्स[3] का विचार है कि यहाँ शिशुओं के बदलने मात्र का आशय है।

[1] ११. ८, ८।

[2] तु० की० वेबर : नक्षत्र, २, ३१४, नोट, जिनका इस स्थल के सम्बन्ध में सायण के समान ही विचार है। तु० की० *यम*।

[3] ट्रा० सा०, १५, ६१, ६२।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १६०।

१. युग, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'जूये' (बैलों को सन्नद्ध करने के लिये प्रयुक्त एक उपकरण) का द्योतक है। तु० की० *रथ*।

[1] १. ११५, २; १८४, ३; २. ३९, ४; ३. ५३, १७; ८. ८०, ७; १०, ६०, ८; १०१, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. १, ४०; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, २४. ३४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १, ३।

२. *युग*, ऋग्वेद[1] में अक्सर एक 'पीढ़ी' का द्योतक है; किन्तु एक स्थल[2] पर *दीर्घतमस्* के लिये व्यवहृत 'दशमेयुगे' व्याहृति का अर्थ जीवन का 'दसवाँ दशक' होना चाहिये।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में पाँच-पाँच वर्षों के युग-चक्रों का कोई भी सन्दर्भ नहीं है (देखिये *संवत्सर*)। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश में, तथा त्सिमर[3] और अन्य व्यक्तियों द्वारा उद्धृत पञ्चविंश ब्राह्मण[4] का स्थल उसके भाष्य में केवल किसी आधुनिक ग्रन्थ से दिया गया उद्धरण मात्र है।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थ युगों की उन धारणाओं से भी परिचित नहीं जो बाद में सामान्य रूप से मिलती हैं। अथर्ववेद[5] में क्रम से एक सौ वर्ष, एक 'आयुत' (१०,००० ?), और उसके बाद २, ३ अथवा ४ युगों का उल्लेख है : इससे यह निष्कर्ष प्रतीत होता है कि युग आयुत से बड़ा होता था, किन्तु यह बहुत निश्चित नहीं है। त्सिमर[6] ऋग्वेद[7] से एक उद्धरण देते हैं किन्तु उसमें चाहे किसी भी अन्य वस्तु का सन्दर्भ हो[8], किन्तु चार युगों का (तु० की० *त्रियुग* भी)[9] तो कदापि नहीं। तैत्तिरीय *ब्राह्मण*[10] समय की दीर्घ अवधियों को व्यक्त करता है, जैसे एक स्थल पर १,००,००० वर्षों का उल्लेख है।

[1] 'युगे-युगे' (प्रत्येक युग में), १. १३९, ८; ३. २६, ३; ६. ८, ५; १५, ८; ३६, ५; ९. ९४, १२; 'उत्तरा युगानि' (भावीयुग), ३. ३३, ८; १०. १०, १०; 'पूर्वाणि युगानि', ७. ७०, ४; 'उत्तरे युगे', १०. ७२, १, इत्यादि। १. ९२, ११; १०३, ४; ११५, २; १२४, २; १४४, ४, इत्यादि में 'मनुष्यों की पीढ़ियाँ' (मनुष्या, मानुषा, मनुषः, जनानाम्) वाक्पद का संदर्भ मिलता है। देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४५, ४६।

[2] १. १५८, ६। विलसन के अनुवाद (२, १०४, नोट) में यह विचार व्यक्त किया गया है कि यहाँ युग का अर्थ पाँच वर्षों की एक इकाई है; किन्तु दसवाँ दशक अधिक सम्भव है क्योंकि दीर्घतमस् को वृद्ध (जुजुर्वान) कहा गया है।

[3] १७. १३, १७।

[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३६८।

[5] ८. २, २१।

[6] उ० पू० ३७१।

[7] ८. १०१, ४ = अथर्ववेद १०. ८, ३।

[8] तु० की० ऐतरेय आरण्यक २. १, १ और उस पर कीथ की टिप्पणी; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २. २५३।

[9] ऋग्वेद १०. ७२, २ में 'देवानां पूर्व्ये युगे' (देवों के प्राचीन युग में) आता है।

[10] ३. १२, ९, २। तु० की० मूइर, १[2], ४२, नोट ६६।

कलि, द्वापर, त्रेता और कृत नामक चार युगों का वैदिक साहित्य में कोई निश्चित सन्दर्भ नहीं है, यद्यपि वहाँ यह शब्द पासे की फेंकों के नाम के रूप में आते हैं (देखिये अक्ष)। ऐतरेय ब्राह्मण[11] में यह नाम तो आते हैं किन्तु इनसे वस्तुतः युगों का ही तात्पर्य होना निश्चित नहीं। हॉग[12] के विचार से यहाँ पासे का अर्थ है : यह दृष्टिकोण भी उतना ही सम्भव है जितनी कि एक अन्य वैकल्पिक व्याख्या जिसे वेबर,[13] रौथ,[14] विल्सन,[15] मैक्स मूलर[16] और मूइर[17] ने स्वीकार किया है। वास्तव में रौथ का विचार है कि यह मन्त्र प्रक्षिप्त है : स्थिति जो कुछ भी हो यह स्मरण रखना चाहिये कि यह स्थल ऐतरेय नामक बाद के ग्रन्थ से लिया गया है। षड्विंश ब्राह्मण[18] में चार युगों—पुष्य, द्वापर, खार्वा और कृत का, और गोपथ ब्राह्मण[19] में द्वापर का उल्लेख है।

[11] ७. १५, ४ (श्रम के गुणों के वर्णन में): 'लेटा हुआ आदमी कलि होता है, अपने को हिलाने पर द्वापर, उठने पर त्रेता और चलने पर कृत' (कलिः शयानो भवति संजिहानस् तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस् त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्)।

[12] ऐतरेय ब्राह्मण २, ४६४ जिसकी वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, ३१९, ९, ने आलोचना की है।

[13] इंन्डिशे स्टूडियन १, २८६; ९, ३१५ और बाद।

[14] इन्डिशे स्टूडियन १. ४६०।

[15] ज० ए० सो०, १८५१, ९९।

[16] ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४१२।

[17] संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ४८, नोट ८६।

[18] ५. ६।

[19] १. १, २८; वेबर : इन्डियन; लिटरेचर, १५१, नोट १६६; विन्डिश : बुद्ध और मार, १५१। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३६७-३७१; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १. ९१। शामशास्त्री : ग्वाम् अयन, १४४ और बाद, में युगों के सम्बन्ध में एक सर्वथा भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। एक बार वेबर (इन्डियन लिटरेचर ११३, नोट १२७) ने ऋग्वेद ३. ५५, १८ में पञ्चवार्षिक युग का उल्लेख देखा है किन्तु इस स्थल पर पाँच या छः ऋतुओं का सन्दर्भ है (देखिये ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ३८२, नोट), जबकि १. २५, ८ में केवल मलमास का उल्लेख है। वेबर यह भी मानते हैं (उ० पु० ७०, २४७) कि युग चन्द्रमा की विभिन्न कलाओं से निष्कृष्ट हुये हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण रौथ द्वारा बहुत पहले ही अप्रमाणित किया जा चुका है।

युद्ध, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में संघर्ष और युद्ध का द्योतक है। इसके लिये अधिक सामान्य प्राचीन[3] शब्द *युध्* है।

[1] १०, ५४, २।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ९, १; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३९, १. २; ६. ३६, २; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ५, ६; कौषीतकि उपनिषद् ३. १, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १. ५३, ७; ५९, १; ५. २५, ६; ६. ४६, ११, इत्यादि; अथर्ववेद १. २४, १; ४. २४, ७; ६. ६६, १; १०३, ३, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, १६, इत्यादि।

युधां-श्रौष्टि औग्र-सैन्य (*उग्रसेन* का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उस राजा का नाम है जो *पर्वत* और *नारद* द्वारा अभिषिक्त हुआ था।

[1] ८. २१, ७। तु० की० वेबर : ऐ० रि० ८। इस शब्द का पौराणिक रूप 'युद्ध-मुष्टि' है।

युध्यामधि, प्रत्यक्षतः उस राजा का नाम है जो *सुदास्* द्वारा पराजित हुआ था। दस राजाओं पर सुदास् की विजय की प्रशस्ति करनेवाले सूक्त[1] के अन्त में संयुक्त मंत्रों में इसका उल्लेख होने के कारण सुदास् के विरोधियों के रूप में इसे बहुत अधिक प्रामाणिकता प्रदान नहीं की जा सकती है।

[1] ७. १८, २४। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७३।

युवति, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में युवती स्त्री के लिए प्रयुक्त साधारण शब्द है।

[1] १. ११८, ५; २. ३५, ४; ३. ५४, १४; ४. १८, ८; ५. २, १. २; ९. ८६, १६; १०. ३०, ५।

[2] अथर्ववेद १४. २, ६१; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, १, ९; २, ४; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ९, ६; ४, ३, ८, इत्यादि।

यूथ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में गायों के समूह या झुण्ड का द्योतक है।

[1] १. १०, २; ८१, ७; ३. ५५, १७; ४. २, १८; ३८, ५; ५. ४१, १९; ९. ७१, ९, इत्यादि। तु० की० 'यूथ्य', ८. ५६, ४; ९. १५, ४; १०. २३, ४।

[2] अथर्ववेद ५. २०, ३; तैत्तिरीय संहिता ५. ७, २, १, इत्यादि।

यूप, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में स्तम्भ और मुख्यतः उस स्तम्भ का द्योतक

[1] ५. २, ७ (शुनःशेप का)।

[2] अथर्ववेद ९. ६, २२; १२. १, ३८; १३. १, ४७; तैत्तिरीय संहिता ६. ३, ४, १; ७. २, १, ३; वाजसनेयि संहिता १९. १७; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. १०, १ इत्यादि।

है जिसमें यज्ञ-पशु बाँधा जाता था। यह उस डण्डे का भी द्योतक है जिससे घर के द्वार को, बन्द करने के लिये, सन्नद्ध किया जाता था (दुर्य)[3]।

[3] ऋग्वेद १. ५१, १४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५३।

यूषन्, जो कि ऋग्वेद[1] और यजुर्वेद संहिताओं[2] में अश्वमेध यज्ञ के वर्णन के अन्तर्गत आता है, बलि किये गये पशु के मांस से बने यूष का द्योतक है और इसमें सन्देह नहीं कि यह भोजन के रूप में प्रयुक्त होता था। इसे रखने या पकाने के लिये प्रयुक्त *पात्र* और *आसेचन* का उल्लेख है। इस शब्द का एक भिन्न रूप 'यूस्' तैत्तिरीय संहिता[3] में मिलता है जो लैटिन 'जुस्' (Jus) के समान है।

[1] १. १६२, १३।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. ३, ११, १. ४; वाजसनेयि संहिता २५. ९।
[3] ६. ३, ११, १. ४।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७१; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़ ३१६।

येवाष, अथर्ववेद[1] में किसी विनाशकारी कीटाणु का नाम है। काठक संहिता[2] में इसका 'यवाष' रूप मिलता है। तु० की० वृष।

[1] ५. २३, ७. ८।
[2] ३०. १ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६२)। 'कुमुदादि' और 'प्रेक्षादि' गणों में भी इसका यह रूप आता है (पाणिनि ४. २, ८०)। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. ८, १, जहाँ 'यवाष' पढ़ना चाहिये; कपिष्ठल संहिता ४६. ४।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

योक्त्र, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में रथ अथवा गाड़ी को सन्नद्ध करने के लिये प्रयुक्त 'नध्री' का द्योतक है।

[1] ३. ३३, १३; ५. ३३, २।
[2] अथर्ववेद ३. ३०, ६; ७. ७८, १; तैत्तिरीय संहिता १. ६, ४, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ३, ३, ३; शतपथ ब्राह्मण १. ३, १, १३; ६. ४, ३, ७, इत्यादि।

योग, अथर्ववेद[1] और बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में गाड़ी को खींचने वाले अश्वों अथवा बैलों के जूये का द्योतक है।

[1] ६. ९१, १ (६ अथवा ८ के जूये); काठक संहिता १५. २, इत्यादि। तु० की० सीर।
[2] ४. ३, ११ ('रथ-योगाः', अर्थात् रथ के दल)।

योजन, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में दूरी के एक नाप[3] के रूप में अक्सर आता है किन्तु इसकी ठीक-ठीक लम्बाई को व्यक्त करनेवाला कोई सन्दर्भ नहीं है। बाद में इसे चार *कोशों* अथवा लगभग ९ मील के बराबर माना गया है।[4]

[1] १. १२३, ८; २. १६, ३; १०. ७८, ७; ८६, २०, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. २६, १; मैत्रायणी संहिता २. ९, ९; ३. ८, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, २, ७, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३६३, जो ऋग्वेद १. १२३, ८, में 'योजन' को *मुहूर्त* के बराबर समय के एक विभाजन के रूप में देखते हैं। किन्तु यह अत्यन्त असम्भाव्य है।
[3] अर्थात् एक बार के सन्नद्ध करने में चली गयी अथवा गाडी से पशु को असन्नद्ध किये बिना ही एक बार में पूरी की गयी दूरी।
[4] कभी-कभी आठ कोश अथवा १८ मील के आधार पर गणना की गई है। ढाई मील का भी अनुमान मिलता है।

योध, ऋग्वेद[1] में योद्धा अथवा सैनिक का द्योतक है।

[1] १. १४३, ५; ३. ३९, ४; ६. २५, ५; १०. ७८, ३।

योषन्, योषणा, योषा, योषित्, सभी प्रिय होने अथवा विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की वस्तु होने के रूप में, कन्या अथवा युवति के द्योतक हैं।[1] इस प्रकार यह शब्द ब्राह्मणों के *वृषन्* के विरोधी अर्थात् 'पुरुष' के विपरीत 'स्त्री' का सामान्य आशय रखते हैं,[2] किन्तु यह 'पत्नी'[3], अथवा 'पुत्री'[4] अथवा केवल 'पालिका'[5] के आशय में भी आते हैं। देखिये *स्त्री*।

[1] 'योषन्', ऋग्वेद, ४. ५, ५; 'योषणा', ३. ५२, ३; ५६, ५; ६२, ८; ७. ९५, ३, इत्यादि; 'योषा', १. ४८, ५; ९२, ११; ३. ३३, १०; ३८, ८, इत्यादि; अथर्ववेद १२. ३, २९; १४. १, ५६, इत्यादि; 'योषित्', ऋग्वेद ९. २८, ४; अथर्ववेद ६. १०१, १, इत्यादि। तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ४१८।
[2] शतपथ ब्राह्मण १. २, ५, १५ (योषा), और अक्सर अन्य ब्राह्मणों में भी।
[3] अथर्ववेद १२. ३, २९ (योषा)।
[4] इसी प्रकार 'योषा' ऋग्वेद १. ११७, २० में। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३१०।
[5] शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, ७।

यौगं-धरि ('युगन्धर' का वंशज), मन्त्र-पाठ (२. ११, १२) में *साल्वों* के राजा का नाम है।

यौवन, अथर्ववेद (१८. ४, ५०) में मिलता है जहाँ यह वृद्धावस्था का विरोधार्थी है।

र

रक्षितृ ('रक्षा करनेवाला', 'अभिभावक') ऋग्वेद[१] और बाद[२] में साधारणतया लाक्षणिक आशय में आता है।

[१] १. ८९, १. ५; २. ३९, ६; सोम का रक्षक, ६. ७, ७; यम के कुत्तों का रक्षक, १०. १४, ११, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ३. २७, १; १२. ३, ५५; १९. १५, ३; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, ५, इत्यादि।

रघट्, एक बार बहुवचन में अथर्ववेद[१] में आता है, जहाँ पैप्पलाद शाखा में 'वघटः' पाठ है। रौथ[२] ने एक समय इसका ठीक पाठ 'रघवः' होने का अनुमान किया था। ब्लूमफील्ड[३], जिन्होंने अपने अनुवाद में इस शब्द की 'वाज पक्षियों' के अर्थ में व्याख्या की है, अपनी टिप्पणियों में रौथ के अनुमान को सम्भव मानते हैं। लुडविग[४] इसका अर्थ 'मधुमक्खी' मानने का विचार व्यक्त करते हैं। सम्भवतः किसी प्रकार के पक्षी से ही तात्पर्य है।[५]

[१] ८. ७, २४।

[२] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, १ (क)

[३] अथर्ववेद के सूक्त, ५८०।

[४] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ५०४।

[५] बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५०१।

रजत, एक विशेषण के रूप में *हिरण्य*[१] के साथ 'चाँदी' का द्योतक है। चाँदी के आभूषणों (*रुक्म*)[२], पात्रों[३] और सिक्कों (*निष्क*)[४] का उल्लेख मिलता है। अकेले भी यह शब्द विशेष्य के रूप में 'चाँदी' के आशय में प्रयुक्त हुआ है।[५]

[१] तैत्तिरीय संहिता १. ५, १, २; काठक संहिता १०. ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ४, ७; १३. ४, २, १०; १४. १, ३, ४, इत्यादि।

[२] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ११।

[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, ९, ७; ३. ९, ६, ५।

[४] पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, १४।

[५] अथर्ववेद ५. २८, १; १३. ४, ५१; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १२, २; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ७; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १७, ३; षड्विंश ब्राह्मण ६. ६।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, १८०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५६; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५१, १५२; विन्सेन्ट स्मिथ : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, ३४, २३०।

रजन कोणेय अथवा *कौणेय*, एक गुरु का नाम है जिसका यजुर्वेद संहिताओं[1] में उल्लेख है। काठक संहिता[2] में ऐसा कथन है जब इसने नेत्रों की कामना की थी तो *क्रतुजित् जानकि* ने इसके लिए सफलतापूर्वक यज्ञ सम्पन्न किया था। इसका पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में उल्लेख है, जहाँ *उग्रदेव राजनि* नामक इसके पुत्र का नाम भी आता है।[4]

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ३, ८, १: काठक संहिता २७. २ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७४)।
[2] ११. १ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७४)।
[3] १३. ४, ११। तु० की० हॉपकिन्स: ट्रा० सा०, १५, ५८, नोट २।
[4] यह एक कुष्ठरोगी था और रजनी का कुष्ठ के विरुद्ध प्रयोग किया गया है, ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, २६६।

रजनी, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ यह एक प्रकार के पौधे का द्योतक है। इसे कदाचित इसलिये इस नाम से पुकारा गया है कि इसमें 'रंगने' की शक्ति थी ('रञ्ज्' अर्थात् रंगना से)। इसे निर्दिष्ट करने का प्रयास करनेवाले बाद के लेखकों की अविश्वसनीयता के कारण इसकी जाति का निश्चय नहीं किया जा सकता है।

[1] १. २३, १। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २४, में रौथ; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २६७।

रजयित्री, (रंगनेवाली) को यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १।

१. रजस्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में आकाश और पृथ्वी के बीच स्थित अन्तरिक्ष क्षेत्र का द्योतक है। आकाश (*दिव्*) की ही भाँति अन्तरिक्ष को भी तीन[3], किन्तु अधिक सामान्यतया दो (पार्थिव[4] और 'दिव्य' अथवा

[1] १. ५६, ५; ६२, ५; ८४, १; १२४, ५; १६८, ६; १८७, ४; २. ४०, ३; ६. ६२, ९, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ६. २५, २; ७. २५, १; ४१, १; १०. ३, ९; १३. २, ८. ४३; तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ४, २; वाजसनेयि संहिता १३. ४४, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ४. ५३, ५; ५. ६९, १; ९. ७४, ६; १०. ४५, ३; १२३, ८; अथर्ववेद १३. १, ११, इत्यादि। ऋग्वेद १. १६४, ६, में छह 'क्षेत्रों' का उल्लेख है।
[4] ऋग्वेद १. ८१, ५; ९०, ७; १५४, १; ६. ४९, ३; ८. ८८, ५; ९. ७२, ८, इत्यादि।

'दिवः'[5]) क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। कुछ स्थलों[6] पर बहुवचन में यह शब्द पृथ्वी के ही धूल भरे खेतों का द्योतक है।

[5] ऋग्वेद ४. ५३, ३; १. १९०, ६। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १०; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[6] ऋग्वेद १. १६६, ३; ३. ६२, १६; १०. ७५, ७।

२. रजस् से, यजुर्वेद संहिताओं[1] के एक स्थल पर, स्पष्टतः *रजत* की ही भाँति, 'चाँदी' अर्थ है। ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर भी त्सिमर[3] ने इसे इसी आशय में ग्रहण किया है, किन्तु यह व्याख्या सन्दिग्ध है।

[1] 'रजः-शय', वाजसनेयि संहिता ५. ८; 'रजाशय', तैत्तिरीय संहिता १. २, ११, २ (ऐतरेय ब्राह्मण १. २३, २, पर सायण); मैत्रायणी संहिता १. २. ७; काठक संहिता २. ८।

[2] १०. १०५, ७।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, ५५, ५६।

रजस, अथर्ववेद[1] में प्रत्यक्षतः एक प्रकार की 'मछली' के नाम के रूप में आता है। फिर भी, रौथ[2] इसे विशेषण मानते हैं जिसका अर्थ 'अपवित्र' है।

[1] १०. २, २५।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६२१; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ६२४।

रजि, ऋग्वेद[1] में कदाचित एक राजा अथवा सम्भवतः किसी दानव के नाम के रूप में आता है जिसका *पिठीनस्* के लिये इन्द्र ने वध किया था।

[1] ६. २६, ६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५६; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, जहाँ रौथ अथर्ववेद २०. १२८, १३ के अनुमान की तुलना करते हैं।

रज्जव्य, शतपथ ब्राह्मण (६. ७, १, २८) में 'रस्सी' का द्योतक है।

रज्जु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'रस्सी' का द्योतक है। अथर्ववेद[3] में सर्प को 'दन्तयुक्त रस्सी' (रज्जु दत्वती) कहा गया है।

[1] १. १६२, ८ (शीर्षण्या रशना रज्जुः', जिससे अश्व का सन्दर्भ है, सम्भवतः गले में बाँधने की रस्सी का द्योतक है)।

[2] अथर्ववेद ३. ११, ८; ६. १२१, २; तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, ७; शतपथ ब्राह्मण १. ३, १, १४; १०. २, ३, ८; ११. ३, १, १, इत्यादि।

[3] ४. ३, २; १९. ४७, ७. ८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३६८।

रज्जु-दाल, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक वृक्ष (Cordia myxa अथवा latifolia) का नाम है।

[1] १३. ४, ४, ६। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३७३, नोट २।

रज्जु-सर्ज, (रस्सी बनानेवाला) को यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ३, १।

रण, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उपयुक्ततः युद्ध के आनन्द का, और उसके बाद स्वयं 'युद्ध' या 'संघर्ष' का ही द्योतक है।

[1] १. ६१, १. ९; ७४, ३; ११९, ३; ६. १६, १५, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ५. २, ४, इत्यादि।

रत्न, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में किसी भी मूल्यवान पदार्थ का द्योतक है, विशिष्टतः 'रत्न' मात्र का नहीं जैसा वैदिकोत्तर साहित्य में है।

[1] १. २०, ७; ३५, ८; ४१, ६; १२५, १; १४०, ११; १४१, १०; २. ३८, १, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ५. १, ७; ७. १४, ४; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, १।

रत्नि, जो कि षड्विंश ब्राह्मण (४ . ४) में आता है, *अरत्नि* का ही भ्रष्ट पाठ है।

रत्निन् राजकीय दल के व्यक्तियों के लिये व्यवहृत शब्द है जिनके ही घरों पर *राजसूय* के समय 'रत्न-हवि' नामक एक विशेष संस्कार सम्पन्न किया जाता था। तैत्तिरीय संहिता[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में ऐसे व्यक्तियों की तालिका के अन्तर्गत, ब्रह्मन् (अर्थात पुरोहित), राजन्य, महिषी (राजा की प्रथम पत्नी), *वावात* (राजा की प्रिय रानी), परिवृक्ती (राजा की उपेक्षित पत्नी), सेनानी (सेना का नायक), सूत (सारथी), ग्रामणी (ग्राम-प्रधान), क्षत्तृ (कोशाधिकारी), संग्रहीतृ (सारथी अथवा कोषाध्यक्ष), भागदुघ (कर संग्रह करनेवाला अथवा भोजन का वितरण करनेवाला), और अक्षावाप (पासे का अधीक्षक अथवा पासा फेंकनेवाला), आते हैं। शतपथ ब्राह्मण[3] में इनका क्रम इस प्रकार है; सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत,

[1] १. ८, ९, १ और बाद।

[2] १. ७, ३, १ और बाद।

[3] ५. ३, १, १ और बाद।

ग्रामणी, क्षत्तृ, संग्रहितृ, भागदुघ, अक्षावाप, गो-निकर्तन (गायों का वध करनेवाला अथवा आखेटक), और पालागल (संदेशवाहक अथवा दूत); त्यक्त पत्नी को यहां उत्सव के दिन, निर्ऋति के हेतु घर[४] में ही रहने का उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता[५] में यह तालिका है: ब्रह्मन् (अर्थात पुरोहित), राजन्,-महिषी, परिवृक्ती, सेनानी, संग्रहीतृ, क्षत्तृ, सूत, वैश्यग्रामणी, भागदुघ, तक्ष-रथकारौ (बढ़ई और रथ बनानेवाला), अक्षावाप, और गो-विकर्त। काठक संहिता[६] में 'गोविकर्त' के स्थान पर 'गो-व्यच' है तथा 'तक्ष-रथकारौ' नहीं आता।

यह स्पष्ट है कि इन तालिकाओं में अनिवार्यतः राजगृह के व्यक्ति तथा शासन से सम्बद्ध राजकीय सेवक ही सम्मिलित किये गये हैं, यद्यपि *संग्रहीतृ*, *भागदुघ*, *सूत*, *ग्रामणी*, और *क्षत्तृ* का आशय संदिग्ध है, क्योंकि इन नामों का आशय अनिश्चित होने से इनसे व्यक्तिगत सेवकों[७] अथवा सार्वजनिक अधिकारियों में से किसका तात्पर्य है यह नहीं कहा जा सकता। पञ्चविंश ब्राह्मण[८] में राजा के मित्रों के अन्तर्गत आठ *वीरों* (वीर पुरुषों) की तालिका इस प्रकार है; भ्राता, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ, और संग्रहीतृ।

[४] कात्यायन श्रौत सूत्र, १५. ३, ३५ के अनुसार यह ब्राह्मण के घर जाती है और वहाँ ब्राह्मण की अवध्यता तथा राजशक्ति से मुक्तता की भागी होती है।

[५] २. ६, ५; ४. ३, ८।

[६] १५. ४।

[७] इसी प्रकार अक्षावाप या तो वह व्यक्ति होता था जो राजा के लिये पासा खेलता था—अर्थात् एक व्यसनी पासा खेलनेवाला होता था जो राजा के साथ खेलता, अथवा उसका खेल देखता था—अथवा एक सार्वजनिक अधीक्षक जो राज्य के द्यूत-गृहों की देख-रेख और लगान वसूल करता था, जैसा कि बाद में इसका कार्य था। प्राचीन इंग्लिश इतिहास में भी राजगृह के अधिकारियों के मंत्री आदि हो जाने के चिह्न मिलते हैं।

[८] १९. १, ४।

तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १७, २००; ऊबर डेन राजसूय ४; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १३, १२८; एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, ४१, ५८–६५; हॉपकिन्स ट्रा० सा० १५, ३०, नोट २।

रथ, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में साधारण गाड़ी अथवा *अनस्* के विपरीत

[१] १. २०, ३; ३. १५, ५; ४. ४, १०; १६, २०; ३६, २; ४३, २५, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद, ५. १४, ५; १०. १, ८: ऐतरेय ब्राह्मण, ७. १२, ३, इत्यादि।

रथ का द्योतक है, यद्यपि दोनों का विभेद निश्चित नहीं। दोनों के आकार के सम्बन्ध में इस बात के अतिरिक्त और कोई विवरण नहीं मिलता कि रथ के पहिये की नाभि का छिद्र अथवा *ख* गाड़ी के पहिये के छिद्र से बड़ा होता था।[3]

नियमित रूप से रथ में दो पहिये (*चक्र*) ही होते थे, जिनका अक्सर उल्लेख मिलता है।[4] पहिये में एक *पवि*, एक *प्रधि*, तीलियाँ (*अर*)[5] और एक नाभि (*नभ्य*) होते थे। पवि और प्रधि मिलकर *नेमि* का निर्माण करते थे। नाभि के छिद्र को *ख* कहते थे और इसमें धुरे का सिरा घुसा रहता था। किन्तु यह अनिश्चित है कि *आणि* धुरे के उस सिरे द्योतक है जो नाभि के छिद्र में घुसा रहता था अथवा उस कील का जिसे धुरे को पहिये में स्थित रखने के लिये धुरे के किनारों में लगाया जाता था। कभी-कभी ठोस पहिये भी व्यवहृत होते थे।[6]

कुछ दशाओं में धुरा (*अक्ष*) *अरटु* की लकड़ी[7] का बना होता था जिसके किनारों पर पहिया घूमता था। धुरे मे ही रथ का ढाँचा (*कोश*) सन्नद्ध रहता था। धुरे के कोशभाग के लिये *वन्धुर* शब्द का भी प्रयोग किया गया है जिसका ठीक-ठीक आशय रथ का आसन है। अश्विनों के लिये प्रयुक्त 'त्रि-वन्धुर' उपाधि इसी के लिये प्रयुक्त 'त्रि-चक्र' उपधि के ही समान हैं; इससे सम्भवतः, जैसा कि वेवर[8] का विचार है, ऐसा प्रतीत होता है कि रथ में सामान्यतया तीन पहिये और तीन आसन होते थे; किन्तु त्सिमर[9] का विचार है कि ऐसा रथ विशुद्धतः पौराणिक ही प्रतीत होता है। *गर्त* भी रथ में योद्धा के आसन का द्योतक है।

धुरे पर ही रथ का स्तम्भ (*ईषा, प्रउग*) समकोण बनाते हुये सन्नद्ध रहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि रथ में एक ही स्तम्भ होता था जिसके

[3] ८. ९१, ७, सायण के भाष्य सहित; वेदिशे स्टूडियन २, ३३३।

[4] तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ४. १६, ५; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १६, ७; कौषीतकि उपनिषद् १. ४।

[5] तु० की० ऋग्वेद १. ३२, १५; १४१, ९; ५. १३, ६; ५८, ५; ८. २०, १४; ७७, ३; १०. ७८, ४; काठक संहिता १०. ४, इत्यादि।

[6] तु० की० प्रधि।

[7] ऋग्वेद ८. ४६, २७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २४७, नोट।

[8] प्रो० अ० १८९८, ५६४; विर्ताओः त्सी० इ० ५, २००। तु० की० नोट २१।

[9] उ० पु० ८।

दोनों ओर दो अश्व सन्नद्ध किये जाते थे और उनके गले में जूआ अथवा *युग* पहना दिया जाता था। रथ के स्तम्भ को जूये के छिद्र (जिसे 'ख'[10] अथवा 'तर्म्मन्'[11] कहते हैं) में घुसा रहता था और जूये तथा स्तम्भ को एक साथ बाँध दिया जाता था।[12]

अश्वों के गले (ग्रीवा) को ही सन्नद्ध किया जाता था और उसपर 'जूआ' रक्खा होता था। कभी-कभी उनके स्कन्ध-भाग को भी सन्नद्ध किया जाता था जिसके लिये रथ के स्तम्भ पर बेंड़े-बेंड़े एक लकड़ी का डण्डा लगा होता था, अथवा रथ के स्तम्भ के किनारे पर दो तिकोने आकार की लकड़ियों का प्रयोग होता था जिनका मुख नीचे की ओर चौड़ा और ऊपर की ओर नुकीला होता था।[13] *रश्मि* और *रशना* द्वारा ऐसी ही लकड़ियों का आशय व्यक्त होता है। यह शब्द उन वल्गाओं के भी द्योतक हैं जो अश्वों के मुँह में लगी 'शिप्रा' से सन्नद्ध होते थे। सारथी वल्गाओं की सहायता से अश्वों का नियन्त्रण करता था और 'कशा' से उन्हें हाँकता था।[14] अश्वों के पेट की गोलाई को 'कक्ष्या' कहते थे।[15]

रथ में सन्नद्ध अश्वों की संख्या सामान्यतया दो होती थी, किन्तु कभी-कभी तीन[16] अथवा चार अश्वों तक का प्रयोग होता था। ऐसी दशा में यह अनिश्चित

[10] ऋग्वेद ८. ९१, ७ का यही आशय प्रतीत होता है; किन्तु इसे जूये के उस छिद्र भाग के अर्थ में भी ग्रहण किया गया है जिसमें बैल का सर घुसा होता था (होमर का ζευγλη)। देखिये विलसन के अनुवाद पर कोवेल की टिप्पणी; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त २, २३७, नोट।

[11] अथर्ववेद १४. १, ४०।

[12] ऋग्वेद ३. ६, ६; ५. ५६, ४; १०. ६०, ८।

[13] त्सिमर : आ० ली० २४९, का विचार है कि ऋग्वेद १. ११९, ५ में 'वाणी' लकड़ी के उन दो लट्ठों की द्योतक है जिनमें तिकोने आकार के दो चौकठे सन्नद्ध रहते थे। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०, बौटलिङ्क : डिक्शनरी, और ग्रासमैन का भी यही मत है। इस शब्द का 'दो वाणियाँ' अर्थ भी हो सकता है (ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, १६२)।

[14] ऋग्वेद ५. ८३, ३; ६. ७५, ६।

[15] ऋग्वेद १०. १०, १३; 'कक्ष्य-प्रा' (फूले हुये पेटवाला अर्थात् जिसे अच्छी तरह खिलाया-पिलाया गया हो), १. १०, ३ में इन्द्र के अश्वों की उपाधि है।

[16] तीन अश्वों का ऋग्वेद १०. ३३, ५, में उल्लेख है और ऋग्वेद १. ३९, ६; ८. ७, २८, इत्यादि में *प्रष्टि* से तृतीय अश्व का आशय हो सकता है। देखिये शतपथ ब्राह्मण ५. १, ४, ११; २, ४, ९, इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १३, १२, भी। चार अश्वों के लिये तु० की० ऋग्वेद २. १८, १; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ३, १७; १, ४, ११; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, २११ नोट [illegible]

है कि इन दो अतिरिक्त अश्वों को पहले से सन्नद्ध अश्वों के आगे लगाया जाता था अथवा दोनों पार्श्वों में; सम्भवतः दोनों ही पद्धतियाँ प्रचलित थीं। कभी-कभी तो पाँच अश्वों तक का प्रयोग होता था।[17] रथों में सामान्यतया अश्वों का ही व्यवहार होता था, किन्तु 'गर्दभ'[18] अथवा 'अश्वतरी' (खच्चर)[19] का भी उल्लेख मिलता है। गाड़ियों को खींचने के लिये बैलों का प्रयोग होता था और इसी कारण गाड़ी को *अनड्वाह्* कहते हैं। कभी-कभी निर्धन व्यक्तियों को एक ही अश्व से सन्तोष करना पड़ता था और ऐसी दशा में रथ में दो स्तम्भ होते थे जिनके बीच में अश्व सन्नद्ध रहता था।[20]

रथ में सारथी दाहिने किनारे पर खड़ा रहता था, जब कि योद्धा, जैसा उसके *सव्येष्ठ* अथवा *सव्यष्ठा*,[21] नामों से प्रगट होता है, बाँये किनारे पर रहता था। योद्धा अपनी इच्छानुसार रथ में बैठ भी सकता था क्योंकि रथ में आसन बना होता था, और बाण चलाते समय तो धनुर्धर स्वभावतः बैठना ही अधिक चाहता रहा होगा।

आपस्तम्ब के शुल्व सूत्र[22] में रथ की लम्बाई-चौड़ाई का इस प्रकार वर्णन है : स्तम्भ=१८८ अङ्गुलि, धुरा=१०४ अङ्गुलि, और जूआ=८६ अङ्गुलि। रथ

[17] 'रथः पञ्चवाही', काठक संहिता १५. २; मैत्रायणी संहिता २. ६, ३। तैत्तिरीय संहिता १. ८, ७, २, जैसे एक समानान्तर स्थल पर 'प्रष्टि-वाही' है।

[18] ऐतरेय ब्राह्मण ४. ९, ४।

[19] छान्दोग्य उपनिषद् ४. २, १; ५. १३, २; ऐतरेय ब्राह्मण ४. ९, १।

[20] ऋग्वेद १०. १०१, ११; १३१, ३, और ६. १५, १९; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १३, १२; २१. १३, ८, इत्यादि।

[21] अथर्ववेद ८. ८, २३ में 'सव्यष्ठा' के साथ यही स्थिति है, और तैत्तिरीय संहिता १. ७, ९, १ में 'सव्येष्ठ-सारथि', एक यौगिक शब्द के रूप में आता है जिसका अर्थ निश्चित रूप से 'योद्धा और सारथी' है। देखिये शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ८, और एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, ४१, ६२, नोट १, भी। यूनानी सन्दर्भों में दो योद्धाओं और एक सारथी का विवरण मिलता है। तु० की० तीन आसनोंवाला अश्विनों का रथ। देखिये फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४३५।

[22] ६. ५ (बर्क : त्सी० गे०, ५६, ३४४, ३४५)।

के निर्माण के लिये पहियों के चक्रधार के अतिरिक्त सर्वत्र लकड़ी का ही व्यवहार होता था।[23]

रथ के अनेक अन्य भागों का भी उल्लेख है किन्तु इनके नामों का आशय अक्सर अस्पष्ट है। यह नाम इस प्रकार हैं: *अङ्क*, *न्यङ्क*, *उद्धि*, *पक्षस्*, *पातल्य*, *भुरिज्*, *रथोपस्थ*, *रथवाहन*।

[23] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ३, १६। वधू को ले जाने के लिये प्रयुक्त रथ 'शल्मलि' की लकड़ी का बना होता था, ऋग्वेद १०. ८५, २०।
महाभारत कालीन रथों के लिये देखिये, हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, २३५–२६२; और तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, ३३८, ३३९; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४५–२५२; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३८, नोट १।

रथ-कार का अथर्ववेद[1] में ऐसे व्यक्ति के रूप में उल्लेख है जो राजा की प्रजा के अन्तर्गत आता है और सामान्य रूप से औद्योगिक जनसंख्या का उदाहरण है। यजुर्वेद संहिताओं[2] और ब्राह्मणों[3] में भी इसका उल्लेख है: इन सभी स्थलों पर, और सम्भवतः अथर्ववेद में भी, रथकार एक जाति के ही रूप में आता है। बाद की पद्धतियाँ[4] रथकार को एक 'माहिष्य' (क्षत्रिय पति और वैश्य पत्नी का पुत्र) और एक 'करणी' (वैश्य पति और शूद्र पत्नी की पुत्री) की सन्तान मानती हैं; किन्तु रथकार की ऐसी उत्पत्ति मानना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं प्रतीत होता। रथकार निश्चित रूप से एक कर्मणा जाति रहे होंगे। हिलेब्रान्ट[5] का विचार है कि *ऋभु* जाति ही रथकार वर्ग के निर्माण का आधार थी क्योंकि यह जाति उन ऋभुओं की उपासक थी जो अत्यन्त उत्कृष्ट रथ निर्माता माने गये हैं। किन्तु इस दृष्टिकोण के पक्ष में प्रमाण बहुत कम हैं।

[1] ३. ५, ६।

[2] काठक संहिता १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ५; वाजसनेयि संहिता १६. १७; ३०, ६।

[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ४, ८; ३. ४, २, १; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, १७।

[4] याज्ञवल्क्य १, ९५। बाद के संस्कारों में एक जाति के रूप में वैश्यों से हीन किन्तु शूद्रों से श्रेष्ठ रथकारों की विशेष स्थिति के लिये तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १०, १२, १३ और तु० की० *वर्ण*; तु० की० फिक : डी० ग्ली० २०९, २१० भी।

[5] वेदिशे माइथौलोजी, ३, १५२, १५३। तु० की० वेबर : इन्टिशे स्टूडियन १७, १९६ और बाद।

रथ-गृत्स, वाजसनेयि संहिता (१५. १५) और ऐतरेय ब्राह्मण (३. ४८, ९) में एक 'प्रवीण सारथी' का द्योतक है।[1]

[1] तु० की० तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ३, १; °कृत्स, मैत्रायणी संहिता २. ८, १०; °कृत्स, काठक संहिता १७, ९।

रथ-चक्र का ब्राह्मणों[1] में अक्सर उल्लेख है। देखिये *रथ* और *चक्र*।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४३, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ६, ८; शतपथ ब्राह्मण २. ३, ३, १२; ५. १, ५, २; ११. ८, १, ११, इत्यादि।

रथ-चर्षण, एक बार ऋग्वेद[1] में आता है, जहाँ आशय कुछ सन्दिग्ध है। रौथ[2] का विचार था कि इससे रथ के किसी भाग का अर्थ है, किन्तु सम्भवतः इससे केवल 'रथ के पथ' का ही आशय है।[3]

[1] ८. ५, १९।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[3] तु० की० निरुक्त ५, १२ पर दुर्ग के भाष्य में उद्धरण और व्याख्या।

रथ-जूति, अथर्ववेद (१९. ४४, ३) में या तो एक विशेषण है जिसका अर्थ 'तीव्रगति से रथ हाँकने वाला'[1] है, अथवा व्यक्तिवाचक नाम जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में रौथ ने माना है।

[1] ह्विट्नेः अथर्ववेद का अनुवाद ९६७, के अनुसार 'रथ के समान तीव्र गति वाला'। तु० की० इसी स्थल पर उनकी टिप्पणी।

रथ-नाभि का वाजसनेयि संहिता[1] और उपनिषदों[2] में उल्लेख है।

[1] ३४, ५।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५, ५; ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; कौषीतकि उपनिषद् ३, ८; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १५, १, इत्यादि।

रथ-प्रोत दार्भ्य ('दर्भ' का वंशज) का मैत्रायणी संहिता (२. १, ३) में सम्भवतः एक राजा अथवा कदाचित एक पुरोहित के रूप में उल्लेख है।

रथ-प्रोष्ठ ऋग्वेद (१०. ६०, ५) में एक राज-परिवार के नाम के रूप में आता है। देखिए *सुबन्धु*।

रथ-मुख, बाद की संहिताओं[1] में रथ के अग्रभाग का द्योतक है। तु० की० *रथशीर्ष*।

[1] अथर्ववेद ८. ८, २३; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, २; ५. ४, ९, ३, इत्यादि।

रथर्वी, अथर्ववेद (१०. ४, ५) में एक सर्प का नाम है।

रथ-वाहन, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में रथ को टिकाने के लिए प्रयुक्त एक चलनशील उपकरण का नाम है। रौथ[3] के अनुसार यह यूनानी *βωμος* के समान है जिस पर न प्रयुक्त होने के समय रथ टिका रहता था। 'रथवाहन-वाह' शब्द उन दो अश्वों के आशय में प्रयुक्त हुआ है जो रथवाहन को खींचते थे।[4] वेबर[5] का विचार है कि इसका प्रयोग युद्ध के रथों को युद्ध स्थल तक ले जाने के लिये किया जाता था।

[1] ६. ७५, ८।
[2] अथर्ववेद ३. १७, ३ = तैत्तिरीय संहिता ४. २, ५, ५ = काठक संहिता १६. ११ = मैत्रायणी संहिता २. ७, १२ = वासिष्ठ धर्मसूत्र २. ३४. ३५। काठक संहिता २१. १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ९, ६; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ३, २३ और बाद भी देखिये।
[3] फे० रौ०, ९५ और बाद; व्हिटने: अथर्ववेद का अनुवाद ११६।
[4] तैत्तिरीय संहिता १. ८, २०, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ४, ३; काठक संहिता १५. ९; मैत्रायणी संहिता २. २, १।
[5] उबर डेन वाजपेय, २७, नोट २, जिसका गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, २७५ ने भी अनुसरण किया है। फिर भी वेबर यह स्वीकार करते हैं कि रथवाहन होमर के *βωμος* के समान केवल रथ के टिकने मात्र का उपकरण रहा हो सकता है, जब कि गेल्डनर ऐसा मत व्यक्त करते हैं कि इसका कभी भी ऐसा आशय नहीं था। रथवाहनवाह शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यह उपकरण भी चलनशील था।

रथवीति दार्भ्य ('दर्भ' का वंशज) का एक बार ऋग्वेद[1] में गायों से परिपूर्ण (गोमतीर् अनु) दूरस्थ पर्वतों, सम्भवतः हिमालय पर, रहनेवाले और सूक्त-गायक के प्रतिपालक के रूप में उल्लेख है। बाद की परम्परा[2] इसे एक राजा मानती है जिसके *श्यावाश्व* नामक पुत्र ने अपने पिता और मरुतों की सहायता से अपने लिये एक पत्नी प्राप्त किया था।

[1] ५. ६१, १७, १९।
[2] देखिये सीग: सा० ऋ०, ५० और बाद, ६२, नोट २, और औल्डेनबर्ग: ऋग्वेद-नोटेन, १, ३५३, ३५४ में आलोचना। मैक्स मूलर: से० बु० ई० ३२, ३५९, ३६२।

रथ-शीर्ष अर्थात् रथ के अग्रभाग का शतपथ ब्राह्मण (९. ४, १, १३) में उल्लेख है।

रथ-सङ्ग, ऋग्वेद (९. ५३, २) में दो विरोधी रथों के आमने-सामने आ जाने का द्योतक है।

रथाक्ष, यजुर्वेद संहिताओं[1] में रथ के धुरे का द्योतक है। कात्यायन श्रौत सूत्र[2] के भाष्यकार ने इसकी लम्बाई १०४ अंगुलि बतायी है जो आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र[3] के वक्तव्य के अनुकूल है। देखिये *रथ*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ६, ४, १; काठक संहिता २९. ८।
[2] ८. ८, ६।
[3] ६. ५ (वर्क: इन्डि० स्टू० ५६, ३४४, ३४५)।

रथाह्न्य, शतपथ ब्राह्मण (१२. २, ३, १२) में रथ से पूरी की गयी एक दिन की यात्रा-अवधि का द्योतक है।

रथिन् और *रथी*, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में रथ पर चलनेवाले व्यक्ति के द्योतक हैं और इन व्याहृतियों के अन्तर्गत सारथी तथा रथारूढ़ योद्धा दोनों ही आ जाते हैं।

[1] रथिन्, १. १२२, ८; ५. ८३, ३; ६. ४७, ३१; ८. ४, ९; १०. ४०, ५; ५१, ६; रथी, १. २५, ३; २. ३९, २; ३. ३, ६; ५. ८७, ८; ७. ३९, १,
[2] रथिन्, अथर्ववेद ४. ३४, ४; ७. ६२, १; ७३, १; ११. १०, २४; तैत्तिरीय संहिता ५. २, २, ३; वाजसनेयि संहिता १६. २६; शतपथ ब्राह्मण ८. ७, ३, ७, इत्यादि; रथी; तैत्तिरीय संहिता ४. ७, १५, ३।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २९६।

रथीतर (श्रेष्ठ रथी) एक गुरु का नाम है जिसका बौधायन श्रौत सूत्र[1] और बृहद्देवता[2] में उल्लेख है।

[1] २२. ११।
[2] १. २६; ३. ४०; ७. १४५ (मैकडौनेल संस्करण)

रथे-ष्ठा, ऋग्वेद[1] में उस योद्धा का द्योतक है जो रथ पर खड़ा होकर युद्ध करता है।

[1] १. १७३, ४. ५; २. १७, ३; ६. २१, १; २२, ५; २९, १; ८. ४, १३; ३३, १४; ९. ९७, ४९; वाजसनेयि संहिता २२. ३२; तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २९६।

रथोपस्थ, अथर्ववेद[1] और ब्राह्मणों[2] में रथ के उस निचले भाग का द्योतक प्रतीत होता है जिस पर सारथी और योद्धा खड़े होते थे।

[1] ८. ८, २३।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १०, २; शतपथ ब्राह्मण २. ३, ३, १२, इत्यादि।
तु० की० हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १३, २३८ नोट।

रन्ध्र, ऋग्वेद के एक स्थल (८. ७, २६) पर 'उद्गर्गो रन्ध्र' वाक्पद में आता है और किसी स्थान का नाम प्रतीत होता है, किन्तु यह आशय अत्यन्त सन्दिग्ध है। पञ्चविंश ब्राह्मण (१३. ९, १२) में 'उद्गर्गो रन्ध्र', एक व्यक्ति का नाम है।

रपि, जो कि ऋग्वेद (८. ५, २२) में एक वार आता है, रथ के किसी भाग का द्योतक है। इस शब्द से सम्भवतः उपस्तम्भित करनेवाली लकड़ियों का अर्थ है।

रम्भ, जो कि ऋग्वेद (८. ४५, २०) के एक स्थल पर आता है, छड़ी अथवा सहारे का द्योतक है। एक अन्य स्थल (२. १५, ९) पर एक व्यक्ति को रम्भिन् कहा गया है जो प्रत्यक्षतः इसलिए कि वह वृद्धावस्था के कारण सहारे के लिए छड़ी लेकर चलता है। सायण ने इस शब्द की 'द्वारपाल' (वाद की संस्कृत के 'दण्डिन्', अर्थात् दण्ड लेकर चलनेवाले, का एक आशय) के रूप में व्याख्या की है।

रम्भिणी, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मरुतों के स्कन्ध पर स्थित होने के आशय में आता है। सम्भवतः मनुष्य के स्कन्ध से लटके हुये (रम्भ्=रभ्; अर्थात् चिपकाना या लटकाना) भाले के अर्थ में इसकी कल्पना की गयी है।

[1] १. १६८, ३। तु० की० १. १६७, ३, और देखिये मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, २८३।

रयि, ऋग्वेद[1] और वाद[2] में सम्पत्ति के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द है। वीर योद्धाओं अर्थात् श्रेष्ठ पुत्रों[3], अश्वों[4] और पशुओं[5] इत्यादि रूपी सम्पत्ति का अवसर विशेष रूप से उल्लेख मिलता है।

[1] १. ७३, १; १५९, ४; २. २१, ६; ३. १, १९; ४. २, ७; ३४, १०; ३६, ९; ६. ६, ७; ३१, १, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ३. १४, १; ६. ३३, ३; ७. ८०, २; तैत्तिरीय संहिता ७. १. ७२; वाजसनेयि संहिता ९. २२; १४. २२; २७. ६ इत्यादि।

[3] ऋग्वेद २. ११, १३, ३०. ११; ४. ५१, १०, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद ५. ४१, ५; ८. ६, ९, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद ५. ४, ११, इत्यादि।

रशना से सामान्यतया 'रस्सी' का अर्थ है। ऋग्वेद में यह शब्द अवसर अश्वों के विविध प्रकार के बन्धनों को व्यक्त करता है। एक स्थल[1] पर

[1] १. १६२, ८। तु० की० रज्जु।

'शीर्षण्या रशना' व्याहृति से सम्भवतः वल्गा का उतना अर्थ नहीं है जितना सर्प बाँधने के लिये प्रयुक्त रस्सी का। अन्य स्थलों[2] पर भी बन्धन का आशय निश्चित प्रतीत होता है, यद्यपि कभी-कभी[3] वल्गाओं अथवा बन्धन दोनों का ही आशय हो सकता है। अन्यत्र रस्सी का ही सामान्य आशय सम्भव है।[4]

[2] ऋग्वेद १. १६३, २. ५; १०. ७९, ७।
[3] ऋग्वेद ४. १, ९; ९. ८७, १; १०. १८, १४। तु० की० तैत्तिरीय संहिता १. ६, ४, ३।
[4] ऋग्वेद २. २८, ५; अथर्ववेद ८. ७८, १; १०. ९, २; वाजसनेयि संहिता २१. ४६; २२. २; २८. ३३; तैत्तिरीय संहिता ६. ६, ४, ३; शतपथ ब्राह्मण ३. ६, ३, १०, इत्यादि।
तु० की० ऋग्वेद १०. ४, ६ में 'उँगली' के समानार्थी के रूप में रशना का प्रयोग।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २४९।

१. रश्मि, सामान्य रूप से रस्सी[1] के आशय में बहुत दुर्लभ नहीं है; किन्तु अधिक स्वाभाविक रूप से यह वल्गाओं[2] का ही द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १. २८, ४; ४. २२, ८; ८. २५, १८, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण ४. १९, ३, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद ८. ७, ८; १०. १३०, ७, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता १. ६, ४, ३; वाजसनेयि संहिता २३, १४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ४, २, इत्यादि। ऐतरेय ब्राह्मण २. ३७, १, में दो आन्तरिक (*अन्तरौ*) *वल्गाओं का उल्लेख है।* तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २४९।

२. रश्मि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में नियमित रूप से सूर्य की किरणों का द्योतक है।

[1] १. ३५, ७; ४. ५२, ७; ७. ३६, १; ७७, ३, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद २. ३२, १; १२. १, १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, १, १; शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, १४, इत्यादि।

रसा, ऋग्वेद[1] के तीन स्थलों पर स्पष्ट रूप से वैदिक क्षेत्र के उत्तर-पश्चिमी

[1] १. ११२, १२; ५. ५३, ९; १०. ७५, ६। ५. ५३, ९ में 'रसानितभा' मिलता है। लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०२ 'अनितभा' को सम्भवतः 'अमितभा' के स्थान पर 'रसा' की एक उपाधि मानते हैं, किन्तु यह कदाचित ही सम्भव है। अनितभा को अन्यथा एक अज्ञात नदी का नाम मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। तु० की० मैक्स मूलर: इण्डिया, १६६, १७३, नोट।

किनारे पर बहने वाली एक वास्तविक नदी का नाम है। अन्यत्र[२] यह पृथ्वी के अन्त में बहने वाली एक पौराणिक नदी का नाम है जो पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपने अन्तर्गत परिवेष्टित करती है। जैसा कि *सरस्वती* की दशा में भी है, इसका उक्त प्राचीन आशय ही उपयुक्त है और इसे एक वास्तविक नदी, सम्भवतः मूल रूप से 'अराक्सेस' अथवा 'जक्सार्टेस' का नाम मानना चाहिये क्योंकि वेन्डियाड ने 'रसा' के अवेस्तन रूप 'रङहा' का उल्लेख किया है। किन्तु यह शब्द मूलतः जलों के[३] 'स्वाद' अथवा 'सार' का ही द्योतक प्रतीत होता है, अतः इसे सरस्वती की भाँति किसी भी नदी के लिये व्यवहृत किया जा सकता है।

[२] ऋग्वेद ५. ४१, १५; ९. ४१, ६; १०. १०८, १. २ (तु० की० जैमिनीय ब्राह्मण २, ३४८; ज० अ० ओ० सो० १९, १०० और बाद); १२१, ४।
[३] ऋग्वेद ४. ४३, ६; ८. ७२, १३।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५, १६; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३२३; ब्रुनहॉफर : ईरान उन्ट तूरान, ८६; वेबर : प्रो० अ०, १८९८, ५६७-५६९।

रसाशिर्. ऋग्वेद[१] में सोम की एक उपाधि है जिसका अर्थ 'रसमिश्रित', अर्थात् दुग्ध-मिश्रित है।

[१] ३. ४८, १, जहाँ सायण 'रस' की 'दुग्ध' के रूप में व्याख्या करते हैं। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, २११, नोट ५।

रह-सू, ऋग्वेद (२.२९,१) के एक स्थल पर अविवाहित माता के लिए व्यवहृत शब्द है। तु० की० *पति* और *धर्म*।

रहस्यु देव-मलिम्लुच्, पञ्चविंश ब्राह्मण (१४.४, ७) में उस पौराणिक व्यक्ति का नाम है जिसने *मुनिमरण* में संत-तुल्य *वैखानसों* का वध किया था।

रहू-गण, एक ऐसे परिवार का नाम है जिसका ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर बहुवचन में उल्लेख है। लुडविग[२] के अनुसार यह लोग, जैसा की *गोतम राहूगण* नाम से व्यक्त होता है, *गोतमों* से सम्बद्ध थे।

[१] १. ७८, ५।
[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३. ११०। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३६ नोट १।

राका, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक मूर्त्तीकरण के रूप में पूर्णिमा का द्योतक है।

[1] २. ३२, ४; ५. ४२, १२।
[2] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ८, १; ३. ४, ९, १. ६; काठक संहिता १२. ८; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३७, २. ६; ४७, ४, इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १३, १, इत्यादि।

राज-कर्तृ,[1] अथवा *राज-कृत्*[2] (राजा बनानेवाला) अथर्ववेद और ब्राह्मणों में उन व्यक्तियों के लिये व्यवहृत शब्द है जो 'स्वयं राजा न होते हुये'[3] राजाओं के अभिषेक में सहायता देते थे। शतपथ ब्राह्मण में इससे उद्दिष्ट व्यक्तियों के अन्तर्गत *सूत* (सारथी) और उस *ग्रामणी* (ग्राम-प्रधान) को सम्मिलित किया गया है जो एग्लिङ्ग[4] के विचार के अनुसार अभिषेक के स्थान से सर्वाधिक निकट ग्राम का प्रधान प्रतिनिधि होता था। भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण[1] में इससे पिता, भ्राता, इत्यादि का अर्थ है। अथर्ववेद[2] में इन व्याहृतियों का प्रयोग तो है किन्तु अर्थ का उल्लेख नहीं है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १७, ५।
[2] अथर्ववेद ३. ५, ७; शतपथ ब्राह्मण ३. ४, १, ७; १३. २, २, १८।
[3] उ० स्था।
[4] से० बु० ई० ४१, ६०, नोट। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, १९९ और बाद।

राज-कुल का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.२८, ४) में उल्लेख है, जहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार के परिवार को 'ब्राह्मण कुल' के पहले नहीं वरन् बाद में रखा गया है।

१. राजन् (राजा) एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[1] और बाद के साहित्य[2] में बहुधा आता है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि आरम्भिक भारत में यद्यपि सार्वभौमिक रूप से तो नहीं, तथापि समान्यतया सरकार का रूप राज-सत्तात्मक ही था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुये कि भारतीय आर्य एक शत्रु प्रदेश पर आक्रामकों के ही रूप में आये थे, ऐसा स्वाभाविक भी है। यूनान पर आक्रमण करनेवाले आर्यों और इङ्गलैण्ड के जर्मन आक्रमणकारियों की दशा में भी स्थिति ऐसी ही थी जिन्होंने प्रायः अनिवार्यतः उन देशों में राज-

[1] ३. ४३, ५; ५. ५४, ७, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. २२, ३. ५; ८. ७, १६, इत्यादि।

सत्तात्मक विधान के विकास को ही सशक्त किया था।[3] वैदिक राजसत्ता की व्याख्या के लिये केवल समाज का पितृ-सत्ता सम्पन्न संगठन मात्र ही पर्याप्त नहीं है जैसा कि त्सिमर[4] मानते हैं।

राजसत्ता की अवधि—त्सिमर[5] का विचार है कि जहाँ वैदिक राजसत्ता वंशानुगत होती थी, जैसा कि अनेक उन स्थितियों से व्यक्त होता है जिनमें वंशानुक्रम देखा जा सकता है,[6] वहीं अन्य दशाओं में राजसत्ता चुनाव पर आधारित थी, यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि जनता द्वारा केवल राज-परिवार के सदस्यों में से ही किसी एक को राजा चुनना पड़ता था अथवा सभी श्रेष्ठ जातियों के सदस्यों में से। फिर भी इसे स्वीकार करना चाहिए कि चुनाव पर आधारित राजसत्ता के पक्ष में प्रमाण बहुत शक्तिशाली नहीं हैं। जैसा कि गेल्डनर[7] तर्क उपस्थित करते हैं, सभी उद्धृत स्थलों[8] पर *विशों* द्वारा चुनाव का नहीं वरन् प्रजा द्वारा राजा को स्वीकृति प्रदान करने का सन्दर्भ है : यही अपेक्षाकृत सम्भव आशय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे राजसत्ता की चुनावात्मक प्रकृति के विरुद्ध प्रमाण नहीं मिलता। किसी परिवार के एक सदस्य के अयोग्य होने पर उस परिवार के किसी अन्य सदस्य का राजा के रूप में चुनाव का उदाहरण *देवापि* और *शन्तनु* नामक कुरु भ्राताओं की यास्क[9] द्वारा उद्धृत कथा में उदाहरण मिलता है जिसका समकालीन दृष्टिकोण के लिये प्रमाण के रूप में महत्त्व स्वयं इस कथा की सन्दिग्ध प्रकृति और उपयोगिता द्वारा प्रभावित नहीं होता।

राजशक्ति स्पष्टतः असुरक्षित होती थी : राजाओं के अपने राज्य से निष्कासित होने और अपनी प्रभुसत्ता पुनः प्राप्त करने के अनेक सन्दर्भ

[3] तु० की० स्टब्स : कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंगलैन्ड, ५१ और बाद।

[4] आल्टिन्डिशे लेबेन १६२।

[5] उ० पु० १६२ और बाद। इसी प्रकार वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, १८८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३३६।

[6] उदाहरण के लिये **वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास्**; अथवा **पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, मित्रातिथि, कुरुश्रवण, उपमश्रवस्**, इत्यादि; लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८६। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण १२. ९, ३, ३, में दस पीढ़ियों के राज्य (**दशपुरुषं राज्य**) का उल्लेख है; और तु० की० ५. ४, २, ८; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२, १७।

[7] वेदिशे स्टूडियन २, ३०३।

[8] ऋग्वेद १०. १२४, ८; १७३; अथर्ववेद १. ९; ३. ४; ४. २०।

[9] निरुक्त २. १०।

मिलते हैं।[10] अथर्ववेद में राजा की हितरक्षा के लिये अनेक प्रकार के अभिचारों का वर्णन है।[11]

युद्ध और राजा—स्वभावतः ऋग्वेद के बाद के वैदिक ग्रन्थों में उन युद्धोपम अभियानों के अपेक्षाकृत कम सन्दर्भ मिलते हैं जो राजकीय कर्त्तव्य के प्रमुख भाग होते थे। किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण[12] में यह वक्तव्य निहित है कि *कुरु-पञ्चाल* राजा अपनी जाति के ब्राह्मणों की ही भाँति श्रेष्ठ आकृति वाले होते थे और तुहिनार्द्र ऋतु में आक्रमण करते थे। 'निराज' विभेदात्मक रूप सहित *उदाज* शब्द से भी ऐसा व्यक्त होता है कि युद्ध में प्राप्त सामग्री में राजा भी अपना भाग लेता था। ऋग्वेद[13] में वैदिक युद्धों के अनेक सन्दर्भ हैं: यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय गण अपने युद्धोपम कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये उतने ही तत्पर रहते थे जितने ब्राह्मण लोग अपने यज्ञ सम्बन्धी अथवा अन्य कर्त्तव्यों के लिये। साथ ही साथ आक्रामक युद्ध के अतिरिक्त सुरक्षा भी राजा का प्रधान कर्त्तव्य होता था: उसे स्पष्टतः 'जाति का रक्षक' (गोपा जनस्य), अथवा जैसा कि *राजसूय* के समय कहा जाता है, 'ब्राह्मणों का रक्षक'[14] बताया गया है। राजा के पुरोहित से यह आशा की जा सकती थी कि वह अपने अभिचारों के प्रयोग से राजा के आयुधों को सफल बनाये। इसमें

[10] पारिभाषिक शब्द 'अप-रुद्ध'।
तु० की० अथर्ववेद ३. ३, ४; काठक संहिता २८. १; तैत्तिरीय संहिता २. ३, १; मैत्रायणी संहिता २. २, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १२, ६; शतपथ ब्राह्मण १२. ९, ३, ३, इत्यादि; कौशिक सूत्र १६. ३०; कैलेण्ड: आल्टिन्डिशे त्सावररिचुअल, ३७ और बाद।

[11] विशेषतः ३. ३। तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त, १११ और बाद।

[12] १. ८, ४, १।

[13] उदाहरण के लिए दाशराज्ञ, ऋग्वेद ७. १८. ३३. ८३, और तु० की० ऋग्वेद ३. ३३. ५३।

[14] ऋग्वेद ३. ४३, ५। आदिवासियों पर आक्रमण के ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, उदाहरण के लिए, २. १२, ११; ४. २६, ३; ६. २६, ५; ३३, ४. इत्यादि। युद्ध सम्बन्धी बाद के सन्दर्भों के लिए तु० की० काठक संहिता ९. १७; १०. ३; २८. २; तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ८, ३; कौषीतकि ब्राह्मण ५. ५; शतपथ ब्राह्मण २. ६, ४, २ और बाद; और हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १३, १८७, २२५। राजसूय में ब्राह्मण के रक्षा की 'विश्' के भोजन से प्रतिपूर्त्ति की गई और इस द्वितीय कार्य में सुरक्षा प्रदान करने के प्राचीन कर्त्तव्य की अपेक्षा राजा की अधिक रुचि है। देखिये ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२. १७।

सन्देह नहीं कि राजा स्वयं उपस्थित होकर युद्ध करता था : इसीलिये कौषीतकि उपनिषद्[15] के अनुसार प्रतर्दन की युद्ध में मृत्यु हुई थी : और राजसूय में राजा का 'पुरां भेत्ता' के रूप में आवाहन किया जाता था।

राजा और शान्ति—अपनी योद्धोपम सेवाओं के प्रतिदान के रूप में राजा अपनी प्रजा द्वारा आज्ञापालन,[16] जो कभी-कभी बलात्[17] भी होता था, और विशेषतः राज्य सञ्चालन के लिये योगदान का अधिकारी होता था। राजा को नियमित रूप से 'प्रजा का भक्षक' कहा गया है,[18] किन्तु इस वाक्पद को इस अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिये कि राजा अपनी प्रजा को अनिवार्यतः त्रस्त ही करता था। इसकी उत्पत्ति उस प्रथा में निहित है जिसके द्वारा राजा और उसके पार्षद जनता के करों द्वारा पोषित होते थे। इस प्रथा के अन्यान्य समानान्तर उदाहरण मिलते हैं। राजा द्वारा अपने पोषण के राजकीय अधिकार को किसी अन्य क्षत्रिय का उत्तरदायित्व बना सकना भी सम्भव था, और इस प्रकार प्रजा द्वारा पोषित समाज में एक अन्य उच्चवर्ग का भी विकास हो गया। सामान्यतया क्षत्रिय और ब्राह्मण

[15] ३. १।

[16] देखिये, उदाहरण के लिये **याज्ञवल्क्य** को **जनक** द्वारा दासों के रूप में प्रदत्त **विदेह**, बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ४, ३०, और देखिये वही २. १, २०; मैत्रायणी संहिता १. ६, १०, इत्यादि; ऋग्वेद १. ६७, १; ४. ५०, ८।

[17] ऋग्वेद ९. ७, ५। तु० की० ७. ६, ५, इत्यादि; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १८, २।

[18] देखिये **बलि** और तु० की० ऋग्वेद १. ६५, ४; अथर्ववेद ४. २२, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९; ८. १२. १७; कौषीतकि ब्राह्मण ४. १२; शतपथ ब्राह्मण १. ८. २, १७; ४. २, १, ३. १७; ५. ३, ३, १२; ४, २,३; १०. ६, २, १; १३. २, ९, ६. ८, इत्यादि; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १८, ९३, नोट; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २४६; पिशल और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, xvi; विन्टर नित्स : गे० लि०, १, १७३, १७४; कीथ : ऐतरेय आरण्यक १६१। इसी प्रकार के कर के अन्तर्गत ग्राम का हिस्सा (ग्रामे), अश्व (अश्वेषु) और गाय (गोषु) आदि जिनका अथर्ववेद ४. २२, २ में उल्लेख है, आते हैं। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ गाय और ग्राम दोनों को एक ही स्तर पर रखा गया है जो इस तर्क का प्रतिवाद करता है कि राजा ही सर्वोच्च भू-स्वामी होता था। देखिये नीचे नोट २१। कर की दर के लिये, जो कि बाद में षष्ठमांश था, तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ८५, ८६; इन्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, २३८ और बाद; २३३; मिसेज़ रिज़ डेविड्स : ज० ए० सो० १९०१, ८६०।

को कर नहीं देना पड़ता था। वैदिक ग्रन्थों में राजा द्वारा विजित सम्पत्ति के सर्वथा मुक्त होने के अत्यन्त निश्चित विचार मिलते हैं।[19] फिर भी राजा की शक्ति प्रजा में ही निहित होती थी।[20] देखिये *बलि* भी।

प्रतिदान में राजा न्यायाधीश के भी कर्त्तव्यों का पालन करता था। वह स्वयं 'अदण्ड्य' होते हुये भी दण्ड धारण करता था।[21] यह सम्भव है कि मुख्यतः अपराधों का न्याय करना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य रहा हो क्योंकि सूत्रों[22] में अपराधों का निर्णय करने से सम्बद्ध राजा के व्यक्तिगत राजकीय अधिकारों के स्पष्ट चिह्न वर्तमान हैं। सम्भवतः किसी राज्याधिकारी, अथवा यहाँ तक कि किसी प्रतिनिधि द्वारा भी, इस प्रकार की अधिकार-सत्ता का प्रयोग किया सकता था, क्योंकि काठक संहिता[23] में किसी शूद्र को दण्ड देने के समय 'अध्यक्ष' के रूप में राजन्य का उल्लेख मिलता है। सम्पत्ति-न्याय में राजा का, अन्तिम निवेदन सुननेवाले न्यायालय के अतिरिक्त कोई और विशेष महत्व नहीं होता था: किन्तु इस विषय से सम्बद्ध प्रमाणों का अभाव है। ऋग्वेद का *मध्यमशी* सम्भवतः राजकीय नहीं वरन् व्यक्तिगत न्यायाधीश अथवा मध्यस्थ था। फिर भी अपराध सम्बन्धी एक विस्तृत अधिकार क्षेत्र की वरुण के दूतों के अक्सर उल्लेख द्वारा कुछ सीमा तक पुष्टि[24] होती है, क्योंकि वरुण को मानव-राजा का दिव्य प्रतिरूप माना गया है।[25] सम्भवतः युद्ध में भी ऐसे ही दूतों का प्रयोग किया जा सकता था।[26]

आरम्भिक वैदिक साहित्य में राजाओं द्वारा विधान सत्ता के उपयोग का कोई सन्दर्भ नहीं मिलता यद्यपि बाद में यह उनके कर्त्तव्यों का अनिवार्य

[19] शतपथ ब्राह्मण १३. ६, २, १८; ७, १, १३। ब्राह्मणों के इस अधिकार की कि वह पार्थिव राजा नहीं वरन् राजा सोम की सेवा करेंगे, देखिये ब्राह्मण भी।

[20] तु० की० उदाहरण के लिये मैत्रायणी संहिता २. १, ८; ३. ११, ८; ४. ४, ३; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ५।

[21] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, ७।

[22] उदाहरण के लिये गौतम धर्म सूत्र १२. ४३ और बाद।

[23] २७. ४। तु० की० क्षत्रिय, नोट १८।

[24] तु० की० ऋग्वेद १. २५, १३; ४. ४, ३; ६. ६७, ५; ७. ६१, ३; ८७, ३; १०. १०, ८ (=अथर्ववेद १८. १, ९) अथर्ववेद ४. १६. ४।

[25] देखिये फॉय: टी० गे०, ८० और बाद

[26] तु० की० ऋग्वेद ८. ४७, ११; फॉय: उ० पू० ८४। सन्दर्भ निश्चित नहीं है।

अङ्ग बन गया।[२७] हम ठीक-ठीक यह भी नहीं कह सकते कि राजाओं में कौन-कौन से प्रशासकीय अधिकार निहित थे।

अपने सभी व्यवहारों में राजा को नियमित रूप से उसका *पुरोहित* परामर्श देता रहता था; साथ ही राजा को राज्य-मन्त्रियों और अन्य सेवकों द्वारा भी परामर्श प्राप्त करने की सुविधा थी (देखिये *रत्निन्*)। स्थानीय शासन ग्राम प्रधान अथवा *ग्रामणी* करता था जिसकी नियुक्ति अथवा चुनाव राजा करता था। राजा के वैभव के बाह्य चिह्नों के अन्तर्गत उनके प्रासाद[२८] और उज्ज्वल परिधान[२९] आते थे।

भूमि के स्वामी के रूप में राजा—भूमि के सम्बन्ध में राजा की स्थिति बहुत कुछ अस्पष्ट है। यूनानी सन्दर्भों[३०] में निहित उक्तियों में पर्याप्त मतभेद है और साथ ही उन पर बहुत विश्वास करना भी अनुचित होगा क्योंकि उनका संग्रह ऐसे निरीक्षकों द्वारा किया गया है जो इस प्रकार के अनुसन्धान में अत्यन्त अनभ्यस्त थे और जिनकी उक्तियाँ भी पर्याप्त सूचनाओं पर आधारित नहीं थीं। यह सन्दर्भ अंशतः भूमिकर देने का उल्लेख करते हैं और साथ ही यह भी बताते हैं कि केवल राजा के अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति भूमि का स्वामी नहीं हो सकता था। हॉपकिन्स[३१] का यह दृढ़ मत है कि कर केवल रक्षा करने के लिये ही लिये जाते थे, अर्थात् यह आधुनिक शब्दावली में राज्य कर होता था, किन्तु राजा को ही प्रत्येक भूमि का स्वामी माना जाता था, जब कि ऐसी स्थिति में भी व्यक्ति अथवा सम्मिलित परिवार भूमि के स्वामी हो सकते थे। भू-स्वामी के रूप में राजा के विचार को अपेक्षाकृत बाद का माननेवाले बेडेन पावेल[३२] के मत के विरुद्ध भी आप वैदिक काल

२७ देखिये फॉय उ० पु०, अध्याय ३।

२८ तु० की० वरुण का प्रासाद, ऋग्वेद २. ४१, ५; ७. ८८, ५। सिंहासन अथवा **आसन्दी** का **जनमेजय** की राजधानी 'आसन्दीवन्त' के नाम में प्रयोग किया गया है। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, १ और बाद, तथा ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२, ३–५, भी।

२९ देखिये उदाहरण के लिये १. ८५, ८; ८. ५, ३८; १०. ७८, १, इत्यादि। इसीलिये राजा धन का महान् अधिपति है (धन-पतिर् धनानाम्), अथर्ववेद ४. २२, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३१ में राजा की **न्यग्रोध** वृक्ष के साथ तुलना की गई है।

३० देखिए डियोडोरस २. ४०; अरियन: इण्डिका, ११; स्ट्राबो पृ० ७०३ और हॉपकिन्स ज० अ० ओ० सो०, १३, ८७ और बाद।

३१ इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू २२१ और बाद।

३२ विलेज कम्युनिटीज़ इन इण्डिया, १४५; इण्डियन विलेज कम्युनिटी, २०७ और बाद।

में राजा के भू-स्वामी होने का विश्वास करते हैं और इसके परिणाम स्वरूप
यह मत प्रगट करते हैं कि वैदिक काल में राजा का प्रजाभत्ती के रूप
में वर्णन है; ऐतरेय ब्राह्मण[33] के अनुसार वैश्य को इच्छानुसार आत्मसात
अथवा उसके साथ दुर्व्यवहार किया जा सकता था (किन्तु शूद्र की भाँति
उसका वध नहीं)। सूत्रों और शास्त्रों के विधि-प्रधान काल के लिये भी राजा
के सर्वप्रभुत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करने के मत की पुष्टि में आप बृहस्पति
और नारद का उद्धरण देते हैं, साथ ही मानव धर्म शास्त्र[34] के उस स्थल का
उल्लेख करते हैं जिसमें राजा का 'सर्वाधिपति' के रूप में वर्णन है और
जिसकी भूस्वामित्व के प्रमाण के रूप में ही बूहलर[35] ने व्याख्या की है।
फिर भी इस तथ्य को सिद्ध करनेवाले प्रमाण अपर्याप्त हैं। यह अस्वीकृत
नहीं किया गया है कि राजा को स्वामित्व की दृष्टि से अस्पष्ट रूप से उत्तरोत्तर
भूमि का स्वामी माना जाने लगा था और जैसा कि इंग्लैण्ड का राजा आज
भी है, किन्तु इस धारण को आदिम अथवा पुरातन मानने की अपेक्षा इसके
उत्तरोत्तर विकास का सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त है। प्रजा को भक्षण करने
की शक्ति एक राजनैतिक शक्ति है स्वामित्व की शक्ति नहीं। बिलकुल ऐसी ही
स्थिति दक्षिणी अफ्रीका[36] में देखी जा सकती है, जहाँ कोई प्रधान बिना किसी
आधार के ही किसी व्यक्ति को उसकी भूमि से वञ्चित कर सकता है, यद्यपि भूमि
को वास्तविक स्वामी वहाँ के लोग ही होते हैं। इस प्रकार यह विषय कुछ
सीमा तक पारिभाषिक शब्दावली से सम्बद्ध है; किन्तु समानान्तर उदाहरण
स्वत्वाधिकार और राजा के ऐसे राजनैतिक अधिकारों के बीच विभेद करने के
ही पक्ष में हैं जिन्हें किसी को भी हस्तान्तरित किया जा सकता है। हॉप-
किन्स[37] का विचार है कि पुरोहितों को भूमि का दान, जो भूमि के हस्तान्तरण

[33] ७. २९, ३।
[34] ८. ३९।
[35] मनु : उ० स्था०, से० बु० ई० २५, २५९ में अपनी टिप्पणी में।
[36] देखिये कीथ : जर्नल ऑफ दी अफ्रीकन सोसाइटी, ६, २०२ और बाद। जहाँ तक अन्य आर्य जातियों के प्रमाण का प्रश्न है वह राजा के मूल स्वामित्व के विचार की पुष्टि करता है। इस प्रकार के स्वामित्व का, जहाँ तक एंग्लो-सैक्सन काल (इंग्लिश हिस्टॉरिकल रिव्यू, ८. १-७), का प्रश्न है कोई अस्तित्व नहीं मिलता और न होमर के यूनान (लैङ्ग : होमर ऐन्ड हिज़ एज, २३६ और बाद), अथवा रोम में ही इसका कोई प्रमाण है।
[37] उ० स्था०।

का ब्राह्मणों में सर्वप्रथम उदाहरण है, वास्तव में भूमि के अधिकार का ही दान होता था। अनेक अन्य दशाओं में भी स्थिति ऐसी रही हो सकती है, किन्तु श्रेष्ठता के दान के रूप में भी इसकी व्याख्या की जा सकती है : महाकाव्यों में दूसरों को प्रदत्त भूमि के उदाहरण किसी भी पक्ष के लिए निर्णायक प्रमाण नहीं हैं।

राजा और उनकी सभा के बीच सम्बन्ध के लिये देखिये *सभा*, और राज्याभिषेक के लिये *राजसूय*। 'अ-राज-ता' का अर्थ निरङ्कुशता है।[३८]

[३८] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ९, १; ऐतरेय ब्राह्मण १. १४, ६; लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ७४।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २१६ और वाद; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ८४, और वाद; फ्यॉय : डी० गे०; रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, ४६ और वाद; ज० ए० सो०, १९०१, ८६०, ८६१।

२. *राजन्*, अनेक स्थलों[१] पर 'राजगृह के विशिष्ट सदस्य' अथवा केवल किसी भी विशिष्ट व्यक्ति का द्योतक प्रतीत होता है क्योंकि जहाँ-जहाँ यह आता है उनमें से कोई भी स्थल इसके अर्थ के सम्बन्ध में निर्णायक नहीं है। त्सिमर[२] ऋग्वेद[३] के एक स्थल पर इस बात का संकेत देखते हैं कि शान्ति के समय कुछ राज्यों में कोई भी राजा नहीं होता था और ऐसी दशा में राजपरिवार के सभी सदस्य समान अधिकार रखते थे। आप इसकी आरम्भिक जर्मनी की स्थिति से तुलना करते हैं।[४] किन्तु यह स्थल केवल इतना ही व्यक्त करता है कि राजगृह के विशिष्ट व्यक्तियों को राजन् कहा जा सकता था,

[१] तु० की० ऋग्वेद १. ४०, ८; १०८, ७; १०. ४२, १०; ९७, ६; तैत्तिरीय संहिता ४. ६, ८, ३; ५. ७, ६, ४; काठक संहिता ४०. १३; वाजसनेयि संहिता १८. ४८; २६. २; अथर्ववेद १९. ६२, १, और सम्भवतः २. ६, ४, इत्यादि; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २३६, २३७। सम्भवतः जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४, ५ में 'राज्ञः' को इसी आशय में ग्रहण किया जा सकता है। यहाँ राजा को एक अनार्य बताया गया है किन्तु इसका पाठ भ्रष्ट है और ऑर्टेल का अनुमान सम्भव नहीं। तु० की० राज्यु, नोट २।

[२] आल्टिन्टिशे लेवेन १७६, १७७।

[३] १०. ९७, ६। आप भी अथर्ववेद १. ९; ३. ४; ४. २२, की तुलना करते है जहाँ राजा को राज-परिवार के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है।

[४] 'केरुसी' और 'आरमीनियस' अपने को राजा बनाना चाहते हैं किन्तु उनके सम्बन्धी राज-परिवार के अन्य व्यक्ति उनके इस प्रयास को विफल कर देते हैं। (देखिये टेसिटस : ऐनल्स् २. ८८)।

और यह इसके त्सिमर द्वारा प्रदत्त आशय को पुष्ट नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की स्थिति सर्वथा सम्भव थी और बाद के बौद्धकाल में इसके उदाहरण भी मिलते हैं।[५]

[५] तु० की० रिज़ डेविड्स: बुद्धिस्ट इन्डिया, १९।

राजनि (*रजन* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ३, १७; २३. १६, ११) और तैत्तिरीय आरण्यक (५. ४, १२) में *उग्रदेव* का पैतृक नाम है।

राजन्य, वैदिक साहित्य[१] में राज-परिवार के व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त नियमित शब्द है। इसके अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति भी आ जाते हैं जो राजपरिवार के सदस्य न होते हुये भी विशिष्ट होते थे, यद्यपि मूलतः इसका अर्थ सदस्यों तक ही सीमित रहा हो सकता है। फिर भी, किसी स्थल द्वारा स्पष्टतः ऐसा प्रगट नहीं होता; यह शब्द मूलतः किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ हो सकता है चाहे उसके पास राजशक्ति रही हो अथवा नहीं। शतपथ ब्राह्मण[२] में राजन्य उस राज-पुत्र से भिन्न है, जो वास्तव में राजा का पुत्र होता था। राजन्य की स्थिति और कार्यों का *क्षत्रिय* के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है क्योंकि यही व्याहृति बाद में साधारणतया शासक वर्ग की उपाधि के रूप में राजन्य का स्थान ग्रहण कर लेती है। राजन्य की उच्च स्थिति इस तथ्य द्वारा व्यक्त होती है कि तैत्तिरीय संहिता[३] में इसे विद्वान ब्राह्मण और *ग्रामणी* (जो कि *वैश्य* होता था) के साथ सम्पन्नता की चरम-सीमा (गत-श्री) पर पहुँचनेवाला बताया गया है।

[१] ऋग्वेद में केवल एक बार बाद के पुरुष सूक्त १०. ९०, १२ में; किन्तु अथर्ववेद में अक्सर, यथा: ५. १७, ९; १८, २; ६. ३८, ४; १०. १०, १८; १२. ४, ३२ और बाद; १५. ८, १; १९. ३२, ८; तैत्तिरीय संहिता २. ४, १३, १; ५, ४, ४; १०, १; ५. १, १०, ३ इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण तक में जहाँ सम्पूर्ण रूप से क्षत्रिय का प्रयोग ही मिलता है, राजन्य का अक्सर उल्लेख है। तु० की० से० बु० ई० ४४, ५६१ में एग्लिंग की अनुक्रमणिका।

[२] तु० की० १३. ४. २, १७ और इसके साथ १३. १, ६, २।

[३] २. ५, ४, ४।

तु० की० मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], २५८ और बाद; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १९१। यह सर्वथा स्पष्ट है कि विशिष्ट जनों के वह परिवार जो राज-परिवार से सम्बद्ध नहीं होते थे, ऐसे छोटे राजाओं के परिवार थे जो एक शक्तिशाली जाति के निर्मित होने पर राज-परिवार में विलीन हो गये। प्राचीन जर्मनी की स्थिति ऐसी ही थी।

राजन्य-बन्धु, सामान्यतया एक भर्त्सनात्मक आशय में राजन्य का ही द्योतक है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण[1] में उन ब्राह्मणों ने, जिनको जनक ने पराजित किया था, जनक को राजन्य बन्धु कहा है। इसी समान कारण के लिये बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में *प्रवाहण जैवलि* के लिये भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। दूसरी ओर एक स्थल[3] पर, जहाँ स्त्रियों से पृथक हट कर पुरुषों के भोजन करने का सन्दर्भ है, ऐसा कथन है कि सभी राजन्य-बन्धु यही करते हैं: यहाँ राजन्य-बन्धु को उस समय तक भर्त्सनात्मक आशय में ग्रहण नहीं किया जा सकता जब तक कि इस व्याहृति को राजाओं के प्रति ब्राह्मणों द्वारा भर्त्सनात्मक आशय में प्रयुक्त शब्द न मान लिया जाय, जैसा कि एक अन्य स्थल[4] पर *नग्नजित्* के प्रति किये गये व्यवहार द्वारा स्पष्ट प्रतीत होता है। पुनः उस स्थल[5] पर, जहाँ चार जातियों का उल्लेख है, राजन्य-बन्धु *वैश्य* के पहले आता है, जो कि द्वितीय और तृतीय जाति के नामों का एक कौतूहलवर्धक क्रमान्तरण है।[6]

[1] ११. ६, २. ५।
[2] ६. १, ५।
[3] शतपथ ब्राह्मण १०. ५, २, १०, जहाँ तु० की० एग्लिङ्ग की टिप्पणी, से० बु० ई०, ४३, ३७०, नोट १। १. २, ४, २, में भी प्रत्यक्षतः ऐसी स्थिति है जहाँ किसी विशेष भर्त्सना का आशय नहीं हो सकता।
[4] ८. १, ४, १०। तु० की० मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ५१५।
[5] १. १, ४, १२।
[6] एग्लिङ्ग: उ० पु० १२, २८।

राजन्यर्षि एक ऐसा शब्द है जो पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *सिन्धुक्षित्* के लिये व्यवहृत हुआ है। फिर भी इससे सम्बद्ध कथा सर्वथा पौराणिक ही है।

[1] १२. १२, ६। तु० की० औल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ४२, २३५, नोट ३, और देखिये वर्ण।

राज-पति, शतपथ ब्राह्मण (११. ४, ३, ९) में सोम की एक उपाधि के रूप में मिलता है। पार्थिव राजशक्ति की श्रेष्ठता की उपाधि के रूप में यह अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। देखिये *राज्य*।

राज-पितृ, ऐतरेय ब्राह्मण (८. १२, ५; १७, ५) के अनुसार *राजसूय* के समय राजा को दी गई उपाधियों में से एक है। यह सम्भवतः 'राजा के पिता' के रूप में राजा का द्योतक है और राजसत्ता की वंशानुगत प्रकृति की ओर

संकेत करता है। राजसत्ता के साथ राजा के पुत्र को सम्मिलित करने की बाद की पद्धति[1] का सम्भवतः प्राचीन काल में भी अस्तित्व था।

[1] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० ३१, १३९। 'जिसके पिता राजा हों', ऐसा आशय भी सम्भव है।

राज-पुत्र (राजा का पुत्र, युवराज) की, प्राचीन साहित्य[1] के उन सभी स्थलों पर जहाँ यह आता है, शब्दार्थ के रूप में ही व्याख्या की जा सकती है, यद्यपि अधिक विस्तृत व्याख्या भी सम्भव है।[2] बाद में 'राजपुत्र' का आशय केवल 'भूमि का स्वामी' मात्र रह जाता है।[3]

[1] ऋग्वेद १०. ४, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७, ६ (विश्वामित्र का, किन्तु सम्भवतः एक पौराणिक आशय में ही); पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १, ४; काठक संहिता १४. ८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, ५, १; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, ५; ५, २, ५ इत्यादि।

[2] काठक संहिता २८. १ का, राजपुत्र और राजन्य के बीच समीकरण स्थापित करने के रूप में उद्धरण दिया जा सकता है।

[3] जॉली : त्सी० गे० ५०, ५१४, जो यह संकेत करते हैं कि राजतरङ्गिणी, ७. ३६०, में राजपुत्र की प्राचीन स्थिति के चिह्न वर्तमान हैं।

राज-पुरुष, निरुक्त (२. ३) में 'राजकीय सेवकों' का द्योतक है। तु० की० *पुरुष*।

राज-भ्रातृ का, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में आठ *वीरों* अथवा राजसत्ता के पोषकों में से एक के रूप में उल्लेख है। अन्यत्र[2] भी इसका सन्दर्भ मिलता है।

[1] १९. १, ४। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३०, नोट २।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण, १. १३, १८, इत्यादि।

राज-मात्र कौषीतकि ब्राह्मण (२७. ६) और शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१७. ५, ३. ४; १५, ३) में मिलता है जहाँ 'वह सभी व्यक्ति जिन्हें राजन् कहा जा सकता है',—अर्थात् *राजपुत्र* और *राजन्य*, इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

राज-यक्ष्म का ऋग्वेद[1] तथा अनेक बार बाद[2] में उल्लेख है। त्सिमर[3] इसे यक्ष्मा के साथ समीकृत करते हैं : यह समीकरण निश्चित प्रतीत होता

[1] १. १६१, १।

[2] अथर्ववेद ११. ३, ३९; १२. ५; तैत्तिरीय संहिता २. ३, ५, २; काठक संहिता ११. ३; २७. ३; मैत्रायणी संहिता २. २, ७।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, २७५ और बाद।

है और इस व्याधि-सम्बन्धी वाद के दृष्टिकोण[४] से पुष्ट भी होता है। ब्लूम-फील्ड[५] इससे उपदेश का आशय मानते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं।

[४] तु० की० वाइज़ : सिस्टम ऑफ हिन्दू मेडिसिन, ३२१ और बाद; जॉली : मेडिसिन, ८८, ८९, नोट २, जो 'राजयक्ष्म' को व्याधियों में सबसे खराब व्याधि के अर्थ में ग्रहण करते हैं, ऐसी व्याधि के रूप में नहीं जिसका उपचार राजा द्वारा सम्भव हो। तु० की० **राजास्व**।

[५] अथर्ववेद के सूक्त, ६९७। किन्तु तुलना कीजिये, वही, ४१५।

राज-सूय, अथर्ववेद[१] और बाद के साहित्य[२] में 'राजकीय प्रतिष्ठापन' संस्कार के लिये प्रयुक्त शब्द है। सूत्रों[३] में तो इस संस्कार का विस्तार से वर्णन है, किन्तु इसकी प्रमुख विशेषताओं का ब्राह्मणों[४] में भी स्पष्ट उल्लेख है, जब कि इस संस्कार के समय प्रयुक्त मन्त्र यजुर्वेद[५] की संहिताओं में सुरक्षित हैं। पुरोहितीय विस्तारण के अतिरिक्त इस संस्कार में लौकिक समारोह के चिह्न भी वर्तमान हैं। उदाहरण के लिये राजा अपनी मर्यादा के औपचारिक परिधान और सार्वभौमिक सत्ता के प्रतीक के रूप में धनुष और बाण धारण करता है। उसका औपचारिक अभिषेक होता है और वह अपने किसी सम्बन्धी की गायों पर दिखावटी आक्रमण[६] अथवा किसी *राजन्य* के साथ दिखावटी युद्ध[७] करता है। पासे के खेल का भी आयोजन होता है जिसमें उसे विजयी बनाया जाता है।[८] अपने सार्वभौमिक शासन को व्यक्त

[१] ४. ८, १; ११. ७, ७।

[२] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, २, १; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५, ८; शतपथ ब्राह्मण ५. १, १, १२, इत्यादि।

[३] देखिये वेबर : ऊबर डेन राजसूय; हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर, १४४-१४७; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, ४७२, ४९१। **शुनःशेप** की घटना का वर्णन संस्कार का एक अंग था। इसके आधार पर यह मानना कि पुरुष-वध भी कभी राजसूय-संस्कार का एक अंग था, जैसा कि हिलेब्रान्ट : उ० स्था०; वेबर : ४७; और औल्डेनबर्ग : ३६६, नोट १; ने माना है, अत्यन्त संदिग्ध प्रतीत होता है। तु० की० कीथ : ज० अ० ओ० सो०, १९०७, ८४४, ८४५।

[४] विशेषतः शतपथ ब्राह्मण ५. २, ३, १ और बाद में। देखिये मैत्रायणी संहिता ४. ३, १ और बाद; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १, १ और बाद, भी।

[५] देखिये तैत्तिरीय संहिता १. ८; काठक संहिता १५; मैत्रायणी संहिता २. ६; वाजसनेयि संहिता १०।

[६] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ३, १ और बाद।

[७] तु० की० तैत्तिरीय संहिता १. ८, १५, तथा भाष्य; एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४१, १००, नोट १।

[८] देखिये २. अक्ष।

करने के लिये वह प्रतीकात्मक रूप से आकाश की दिशाओं पर चढ़ता है, और सिंह-चर्म पर खड़ा हो कर सिंह की शक्ति तथा विशिष्टता प्राप्त करता है।

अभिषिक्त राजाओं की एक तालिका ऐतरेय ब्राह्मण[९] में दी हुई है जहाँ राजकीय अभिषेक को इन्द्र से सम्बद्ध 'महाभिषेक' कहा गया है। यह तालिका सामान्य रूप से शतपथ ब्राह्मण[१०] और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[११] में दी हुई अश्वमेधिनों की तालिका के ही समान है।

[९] ८. २१–२३। तु० की० वेबर : ए० रि० ८।

[१०] १३. ५, ४।

[११] १६. ९।

तु० की० एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४१, xxiv, xxv।

राज-स्तम्बायन ('राजस्तम्ब' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[१] में यज्ञवचस् का पैतृक नाम है।

[१] १०. ४, २, १; ६, ५, ९। शतपथ ब्राह्मण के स्वरों पर विशेष ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है।

राजाधिराज, जो कि बाद में सर्वोच्च राज-सत्ता की उपाधि है, वैदिक साहित्य में एक दिव्य उपाधि के रूप में केवल एक बाद के ग्रन्थ, तैत्तिरीय आरण्यक (१. ३१, ६) में ही मिलता है।

राजाश्व, अथर्ववेद (६. १०२, २) में केवल एक शक्तिशाली अश्व मात्र का द्योतक है।

राज्ञी (रानी) यजुर्वेद संहिताओं[१] तथा ब्राह्मणों[२] में मिलता है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ६, २; ४, २, १; मैत्रायणी संहिता २. ८, ३. ९; काठक संहिता १७. ३, ८; वाजसनेयि संहिता १४. १३; १५. १०।

[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, ६, २; ३. ११, ३, १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २३, २, इत्यादि।

राज्य, अथर्ववेद[१] तथा बाद[२] में नियमित रूप उस 'राज-शक्ति' का द्योतक है, जिससे शतपथ ब्राह्मण[३] के अनुसार ब्राह्मण मुक्त होते थे।

[१] ३. ४, २; ४. ८, १; ११. ६, १५; १२. ३, ३१; १८. ४, ३१।

[२] तैत्तिरीय संहिता २. २, ३, ४; ६, ६, ५; ७. ५, ८, ३, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २३, इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४, ५, का जैसा रौथ : ज० अ० ओ० सो० १६, ccxliii, ने संशोधन किया है।

[३] ५. १, १, १२।

राज-शक्ति को व्यक्त करने के लिये वैदिक ग्रन्थों में 'राज्य' के अतिरिक्त अन्य शब्द भी मिलते हैं। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण[४] का विचार है कि राजसूय राजाओं का और *वाजपेय* सम्राटों का (सम्राज्) यज्ञ है। यहाँ 'साम्राज्य' का स्तर 'राज्य' की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। इसी ग्रन्थ[५] में सिंहासन (*आसन्दी*) पर बैठने को 'सम्राटों' की एक विशिष्टता बताया गया है। अन्यत्र[६] 'स्वाराज्य' (अनियन्त्रित उपनिवेश) को 'राज्य' के विपरीत कहा गया है। *राजसूय* संस्कार के सन्दर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण[७] शब्दों की सम्पूर्ण तालिका ही प्रस्तुत करता है, यथा : राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य और माहाराज्य; जब कि 'आधिपत्य' (सर्वोच्च शक्ति) अन्यत्र[८] मिलता है। किन्तु ऐसा मानने के लिये कोई आधार नहीं कि यह शब्द अनिवार्यतः अधिकार अथवा शक्ति के विविध रूपों को व्यक्त करते हैं। अन्य राजाओं का अधिपति हुये बिना भी किसी राजा को *महाराज* अथवा *सम्राज्* कहा जा सकता है; क्योंकि यदि वह एक महत्त्वपूर्ण राजा है तो, अथवा उसके पार्शदों द्वारा प्रशंसात्मक आशय में ही, उसके लिये इन शब्दों का प्रयोग हो सकता है, जैसा कि *विदेह* के *जनक* के लिये किया भी गया है।[९] अशोक अथवा गुप्त-वंश की भाँति किसी महान राजसत्ता का वैदिक काल में अस्तित्व होना नितान्त असम्भव प्रतीत होता है।[१०]

[४] ५. १, १, ३।
[५] १२. ८, ३, ४।
[६] काठक संहिता १४. ५; मैत्रायणी संहिता १. ११, ५। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, २, २।
[७] ८. १२, ४. ५। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १७. १६, ३।
[८] पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ३, ३५; छान्दोग्य उपनिषद् ५. २, ६।
[९] शतपथ ब्राह्मण ११. ३, १, २. ६; २, २, ३, इत्यादि।
[१०] तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३०।

रात्री, ऋग्वेद[१] तथा बाद[२] में 'रात' के लिये सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। तु० की० *मास*।

[१] १. ३५, १; ९४, ७; ११३, १, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद १. १६, १; ५. ५, १ इत्यादि।

राथीतर ('रथीतर' का वंशज) तैत्तिरीय उपनिषद् (१.२, १) में *सत्यवचस्* का पैतृक नाम है। यह बौधायन श्रौत सूत्र (७. ४, इत्यादि) में भी अनेक बार एक गुरु के नाम के रूप में आता है।

राथीतरी-पुत्र ('रथीतर' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र), बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश में उस गुरु का नाम है जो काण्व शाखा (६. ५, १) के अनुसार *भालुकी-पुत्र* का, और माध्यंदिन शाखा (६. ४, ३२) के अनुसार *क्रौञ्चिकी-पुत्र* का शिष्य था।

राध गौतम (*गोतम* का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में दो गुरुओं का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३, ३८४।

राधेय ('राधा' का वंशज) शाङ्खायन आरण्यक (७. ६) में एक गुरु का मातृनामोद्भूत नाम है।[1]

[1] तु० की० कीथ : ज० ए० सो०, १९०८, ३७२।

१. राम, ऋग्वेद[1] में किसी व्यक्ति का नाम है। लुडविग[2] का विचार है कि इसका पैतृक नाम *मायव*[3] था, किन्तु यह सन्दिग्ध है।

[1] १०. ९३, १४।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६।
[3] ऋग्वेद १०. ९३, १५।

२. राम औप-तस्विनि ('उपतस्विन' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (४. ६, १, ७) में एक गुरु का नाम है।

३. राम क्रातु-जातेय ('क्रतु-जात' का वंशज) *वैयाघ्र-पद्य* ('व्याघ्रपद्' का वंशज) उस गुरु का नाम है जो *शङ्ख शाट्यायनि आत्रेय* का शिष्य था, और जिसका जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, १; ४. १६, १) के दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में उल्लेख है।

राम मार्ग-वेय ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *श्यापर्णों* के पौरोहितीय-परिवार के एक व्यक्ति का नाम है।

[1] ७. २७, ३। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३४५, नोट; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स $१^{२}$, ४३८।

रामकायन—देखिये *वस्त*।

रामा से कुछ स्थलों[1] पर एक 'विनीत गणिका' अथवा वेश्या का आशय प्रगट होता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ८, ३; तैत्तिरीय आरण्यक ५. ८, १३; काठक संहिता २२. ७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ७४, ८४।

रायो-वाज, पञ्चविंश ब्राह्मण (८. १, ४; १३. ४, १७; तु० की० २४. १, ७) में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

राष्ट्र, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'राज्य' अथवा 'साम्राज्य' का द्योतक है।

[1] ४. ४२, १; ७. ३४, ११; ८४, २; १०. १०९, ३; १२४, ४, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १०. ३, १२; १२. १, ८; १३. १, ३५; वाजसनेयि संहिता ९. २३; २०. ८; तैत्तिरीय संहिता १. ६, १०, ३; ३. ५, ७, ३; ५. ७, ४, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, १३, इत्यादि; मैत्रायणी संहिता ३. ३, ७; ७, ४; ८, ६; ४. ६, ३।

राष्ट्र-गोप (राष्ट्र का रक्षक) ऐतरेय ब्राह्मण (८ .२५) में उस *पुरोहित* के लिये व्यवहृत उपाधि है जिसका यह एक विशेष उत्तरदायित्व होता था कि वह अपने अभिचारों तथा संस्कारों की शक्ति से राजा और राष्ट्र की रक्षा करे।

रासभ, ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में 'गदहे' का द्योतक है।

[1] १. ३४. ९; ११६, २; १६२, २१; ३. ५३, ५; ८. ८५, ७।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण ५. १, ५, ७; कौषीतकि ब्राह्मण १८. १; शतपथ ब्राह्मण ६. १, १, ११; ३, १, २३; २, ३; ४, ४, ३, इत्यादि। तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३३; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १४९ जो ऋग्वेद ३. ५३, ५ में इस शब्द से 'खच्चर' के आशय की सम्भावना व्यक्त करते हैं।

रासा, यजुर्वेद संहिताओं[1] तथा शतपथ ब्राह्मण[2] में, *रशना* और *रश्मि* की भाँति, 'कमरबन्द' अथवा 'करधनी' का द्योतक है।

[1] वाजसनेयि संहिता १. ३०; ११. ५९; ३८. १; तैत्तिरीय संहिता १. १, २, २; ४. १, ५, ४; काठक संहिता १. २; १६. ५; १९. ६, इत्यादि।

[2] ६. २, २, २५; ५, २, ११. १३। तु० की० 'रासाव' ४. १, ५, १९।

राहु, अर्थात सूर्य को ग्रसित करनेवाले दानव का अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर सन्दर्भ प्रतीत होता है। यद्यपि यहाँ पाठ कुछ संदिग्ध है, तथापि सम्भवतः राहु का ही अर्थ होना चाहिये।

[1] १९. ९, १०। तु० की० कौशिक सूत्र, १००; इन्डिशे स्टूडियन, १, ८७; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९१४।

राहू-गण (*रहू-गण* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *गोतम* का पैतृक नाम है।

[1] १. ४, १, १०. १८; ११. ४, ३, २०। तु० की० ऋग्वेद १. ८१, ३ पर सायण भी; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, ३, १५१, १५२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन २, ८।

रिक्थ, ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में 'उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति'[1] के आशय में मिलता है।

[1] ३. ३१, २ जिस पर तु० की० निरुक्त ३. ५; गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर, ४९, ५०; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, २३९ और बाद।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८, ९ (शुनःशेप की दुहरी पैतृक सम्पत्ति जो मूलग्रन्थ के अनुसार गाथिनों की योग्यता तथा जह्नुओं की राजसत्ता थी; किन्तु देखिये वेबर : ए० रि० १६, जिनका विचार है कि यहाँ उत्तराधिकार में प्राप्त दो गृह—*आङ्गिरस* और *कुशिक*—थे)।

रिपु, ऋग्वेद[1] में 'शत्रु' के लिये एक साधारण शब्द है। यह अथर्ववेद[2] में भी आता है।

[1] १. ३६, १६; १४७, ३; १४८, ५; २. २३, १६; २७, १६; ३४, ९, इत्यादि।

[2] १९. ४९, ९।

रुक्म, ऋग्वेद[1] में सम्भवतः स्वर्ण के आभूषण का द्योतक है जिसे सामान्यतया वक्ष पर धारण किया जाता था। अनेक स्थलों पर सूर्य के लिये प्रयुक्त होने के कारण इसका आकार सम्भवतः बिम्ब के सामान रहा होगा। ब्राह्मणों[2] में यह एक स्वर्ण की थाली का द्योतक है। *रजत* भी देखिये।

[1] १. १६६, १०; ४. १०, ५; ५. ५३, ४; ५६, १, इत्यादि। इसी प्रकार 'रुक्म-वक्षस्' (वक्ष पर स्वर्ण आभूषण धारण किये हुये), २. ३४, २. ८; ५. ५५, १; ५७, ५ इत्यादि; 'रुक्मिन्' १. ६६, ६; ९. १५, ५। तु० की० तैत्तिरीय संहिता २. ३, २, ३; ५. १, १०, ३; वाजसनेयि संहिता १३. ४० इत्यादि।

[2] शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, २०; ५. २, १, २१; ४, १, १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ३; ९, १ इत्यादि। इसी प्रकार 'रुक्मिन्', शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, २; और ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१, ३ में।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६०, २६३; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १६०, जो 'सोने के सिक्के' के आशय की सम्भावना व्यक्त करते हैं; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ११२, २९९।

रुक्म-पाश[1] उस रस्सी का द्योतक है जिसपर 'स्वर्ण-पात्र' को लटकाया जाता था।

[1] शतपथ ब्राह्मण ६. ७, १, ७. २७; ३, ८; ७. २, १, १५ इत्यादि।

रुद्र-भूति द्राह्यायण, वंश ब्राह्मण[1] में *त्रात* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

रुम का ऋग्वेद (८. ४, २) के एक सूक्त में *रुशम*, *श्यावक* और *कृप* के साथ-साथ इन्द्र के प्रिय पात्र के रूप में उल्लेख है।

रुरु, यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के वलि-प्राणियों में से एक है। इससे एक प्रकार के मृग का आशय है। ऋग्वेद[2] में मृगशीर्ष (रुरु-शीर्षन्) वाणों का उल्लेख है जिनका ऐसे वाणों से तात्पर्य है जिनकी नोंक मृगों की सींग से वनी होती थीं।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १९, १; वाजसनेयि संहिता, २४. २७. ३९; मैत्रायणी संहिता, ३. १४, ९।

[2] ६. ७५, १५।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ८३।

रुशम का ऋग्वेद[1] में तीन वार इन्द्र के एक आश्रित के रूप में उल्लेख है। ऋग्वेद[2] के ही एक अन्य स्थल पर रुशम-गण अपने उदार राजा *ऋणंचय* के साथ आते हैं। इनका ही अथर्ववेद[3] के एक स्थल पर इनके *कौरम* नामक राजा के साथ उल्लेख है।

[1] ८. ३, १३; ४, २; ५१, ९।

[2] ५. ३०, १२–१५।

[3] २०. १२७, १।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, १२९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५४; औल्डेनवर्ग : बुद्ध, ४०९; त्सी० गे० ४२, २१४; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६९०।

रुशमा का पञ्चविंश ब्राह्मण (२५. १३, ३) में उल्लेख है जहाँ ऐसा कथन है कि यह *कुरुक्षेत्र* के चारों ओर भागती रही और इस प्रकार इन्द्र को पराजित कर सकी। फलस्वरूप इन्द्र ने पृथ्वी से तात्पर्य सम्बन्धी इसकी चुनौती को समझ लिया था। इस कथा द्वारा रुशमों का *कुरुओं* के साथ सम्बद्ध होने का संकेत मिलता है।

रुषती, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर लुडविग[2] के अनुसार उस कन्या का

[1] १. ११७, ८।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५०।

द्योतक है जो *श्याव* को विवाहित थी। दूसरी ओर रौथ[3] इस शब्द को 'रुशती' (श्वेत) मानते हैं, जब कि मूल-ग्रन्थ में 'रुशतीम्' पाठ है। इस शब्द का क्या अर्थ है और श्याव एक व्यक्तिवाचक नाम है अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध है।[4]

[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था० 'रुशन्त्'।
[4] तु० की० औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ११० जिनका विचार है कि 'क्षोण' एक व्यक्ति का नाम हो सकता है।

रेक्णस्, ऋग्वेद में[1] 'उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति' और सामान्य रूप से किसी भी 'सम्पत्ति' का द्योतक है।

[1] १. ३१, १४; १२१, ५; १५८, १; १६२, २; ६. २०, ७; ७. ४, ७; ४०, २, इत्यादि।

रेणु, ऐतरेय ब्राह्मण (७. १७, ७) और शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५.२६, १) में *विश्वामित्र* के एक पुत्र का नाम है।

१. रेभ, ऋग्वेद[1] में 'प्रशस्ति गायक' का द्योतक है।

[1] १. १२७, १०; ६. ३, ६; ११, ३; ७. ६३, ३; ८. ९७, ११; ९. ७, ६, इत्यादि। तु० की० अथर्ववेद २०. १२७, ४।

२. रेभ, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के उस आश्रित के रूप में आता है जिसकी अश्विनों ने वन्दीगृह[1] तथा जलों से रक्षा की थी।

[1] १. ११२, ५; ११६, २४; ११७, ४; ११८, ६; ११९, ६; १०. ३९, ९।

रेवा को, जो कि नर्मदा नदी का नाम है और अन्यथा केवल वैदिकोत्तर साहित्य में ही आता है, वेबर[1] ने उस *रेवोत्तरस्* शब्द में देखा है जो शतपथ ब्राह्मण[2] में मिलता है और निश्चित रूप से एक व्यक्ति का नाम है।

[1] इन्डियन लिटरेचर १२३ (रेवा के दक्षिण प्रदेश का रहनेवाला एक निवासी)। तु० की० इन्डियन ऐन्टीक्वेरी, ३०, २७३, नोट १७।
[2] १२. ८, १, १७; ९, ३, १।

रेवती—देखिये *नक्षत्र*।

रेवोत्तरस्, उस *पाटव चाक्र स्थपति*[1] का नाम है जिसको *दुष्टरीतु पौंसायन* के साथ-साथ *सृञ्जयों* ने बहिष्कृत कर दिया था, और जिसने

[1] शतपथ ब्राह्मण १२. ९, ३, १ और बाद। तु० की० १२. ८, १, १७।

कुरु राजा *बल्हिक प्रातिपीय* के विरोध के विपरीत भी अपने प्रतिपालक के पुनर्प्रतिष्ठापन में अंशतः सहायता प्रदान की थी।

रेष्मन्, अथर्ववेद (६. १०२, २; १५. २, १), मैत्रायणी संहिता (३. १५, २) और वाजसनेयि संहिता (२५. २) में 'चक्रवात' का द्योतक है।

रैक्व, एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जिसका अनेक बार छान्दोग्य उपनिषद् (४. १, ३. ५. ८; २, २. ४) में उल्लेख है।

रैक्व-पर्ण (पु०, बहु०) छान्दोग्य उपनिषद्[1] के अनुसार *महावृष* प्रदेश के अन्तर्गत एक स्थान का नाम है।

[1] ४. २, ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १३०।

रैभी (स्त्री०, बहु०) ऋग्वेद[1] और तैत्तिरीय संहिता[2] में *गाथा* और *नाराशंसी* के साथ-साथ साहित्य के एक रूप का नाम है। बाद[3] में रैभी मन्त्रों को अथर्ववेद[4] के कुछ मन्त्रों के साथ समीकृत किया गया है; किन्तु ऋग्वेद और तैत्तिरीय संहिता के भी बीच इस प्रकार के समीकरण का होना[5] अत्यन्त सन्दिग्ध[6] है।

[1] १०. ८५, ६।
[2] ७. ५, ११, २; काठक, अश्वमेध ५, २।
[3] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२, १; कौषीतकि ब्राह्मण ३०, ५, इत्यादि।
[4] २०. १२७, ४-६ = खिल ५. ९।
[5] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ६८९।
[6] औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ४२, २३८।

रैभ्य (*रेभ* का वंशज), माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५, २०; ४. ५, २६) के प्रथम दो वंशों में एक गुरु का नाम है। यहाँ इसे *पौतिमाष्यायण* और *कौण्डिन्यायन* का शिष्य कहा गया है।

रोग, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में सामान्य रूप से 'व्याधि' का द्योतक है।

[1] १. २, ४; २. ३, ३; ३. २८, ५; ६. ४४, १; १२०, ३; सर का (शीर्षण्य) ९. ८, १. २१ और बाद।
[2] छान्दोग्य उपनिषद् ७. २६, २।

रोपणाका, एक पक्षी का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में

[1] १. ५०, १२।
[2] १. २२, ४। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ६, २२।

उल्लेख है। इससे किसी गानेवाले पक्षी का आशय है[3]; किन्तु कौशिक सूत्र[4] के भाष्यकार केशव इसे एक प्रकार की लकड़ी के अर्थ में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं।

[3] 'सारिका', ऋग्वेद उ० स्था०, पर सायण। अथर्ववेद १. २२, ४ पर आप इसकी 'काष्ठ शुक' के रूप में व्याख्या करते हैं जो सम्भवतः एक प्रकार का शुक है।

[4] २६. २०।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९२; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २६६; कैलेण्ड : आल्टिन्डिशे त्सावररिचुअल, ७६, नोट १३; ह्विट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद, २३।

रोमशा का बृहद्देवता[1] में राजा *भावयव्य* की पत्नी के रूप में उल्लेख है और इसे ऋग्वेद के एक मन्त्र[2] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। किन्तु वास्तव में उस मन्त्र में, जिसे इस कथा का स्रोत माना गया है, 'रोमशा' केवल एक विशेषण है जिसका अर्थ 'बालवाला' है।

[1] ३. १५६ और बाद, तथा इस पर मैकडौनेल की टिप्पणी।

[2] १. १२६, ७।

तु० की० औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, १२८।

१. रोहिणी ऋग्वेद[1] और बाद[2] में लाल रंग की गाय का द्योतक है।

[1] ८. ९३, १३; १०१, १३ (रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था० के साथ सहमत होते हुये 'रोहिण्याः' पाठ मानते हैं)।

[2] अथर्ववेद १३. १, २२; तैत्तिरीय संहिता ६. १, ६, २; शतपथ ब्राह्मण २. १, २, ६; ४. ५, ८, २, इत्यादि।

२. रोहिणी—देखिये नक्षत्र।

रोहित, ऋग्वेद[1] के कुछ स्थलों पर सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार एक 'लाल अश्वी' का द्योतक है, जब कि बाद[2] में इससे एक 'लाल हरिणी' का अर्थ है।

[1] १. १४, १२; १००, १६; ५. ५६, ५; और ७. ४२, २।

[2] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ६, ५; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ११. १८; वाजसनेयि संहिता २४. ३०. ३७; अथर्ववेद ४. ४, ७; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३३, १ (तु० की० ब्लूमफील्ड ज० अ० ओ० सो० १५, १७८, नोट)।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८२।

१. रोहित, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक 'लाल अश्व' का द्योतक है।

[1] १. ९४, १०; १३४, ९; २. १०, २; ३. ६, ६, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ४, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, १२, इत्यादि। इसी प्रकार अथर्ववेद १३. १, १ और बाद में भी रोहित एक लाल अश्व का द्योतक है।

२. रोहित, ऐतरेय ब्राह्मण (७. १४) और शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५. १८, ८) में वर्णित *शुनःशेप* की प्रसिद्ध कथा में *हरिश्चन्द्र* का एक पुत्र है।

रोहितक, मैत्रायणी संहिता (३. ९, ३) में 'रोहीतक'[1] जैसे एक विभेदात्मक पाठ सहित एक वृक्ष (Andersonia Rohitaka) के नाम के रूप में आता है।

[1] इसी प्रकार आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १. ५, ८।

रोहितक-कूल, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक स्थान का नाम है और इसके नाम पर ही एक सामन् का नामकरण किया गया है।

[1] १४. ३, १२। तु० की० १५. ११, ६; लाट्यायन श्रौत सूत्र ६. ११, ४।

रोहीतक—देखिये *रोहितक*।

१. रौहिण का ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में इन्द्र के एक दानव शत्रु के रूप में उल्लेख है। हिलेब्रान्ट[3] इस शब्द में किसी नक्षत्र का (तु० की० *रोहिणी*) आशय देखना तो चाहते हैं किन्तु बिना किसी स्पष्ट आधार के ही।

[1] १. १०३, २; २. १२, १२।
[2] २०. १२८, १३।
[3] वेदिशे माइथौलोजी ३, २०७।

२. रौहिण (रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न) *वासिष्ठ* (वसिष्ठ का वंशज), तैत्तिरीय आरण्यक (१. १२, ५) में एक व्यक्ति का नाम है।

रौहिणायन (*रौहिण* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१०, ३, ५, १४) में *प्रियव्रत* का पैतृक नाम है। माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५, २०; ४. ५, २६) के प्रथम दो वंशों में भी यह *शौनक* तथा अन्य व्यक्तियों के शिष्य के रूप में एक गुरु का नाम है।

ल

लक्ष, ऋग्वेद[1] में पासे के खेल के पुरस्कार का द्योतक है।

[1] २. १२, ४। तु० की० ल्यूडर्स : डॉ० ३०, ४, नोट १; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २८७।

लक्षण[1] अथवा *लक्ष्मन्*[2], स्वामित्व स्पष्ट करने के लिए मवेशियों पर लगाये गये 'चिह्न' का द्योतक है। मैत्रायणी संहिता[3] के अनुसार *रेवती* नक्षत्र में ही इस प्रकार का चिह्न बनाना चाहिये, जो कि स्पष्टतः इसीलिये कि इस नक्षत्र का नाम सम्पत्ति का द्योतक है। देखिये *अष्टकर्णी*।

[1] गोभिल गृह्य सूत्र ३. ६, ५। तु० की० शाङ्खायन गृह्य सूत्र ३. १०; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन ५, ३५; १३, ४६६।

[2] अथर्ववेद ६. १४१, २; मैत्रायणी संहिता ४. २, ९।

[3] उ० स्था०।

लक्ष्मण्य, ऋग्वेद[1] के एक मन्त्र में *ध्वन्य* का पैतृक नाम प्रतीत होता है।

[1] ५. ३३, १०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५५।

लक्ष्मन्—देखिये *लक्षण*।

लब (Perdix chinensis) यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों में से एक है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ५; वाजसनेयि संहिता २४. २४। तु० की० निरुक्त ७. २ जहाँ ऋग्वेद १०. ११९ को 'लवसूक्त' कहा गया है; अनुक्रमणी ने भी 'ऐन्द्र लव' को इस सूक्त का प्रणेता बताया है। तु० की० मैकडौनेल की टिप्पणी सहित बृहद्देवता ८. ४०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९०।

लम्बन, माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (५. १२, १) में *आडम्बर* (ढोल) के स्थान पर काण्व शाखा (५. १०, १) का पाठ है।

लवण का ऋग्वेद में कहीं भी नहीं, अथर्ववेद[1] में केवल एक बार, और उसके बाद ब्राह्मणों[2] के उन अद्यतन भागों के अतिरिक्त कहीं उल्लेख नहीं

[1] ७. ७६, १।

[2] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ७=जैमिनीय उपनिषद् ३. १७, ३। तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ६. १३, १; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, १२; शतपथ ब्राह्मण ५. २, १, १६, भी; देखिये स्ट्राबो, १५. १, ३०।

मिलता, जहाँ इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण[3] माना गया है। यदि उस समय भारतीयों द्वारा अधिकृत क्षेत्र पंजाब और सिन्धु-घाटी था तो आरम्भिक काल में इस शब्द सम्बन्धी यह मौन कुछ आश्चर्यजनक ही है क्योंकि इन क्षेत्रों में लवण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। किन्तु यदि हम कुरुक्षेत्र[4] को आरम्भिक वैदिक भारतीयों का गृह मान लें तो यह आश्चर्य प्रथम दृष्टि में कुछ कम होगा। फिर भी इसकी कल्पना की जा सकती है कि ऐसे क्षेत्र में जहाँ एक अनिवार्य वस्तु अत्यन्त सुलभ हो वहाँ उसका साहित्य में उल्लेख उपेक्षित रह जाय, किन्तु ऐसे क्षेत्र में उसका उल्लेख मिले जहाँ वह दुष्प्राप्य और इसलिये अत्यन्त मूल्यवान् हो गई हो।

[3] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ७ में इसे स्वर्ण से भी उच्च स्थान दिया गया प्रतीत होता है।

[4] तु० की० इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, भाग २६ में मानचित्र संख्या १९, और देखिये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १९, २१ और बाद; इन्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, ३०, और बाद।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५४, ५५; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़ ३१८; गीगर : ऑस्टर-निशे कल्चर, ४१९; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५०।

लवन, निरुक्त (२. २) में फसल की कटाई या 'लवाई' का द्योतक है।

लाक्षा, एक बार एक पौधे के नाम के रूप में अथर्ववेद[1] में आता है।

[1] ५. ५, ७। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २२९; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३८७, ४२१।

लाङ्गल, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'हल' के लिये प्रयुक्त नियमित शब्द है। इसका अनेक स्थलों[3] के क्रम में 'पवीरवत्' अथवा 'पवीरवम्' (नुकीला) 'सुशीमम्'[4] और 'चिकनी मुठिया वाला' (देखिये *त्सरु*), इत्यादि रूपों में वर्णन किया गया है। *सीर* भी देखिये।

[1] ४. ५७, ४।

[2] अथर्ववेद २. ८, ४; तैत्तिरीय संहिता ६. ६, ७, ४; निरुक्त ६. २६, इत्यादि; 'लाङ्गलेषा', आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २२. ४, ७।

[3] अथर्ववेद ३. १७, ३ = तैत्तिरीय संहिता ४. २, ५, ६ = काठक संहिता १६. ११ = मैत्रायणी संहिता २. ७, १२ = वाजसनेयि संहिता १२. ७१ = वासिष्ठ धर्मसूत्र २. ३४. ३५।

[4] मूल पाठ में 'सुशेवम्' है; रौथ 'सुसीमन्' का अनुमान करते हैं। देखिये व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १६६।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३६।

लाङ्गलायन ('लाङ्गल' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (५. ३, ८) में *ब्रह्मन् मौद्गल्य* (*मुद्गल* का वंशज) का पैतृक नाम है ।

लाज (पु० बहु०) बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में भुने हुये अन्न का द्योतक है ।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. ११, २, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १९. १३. ८१; २१. ४२, इत्यादि ।
[2] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, २, ७. १०; ९, १, २; १३. २, १, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ४ ।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६९ ।

लाजि, वाजसनेयि संहिता (२३. ८) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ९, ४, ८) में आने वाला एक अनिश्चित आशय का शब्द है । सायण के अनुसार यह 'लाजिन्' का सम्बोधक रूप है जब कि महीधर के अनुसार यह भुने हुये अन्न के परिमाण का द्योतक है ।

लातव्य ('लतु' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *कृशाम्ब स्वायव* का पैतृक नाम है ।

[1] ८. ६, ८ । तु० की० षड्विंश ब्राह्मण ४. ७; गोपथ ब्राह्मण १. १, २५ (यहाँ एक गोत्र का उल्लेख है) ।

लामकायन ('लमक' का वंशज') का लाट्यायन श्रौत सूत्र[1], निदान सूत्र[2], और द्राह्यायण श्रौत सूत्र[3] में एक आचार्य के रूप में उल्लेख है । वंश ब्राह्मण[4] में यह *संवर्गजित्* नाम के साथ भी आता है ।

[1] ४. ९, २२; ६. ९, १८, इत्यादि; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४९ ।
[2] ३. १२, १३; ७. ४, ८, इत्यादि; वेबर : उ० पु० १, ४५ ।
[3] वेबर : उ० पु० ४, ३८४ ।
[4] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३ ।

लाह्यायनि ('लह्य' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ३, १, २) में *भुज्यु* का पैतृक नाम है ।

लिबुजा, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में पेड़ों पर चढ़नेवाली एक लतिका का नाम है ।

[1] १०. १०, १३ ।
[2] ६. ८, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १३, ११; निरुक्त ६. २८; ११. ३४ ।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७० ।

लुश को ब्राह्मणों[1] के विभिन्न स्थलों पर इन्द्र की कृपा प्राप्त करने में कुत्स के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में व्यक्त किया गया है। ऋग्वेद की अनुक्रमणी द्वारा 'लुश धानाक' को कुछ सूक्तों[2] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है।

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण ९. २, २२; जैमिनीय ब्राह्मण १. २२८; ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १८, ३१, और बाद, में शाट्यायनक।

[2] १०. ३५. ३६। तु० की० बृहद्देवता २. १२९; ३. ५५, और इस पर मैकडौनेल की टिप्पणी।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, २९१, नोट ३; लेवी : ल डॉक्ट्रिन दु सैक्रीफाइस, ३७, ३८।

लुशाकपि खार्गलि ('खृगल' का वंशज) का पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *कुषीतक* और *कौषीतकिनों* को शाप देनेवाले के रूप में उल्लेख है। काठक संहिता[2] के कथनानुसार यह *केशिन दाल्भ्य* का समकालीन था।

[1] १७. ४, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १४३, नोट ३।

[2] ३०. २ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७१); कपिष्ठल संहिता ४६. ५।

लोक, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'संसार' का द्योतक है। अक्सर तीन लोकों[3] का उल्लेख है और 'अयं लोकः[4]' (यह लोक) का नित्य ही 'असौ लोकः[5]' (दूरस्थ अर्थात् दिव्य लोक) के साथ विभेद किया गया है। कभी-कभी स्वयं लोक शब्द भी द्युलोक[6] का द्योतक है, जब कि कुछ अन्य स्थलों पर अनेक प्रकार के लोकों का उल्लेख[7] है।

[1] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०, २, इस अर्थ को ऋग्वेद के किसी भी स्थल के लिये उद्धृत नहीं करते। आप के अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द 'स्थान', 'खुले अथवा विस्तृत क्षेत्र' आदि के आशय में ही आता है। किन्तु ऋग्वेद १०, १४, ९ इसके विस्तृत आशय का बहुत कुछ निश्चित उदाहरण है।

[2] अथर्ववेद ८. ९, १. १५; ४. ३८, ५; ११. ५, ७; ८, १०, इत्यादि; ९. ५, १४, में 'दिव्य' और 'पार्थिव' लोकों का विभेद किया गया है; वाजसनेयि संहिता ३२. ११ और बाद, इत्यादि।

[3] अथर्ववेद १०. ६, ३१; १२. ३, २०; ऐतरेय ब्राह्मण १. ५, ८; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ७, ३, इत्यादि।

[4] अथर्ववेद ५. ३०, १७; ८. ८, ८; १२. ५, ३८; १९. ५४, ५; वाजसनेयि संहिता १९. ४६, इत्यादि।

[5] अथर्ववेद १२, ५, ३८. ५७; तैत्तिरीय संहिता १. ५, ९, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २८, २; ८. २, ३, इत्यादि।

[6] शतपथ ब्राह्मण २. ६, १, ७; १०. ५, ४, १६; ११. २, ७, १९; और सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण ७. १३, १२ भी।

[7] काठक संहिता २६. ४; कौषीतकि ब्राह्मण २०. १; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ६, १; ४. ३, ३३ और बाद; ६. १, १८, इत्यादि।

लोध, ऋग्वेद[1] के एक अत्यन्त अस्पष्ट मन्त्र में आता है जहाँ रौथ[2] का अनुमान है कि इससे किसी लाल रङ्ग के पशु का तात्पर्य है। औल्डेनबर्ग[3] ऐसा विचार करने के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इससे लाल रङ्ग के बकरे का आशय है।

[1] ३. ५३, २३।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ऋग्वेद-नोटेन, १, २५५।
तु० की० तैत्तिरीय संहिता ५. ६, १६, १ में अस्पष्ट पद 'अधी-लोध-कर्ण' जिसका अर्थ सम्भवतः 'सर्वथा लाल कान वाला' है। यास्क : निरुक्त ४. १२, इस शब्द को 'लुब्ध' के साथ समीकृत करते हैं। किन्तु यह आशय प्रसङ्ग के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८४; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १६०; ऋग्वेद; ग्लॉसर, १५१, जो इस शब्द में एक विशिष्ट अश्व की उपाधि का आशय देखते हैं।

लोपा का तैत्तिरीय संहिता[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है जहाँ सायण इसकी एक प्रकार के पक्षी, सम्भवतः 'मांसभक्षक काग' (श्मशान-शकुनि) के रूप में व्याख्या करते हैं।

[1] ५. ५, १८, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९३।

लोपा-मुद्रा, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में आती है जहाँ यह उस *अगस्त्य* की पत्नी है जिसके आलिङ्गन की यह याचना करती है।[2]

[1] १. १७९, ४।
[2] बृहद्देवता ४. ५७ और बाद (मैकडौनेल की टिप्पणी सहित) में यह कथा एक भिन्न रूप से कही गयी है। देखिये औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ६८; गो०, १९०९, ७६ और बाद; सीग : सा० ऋ० १२० और बाद; विन्टर-निज़ : वि० ज० २०, २ और बाद; फॉन श्रोडर : मिस्टीरियम उन्ट माइमस, १५६ और बाद; कीथ : ज० ए० सो०, १९०९, २०४; १९११, ९९७, नोट ३।

लोपाश का, जो कि किसी पशु, सम्भवतः 'शृगाल' अथवा 'लोमड़ी' का द्योतक है, ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। इसे यजुर्वेद संहिताओं[2] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है।

[1] १०. २८, ४।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २१, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १७; वाजसनेयि संहिता २४. ३६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८४।

लोह, जो प्रमुखतः 'लाल' अर्थ वाला एक विशेषण है, एक धातु, कदाचित् 'ताँबे' अथवा बहुत सम्भवतः 'काँसे' के लिये क्लीव विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसका वाजसनेयि संहिता[1] तथा तैत्तिरीय संहिता[2] में उल्लेख है जहाँ *श्याम* के साथ इसका विभेद किया गया है। यह ब्राह्मणों[3] में भी अनेक बार आता है। देखिये *अयस्*।

[1] १८. १३।
[2] ४. ७, ५, १।
[3] शतपथ ब्राह्मण १३. २, २, १८; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ७; ६. १, ५; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. १, ४, जहाँ ऑर्टेल इसे 'ताँबे' के अर्थ में ग्रहण करते हैं और उस अयस् से इसका विभेद करते हैं जिसका आप 'पीतल' अनुवाद करते हैं। 'लोहे' का आशय कहीं भी आवश्यक नहीं।
तु० की० विंसेन्ट स्मिथ : इन्डियन ऐन्टीक्वेरी, ३४, २३०; और धातुओं के आरम्भिक इतिहास के लिये, मोसो : मेडिटरेनियन सिविलिज़ेशन, ५७–६२।

लोह-मणि, छान्दोग्य उपनिषद् (६. २, ५) में, जैसा कि बौटलिङ्क[1] अनुवाद करते हैं, 'ताँबे के कवच' का द्योतक है, 'स्वर्ण के टुकड़े' का नहीं, जैसा भाष्यकार का अनुसरण करते हुए मैक्स मूलर अनुवाद करते हैं।

[1] तु० की० लिटिल : ग्रामेटिकल इन्डेक्स, १३४।

लोहायस (लाल धातु) का शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लेख है जहाँ *अयस्* और स्वर्ण के साथ इसका विभेद किया गया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में इसका 'कार्ष्णायस' के, तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में 'कृष्णायस' के साथ विभेद किया गया है। इससे 'ताँबे' का अर्थ प्रतीत होता है।

[1] ५. ४, १, १. २।
[2] ३. १७, ३।
[3] ३. १२, ६, ५।
तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ९०, नोट; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, १८९।

लोहित, जो कि अक्सर 'लाल' अर्थ में विशेषण के रूप में आता है, अथर्ववेद (११. ३, ७) में एक धातु, सम्भवतः 'ताँबे' के लिए क्लीव विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (२४. ९, ७) में यह एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में आता है।

लोहितायस ('लाल धातु', 'ताँबा') मैत्रायणी (२. ११, ५; ४. ४, ४) और काठक (१८. १०) संहिताओं में *लोह* का एक विभेदात्मक पाठ है।

लोहिताहि (लाल सर्प) सर्प की एक जाति का नाम है जिसका यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १४, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १२; वाजसनेयि संहिता २४. ३१। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९५।

लौहित्य ('लोहित का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में अनेक गुरुओं का पैतृक नाम है, जिससे ऐसा स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ लौहित्य परिवार के सदस्यों के लिये विशेष रूप से पठन का विषय रहा होगा। देखिये *कृष्णदत्त*, *कृष्णरात*, *जयक*, *त्रिवेद कृष्णरात*, *दक्ष जयन्त*, *पल्लिगुप्त*, *मित्रभूति*, *यशस्विन् जयन्त*, *विपश्चित् दृढजयन्त*, *वैपश्चित दार्ढजयन्ति*, *वैपश्चित् दार्ढजयन्ति दृढजयन्त*, *श्यामजयन्त*, *श्यामसुजयन्त*, *सत्यश्रवस्*। शाङ्खायन आरण्यक[1] में भी एक 'लौहित्य' अथवा 'लौहिक्य' का एक गुरु के रूप में उल्लेख है। परिवार से प्रभावित नाम (जयन्त) का रूप तथा अपेक्षाकृत प्राचीन ग्रन्थों का इनके सम्बन्ध में मौन यह सिद्ध करता है यह लोग आधुनिक ही थे।

[1] ७. २२.। तु० की० : शाङ्खायन आरण्यक, ५०, नोट १।

व

१. *वंश*, जो कि बाँस की बनी घर में लगनेवाली 'धरन' का द्योतक है, इस आशय में ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] भी मिलता है। तु० की० *तिरश्चीनवंश*, *प्राचीनवंश*, और देखिये *गृह*।

[1] १. १०, १।

[2] अथर्ववेद ३. १२, ६; ९. ३, ४; मैत्रायणी संहिता ४. ८, १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ३, १; शतपथ ब्राह्मण ९. १, २, २५; 'शाला-वंश', ऐतरेय आरण्यक ३. २, १; शाङ्खायन आरण्यक ८. १, जहाँ कदाचित घर की प्रमुख 'धरन' से तात्पर्य है। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१, १५३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३४६।

२. *वंश* (शब्दार्थ 'बाँस'), 'आध्यात्मिक वंश-क्रम'[1] (गुरुओं की तालिका) के आशय में शतपथ ब्राह्मण[2], वंश ब्राह्मण[3] और शाङ्खायन आरण्यक[4] में मिलता है।

[1] बाँस के एक के बाद दूसरे जोड़ों की तुलना में। तु० की० 'वंश-वृक्ष'।

[2] १०. ६, ५, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १४।

[3] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७४।

[4] १५. १।

वंश-नर्तिन् का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में उल्लेख है। इससे एक 'नट' अथवा बाँस पर नर्तन करनेवाले का आशय प्रतीत होता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. २१; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १७, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २९०।

वंसग ऋग्वेद[1] में उस 'बैल' के लिये प्रयुक्त सामान्य शब्द है जो यूथ का नेतृत्व करता था।

[1] १. ७, ८; ५५, १; ५८, ४; ५. ३६, १, इत्यादि; अथर्ववेद १८. ३, ३६।

वक दाल्भ्य ('दल्भ' का वंशज) छान्दोग्य उपनिषद्[1] में एक गुरु का नाम है। काठक संहिता[2] के अनुसार इसका *धृतराष्ट्र* के साथ संस्कार-सम्बन्धी विवाद हो गया था।

[1] १. २, १३; १२, १। | [2] ३०. २ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७१)।

वकल, ब्राह्मणों[1] में वृक्ष की 'भीतरी छाल' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ४, २; कौषीतकि ब्राह्मण १०. २।

वक्षणा (स्त्री०, बहु०) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर नदी की घाटी का द्योतक है।

[1] ३. ३३, १२। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, १७५–१८१।

वघा, अथर्ववेद[1] में एक घृणित पशु का नाम है।

[1] ६. ५०, ३; ९. २, २२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८।

वङ्ग, जो कि आधुनिक बंगाल का नाम है, उस समय तक आरम्भिक वैदिक साहित्य में नहीं मिलता जब तक इसे उस 'वङ्गावगधाः' में ही न ढूँढ़ा जाय जो ऐतरेय आरण्यक[1] में आता है और जो दो पड़ोसी जाति के नाम के लिये 'वङ्ग-मगधाः' (वङ्ग और मगध जातियाँ) के रूप में संशोधित हुए होने का संकेत करता है। बौधायन धर्म सूत्र[2] में यह नाम निश्चित रूप से मिलता है।

[1] २. १, १। तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक, २००; 'मगध-वङ्ग-मत्स्याः', अथर्ववेद परिशिष्ट (१. ७, ७) में आता है, किन्तु यह बहुत बाद का ग्रन्थ है।

[2] १. १, १४। तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ३९४, नोट; कैलेण्ड : त्सी० गे० ५६, ५५३।

वङ्गृद, ऋग्वेद[1] में किसी दानव, अथवा मानव-शत्रु का नाम है।

[1] १. ५३, ८। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४९।

वज्र, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में गेल्डनर[2] के अनुसार हथौड़े की 'मुठिया' का द्योतक है, जब कि कूट हथौड़े के 'सर' का नाम है।

[1] ६. २४, १।

[2] वेदिशे स्टूडियन, १, १३८।

वडवा, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'अश्वी' के लिये प्रयुक्त साधारण नाम है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ६, ३; ३. ८, २२, ३; शतपथ ब्राह्मण ६. ५, २, १९, इत्यादि। इसी से व्युत्पन्न एक पुल्लिङ्ग शब्द 'वडव' है, तैत्तिरीय संहिता, २. १, ८, ३।

वणिज्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'वणिक्' अथवा 'व्यवसायी' का द्योतक है। देखिये *पणि* और *क्रय*; तु० की० *वाणिज* भी।

[1] १. ११२, ११; ५. ४५, ६।

[2] अथर्ववेद ३. १५, १, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २५७।

वणिज्या, ब्राह्मणों[1] में व्यवसायी (*वणिज्*) के व्यवसाय का द्योतक है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १. ६, ४, २१; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, २।

१. *वत्स*, 'बछड़े' के आशय में ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में अक्सर मिलता है। गाय को दूध देने के लिए प्रवृत्त करने के लिए बछड़ों के प्रयोग का[3], तथा निर्दिष्ट समय पर गायों के बछड़ों से पृथक् होने का[4], सन्दर्भ मिलता है।

[1] ३. ३३, ३; ४. १८, १०, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. १८, २; १२. ४, ७ (भेड़िये इन्हें मार डालते हैं); तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ११, ४ (जन्म लेने पर बछड़े को गाय प्यार करती है), इत्यादि।

[3] तैत्तिरीय संहिता २. ३, ६, २; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. १३, २।

[4] ऋग्वेद ५. ३०, १०; ८. ८८, १। देखिये गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ११४।

२. *वत्स* ऋग्वेद[1] में अनेक बार आता है जहाँ यह *कण्व* के वंशज अथवा उसके पुत्र, एक गायक का नाम है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में ऐसा कथन है कि *मेधातिथि* नामक अपने एक प्रतिद्वन्द्वी के सम्मुख अपनी उत्पत्ति की पवित्रता को सिद्ध करने के लिये इसने सफलतापूर्वक अग्नि-परीक्षा दी थी। *तिरिन्दर*

[1] ८. ६, १; ८, ८; ९, १; ११, ७।

[2] १४. ६, ६।

पारशव्य से उपहार ग्रहण करनेवाले के रूप में इसका शाङ्खायन श्रौत सूत्र[3] में भी उल्लेख है।

[3] १६. ११, २०। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४. ५, ११ में भी यह आता है। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०५; वेबर : ए० रि०, ३६–३८।

वत्सतर, *वत्सतरी*, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'नवजात बछड़े' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १७, १; १८, १; वाजसनेयि संहिता २४. ५; काठक संहिता २४. २; ऐतरेय ब्राह्मण १. २७, २, इत्यादि।

वत्स-नपात् बाभ्रव ('बभ्रु' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों में, *पथिन् सौभर* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] १. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।

वत्स-प्री भालन्दन ('भलन्दन' का वंशज) उस ऋषि का नाम है जो 'वात्सप्र सामन्' का द्रष्टा था। इसका बाद की संहिताओं[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. २, १, ६; काठक संहिता १९. १२ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७०); मैत्रायणी संहिता ३. २, २।

[2] १२. ११, २५। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ६. ७, ४, १।

वधक, अथर्ववेद[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में एक प्रकार की 'नरकट' का द्योतक है।

[1] ८. ८, ३।

[2] ५. ४, ५, १४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७२; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

वधर्, सामान्य आशय में 'आयुध' का द्योतक है। इसका ऋग्वेद में न केवल दिव्य[1] वरन् मानवीय[2] आयुध के रूप में भी प्रयोग हुआ है।

[1] १. ३२, ९, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद ४. २२, ९; ८. २२, ८; २४, २७ तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, २२१।

१. *वधू*, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'स्त्री' के लिए व्यवहृत साधारण शब्द

[1] ५. ३७, ३; ४७, ६; ७. ६९, ३; ८. २६, १३; १०. २७, १२; ८५, ३०; १०७, ९।

[2] अथर्ववेद १. १४, २; ४. २०, ३; १०. १, १; १४. २, ९. ४१, इत्यादि।

है। डेलब्रुक[3] के अनुसार यह या तो विवाहित, अथवा पति की आकांक्षी, या विवाह संस्कार में दूल्हन बनी हुई स्त्री का द्योतक है। 'वहतु' (बारात) की ही भाँति यह शब्द भी 'वह्' (ले जाना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है, अतः इसका 'वह जिसे घर ले आना हो' अथवा 'जो घर ले आई गई हो', अर्थ है। फिर भी, त्सिमर[4] इस व्याख्या पर आपत्ति करते हैं और 'वधू' को उस भिन्न धातु से व्युत्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ 'विवाह करना' है।

[3] डी० व०, ४१४, ४३९। | [4] आल्टिन्डिशे लेवेन, १०८।

२. वधू को ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर रौथ[2] ने किसी 'मादा पशु' के अर्थ में ग्रहण किया है, जब कि त्सिमर[3] का विचार है कि इससे एक 'दासी' का अर्थ है। जहाँ तक 'वधू' के प्रयोग का प्रश्न है यह दोनों ही अर्थ असामान्य हैं, क्योंकि यदि 'वधू' का कहीं भी 'मादा पशु' ('वह्' अर्थात् गाड़ी 'खींचना' से) अर्थ नहीं है, तो यह कहीं 'दासी' का भी द्योतक नहीं: यतः एक स्थान पर *त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य* द्वारा एक गायक को 'पचास वधुयें' दान देने का उल्लेख है, अतः दासी का अर्थ मान लेने पर इस गायक को अत्यन्त विकसित प्रकार का 'बहुपत्नी सेवक' मानना होगा जिसे पचास पत्नियों की आवश्यकता पड़ती थी। उस 'वधूमन्त्' शब्द के सम्बन्ध में भी यही संदेह उत्पन्न होता है जिसका ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में *रथ*[4], *अश्व*[5] और उष्ट्र[6] की उपाधियों के रूप में प्रयोग मिलता है। इन सभी स्थलों पर त्सिमर रथ में अथवा अश्वों सहित 'दासियों' का ही सन्दर्भ देखते हैं: इस व्याख्या की बृहद्देवता[7] द्वारा भी पुष्टि होती है। 'अकाल के समय प्रयुक्त' होनेवाले अश्वों अथवा भैंसों के रूप में रौथ की व्याख्या बहुत संतोषजनक नहीं है। यदि 'वधू' का अर्थ वास्तव में 'मादा पशु' है, तो 'वधूमन्त्' का 'अश्वियों के साथ' अथवा 'मादा भैंसों के साथ' अर्थ होगा जो कुछ तर्कसंगत आशय प्रतीत होता है।[8]

[1] ८. १९, ३६। तु० की० ५. ४७, ६ भी, जिसे पिशल: वेदिशे स्टूडियन २, ३१९ ने अपने अर्थ में ग्रहण किया है।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० ३।

[3] आल्टिन्डिशे लेवेन, १०८, १०९।

[4] १. १२६, ३; ७. १८, २२।

[5] ८. ६८, १७। तु० की० ६. २७, ८।

[6] अथर्ववेद २०. १२७, २।

[7] ३. १४७ और बाद, और इस पर मैकडौनेल की टिप्पणी।

[8] तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त १९७; पिशल: त्सी० गे० ३५, ७१२ और बाद; बौटलिङ्क: डिक्शनरी, व० स्था०।

वध्रिमती (जिसका पति नपुंसक हो) ऋग्वेद[1] में उस स्त्री का नाम प्रतीत होता है जिसके पति को अश्विनों द्वारा पुनः पुन्सत्व प्राप्त हुआ था और जिसने *हिरण्यहस्त* नामक एक पुत्र भी प्राप्त किया था।

[1] १. ११६, १३; ११७, २४; ६. ६२, ७; १०. ३९, ७; ६५, १२।

१. वध्र्य्-अश्व (वधिया अश्वोंवाला) ऋग्वेद[1] में *दिवोदास* के पिता, उस राजा का नाम है जो अग्नि-पूजा का प्रबल समर्थक था और जिसका पुत्र भी बाद में ऐसा ही हुआ। इसका अथर्ववेद[2] में नामों की लम्बी तालिका में उल्लेख है।

[1] ६. ६१, १; १०. ६९, १ और बाद। बाद के सूक्त में सुमित्र कदाचित् ही इसका एक नाम हो सकता है।
[2] ४. २९, ४। तु० की० आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २४. ६, ६।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, ९७।

२. वध्र्य्-अश्व आनूप ('अनूप' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१३. ३, १७) में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

वन, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में केवल वृक्षों के जंगल का नहीं, वरन् 'अरण्य' की भाँति, ऊजड़ और बिना बसी भूमि[3] का भी द्योतक है। इससे सोम-संस्कार[4] में प्रयुक्त एक 'लकड़ी के प्याले' का, तथा एक स्थल पर रथ के किसी भाग[5] का भी आशय है।

[1] १. ५४, १; ६५, ८; ३. ५१, ५; ५. ४१, ११, इत्यादि।
[2] कौशिक सूत्र ७६. ३, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ७. १, १९ ('दम' अर्थात् 'गृह' के विपरीत)।
[4] ऋग्वेद १. ५५, ४; २. १४, ९, इत्यादि। देखिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १६३, १६६, १९३।
[5] ८. ३४, १८।

वन-प (वन का रक्षक) को यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है। तु० की० *दावप*।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ११, १।

वनर्-गु (वन में जानेवाला) का ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में ऐसे डाकुओं के लिए प्रयोग किया गया है जो वनों में रहते थे। सामवेद[3] में यह शब्द अधिक सामान्य आशय में सभ्य मनुष्यों (कवयः) के विपरीत असभ्य लोगों (वनर्गवः) के लिये प्रयुक्त हुआ है,

[1] १०. ४, ६।
[2] ४. ३६, ७।
[3] आरण्य संहिता ४. ९।
तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

वनस्-पति (वनों का अधिपति) प्रमुखतः 'वृक्ष'[1] का और उसके बाद 'स्तम्भ'[2] अथवा 'लट्ठे' का द्योतक है। कुछ स्थलों पर यह या तो रथ के किसी भाग अथवा सम्पूर्ण रूप से रथ के लिये ही व्यवहृत हुआ है।[3] इससे 'लकड़ी का ढोल'[4] अथवा 'लकड़ी का कवच'[5] अर्थ है, जब कि कुछ स्थलों[6] पर यह, पौधों में श्रेष्ठतम, सोम का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १. १६६, ५; ३. ३४, १०; ५. ७, ४; ४१, ८, इत्यादि; अथर्ववेद ११. ६, १ (वीरुध् और ओषधि से भिन्न होने के रूप में); ९, १४, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ८, ४; अथर्ववेद ९. ३, ११, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद २. ३७, ३; ३. ५३, २०; ६. ४७, २६; निरुक्त ९. ११। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५१।
[4] वाजसनेयि संहिता ९. १२। तु० की० अथर्ववेद १२. ३, १५।
[5] अथर्ववेद ६. ८५, १; १०. ३, ८. ११।
[6] ऋग्वेद १. ९१, ६; वाजसनेयि संहिता १०. २३, इत्यादि।

१. वन्दन, ऋग्वेद[1] में एक व्याधि का नाम है जिसमें प्रत्यक्षतः समस्त शरीर पर फफोले पड़ जाते हैं।

[1] ७. ५०, २। तु० की० २१, ५; अथर्ववेद ७. ११५, २; 'तृष्ट-वन्दना', ७. ११३, १; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३९१; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५६४, ५६५; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४६९।

२. वन्दन, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है।

[1] १. ११२, ५; ११६, ११; ११७, ५; ११८, ८; १०. ३९, ८। तु० की० वॉनैक : त्सी० गे० ५०, २६३ और बाद; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १. १०९।

वन्धुर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में रथ के 'आसन' का द्योतक है। देखिये *रथ*।

[1] १. १३९, ४; ३. १४, ३; ६. ४७, ९, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद १०. ४, २। अश्विनों का रथ 'त्रिवन्धुर' है क्योंकि अश्विन-गण यमज हैं और उनका सारथी तीसरा व्यक्ति है। तु० की० ऋग्वेद १. ४७, २; ११८, १. २; १५७, ३; १८३, १; ७. ६९, २; ७१, ४; ८. २२, ५; और तु० की० ९. ६२, १७। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८. २४७; वेबर : प्रो० अ० १८९८, ५६४; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २४१, नोट, ३७१।

वप (बोने वाला) का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ३, १।

वपन, ब्राह्मणों[1] में केश काटने की क्रिया का द्योतक है। तु० की० *क्षुर* और *केश*।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ७, १७, १; शतपथ ब्राह्मण ३. १, २, १।

वपा, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'वल्मीक' अथवा 'कूलक' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. १, २, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ४; शतपथ ब्राह्मण ६. ३, ३, ५।

वप्तृ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'नाई' अथवा 'बाल काटनेवाले' का द्योतक है।

[1] १०. १४२, ४।
[2] अथर्ववेद ८. २, १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ६, ३।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६६; मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, २३५, नोट ४।

वप्र (प्राकार) अथर्ववेद[1] में एक अनुमानात्मक पाठ है।

[1] ७. ७१, १। देखिये ह्निट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४३५, ४३६।

१. वम्र[1], *वम्री*[2], ऋग्वेद और बाद में नर और मादा चींटियों के नाम हैं। तु० की० *वपा*।

[1] ऋग्वेद १. ५१, ९; ८. १०२, २१।
[2] ऋग्वेद ४. १९, ९ (जहाँ एक अविवाहित कन्या के पुत्र को चींटियों द्वारा खा लिये जाने के लिये खुला छोड़ दिये जाने का सन्दर्भ है); वाजसनेयि संहिता ३७. ४; तैत्तिरीय संहिता १. २, १, ३; शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, ८. १४, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७।

२. वम्र, ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है। तु० की० *वम्रक*।

[1] १. ५१, ९; ११२, १५; १०. ९९, ५।

वम्रक का ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर उल्लेख है जहाँ रौथ[2] के विचार से इससे 'चींटी' का तात्पर्य है। किन्तु पिशल[3] अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना के साथ इसे *वम्र* के समकक्ष एक व्यक्तिवाचक नाम और एक अविवाहित कन्या के उस पुत्र का द्योतक मानते हैं जो चीटियों द्वारा भक्षण कर लिये जाने से बचा लिया गया था।[4]

[1] १०. ९९, १२।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] वेदिशे स्टूडियन १, २३८, २३९।
[4] ऋग्वेद ४. १९, ९; ३०, १६।

१. वयस्, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'पक्षी' के लिये प्रयुक्त साधारण नाम है।

[1] ३. २१, २; ३. ५९, १; ७. ९६, १; ८. ७, २४, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. १, १, १; ५. २, ५, १; ५, ३, २, इत्यादि।

२. वयस, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में मनुष्यों अथवा पशुओं की आयु का द्योतक है।

[1] १२. ३, १।
[2] काठक संहिता ११. २; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ५, ९; शतपथ ब्राह्मण ३. १, २, २१; ३, ३, ३, इत्यादि।

वया, ऋग्वेद[1] में वृक्ष की 'शाखा' का द्योतक है।

[1] २. ५, ४; ५. १, १; ६. ७, ६; १३, १; ८. १३, ६. १७, इत्यादि।

वयित्री, पञ्चविंश ब्राह्मण (१. ८, ९) में एक 'स्त्री बुनकर' का द्योतक है।

वय्य, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर उस *तुर्वीति* के सन्दर्भ में आता है, जिसका सायण[2] के अनुसार यह एक स्थल पर पैतृक नाम है। रौथ[3] का विचार है कि 'साथी' का आशय समस्त स्थलों के अनुकूल है।

[1] १. ५४, ६; ११२, ६ (जहाँ 'तुर्वीति' नहीं आता); २. १३, १२; ४. १९, ६
[2] ऋग्वेद १. ५४, ६ पर
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ऋग्वेद ९. ६८, ८ को उद्धृत करते हुये एक स्पष्ट उदाहरण है।

वर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में नियमित रूप से 'विवाहाकांक्षी' का द्योतक है।

[1] १. ८३, २; ५. ६०, ४; ९. १०१, १४; १०. ८५, ८. ९।
[2] अथर्ववेद २. ३६, १. ५. ६; ११. ८, १; ऐतरेय ब्राह्मण ४. ७, १ इत्यादि।

वरण, अथर्ववेद[1] और ब्राह्मणों[2] में एक वृक्ष (Crataeva Roxburghii) का नाम है।

[1] ६. ८५, १; १०. ३, १ इत्यादि; १९. ३२, ९।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ३, ९. १०; शतपथ ब्राह्मण १३. ८, ४, १।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, ६०, ६१; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त, ५०५।

वरणावती, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर मिलता है। जैसा कि रौथ[2] का विचार है, यह एक नदी का नाम प्रतीत होता है, और लुडविग[3] ने इसे गङ्गा नदी ही माना है। ब्लूमफील्ड[4], सायण के विचार के अनुसार इससे एक पौधे का आशय मानते हुये, यह स्वीकार करते हैं कि नदी का सन्दर्भ होना भी सम्भव है। तु० की० *काशि*।

[1] ४. ७, १।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०१।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, २०।
[4] अथर्ववेद के सूक्त, ३७६।
तु० क० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन १८, २६, २७; व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, १५४।

वरत्रा, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक 'नध्री' अथवा 'बन्धन' का द्योतक है। बैल को जूये में बाँधने के लिये[3], अथवा सम्भवतः जूये को गाड़ी के स्तम्भ में बाँधने के लिये[4], इसका प्रयोग होता था। अथवा, पुनः, यह उस रस्सी का द्योतक[5] है जिसका कूँये (*अवत*) से पानी खींचने के लिये व्यवहार होता था।

[1] ४. ५७, ४ ('हल' का) इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ११. ३, १०; २०. १३५, १३।
[3] ऋग्वेद १०. ६०, ८; १०२, ८; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, २, १३।
[4] १०. ६०, ८ के लिये कदाचित यही अधिक स्वाभाविक है, और त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, २४८, २४९ ने ऐसा ही माना है।
[5] ऋग्वेद १०. १०६, ५; त्सिमर: उ० पु०, १५६।

वरशिख एक नेता का नाम है जिसकी जाति का ऋग्वेद[1] में *अभ्यावर्तिन् चायमान* द्वारा पराजित हुए होने का उल्लेख है।

[1] ६. २७, ४. ५। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५६; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, १३३, जिनका विचार है कि वरशिख, **तुर्वश-वृचीवन्तों** का नेता था, किन्तु यह केवल अनुमानात्मक ही है बहुत सम्भव नहीं। तु० की० **पार्थव**। बृहद्देवता ५. १२४ और बाद, में इस नाम का रूप 'वारशिख' ('वरशिख' का वंशज) है जो केवल बहुवचन में ही आता है।

वराह, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में मिलता है। रुद्र देव को 'आकाश का वराह'[3] कहा गया है। वराह के आखेट में कुत्तों के प्रयोग का भी एक बार उल्लेख है।[4] इस शब्द का विभेदात्मक रूप 'वराह' देवों के लिये लाक्षणिक आशय के अतिरिक्त और कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है।[5]

[1] १. ६१, ७; ८. ७७, १०; ९. ९७, ७; १०.२८,४ (तु०की० क्रोष्टृ) इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ८. ७, २३; १२. १, ४८; काठक संहिता ८. २; २५. २ इत्यादि; मैत्रायणी संहिता ३. १४. १९ इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. ११४, ५। तु०की० तैत्तिरीय संहिता ६. २, ४, २; ७. १, ५, १ इत्यादि।
[4] ऋग्वेद १०.८६,४, एक अस्पष्ट स्थल है।
[5] ऋग्वेद १. ८८, ५; १२१, ११; तैत्तिरीय आरण्यक १. ९, ४

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८१, ८२; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ६७, जो यह संकेत करते हैं कि ऋग्वेद तक में इसका प्रयोग मुख्यतः लाक्षणिक ही है; केवल १०. २८, ४ और १०. ८६, ४ ही वास्तविक आशय के उदाहरण हो सकते हैं जिनमें भी १०. ८६, ४ संदिग्ध है। देखिये गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, ३, ६६ और बाद भी।

वरु को सायण ने ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर एक व्यक्तिवाचक नाम माना है जहाँ 'सुषाम्णे' के पहले इस पर एक सम्बोधक जैसा स्वराघात है। रौथ[2] का विचार है कि सन्दिग्ध निर्माण के विपरीत भी इस नाम को 'वरोसुषामन्' ही होना चाहिये।

[1] ८. २३, २८; २४, २८; २६, २।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोष, व० स्था०।

तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ८४, ८५।

वरुण-गृहीत अनेक स्थलों[1] पर जलोदर नामक उस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के वर्णन में आता है, जिसे पाप के दण्ड-स्वरूप[2] वरुण द्वारा उत्पन्न माना गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. १, २, १; ६. ४, २, ३; काठक संहिता १२. ४; शतपथ ब्राह्मण ४. ४, ५, ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ४, १, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद ६. ७४,४; ७. ८८, ७; अथर्ववेद २. १०, १; ४. १६, ६. ७; १४. १, ५७; २, ४९, इत्यादि।

तु० की० औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, २०३; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० २९ नोट १६।

वर्चिन्, ऋग्वेद[1] में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है। एक *दास*[2] कहा गया होने, तथा शम्बर के साथ संयुक्त होने के कारण सम्भवतः इसे एक पार्थिव शत्रु ही मानना चाहिये, यद्यपि इसे एक 'असुर'[3] भी कहा गया है। यह बहुत सम्भवतः *वृचीवन्तों* के साथ सम्बद्ध रहा हो सकता है।

[1] २. १४, ६; ४. ३०, १४. १५; ६. ४७, २१; ७. ९९, ५।

[2] ऋग्वेद ४. ३०, १५; ६. ४७, २१।

[3] ऋग्वेद ७. ९९, ५।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५२; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी. १, १०३, नोट ३; ३, २७३; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १६२ (F)

१. वर्ण (रंग) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक साधारण शब्द है। वैदिक साहित्य में अनेक रंगों की गणना कराई गई है, किन्तु इस बात का स्पष्ट निश्चय करना सम्भव नहीं कि वैदिक भारतीय कितनी शुद्धता के साथ रंगों का विभेद कर सके थे; और न उस सिद्धान्त को ही जाना जा सकता है जिस पर उनके यह विभेद आधारित थे। ऋग्वेद से ऐसा प्रतीत होता है कि लाल अथवा पीला रंग सर्वाधिक ज्ञात था, किन्तु यह केवल आकस्मिक ही हो सकता है।[3] काले रंग को 'कृष्ण' से और श्वेत अथवा हल्के रंग को 'शुक्ल' शब्द से व्यक्त किया गया है। ऋग्वेद[4] के एक स्थल पर 'श्येनी' से भी काले रंग का ही आशय प्रतीत होता है। 'गाढ़े भूरे' अथवा धुंधले रंग को 'श्याम' से व्यक्त किया गया है।[5] 'नील'[6] का आशय संदिग्ध है, जिससे सम्भवतः 'गाढ़ा-नीला' अथवा 'काला-नीला' आशय हो सकता है। 'हरि', 'हरिण', 'हरित्', 'हरित', आदि शब्दों के क्रम से पीले रंग का ही आशय है, किन्तु इनसे 'हरा' रंग भी उद्दिष्ट हो सकता है क्योंकि यह

[1] १. ७३, ७; ९६, ५; ११३, २; ४. ५, १३; ९. ९७, १५; १०४, ४; १०५, १; १०. ३, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १. २२, १. २; २३, २; ११. ८, १६; वाजसनेयि संहिता ४. २, २६ इत्यादि।

[3] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० ११, cxxi और बाद।

[4] १. १४०, ९। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. ३, ८; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, २५०, २५१।

[5] शतपथ ब्राह्मण ५. १, ३, ७।

[6] छान्दोग्य उपनिषद् ८. ६, १, के 'नील' शब्द के स्थान पर कौषीतकि उपनिषद् ४. १९ में 'कृष्ण' है। तु० की० ऋग्वेद ८. १९, ३१। वैदिकोत्तर साहित्य में 'नील' से 'गाढ़े नीले पदार्थों, जैसे नीलम, आदि का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में भी इस शब्द से ऐसा ही कुछ आशय रहा हो सकता है क्योंकि अग्नि के धूम के लिये इसका प्रयोग मिलता है।

शब्द मेढक[७] के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उस 'वभ्रु' शब्द से निश्चय ही 'भूरे' रंग का आशय है जिसका *विभीतक* के बीज (देखिये *अक्ष*) के लिए प्रयोग किया गया है। 'कपिल'[८] से कुछ 'रक्तिम-भूरे' रंग (वन्दर जैसे रंग) का आशय है, जब कि 'पिङ्गल' भूरे रंग के ऐसे वर्ण का द्योतक प्रतीत होता है जिसमें पीले रंग की छाया अधिक हो।[९] पीले रंग को 'पीत' और साथ ही 'पाण्डु' शब्द से भी व्यक्त किया गया है।[१०] बृहदारण्यक उपनिषद्[११] में केसरिया रंग (माहारजन) के एक परिधान का उल्लेख है। 'रुधिर' और 'लोहित' रक्त-वर्ण के द्योतक हैं, जब कि 'अरुण' लाल रंग व्यक्त करता है। 'कल्माष'[१२] का अर्थ 'चितकवरा' और 'शिल्प' का 'शबल'[१३] है, जब कि मिश्रित वर्ण, जैसे 'अरुण-पिशङ्ग' भी आते हैं।[१४]

[७] ऋग्वेद ७. १०३, ६, और तु० की० ३. ४४. ३; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ३६५, नोट।

[८] ऋग्वेद १०. २७, १६; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १४।

[९] अथर्ववेद ११. ५, २६; काठक संहिता १५. १; तैत्तिरीय संहिता ७. १, ६, २; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १४।

[१०] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३, ६।

[११] उ० स्था०।

[१२] वाजसनेयि संहिता २९. ५८।

[१३] वाजसनेयि संहिता २४. ५; २९. ५८; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २२, १; ६, १३, १; २०, १।

[१४] तैत्तिरीय संहिता ६. ६, ११, ६। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, ११९ और बाद।

२. *वर्ण* (शब्दार्थः 'रङ्ग'), ऋग्वेद[१] में मनुष्यों के एक वर्ग को व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है। जैसा कि अन्य स्थलों[२] द्वारा प्रगट होता है,

[१] 'दास', ऋग्वेद २. १२, ४; 'दस्यु' के विपरीत 'आर्य वर्ण', ३. ३४, ९; 'दास' के विपरीत स्वयं 'वर्ण', १. १०४, २। तु० की० २. ३, ५। तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र का एक श्लोक ८. २५, २; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ५, १४। रौथ : त्सी० गे० ४८, ११३, ऋग्वेद ५. ६५, ५, में 'वर्णशेपस्' पढ़ते हैं।

[२] देखिये दस्यु, दास; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ११३, ११४। वैदिक साहित्य में इस प्रमुख विभेद के अतिरिक्त रङ्ग-भेद का और कोई चिह्न नहीं है। गोपथ ब्राह्मण १. १, २३, में ब्राह्मण के रंग को 'शुक्ल' बताया गया है। काठक संहिता ११. ६, में वैश्य को 'शुक्ल' और राजन्य को 'धूम्र' कहा गया है; और बाद का दृष्टिकोण चारों जातियों की त्वचा के रंग को क्रमशः काला, पीला, रक्तिम, और शुद्ध, बताता है। देखिये वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १०, ११; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], १५३, इत्यादि, १७६। तु० की० अथर्ववेद ३. ४, ६ भी जहाँ व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९०, कुछ हिचकते हुये 'वर्णैः' पाठ का परामर्श देते हैं।

दासों और आर्यों का त्वचा के रङ्ग के आधार पर विभेद किया गया है। किन्तु यह प्रयोग केवल दो रङ्गों के विभेद तक ही सीमित है : इस दृष्टि से ऋग्वेद तथा उन बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[3] में आधारभूत अन्तर है जहाँ चार वर्णों (वर्णाः) को पूरी तरह मान्यता दी जा चुकी है।

(क) ऋग्वेद में जातियाँ :—इसमें सन्देह नहीं कि 'वर्ण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में जातियों के अस्तित्व का निर्णायक प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता। फिर भी, एक आशय में इसे स्वीकार करना चाहिये कि ऋग्वेद में जातियों का अस्तित्व था। दसवें मण्डल का पुरुष सूक्त[4] मनुष्यों के चार वर्गों—ब्राह्मण राजन्य, वैश्य और शूद्र—की स्पष्ट कल्पना करता है। किन्तु यह सूक्त निश्चित रूप से बाद का है,[5] अतः समस्त ऋग्वेद के लिए इसका प्रमाण सङ्गत नहीं है। त्सिमर[6] ने अत्यन्त ज़ोरदार शब्दों में इस मत का प्रतिवाद किया है कि ऋग्वेद का सृजन ऐसे समाज में हुआ था जो वर्ण-व्यवस्था से परिचित था। आप इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों[7] में वैदिक भारतीयों को वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं वरन् ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से रहित, सिन्धु के तट पर बसा हुआ बताया गया है। आप यह तर्क उपस्थित करते हैं कि ऋग्वेद सिन्धु और पञ्जाब के क्षेत्र में रहनेवाली जातियों की कृति है; बाद में इसी जाति के उन लोगों ने, जो और पूर्व की ओर जाकर बस गए थे, जाति-पद्धति की विशिष्ट सभ्यता को विकसित किया था। आप ऋग्वेद के प्रदत्तों

[3] 'चत्वारो वर्णाः', शतपथ ब्राह्मण, ५. ५, ४, ९; ६. ४, ४, १३; 'शौद्र वर्ण', वही ६. ४, ४, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् १. २, २५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ४। तु० की० शूद्र के विपरीत 'आर्य वर्ण', काठक संहिता ३४. ५; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ५, १७, और देखिये तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ६, ७। पालि में भी कभी-कभी 'वण्ण' इसी आशय में आता है। देखिये फिक : डी० ग्ली० २२, नोट ४; रिज़् डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, ५३।

[4] ऋग्वेद १०. ९०, १२ = अथर्ववेद १९. ६, ६ = वाजसनेयि संहिता ३१. ११ = तैत्तिरीय आरण्यक ३. १२, ५। तु० की० मूइर : १[2], ७–१५, और उल्लिखित सन्दर्भ।

[5] मैक्स मूलर : संस्कृत लिटरेचर, ५७०, और बाद; मूइर : उ० स्था०; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, ३ और बाद; कोलब्रुक : एसेज़, १, ३०९; आर्नाल्ड वैदिक मीटर, पृ० १६७।

[6] आल्टिन्डिशे लेवेन, १८५–२०३।

[7] पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १। तु० की० अथर्ववेद १५., और देखिये व्रात्य।

के अध्ययन से निष्कृष्ट मूइर[8] के इन तर्कों को ग्रहण करते हैं कि : (१) चार जातियाँ केवल पुरुष सूक्त में ही आती हैं; (२) जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, वर्ण शब्द के अन्तर्गत केवल बाद की तीन उच्चतम जातियाँ ही आती हैं और उनका दासों से केवल विभेद मात्र किया गया है; (३) यह कि 'ब्राह्मण,' ऋग्वेद में दुर्लभ है, 'क्षत्रिय' कभी-कभी ही आता है[9] और राजन्य केवल पुरुष सूक्त में मिलता है, और वैश्य और शूद्र भी केवल यहीं आते हैं; (४) आरम्भ में ब्रह्मन् 'कवि' अथवा 'ऋषि', तथा बाद में पुरोहित का, अथवा उसके भी और बाद पुरोहितों के एक विशिष्ट वर्ग का द्योतक है; (५) उन स्थलों में से, जहाँ यह आता है, केवल कुछ[10] में ही 'ब्रह्मन्' व्यवसाय से एक पुरोहित का द्योतक है, जबकि अन्य में यह व्यक्ति की कुछ ऐसी विशिष्टताओं, जैसे योग्यता और पुण्य कर्म को व्यक्त करता है, अथवा ऐसे व्यक्तियों का वाचक है जो दिव्य प्रेरणा प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होते थे।[11] दूसरी ओर, जैसा कि मूइर स्वीकार करते हैं,[12] ब्राह्मण शब्द परम्परागत पौरोहित्य करनेवालों का द्योतक है।

त्सिमर ऋग्वेद की जाति-विहीन पद्धति से यजुर्वेद के विकसित जाति-व्यवस्था के तथ्य को, वैदिक भारतीयों के पूर्व की दिशा में अग्रसर होने के तथ्य के साथ सम्बद्ध करते हैं और उन जर्मन आक्रमणों के साथ इसकी तुलना करते हैं जिन्होंने जर्मन जाति को गिरजों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध विभिन्न राजसत्ताओं में परिणत कर दिया था। विजेता जातियों की आवश्यकतायें ही राजा के पद को उत्पन्न करती हैं जिसमें छोटे-छोटे राजा विशिष्ट व्यक्तियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं; क्योंकि आदिवासियों अथवा अन्य आर्य जातियों के आक्रमणों को विफल करने, अथवा अधिकृत जनता के विद्रोह का दमन करने के लिए राज्य को राजा के सशस्त्र पार्षदों के रूप में एक सेना की, और विशिष्ट व्यक्तियों के अतिरिक्त भी कुछ प्रमुख अधिकारियों की आवश्यकता होती थी, जैसा कि ऐंग्लो-सैक्सन राजसत्ता में 'गेसिथों' के अतिरिक्त 'थेग्न' होते थे।[13] साथ ही साथ, ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण, सैनिक कार्यों में भाग

[8] संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], २३९ और बाद, मुख्यतः २५८।

[9] ऋग्वेद ८. १०४, १३; १०. १०९, ३, और तु० की० क्षत्रिय।

[10] ऋग्वेद १. १०८, ७; ४. ५०, ८ और बाद; ८. ७, २०; ४५, ३९; ५३, ७; ८१, ३०; ९. ११२, १; १०. ८५, २९।

[11] ऋग्वेद १०. १०७, ६; १२५, ५।

[12] उ० पु० २, २५९।

[13] मेटलैण्ड : डोम्सडे बुक, १६४ और बाद।

लेना वन्द कर देते थे और जलवायु के प्रभाव के अनुसार अपने को कृषि, पशुपालन और व्यवसाय में लगा कर युद्ध का सञ्चालन विशिष्ट व्यक्तियों और राजा के पार्षदों पर छोड़ देते थे। किन्तु जनता पर प्राप्त किए गए अधिकारों का विशिष्ट-जन उपभोग करते थे जिसमें उन पुरोहितों का भी भाग होता था जिनकी शक्ति की उत्पत्ति, रौथ[१४] के अनुसार, पौरोहित्य कर्म में ही हुई थी।

मूलत: राजा अपने तथा अपनी प्रजा के लिए स्वयं यज्ञ कर लेता था; किन्तु ऋग्वेद[१५] भी *विश्वामित्र* और *वसिष्ठ* के उदाहरणों द्वारा पुरोहितों की शक्ति का प्रबल उदाहरण प्रस्तुत करता है, यद्यपि पुरोहित के रूप में कार्य करने के विशिष्ट जनों के अधिकार का भी *देवापि आर्ष्टिषेण* के दृष्टान्त द्वारा उदाहरण मिलता है।[१६] आक्रामक युद्धों की कठिनाईयों और अस्त-व्यस्तता के बीच ब्राह्मणों ने पौरोहित्य के द्वारा व्यावहारिक शक्ति अर्जित करने का अवसर देखा और उसे प्राप्त भी किया, यद्यपि उन्हें इसके लिए पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा जिसका चिह्न महाकाव्य-परम्परा में देखा जा सकता है।[१७] ब्राह्मणों को त्रस्त करने के कारण *सृञ्जयों* के पतन के वृत्तान्त में अथर्ववेद[१८] में भी इस प्रकार के संघर्षों के अवशेष मिलते हैं; और अथर्ववेद के कुछ अन्य सूक्तों (८-, १२) के अतिरिक्त यजुर्वेद के शतरुद्रिय-स्तोत्र[१९] में भी उस विप्लव और अस्त-व्यस्तता का आभास मिलता है जिसमें आदिवासी जनता असन्तोष से त्रस्त थी और रुद्र की, हर प्रकार के दुष्कर्म करनेवालों के प्रतिपालक देवता के रूप में, उपासना की गई है।[२०]

जातिवाद के विकास का यह सिद्धान्त अपनें मूल रूप में बहुत अंशों तक स्वीकृत किया जा चुका है, अतः हम इसे ही प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप

[१४] त्सु० वे० ११७ और बाद।

[१५] ऋग्वेद ३. ३३, ८; ७. १८; ८३।

[१६] यास्क: निरुक्त २. १०, ऋग्वेद १०. ९८, की व्याख्या करते हुये।

[१७] लासन: इ० आ० १[२], ७०५ और बाद; मूइर: उ० पु० २[२], २९६-४७९।

[१८] ५. १७-१९; मूइर: २[२], २८०-२८९।

[१९] वाजसनेयि संहिता १६=तैत्तिरीय संहिता ४. ५, १-११=काठक संहिता १७. ११-१६=मैत्रायणी संहिता २. ९. १-१०।

[२०] वेबर: इन्टिशे स्टूडियन २, २२, और बाद; इन्डियन लिटरेचर ११०, १११।

में स्वीकार कर सकते हैं।[२१] फिर भी कुछ विद्वानों, जैसे हॉग[२२], कर्न[२३], लुडविग[२४] और हाल में औल्डेनवर्ग[२५] और गेल्डनर[२६] ने इसका विरोध किया है। यह मानकर इस समस्या को कुछ सीमा तक सरल बनाया जा सकता है कि जातिवाद का विकास केवल उत्तरोत्तर ही हुआ होगा और यजुर्वेद तक के जातिवाद को ऋग्वेद में देखना उपयुक्त नहीं है; किन्तु इस बात पर सन्देह करना भी कठिन है कि जाति-व्यवस्था सार्वजनिक स्वीकृति की ओर पूरी तरह अग्रसर हो चुकी थी। सिन्धु और पंजाब के *व्रात्यों* को अब्राह्मण मानने पर आधारित तर्क उस समय अपनी शक्ति खो देता है जब हम यह स्मरण करें कि ऋग्वेद के अधिकांश भाग, मुख्यतः वह मण्डल[२७] जिनमें वसिष्ठ और विश्वामित्र के साथ *सुदास* का उल्लेख है, और पूर्व की ओर *मध्य-देश* में रचे गये थे, और इस दृष्टिकोण की पिशल[२८], गेल्डनर[२९], हॉपकिन्स[३०] और मैकडौनेल[३१] ने पुष्टि की है। इस बात को सिद्ध करना भी सम्भव नहीं कि ऋग्वेद में ब्रह्मन् का अर्थ केवल 'कवि' अथवा 'ऋषि' मात्र ही है। मूइर ने इसे स्वीकार किया है कि कुछ स्थलों पर इस शब्द से वंशानुगत व्यवसाय का आशय है; वास्तव में उनमें से कोई भी स्थल जहाँ यह आता है, ऐसा नहीं जिसमें 'पुरोहित' का आशय सम्भव न हो, क्योंकि पुरोहित ही गायक भी होता था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में व्यक्तियों के 'ब्रह्म', 'क्षत्रम्' और 'विशः' अथवा सामान्य जनता के तीन वर्गों के रूप में त्रिसूत्रीय[३२] अथवा चतुःसूत्रीय[३३] विभाजन के चिह्न मिलते हैं। इसी प्रकार वैश्यों को युद्ध में भाग न लेनेवाला

[२१] देखिये, उदाहरण के लिये, फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, १५२ और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५९ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, १ और बाद; केगी : ऋग्वेद, नोट ५८।

[२२] ब्रह्म उन्ट डी ब्रह्मनेन, १८७१।

[२३] इन्डिशे थ्योरियन ओवर डे स्टैन्डेनव-डींलिङ्, १८७१। तु० की० इस और पिछली कृति के लिये मूइर : ऊ० पु०, १^२, ४५४ और बाद।

[२४] डी० गे० व०, ३६ और बाद; ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २३७–२४३, इत्यादि

[२५] रिलीजन देस वेद, ३७३ और बाद; और तु० की०, त्सी० गे०, ५१, २६७ और बाद।

[२६] वेदिशे स्टूडियन, २, १४६, नोट।

[२७] ३. और ७.।

[२८] वेदिशे स्टूडियन, २, २१८।

[२९] वही ३, १५२।

[३०] ज० अ० ओ० सो० १९, १८।

[३१] संस्कृत लिटरेचर, १४५।

[३२] ऋग्वेद, ८. ३५, १६–१८।

[३३] ऋग्वेद १. ११३, ६। २. २७, ८; ६. ५१, २; और ७. ६६, १०, में लुडविग द्वारा देखे गये तीन जातियों के सन्दर्भ अपेक्षाकृत अधिक सन्दिग्ध हैं।

मानने का विचार बाद के काल में भी उतना ही ठीक है जितना ऋग्वेद में। ऋग्वेद प्रत्यक्षतः[34] विशिष्ट जन अथवा उनके पार्षदों के लिए युद्ध सम्बन्धी किसी नियन्त्रण से परिचित नहीं, किन्तु बाद के अथर्ववेद[35] में सर्वसाधारण को 'बल' के आधार पर वर्गीकृत किया गया है जो 'विश' को उस *सभा*, *समिति* और *सेना* के साथ सम्बद्ध करता है जो क्रमशः व्यक्तियों के समूह और सैनिकों को व्यक्त करते हैं। त्सिमर[36] इन सन्दर्भों की केवल परम्परा द्वारा उत्पन्न हुए होने के रूप में व्याख्या करते हैं; किन्तु यह तर्क कदाचित ही उपयुक्त है क्योंकि यह इस मिथ्या मान्यता पर आधारित है कि केवल क्षत्रिय ही युद्ध कर सकते थे। किन्तु यह अत्यन्त सन्दिग्ध है (देखिये *क्षत्रिय*) कि क्षत्रिय का अर्थ विशिष्ट व्यक्तियों की सदस्यता से कुछ अधिक भी था, यद्यपि बाद में महाकाव्य में विशिष्ट जनों के वह पार्षद भी इसके अन्तर्गत आ गये, जिनकी संख्या सैनिक राजसत्ता के विकास के साथ-साथ बढ़ती गयी, यद्यपि यह मानना भी अतिरंजित होगा कि साधारण लोग अनिवार्यतः युद्ध में भाग नहीं ही लेते थे। इसमें सन्देह नहीं कि क्षत्रिय एक वंशानुगत समूह थे, और राज-सत्ता पहिले से ही वंशानुगत थी (देखिये *राजन्*); साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि शूद्रों का एक अलग वर्ग था। इस प्रकार जातिवाद के प्रायः सभी तत्व वर्तमान थे। पुरोहित निःसन्देह बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति था, किन्तु जैसा कि औल्डेनबर्ग[37] का विचार है, यह बात भी स्पष्ट है कि पुरोहित स्वयं पुरोहितीय शक्ति का स्रष्टा नहीं था। उसका पद और वह प्रभाव जिसका बाद में वह उपयोग करने लगा था इस तथ्य द्वारा ही विकसित हुए थे कि यज्ञ के उपयुक्त सम्पादन के लिए एक ऐसे वंशानुगत पुरोहित की आवश्यकता होनी चाहिये जिसे परम्परागत पवित्र ज्ञान प्राप्त हो।

देवापि के दृष्टान्त द्वारा भी जातिवाद का अस्तित्व न होने के पक्ष में कोई तर्क विकसित नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रथमतः उपनिषदों में पुरोहितीय विद्वत्ता और शिक्षा का कार्य करनेवालों के रूप में राजाओं को व्यक्त किया गया है, और उपनिषद् निःसन्देह विकसित जाति-व्यवस्था के समकालीन थे। दूसरे ऋग्वेद का प्रमाण बहुत ही क्षीण है, क्योंकि देवापि को, जो निश्चित रूप

[34] देखिये लुडविग : उ० पु० ३, २३१ और बाद; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ९४, ९५, और देखिये **विश्, वैश्य**।

[35] ३. १९, १; ९. ७, ९; १५. ९, २. ३।

[36] उ० पु०, १९४।

[37] रिलीजन देस वेद ३८२, ३८३।

से पुरोहित का कार्य करता था, ऋग्वेद में राजा कहा ही नहीं गया है, यद्यपि यास्क[३८] उसे एक 'कौरव्य' कहते हैं। राजाओं को आरोपित, अथवा अन्य सूक्तों को, राजाओं के लिए निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करने की दिशा में सर्वथा दोष-युक्त नहीं माना जा सकता, यद्यपि पुनः यहाँ भी, ब्राह्मण ग्रन्थ राजन्यर्षियों के अस्तित्व को स्वीकार करने से नहीं हिचकते। फिर भी उस विश्वामित्र के सम्बन्ध में ऋग्वेद में किसी भी राजकीय प्रकृति का आभास नहीं मिलता जिसे ब्राह्मण ग्रन्थ जह्नु के राजवंश में उत्पन्न हुआ मानने पर ज़ोर देते हैं।[३९]

(ख) बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में जाति-व्यवस्था :— जाति-व्यवस्था के आरम्भिक और बाद के वैदिक इतिहास के सम्बन्ध को सम्भवतः प्रमुख रूप से ऋग्वेद में ही निर्मित एक पद्धति के प्रौढ़ होने के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

(१) जातियों के नाम :— ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, और शूद्र,[४०] अथवा बाद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र,[४१] ही जातियों के नियमित नाम हैं। फिर भी अनेक अन्य विभेद मिलते हैं, जैसे—ब्रह्मन्, क्षत्र, शूद्रार्यौ;[४२] ब्रह्मन्, राजन्य, शूद्र, आर्य;[४३] ब्रह्मन्, राजन्य, वैश्य, शूद्र;[४४] ब्राह्मण, राजन्, विश्य, शूद्र;[४५] देव, राजन्, शूद्र, आर्य;[४६] और ब्रह्मन्, क्षत्र, विश्, और शूद्र।[४७] अन्य उदाहरणों में चतुर्थ जाति को उसके एक विशेष सदस्य

[३८] २. १०।
[३९] देखिये **विश्वामित्र** और **जह्नु**।
[४०] ऋग्वेद १०. ९०; तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, ४. ५; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १९, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १२; ३. १, १, १०; ५. ५, ४, ९; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. १, ६–११।
[४१] बृहदारण्यक उपनिषद् १. २, २७ (माध्यन्दिन=१. ४, १५ काण्व); शतपथ ब्राह्मण ६. ४, ४, १३; १३. ६, २, १०; वाजसनेयि संहिता ३०. ५।
[४२] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, १०, १–३; काठक संहिता १७. ५; वाजसनेयि संहिता १४. २०–३०।
[४३] अथर्ववेद १९. ३२, ८। तु० की० ६२, १। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ९४९, १००३।
[४४] काठक संहिता ३७. १।
[४५] तैत्तिरीय संहिता ५. ७, ६, ४; काठक संहिता ४०. १३; मैत्रायणी संहिता ३. ४, ८; वाजसनेयि संहिता १८. ४८; शतपथ ब्राह्मण ५. ६, ४, ९; इत्यादि।
[४६] अथर्ववेद १९. ६२, १; वाजसनेयि संहिता २६. २। तु० की० अर्य, आर्य।
[४७] बृहदारण्यक उपनिषद् १. २, १३ (माध्यन्दिन=१. ४, १५ काण्व)।

द्वारा व्यक्त किया गया है : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और चाण्डाल।[४८] अक्सर तीन उच्च वर्गों का ही उल्लेख है, जैसे ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य;[४९] ब्रह्मन्, क्षत्रम्, विश्,[५०] इत्यादि[५१]। तीन जातियों—ब्राह्मण, राजन्, शूद्र—का अथर्ववेद में उल्लेख है,[५२] और दो जातियों, जैसे ब्रह्मन् तथा क्षत्र, अथवा क्षत्र तथा विश् का बहुधा उल्लेख मिलता है।[५३]

(२) जातियों का सम्बन्ध :—संस्कारों से सम्बद्ध साहित्य जातियों के सूक्ष्म अन्तरों तक से परिपूर्ण है। इस प्रकार, उदाहरण के लिये, शतपथ ब्राह्मण में चार जातियों के लिये चार पृथक् आकार की अन्त्येष्टि-वेदिकाओं का विधान है।[५४] चारों जातियों के लिये अलग-अलग सम्बोधनों का भी उल्लेख है[५५]—जैसे 'एहि', 'आगच्छ', 'आद्रव', और 'आधाव', जो सभी नम्रता के अनुपात की दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं। चार जातियों के प्रतिनिधियों को पुरुषमेध के समय पृथक्-पृथक् देवों को समर्पित किया जाता था।[५६] सूत्रों में भी ऐसे ही नियम देखे जा सकते हैं।[५७]

किन्तु कुछ अंशों में तीन उच्च जातियों का, चतुर्थ, शूद्र जाति से स्पष्ट अन्तर

[४८] छान्दोग्य उपनिषद् ५. १०, ७।

[४९] अथर्ववेद, ५. १७, ९; मैत्रायणी संहिता ३. १, ५; २, २; ४. ४, ९ (राजन्य के पहले वैश्य); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ९, २; तैत्तिरीय संहिता ६. २, ५, २. ३; तैत्तिरीय आरण्यक २. ८, ८।

[५०] वाजसनेयि संहिता १०. १०–१२; ३८. १४; शतपथ ब्राह्मण २. १, ४, ११; ११. २, ७, १५ और बाद; १४. २, २, ३०; तैत्तिरीय आरण्यक ४. १०, १०–१२।

[५१] तु० की० अथर्ववेद ५. १८, १५, जहाँ दो निचली जातियों (क्षत्रिय और वैश्य) को क्रमशः 'नृ-पति' और 'पशु-पति' के रूप में सम्बोधित किया गया है, व्हिट्नेः अथर्ववेद का अनुवाद २५२; काठक संहिता १२. १; २९. १०; वाजसनेयि संहिता ३८. १९।

[५२] १०. १, १३।

[५३] देखिये, क्षत्रिय, वैश्य, विश्।

[५४] १३. ८, ३, ११।

[५५] शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १२।

[५६] वाजसनेयि संहिता ३०. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १, १; शतपथ ब्राह्मण १३. ६, २, १०। ब्राह्मणों में इसी प्रकार के अन्तरों के लिये देखिये तैत्तिरीय संहिता २. ५, १०, १. २; ७. १, १, ४. ५; काठक संहिता १७. ४; ३७. १; ३९. ७; वाजसनेयि संहिता १०. १०; १४. २४; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २३. २४; ८. ४ इत्यादि।

[५७] आश्वलायन गृह्य सूत्र, १. २४, ११. १२, और देखिये वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १०, २० और बाद।

है। शतपथ ब्राह्मण[58] में शूद्रों को किसी दीक्षित व्यक्ति द्वारा सम्बोधित किये जाने के योग्य नहीं माना गया है, और कोई भी शूद्र ऐसी गाय का दोहन नहीं कर सकता जिसके दुग्ध को अग्निहोत्र[59] के लिये व्यवहृत किया जाना हो; दूसरी ओर कुछ स्थलों पर शूद्रों को सोमयज्ञ में स्थान दिया गया है,[60] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[61] में न केवल तीन उच्च जातियों के लिये ही वरन् *रथकारों* के लिये भी यज्ञाग्नि स्थापनार्थक मन्त्र मिलते हैं। पुनः, ऐतरेय ब्राह्मण[62] में 'हविष्य ग्रहण करनेवालों के रूप में' ब्राह्मणों का अन्य तीन जातियों से विभेद किया गया है।

विभन्न जातियों की विशेषताओं का *ब्राह्मण, क्षत्रिय* और *राजन्, वैश्य, शूद्र*, के अन्तर्गत उल्लेख किया जा चुका है जिसका सारांश इस प्रकार है : विश् उस स्थिति का आधार प्रस्तुत करता है जिस पर ब्रह्मन् और क्षत्र टिके हुये थे;[63] ब्रह्मन् और क्षत्र दोनों ही विश् से श्रेष्ठ थे;[64] जब कि यह तीनों ही जातियाँ शूद्रों से श्रेष्ठ थीं। राष्ट्र की वास्तविक सत्ता पार्षदों सहित राजा तथा उसके विशिष्ट व्यक्तियों में निहित होती थी जिन्हें क्षत्रिय कहा जा सकता था। देश की रक्षा, शासन, वैधानिक मामलों का निर्णय, तथा युद्ध इत्यादि कार्यों में रत विशिष्ट व्यक्ति, इसमें सन्देह नहीं कि जनता से वस्तुओं के रूप में प्राप्त लगान पर आश्रित रहते थे; साथ ही उनके पोषण के लिये उन्हें कुछ ग्रामों

[58] ३. १, १, १०। तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र ७. ५, ७, पर भाष्य में आपस्तम्ब का उद्धरण; आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. ८, ७; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १२ और बाद। सामान्यतया शूद्र अपवित्र माने गये हैं और उन्हें यज्ञ-स्थल पर आने नहीं दिया जाता, शतपथ ब्राह्मण ३. १, १, ९। तु० की० ५. ३, ३, २; तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, ६; काठक संहिता ११. १० (मैत्रायणी संहिता २. ४, ८, में यह तथ्य नहीं है)।

[59] काठक संहिता ३१. २; मैत्रायणी संहिता ४. १, ३।

[60] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, ९। तु० की० वही १. १, ४, १२, भी। कात्यायन श्रौत सूत्र १. १, ६, पर भाष्यकार इन स्थलों पर केवल रथकार के सन्दर्भ का ही उल्लेख करता है; किन्तु यह प्रत्यक्षतः गौण महत्व ही रखता है।

[61] १. १, ४, ८।

[62] ७. १९, १; मैत्रायणी संहिता १. ४, ६; गोपथ ब्राह्मण २. १, ६; लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ८१।

[63] शतपथ ब्राह्मण ११. २, ७, १६; कौषीतकि ब्राह्मण १६. ४।

[64] पञ्चविंश ब्राह्मण २. ८, २; ११. ११, ९; १५. ६, ३; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३३, १; काठक संहिता २०. १०; तैत्तिरीय संहिता २. ५, १०, १; शतपथ ब्राह्मण ६. ४, ४, १३, इत्यादि।

का दान दे देते थे (देखिये *ग्राम*)। जब कि इसमें भी सन्देह नहीं कि कुछ के पास स्वयं अपनी भूमि होती थी जिस पर वह दासों अथवा काश्तकारों से खेती कराते थे। उस समय राज्यों का आकार सम्भवतः छोटा रहा होगा :[९५] *महाराजाओं* के उल्लेख के विपरीत भी वस्तुतः बड़े राज्यों के अस्तित्व का कोई चिह्न नहीं मिलता। कृषि, पशुपालन, और वाणिज्य (*वणिज्*) में रत साधारण लोग राजाओं तथा विशिष्ट व्यक्तियों को अपनी रक्षा के लिए उपहार देते थे। साधारण लोग स्वयं कृषक नहीं होते थे। ऐसा मानना, जो बैडेन पावेल[९६] का विचार है, त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें से कुछ ऐसे बड़े-बड़े जमीदार रहे हो सकते हैं जो शूद्रों अथवा आर्य काश्तकारों तक से लगान वसूल करते थे; किन्तु समस्त साधारण लोगों का इसी स्थिति में होना अत्यन्त असम्भाव्य है।[९७] युद्ध के समय साधारण लोग भी विशिष्ट व्यक्तियों के साथ-साथ संघर्ष में भाग लेते थे क्योंकि उस समय तक विभिन्न जातियों के कर्त्तव्यों का पूर्ण पृथक्करण नहीं हुआ था। पुरोहितों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : एक तो राजाओं के पुरोहित, जो अपने नियुक्ति-कर्त्ताओं का अपने परामर्श द्वारा पथ-प्रदर्शन करते थे और राज्य पर

[९५] तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३२, पञ्चविंश ब्राह्मण के लिये। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण के बाद के अंश अपनी अश्वमेध की परम्पराओं और **भरतों** के वैभव का स्मरण करते हुये नागरिक जीवन के अपेक्षाकृत अधिक विकसित सामाजिक-सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु यह ग्रन्थ भी वास्तविक रूप से महान साम्राज्यों से अपरिचित हैं।

[९६] इण्डियन विलेज कम्युनिटी, और विलेज कम्युनिटीज़ ऑफ इण्डिया, जहाँ इस बात पर पर्याप्त ज़ोर दिया गया है कि आर्यगण उस भूभाग पर बसे थे जो द्रविड जाति के अधिकार में था; यह विचार उस मत के ही समान है जिसके अनुसार ऐंग्लो-सैक्सन आक्रामकों ने ब्रिटन्स के भूभाग पर अधिकार किया था और उसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश जाति के लोग दास बन गये, जब कि आक्रमक लोग ज़मीन्दार वर्ग के विशिष्ट जन।

[९७] तु० की० हॉपकिन्स : इण्डिया, ओल्ड एण्ड न्यू, २२२। यहाँ भी स्थिति वैसी ही है जैसी आरम्भिक इंग्लिश इतिहास सम्बन्धी विभिन्न मतों की। क्या आर्यगण भारत में एक जाति के रूप में आये और यहाँ के मूल निवासियों को भगा कर अथवा उनका उन्मूलन करके या उन्हें दास बना कर स्वयं सर्व साधारण जनता की भाँति कार्य करने लगे, अथवा वह केवल थोड़े से उच्च वर्गीय सैनिकों के रूप में ही आये, और क्या क्षत्रियगण ही वास्तविक आर्य हैं? ऋग्वेद का प्रमाण वास्तव में इस दूसरे विकल्प के लिये घातक है।

अत्यधिक प्रभाव आर्जित करने की स्थिति में थे, और यह स्पष्ट है कि वह वास्तव में ऐसा प्रभाव डालते भी थे; दूसरे साधारण पुरोहित, जो किसी राजा अथवा सम्पन्न व्यक्ति द्वारा आयोजित महान् उत्सवों मात्र में भाग लेने के अतिरिक्त शान्त जीवन व्यतीत करते थे।[६८]

जातियों के सम्बन्ध और कार्य को उस ऐतरेय ब्राह्मण[६९] के एक स्थल पर भली भाँति व्यक्त किया गया है, जो अन्य जातियों का क्षत्रियों से विभेद करता है। ब्राह्मण उपहारों को ग्रहण करनेवाला (आ-दायी), सोमपान करनेवाला (आ-पायी), भोजनेच्छुक (आवसायी)[७०] और किसी भी समय हटा दिया जानेवाला (यथाकाम-प्रयाप्यः)[७१] होता था। वैश्य दूसरों का सहायक होता था (अन्यस्य बलिकृत्), जिसके कार्यों का दूसरे उपभोग करते थे (अन्यस्याद्यः) और इसे इच्छानुसार त्रस्त भी किया जाता था (यथा काम-ज्येयः)[७२]। शूद्र दूसरों का सेवक होता था (अन्यस्य प्रेष्यः)

[६८] क्षत्रिय अथवा राजन्य की अपेक्षा ब्राह्मण की श्रेष्ठता के लिये देखिये पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ११, ३; वाजसनेयि संहिता २१. २१; शतपथ ब्राह्मण ५. १, १, १२; ४, ४, १५; १३. १, ९, १; ३. ७, ८; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५, ८; ८. ९, ६; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २०, १२। स्वयं ब्राह्मण अपने लिये राजा पर निर्भर है (शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, ३; ५. ४, २, ७) और राजसूय के समय राजा के पार्श्व में बैठता है किन्तु फिर भी राजा से श्रेष्ठ है (बृहदारण्यक उपनिषद् १. २, २३)। काठक संहिता २८. ५, में यह कथन है कि क्षत्र, ब्राह्मण के ऊपर है, किन्तु यह सर्वसामान्य विचार नहीं है। तु० की० २७. ४। एक ब्राह्मण, क्षत्रिय के बिना भी रह सकता है, किन्तु क्षत्रिय ब्राह्मण के बिना नहीं (शतपथ ब्राह्मण ४. १, ४, ६) और ब्राह्मण के साथ एक राजन्य, अन्य सभी राजन्यों से श्रेष्ठ होता है (तैत्तिरीय संहिता ५. १, १०, ३; काठक संहिता १९. १०; २७. ४, इत्यादि)।

[६९] ७. २९। देखिये मूइर : ऊ० पु० १[२], ४३६ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, १४।

[७०] वेबर : ऊ० पु० ९, ३२६; १०, १४, सर्वत्र 'भ्रमणशील' अथवा 'रहते हुये' का आशय मानते हैं।

[७१] मूइर, हॉग, और वेबर 'इच्छानुसार भ्रमण करनेवाला' का सकर्मक आशय ग्रहण करते हैं। किन्तु इसके समानान्तर स्थल और इस शब्द की बनावट इस शब्द में अकर्मक आशय की अपेक्षा रखते हैं। यहाँ सम्भवतः राजा द्वारा पुरोहित पर सामान्य नियन्त्रण का सन्दर्भ है, अर्थात् पुरोहितों को राजा अपनी इच्छानुसार स्थान-स्थान पर भेज सकता था।

[७२] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९, ३।

जिसे इच्छानुसार वहिष्कृत (कामोत्थाप्यः) किया जा सकता था, अथवा इच्छानुसार वध (यथाकाम-वध्यः)[७३]। यहाँ इस दृष्टि से वर्णन किया गया है कि प्रत्येक जाति का राजन्य के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो सके। राजन्य ब्राह्मणों तक को नियन्त्रित कर सकता था, जब कि वैश्य उससे हीन और उसका सहायक होता था जिसे वह विना किसी कारण के ही अपनी भूमि से हटा सकता था।[७४] किन्तु इस दशा में भी वैश्य बहुत कुछ स्वतन्त्र होता था और राजन्य उसका निराधार वध कहीं कर सकता था। विशिष्ट व्यक्तियों और राजाओं के सम्मुख शूद्रों को अपनी सम्पत्ति और जीवन से सम्बन्धित कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।

उक्त स्थल बहुत बाद का है और इसीलिये क्षत्रियों के उच्च स्थान का कुछ सीमा तक इस तथ्य द्वारा समाधान हो जाता है। यह स्पष्ट है कि कालान्तर में जाति-व्यवस्था और पुष्ट होने के साथ-साथ वैश्य की स्थिति में भी उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया। ऐसा विश्वास करने के लिये वेबर[७५] तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वाजपेय यज्ञ को, जिसका एक अन्तरङ्ग कार्यक्रम रथों की प्रतिस्पर्धा होता था,[७६] शाङ्खायन श्रौत्रसूत्र[७७] के कथनानुसार एक समय वैश्य का, और साथ-साथ पुरोहित अथवा राजा का यज्ञ माना जाता था। किन्तु पुरोहितों के प्रभाव के कारण स्वयं राजाओं की शक्ति में पर्याप्त कमी आ गयी: तैत्तिरीय संहिता[७८] में यह व्यक्त किया गया है कि वाजपेय मूलतः अपेक्षाकृत छोटा यज्ञ होता था, जिसको करने पर राजओं को छोटे राजाओं के अधिपति के रूप में राजसूय यज्ञ, तथा ब्राह्मणों को बृहस्पति सव (राजपुरोहित के रूप में नियुक्त हो जाने पर पुरोहितों द्वारा किया गया उत्सव) का आयोजन करना पड़ता

[७३] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २९, ४।

[७४] यह 'यथाकामज्येयः' का सर्वसम्भव सन्दर्भ प्रतीत होता है। यहाँ वैश्य के वहिष्कार द्वारा यह उद्दिष्ट नहीं कि राजा अथवा क्षत्रिय ही भूमिका स्वामी है; यह केवल राजकीय अधिकार का प्रश्न है, भूस्वामित्व का नहीं। देखिये कीथ : जर्नल ऑफ अफ्रीकन सोसाइटी ६, २०२ और बाद, और तु० की० हॉपकिन्स : इन्डिया, ओल्ड एण्ड न्यू, २२२, २२३।

[७५] ऊबर डेन वाजपेय, १० और बाद।

[७६] वही। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २४७; फे० वौ०, ४० और बाद; रिचुअल लिटरेचर, १४१।

[७७] १६. १७, ४। तु० की० १५. १, १।

[७८] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, २, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ६, १। तु० की० लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ११, १; आश्वलायन श्रौतसूत्र ९. ९, १९; एग्लिङ्ग : से० वु० ई०, ४१, xxiv, xxv

था। किन्तु शतपथ ब्राह्मण[79] उस वाजपेय को श्रेष्ठ महत्व प्रदान करता है जिसमें एक ऐसा पुरोहित यज्ञकर्त्ता हो सकता है जिसे राजसूय यज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया गया हो। यह ग्रन्थ इस यज्ञ को बृहस्पति सव के साथ समीकृत करता है, जो कि पुरोहितीय हित-साधन का एक स्पष्ट उदाहरण है। किन्तु ऐसे स्थलों के महत्व अथवा शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों के बाद के अंशों में पुरोहित की विशिष्ट स्थिति का पुरोहितीय शक्ति के वास्तविक विकास के प्रमाण के रूप में अति मूल्यांकन नहीं करना चाहिये: यह अंश अपनी शक्ति के सम्बन्ध में स्वयं पुरोहितों के ही दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं, और कुछ सीमा तक इनका निर्माण मध्यदेश में हुआ था। वैदिक काल के बाद के पालि साहित्य[80] में वस्तुस्थिति का एक दूसरा ही चित्रण मिलता है जहाँ पुरोहितों के पद का निश्चित अवमूल्यन है; जब कि महाकाव्य[81] में, जो कि बहुत कुछ बाद के वैदिक काल का ही समसामयिक है, समस्त पुरोहितीय परिष्करण के विपरीत भी, विशिष्ट व्यक्तियों (क्षत्रियों) की पार्थिव श्रेष्ठता का स्पष्ट रूप से प्रकाशन किया गया है।

यद्यपि विभिन्न जातियों में स्पष्ट विभेद किया गया था तथापि बाद की व्यवस्था में लक्षित होनेवाली उस विशेषता का वैदिक साहित्य में कोई चिह्न नहीं है जिसके द्वारा हीन जातियों[82] के सम्पर्क में अपवित्रता का अभाव निहित है, और जो कि शूद्रों को स्पर्श कर लेने पर प्रायश्चित की आवश्यकता द्वारा प्रत्यक्षतः, और निम्न जातियों के साथ बैठकर भोजन करने के निषेध द्वारा अपरोक्ष रूप से होता व्यक्त है।[83] यह सत्य है वैदिक साहित्य में भी अन्य लोगों

[79] ५. १, १, १ और बाद; २, १, १९; कात्यायन श्रौतसूत्र १५. १, १-२। वेबर: उ० पु०, ८, ९, एग्लिङ्ग से भिन्न व्याख्या करते हैं।

[80] फिक: डी० ग्ली०, १०७ और बाद; रिज़् डेविड्स: बुद्धिस्ट इन्डिया, ५३ और बाद; १५८।

[81] हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १३, ९८४ और बाद।

[82] देखिये, उदाहरण के लिये, मनु ३. २३९; ५. ८५; फिक: उ० पु०, २६ और बाद।

[83] वासिष्ठ धर्मसूत्र १४. १ और बाद; गौतम सूत्र १७. १७; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, १. ६, १८, १६ और बाद; २. ४, ९, ७ और इस पर बूह्लर की टिप्पणी; मनु ४. २१० और बाद; विष्णु, ४१, ७ और बाद; फिक: उ० पु० ३०-३३, जो यह संकेत करते हैं कि जातकों में इस प्रचलन का प्रमाण है। सेनार्ट: ले० का०, ४८ और बाद, २१२ और बाद, साथ-साथ बैठकर खाने पर बहुत ज़ोर देते हैं और रोम को 'जेन्स' के

यज्ञीय भोजनोत्सव के साथ तुलना करते हैं जहाँ अपरिचित व्यक्तियों से उसे अलग रखा जाता था (कुलैन्जेस : ल सिटे ऐन्टिक, ११७)। किन्तु यह निर्णायक नहीं है; जाति, 'जेन्स' नहीं, और 'जेन्स' केवल उन पवित्र उत्सवों के समय ही अपरिचितों को पृथक रखते थे, जब सम्पूर्ण 'जेन्स' के लोग अपने रक्त-सम्बन्ध का नवीनीकरण करते थे। यदि भोज के सम्बन्ध में ठीक-ठीक ऐसी ही स्थिति होने के लिये आरम्भिक वैदिक साहित्य में कोई प्रमाण नहीं मिलता तो हमें यह मानने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये कि प्राचीनतम वैदिक काल में गोत्रों में मृतकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के पवित्र समारोह किये जाते थे; किन्तु, पुनः, यह भी न तो हीन जाति के साथ भोजन करने की व्याख्या करता है और न उसके निषेध को ही व्यक्त करता है।

के साथ बैठकर भोजन करने का निषेध मिलता है,[84] किन्तु यह जाति के सम्बन्ध में नहीं है : इसका उद्देश्य किसी विशेष संस्कार को सम्पन्न अथवा किसी विशेष सिद्धान्त पर विचार करनेवाले लोगों की विशेष पवित्रता सुरक्षित रखना था, क्योंकि पुरातन विचार के अनुसार जो लोग एक ही भोजन एक साथ खाते हैं वह एक समान चारित्रिक विशेषतायें अर्जित कर लेते हैं और उनमें एक विशेष आध्यात्मिक अन्तर-संचार विकसित हो जाता है। किन्तु वैदिक साहित्य द्वारा यह व्यक्त नहीं होता कि पवित्रता को विनष्ट कर देने के कारण ही किसी हीन जाति के साथ भोजन करना निषिद्ध माना जाता था।[85] और न तो उस समय की जाति व्यवस्था में एक प्रधान, परिषद्, अथवा समान उत्सवों के विधान का विकास हुआ था जैसा कि आधुनिक जाति-व्यवस्था में है क्योंकि ऐसा संगठन न तो महाकाव्य में ही मिलता है

[84] उदाहरण के लिये कीथ की टिप्पणी सहित ऐतरेय आरण्यक ५. ३, ३।

[85] अन्य के बाद भोजन करने के सम्बन्ध में आपत्ति के दृष्टान्त के लिये देखिये छान्दोग्य उपनिषद् १. १०, १। सम्भवतः यहाँ विचार यह है कि एक प्रधान के भोजन को ग्रहण करना संकटपूर्ण है, क्योंकि इस प्रकार भोजन करनेवाला उसके कुछ अंश को ग्रहण कर लेता है और परिमाण-स्वरूप तत्काल ही प्रधान के क्रोध का पात्र बन कर अपने लिये भी संकट उपस्थित कर लेता है, क्योंकि प्रधान दिव्य शक्ति से इतना परिपूर्ण हो सकता है कि एक साधारण व्यक्ति के लिये उसके साथ समन्वित होना संकटपूर्ण होगा—यह आदिम समाज में मिलनेवाली एक प्रचलित धारणा है, उदाहरण के लिये देखिये तैत्तिरीय आरण्यक ५. ८, १३ भी।

और न पालि साहित्य में।[८६] जाति-व्यवस्था सम्बन्धी वैदिक विशिष्टतओं के अन्तर्गत वंशानुक्रम, समान व्यवसाय, और अन्तर्विवाह पर नियन्त्रण ही आते हैं।

(३) अन्तरवैवाहिक नियंत्रणः—सम्भवतः मैगास्थनीज़ के प्रमाण के आधार पर अर्रियन ने अपने इन्डिका[८७] में उस 'गेने (γενη) के बीच के विवाह के निषेध को भारतीय जीवन की एक विशिष्टता मान लिया है, जो निश्चित रूप से एक जाति ही थे। पालि साहित्य[८८] के प्रमाण भी इस दृष्टिकोण के अनुकूल हैं, यद्यपि इनमें ऐसा भी मिलता है कि राजा अपनी इच्छानुसार किसी से भी विवाह कर सकता था और उस पत्नी से उत्पन्न अपने पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बना सकता था। किन्तु इसमें यह भी मिलता है कि कुछ लोग ऐसा मानते थे कि पुत्र की सामाजिक मर्यादा पिता नहीं वरन् माता की श्रेणी से निश्चित होती है। यद्यपि मनु[८९] ने वैध-पुत्र उत्पन्न करने के लिये अपने से ठीक नीचे की जाति की स्त्री से विवाह करने की सम्भावना को मान्यता प्रदान की है, तथापि वह एक निम्न जाति की स्त्री के साथ आर्यों के विवाह की भर्त्सना करते हैं। पारस्कर गृह्य सूत्र[९०] एक क्षत्रिय को अपने अथवा अपने से नीचे की जाति में, ब्राह्मण को अपनी अथवा अपने से दो निम्न जातियों में और वैश्य को केवल वैश्य जाति में विवाह करने की स्वीकृति देता है। किन्तु यह ग्रन्थ अन्य लोगों के इस मत को भी स्वीकृत करता है कि उक्त तीन जाति के लोग शूद्र-स्त्री से विवाह कर सकते हैं, जब कि कुछ अन्य प्रमाण कुछ विशेष परिस्थितियों में शूद्र-स्त्री के साथ विवाह की भर्त्सना करते हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि कम से कम कुछ

[८६] फिक : उ० पु०, २४। सेनार्ट : उ० पु०, २१९, २२०, यूनान, रोम और जर्मनी की पारिवारिक सभाओं की तुलना करते हैं (लीस्ट : आ० सि०, २७३ और बाद; कोवालेव्स्की : फै० प्रि०, ११९; कुलैन्जेस : उ० पु० ११८, ११९), किन्तु यहाँ पुनः यह पद्धति इस प्रचलन के जाति में बाद में दृष्टिगत होने की व्याख्या किये बिना ही गोत्र के लिये व्यवहृत हुई हो सकती है, और आरम्भिक तथा बाद के साहित्य में सभा के उल्लेख की अनुपस्थिति इसके अस्तित्व के विरुद्ध निर्णायक प्रमाण है।

[८७] १२. ८. ९।

[८८] फिक : उ० पु० ३४-४०।

[८९] १०. ५; ३. १५।

[९०] १. ४। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, २१, ७४।

दशाओं में ऐसा विवाह वैध भी हो सकता था।[११] आरम्भिक साहित्य से ऐसा आभास मिलता है : किसी ऋषि के वंश में उत्पन्न होने और आनुवंशिक पवित्रता पर अत्यधिक जोर दिया गया है;[१२] किन्तु इस मत के लिये भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि ब्राह्मण के लिये अनुवंशिक पवित्रता आवश्यक नहीं। *कवष* ऐलूष पर दासी-पुत्र होने का व्यंग किया गया था।[१३] *वत्स* पर भी शूद्र-पुत्र होने का आक्षेप किया गया था, किन्तु उसने अपनी पवित्रता का अग्नि परीक्षा द्वारा सफलतापूर्वक परिचय दिया था।[१४] जो विद्वान (शुश्रुवान्) है, उसे तैत्तिरीय संहिता[१५] में ब्राह्मण और आर्षेय कहा गया है; *जबाला* के पुत्र *सत्यकाम* को *हारिद्रुमत* गौतम ने अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया था, यद्यपि वह अपने पिता का नाम नहीं बता सका था।[१६] काठक संहिता[१७] का कथन है कि अनुवंशिकता नहीं वरन् ज्ञान ही सर्वाधिक महत्व रखता है। किन्तु इन सबसे यही सिद्ध होता है कि जाति की आनुवंशिकता के सम्बन्ध में कुछ ढिलाई थी, यह नहीं कि यह आनुवंशिकता पर आधारित ही नहीं थी। यजुर्वेद संहिताओं[१८] में आर्य और शूद्र अथवा शूद्र और आर्य के अवैध सम्बन्ध को

[११] गोभिल गृह्य सूत्र ३. २, ४२।

[१२] देखिये तैत्तिरीय संहिता ६. ६, १. ४; वाजसनेयि संहिता ७. ४६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ४, २; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, १९; १२. ४, ४, ६; कात्यायन श्रौत सूत्र २५. ३, १७; लाट्यायन श्रौत सूत्र १. १, ७. कौशिक सूत्र, ६७, इत्यादि। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ७, १ में ब्राह्मण के एक गुण को 'ब्राह्मण्य' बताया गया है, जिसे वेबर : इ० स्टु०, १०, ६९ ने आनुवंशिकता के सन्दर्भ में ग्रहण किया है। 'ब्रह्म-पुत्र' आदर की एक उपाधि है, शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, २. ९; आश्वलायन श्रौत-सूत्र २. १८, १२; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. २१, १. २; और एक बुद्धिमान ब्राह्मण के पुत्र के रूप में जन्म लेना सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य है, बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, २९।

[१३] ऐतरेय ब्राह्मण २. १९, १, कौषीतकि ब्राह्मण १२. ३। तु० की० वेबर : इ० स्टु० २, ३११; ९, ४२, ४४, ४६।

[१४] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६, ६।

[१५] ६. ६, १, ४।

[१६] छान्दोग्य उपनिषद् ६. ४, ४; वेबर : इ० स्टु० १, २६३। शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ४, १।

[१७] ३०. १। तु० की० वेबर : इ० स्टु० ३, ४६२।

[१८] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, ३. ४; काठक संहिता, अश्वमेध, ४. ७; वाजसनेयि संहिता २४. ३०. ३१। 'आर्य' शब्द से यहाँ केवल एक वैश्य का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण रूप से किसी भी आर्य का आशय होना चाहिये, वेबर : इ० स्टु० १०, ६।

मान्यता दी गई है; अतः यदि अवैध सम्बन्ध होते थे तो इन दोनों जातियों के बीच वैध-विवाह सर्वथा असम्भव नहीं प्रतीत होते। यदि हम पञ्चविंश ब्राह्मण[९९] में बृहद्देवता[१००] में मिलनेवाले उशिज् से सम्बद्ध वर्णन को ग्रहण कर लें तो इस उशिज् नामक दासी के पुत्र *दीर्घतमस्* के दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार के विवाह की मान्यता का उदाहरण मिल जाता है। अथर्ववेद[१०१] के एक सूक्त में इस बात का अत्यन्त समर्थन किया गया है कि केवल ब्राह्मण ही एक मात्र वास्तविक और वैध पति है चाहे उस स्त्री के राजन्य अथवा वैश्य जैसे अन्य पति भी हों; यहाँ शूद्र का उल्लेख नहीं है जो सम्भवतः सोद्देश्य है।[१०२] राजन्य स्त्रियों के साथ ब्राह्मण के विवाह का *शर्यात* नामक राजा की पुत्री *सुकन्या,* जिसने *च्यवन* के साथ विवाह किया था,[१०३] और *रथवीति* की उस पुत्री के दृष्टान्तों द्वारा उदाहरण मिलता है जिसने *श्यावाश्व*[१०४] के साथ विवाह किया था।

(४) जाति और व्यवसाय :—यूनानी[१०५] और जातकों[१०६] के प्रमाण एक समान यह व्यक्त करते हैं कि प्रत्येक जाति अपने-अपने व्यवसायों तक ही सीमित थी, यद्यपि ब्राह्मण लोग केवल पौरोहित्य के अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यवसाय करते थे। साथ ही श्रमणों अथवा गृह-विहीन तपस्वियों में सभी जाति के लोग हो सकते थे। जातक ग्रन्थों[१०७] में यह

[९९] २४. ११, १७; हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५, ५६, नोट। किन्तु यहाँ 'उशिज्' के एक दास होने का कोई उल्लेख नहीं है।

[१००] ४. २४. २५।

[१०१] ५. १७, ८. ९। देखिये मूइर, १², २८२, नोट ७६; व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद, २४९। ठीक-ठीक आशय स्पष्ट नहीं है किन्तु इस स्थल का उद्देश्य ब्राह्मण की उच्च स्थिति को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना ही है।

[१०२] ५. १७, १८ का आशय अस्पष्ट है; इसकी इस रूप में व्याख्या की जा सकती है कि प्रत्येक बार आने पर ब्राह्मण को एक अस्थायी पत्नी प्रदान करना चाहिये (तु० की० व्हिटने, २५०)। किन्तु यह कदाचित् ही सम्भव है। मूइर इसे उसकी अपनी ही पत्नी के आशय में ग्रहण करते हैं।

[१०३] शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, ७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. २४४, २४५; वेबर : उ० पु०, १०, ७३ और बाद; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ३५२, ३५३।

[१०४] तु० की० बृहद्देवता ५. ५०. और बाद।

[१०५] अर्रियन : इण्डिका १२. ८. ९; स्ट्राबो, १५. ४, ४९।

[१०६] फिक : उ० पु०, ४० और बाद।

[१०७] रिज् डेविड्स : उ० पु०, ५४ और बाद।

मान्यता है कि ब्राह्मण लोग हर प्रकार के व्यवसायी, जैसे व्यापारी, कृषक, इत्यादि, होते थे। वैदिक साहित्य में स्थिति कुछ सरल है, जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय क्रमशः अपने यज्ञादि और सैनिक अथवा प्रशासनिक कार्यों तक सीमित हैं। लुडविग[108] ऋग्वेद[109] में *दीर्घश्रवस्* को एक ऐसे ब्राह्मण के रूप में देखते हैं जो व्यापारी का कार्य करने के कारण निर्धनता को प्राप्त हो गया था और सूत्रों द्वारा भी आप इसकी पुष्टि मानते हैं; किन्तु यह निश्चित नहीं है यद्यपि ऐसा सम्भव हो सकता है। अपेक्षाकृत अधिक रोचक तो यह प्रश्न है कि क्षत्रिय लोग किस सीमा तक पौरोहित्य-कर्म कर सकते थे; इसके लिए प्रमाणों में परस्पर संघर्ष है। निश्चित रूप से इस दिशा में *विश्वामित्र* का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध है। ऋग्वेद में विश्वामित्र *तृत्सुओं* के राजा *सुदास्* के दरबार से सम्बद्ध केवल एक पुरोहित मात्र हैं; किन्तु पञ्चविंश ब्राह्मण[110] में इन्हें *जह्नु* का वंशज एक राजा कहा गया है, और ऐतरेय ब्राह्मण[111] में यह संदर्भ है कि विश्वामित्र द्वारा दत्तक ले लिये जाने के कारण *शुनःशेप* जह्नुओं का आधिपतित्व तथा *गाथिनों* का 'दैव वेद' प्राप्त करने में सफल हो सका था। यद्यपि इस परम्परा का सत्य होना अत्यन्त असम्भाव्य प्रतीत होता है तथापि यह राजवंशीय द्रष्टाओं के अस्तित्व का कम से कम उदाहरण अवश्य प्रस्तुत करता हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण[112] में इस प्रकार के व्यक्तित्व एकाधिक बार आते हैं, और यह ग्रन्थ उन *राजन्यर्षि*, और *देवराजन्* जैसे पारिभाषिक शब्दों से परिचित है जो बाद के 'राजर्षि' शब्द के ही समान हैं। जैमिनीय ब्राह्मण[113] में यह कथन है कि ऐसा व्यक्ति जो किसी सिद्धान्त का ज्ञाता होता है 'राजा होते हुये भी ऋषि बन जाता है' (राजा सन्न ऋषिर् भवति); और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[114] में राजन्य शब्द एक ब्राह्मण के लिये व्यवहृत हुआ है।

[108] उ० पु०, ३, २३७ और बाद।

[109] १. ११२, ११।

[110] २१, १२, २। देखिये हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५. ५४।

[111] ७. १८, १९। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २१, जहाँ पाठ भिन्न किन्तु और भ्रष्ट है। किन्तु देखिये वेबर : ए० रि०, १६।

[112] १२. १२, ६; १८. १०, ५। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ४२, २३५, नोट ३।

[113] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १५४, नोट, में उद्धृत पाण्डुलिपि का पृ० ५६२।

[114] १. ४, २। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७, ६ जहाँ विश्वामित्र को राजपुत्र के रूप में सम्बोधित किया गया है।

पुनः यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि वह *देवापि आर्ष्टिषेण*, जिसने ऋग्वेद[115] के अनुसार *शन्तनु* के लिये पुरोहित के रूप में कार्य किया था, यास्क[116] के कथनानुसार या तो एक राजा था, अथवा उसका राजा होना ही प्रतीत होता है।[117] किन्तु यास्क की यह मान्यता केवल एक त्रुटि प्रतीत होती है। यतः ऋग्वेद में इन दोनों के बीच किसी प्रकार के बन्धुत्व का प्रमाण नहीं है अतः सीग के इस दृष्टिकोण[118] को स्वीकार करना असम्भव है कि ऋग्वेद इन दोनों को भ्राता मानता है, फिर भी यह स्थल राजा द्वारा पुरोहित के रूप में कार्य करने के तर्क को प्रस्तुत करता है, जो असामान्य है तथा व्याख्या की अपेक्षा रखता है। फिर भी, ऋग्वेद में राजाओं सम्बन्धी सीग द्वारा स्वीकृत यह सिद्धान्त बहुत कुछ उपयुक्त प्रतीत होता है। पुनः, मूइर[119] ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि, जैसा कि सायण[120] द्वारा भी व्यक्त होता है, हिन्दू परम्परा ऋग्वेद के अनेक सूक्तों को राजाओं द्वारा प्रणीत मानती है; किन्तु आप यह भी स्वीकार करते हैं कि अनेक दशाओं में यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि *पृथिवी वैन्य* की दशा में जहाँ इसे एक सूक्त[121] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है वहाँ स्वयं उस सूक्त द्वारा ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह एक द्रष्टा के अतिरिक्त कुछ और भी है; शतपथ ब्राह्मण[122] इसे एक राजा कहता है किन्तु इसका सम्भवतः उससे अधिक महत्व नहीं जितना विश्वामित्र के लिए बाद की परम्परा का। ऐतरेय ब्राह्मण[123] में उल्लिखित *विश्वन्तर* और *श्यापर्णों* को पुरोहितों के बिना ही यज्ञ करने वाले राजाओं के रूप में उद्धृत[124] किया गया है, किन्तु यह व्याख्या सर्वथा अनिश्चित है, जब कि वृत्तान्त के प्रसङ्ग में *कश्यपों*, *असितमृगों* और *भूतवीरों* के समानान्तर के रूप में उल्लेख इस बात को अत्यन्त सम्भव बना देता है कि उक्त राजाओं के पास यज्ञ करने के लिये अन्य पुरोहित वर्तमान थे।

[115] १०. ९८। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १९६; सेनार्ट : ल० इ०, १९५; मूइर, १^२, २६९ और बाद।

[116] निरुक्त २. १०।

[117] यहाँ इतना और जोड़ दिया जा सकता है कि कात्यायन श्रौत सूत्र १. ९, ३ के भाष्य में 'आर्ष्टिषेण' संस्कार विषयक आचार्यों के रूप में आते हैं; वेबर : इ० स्टु० १०, ९५।

[118] सा० ऋ०, १४२।

[119] उ० पु०, १^२, २६५ और बाद।

[120] ऋग्वेद १. १००; ४. ४२. ४३. ४४; ५. २७; ६. १५; १०. ९. ७५. १३३. १३४. १४८. १७९, इत्यादि, पर।

[121] १. १४८, ५।

[122] ५. ३, ५, ४।

[123] ७. २७ और बाद।

[124] त्सिमर : उ० पु०, १९६।

इनसे कुछ भिन्न दृष्टान्तों का वह क्रम है जो उन उपनिषदों में मिलता है जिनमें राज-पुरुषों को भी ब्रह्मज्ञान का श्रेय दिया गया है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[१२५] में यह कथन है कि जनक ब्राह्मण बन गये थे; *अजातशत्रु* ने *गार्ग्य बालाकि* को शिक्षित किया था;[१२६] *प्रवाहण जैवलि* ने *श्वेतकेतु आरुणेय*[१२७] को और साथ ही साथ *शिलक शालावत्य*[१२८] और *चैकितायन दाल्भ्य*[१२८] को शिक्षा दी थी; और *अश्वपति कैकेय* ने ब्राह्मणों को शिक्षित किया था।[१२९] ऐसे स्थलों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ब्रह्म का सिद्धान्त क्षत्रियों का उत्पादन था।[१३०] फिर भी यह निष्कर्ष सर्वथा सन्दिग्ध है[१३१] क्योंकि राजा लोग दार्शनिक विषयों में अभिरुचि लेनेवालों के रूप में अपने को प्रशंसित कराने के लिये स्वभावतः इच्छुक रहते थे, और अन्यत्र[१३२] एक राजन्य के विचार को अनादर की दृष्टि से देखा गया है।

यह स्वभावतः एक उचित निष्कर्ष है कि राजकीय जाति पुरोहितों के पवित्र कर्मकाण्ड से बहुत अधिक सम्बद्ध नहीं थी, यद्यपि व्यक्तिगत अपवादों का होना बहुत असम्भव नहीं है; किन्तु योद्धाओं का पुरोहित होना, अथवा जाति का वास्तविक परिवर्त्तन होना, किसी भी एक उदाहरण से सिद्ध नहीं होता। यह असम्भव था, हम ऐसा नहीं कर सकते, किन्तु प्रतीत होता है कि ऐसा कभी हुआ नहीं। जैसा कि फिक[१३३] संकेत करते हैं, जाति-परिवर्त्तन के तथ्य के साथ इसका भी विभेद करना चाहिये कि कम से कम बाद के काल में किसी जाति का सदस्य श्रमण बन सकता था, जिसके सम्बन्ध

[१२५] ११. ६, २, १०; मूइर, १[२], ४२६-४३०।
[१२६] बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १; कौषीतकि उपनिषद् ४. १।
[१२७] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १ (माध्यन्दिन = ६. २, १ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, १।
[१२८] छान्दोग्य उपनिषद् १. ८, १।
[१२९] शतपथ ब्राह्मण, १०. ६, १, २।
[१३०] ड्यूसन : आ० गे० १, २, ३५४; फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स, १७, और बाद; गार्बे : बी० कु० १ और बाद; फिलॉसफी ऑफ ऐन्शेन्ट इन्डिया, ७३ और बाद; ग्रियर्सन : ज० ए० सो०, १९०८, ६०२ और बाद; विन्टर्नित्स : गे० लि० १, २५६ और बाद।
[१३१] ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ वेद, २१८ और बाद; कीथ : ज० ए० सो०; १९०८, ८३८, ८६८, ११४२; ऐतरेय आरण्यक ५०, ५१, २५७; औल्डेनबर्ग : बुद्ध,[५] ७३ नोट १।
[१३२] शतपथ ब्राह्मण ८. १, ४, १०।
[१३३] ड० पु०, ४४, नोट १।

में महाकाव्य में राजाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[134] यह प्रचलन वैदिक है अथवा नहीं : यास्क[135] ने इस सम्बन्ध में देवापि का उदाहरण दिया दिया है, किन्तु यह बौद्धमत के आविर्भाव के बहुत पहले के काल के लिये प्रमाण नहीं है।

दूसरी ओर ब्राह्मण, अथवा कम से कम पुरोहित, राजा के साथ युद्ध में भी जाते थे, और सम्भवतः मध्य-युगीन पादरियों की भाँति युद्ध करने के लिये प्रस्तुत भी रहते थे,[136] जैसा कि वसिष्ठ और विश्वामित्र ने किया था और जैसा समय-समय पर महाकाव्य[137] में पुरोहित करते हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार कार्य करने से पुरोहित की जाति परिवर्तित हो जाती थी।

अधिक सामान्य रूप से जाति के परिवर्तित होने की सम्भावना शतपथ ब्राह्मण[138] में देखी जा सकती है जहाँ *श्यापर्ण सायकायन* को अपनी सन्तानों से इस प्रकार कहते हुये व्यक्त किया गया है, मानो वह सब शल्वों के विशिष्ट पार्षद, पुरोहित, अथवा सभासद बन सकते थे। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण[139] में भी एक उदाहरण मिलता है, जहाँ विश्वन्तर को यह बताया गया है कि हवि में त्रुटि आ जाने से उसकी सन्तान तीन अन्य जातियों की हो जायेगी। ऋग्वेद[140] का सुरापान किये हुये एक ऋषि इस प्रकार बोलता है जैसे वह राजा बन सकता है। दूसरी ओर कुछ राजा, जैसे *पर आट्णार* आदि को, यज्ञ-सत्रों का आयोजक बताया गया है।[141] जाति-परिवर्त्तन के प्रमाण के लिये इन दृष्टान्तों का कोई विशेष महत्व नहीं है; बाद में एक ब्राह्मण राजा बन सकता था; जब कि ऋग्वेद के उक्त ऋषि को मादकावस्था में बोलता

[134] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १७९, और बाद, जो इसे जाति-परिवर्त्तन के रूप में ग्रहण करते हैं।

[135] निरुक्त २. १०। वह जंगल में जाकर तपस्या करने लगा, जो अनिवार्यतः जाति-परिवर्त्तन नहीं कहा जा सकता।

[136] देखिये ऋग्वेद ३. ५३, १२. १३; १. १२९, ४; १५२, ७; १५७, २; ७. ८३, ४; १०. ३८; १०३, इत्यादि; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २२०–२२६; गेल्डनर : वेदिशे स्टूटियन, २, १३५, नोट ३।

[137] हॉपकिन्स : उ० पु०, १३, १८४।

[138] १०. ४, १, १०।

[139] ७. २९।

[140] ३. ४३, ५।

[141] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १६, ३। तु० की० यज्ञ वेदिका के निर्माण में उनके योगदान के लिये, तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ५, ३; काठक संहिता २२. ३ (इन्डिशे स्टूडियन ३. ४७३); वेबर : उ० पु०, १०, २५।

हुआ बताया गया है। महान राजाओं को यज्ञकर्त्ता कहा जा सकता था यदि वह आपाततः दीक्षित रहते थे, और इस प्रकार अस्थायी रूप से ब्राह्मण बन जाते थे।[142] कल्पनात्मक स्थल भी इस दिशा में बहुत कुछ सहायक नहीं हैं। जाति-परिवर्त्तन की भावना को अस्वीकृत करना अबुद्धिमत्ता होगी, किन्तु किसी लिखित विवरण द्वारा यह स्पष्टतः व्यक्त नहीं होता। सत्यकाम जाबाल जैसे दृष्टान्त भी बहुत अधिक सहायक नहीं हैं, क्योंकि मूलतः यह गुरु नहीं जानता था कि उसका पिता कौन है, और उसका पिता ब्राह्मण ही रहा हो सकता है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि पुरोहित और क्षत्रियगण अपने अपने पैतृक व्यवसायों में ही लिप्त रहते थे, और दोनों ही वर्ग अपने-अपने में ऐसे सीमित थे कि उनमें से किसी में जन्म लेनेवाला व्यक्ति उसी वर्ग का सदस्य होता था। अतः इन दोनों वर्णों को अलग-अलग जातियाँ माना जा सकता है। वैश्यों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई है, क्योंकि वह अनेक प्रकार के व्यवसाय करते थे (देखिये *वैश्य*)। फिक[143] यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ठीक-ठीक ऐसा कोई भी आधार नहीं जिसके अनुसार इन्हें एक जाति कहा जा सके, क्योंकि बौद्ध-साहित्य में यह अनेक वर्गों में विभाजित मिलते हैं, जैसे 'गहपति' अथवा छोटे ज़मीदार, सेट्ठि अथवा बड़े व्यवसायी और विभिन्न व्यवसायिक संस्थाओं के सदस्य, तथा यह सभी अन्तर्जातीय विवाह भी करते थे। नीति-ग्रन्थों में इस दृष्टिकोण के स्पष्ट संकेत[144] मिलते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय, समाज के अन्य सभी सदस्यों से भिन्न होते थे। किन्तु वैदिक काल के लिये हमें इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना आवश्यक नहीं। जब जाति के साधारणतया स्वतंत्र सदस्य वैश्य स्वयं में एक वर्ग अथवा जाति थे, तो हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं कि कौन अपनी स्वतंत्र मर्यादा द्वारा शूद्रों से सेवित होता था, और कौन पुरोहितीय अथवा विशिष्ट रक्त के प्रभाव के कारण राज्य के दो उच्च वर्गों से। यह मानना सम्भवतः उचित है

[142] शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, १३; वेबर : उ० पु०, १०, १७, और तु० की० जनक का दृष्टान्त, शतपथ ब्राह्मण ११. ६, २, १ और बाद।

[143] उ० पु०, १९ और बाद; १६२ और बाद।

[144] हॉपकिन्स : म्यूचुअल रिलेशन्स ऑफ दि फोर कास्ट्स एकॉर्डिङ्ग टु दि मानवधर्मशास्त्र, ७८, ८२ और बाद।

कि कोई भी, वैश्य जाति के किसी भी सदस्य के साथ, विवाह कर सकता था; और वैश्यों के वर्ग के भीतर ही लक्षित होनेवाले बाद के विभाजन उस मूल पद्धति के आधार पर हुये विभाजनों के ही विकास हैं, जिनके द्वारा पुरोहित और विशिष्ट जन अलग-अलग विभागों में बँट गये। आज भी जब कोई नयी जाति वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आ जाती है तो हम उसमें इस पद्धति की क्रियाशीलता को देख सकते हैं : प्रत्येक वर्ग सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से अपने को ऊँचा रखने के लिये समान आधार पर अपने से निम्न जाति के सदस्य के साथ विवाह करना अस्वीकृत कर सकता है—अतः वह वैश्य, जो व्यवसाय द्वारा सम्पत्ति अर्जित कर लेते थे (*श्रेष्ठिन्*) अथवा कृषि से सम्पन्न बन जाते थे (पालि 'गहपति') उपजाति के रूप में साधारण वैश्यों से एक पृथक् वर्ग बन जाते थे। किन्तु वैश्यों को एक सैद्धान्तिक जाति मानना उपयुक्त नहीं। यह तो एक ऐसी प्राचीन जाति है जो व्यवसाय, धर्म, भौगोलिक स्थिति, आदि, के प्रभाव से अनेक उपजातियों में विभक्त होती जा रही है।

फिक[१८५] इस बात को भी अस्वीकार करते हैं कि शूद्र लोग कभी एक ही जाति थे : आप इस शब्द को मूलतः केवल एक ऐसी विशिष्ट जाति का द्योतक मानते हैं, जिसके अन्तर्गत आक्रामक आर्यों द्वारा पराजित अनेक हीन जातियों के सदस्य आ गये। यह मानना तर्कसंगत है कि 'शूद्र' नाम वैदिक भारतीयों द्वारा अपना विरोध करनेवाले राष्ट्रों को दिया गया नाम है, और ऐसे राष्ट्रों के सदस्य तीन जातियों—विशिष्टजन, पुरोहित और सर्वसाधारण—के अतिरिक्त दासों की कोटि में रखे गये थे। यह वैसा ही था, जैसे कि ऐंग्लो-सैक्सन और आरम्भिक जर्मन-विधान के अन्तर्गत, पुरोहित, विशिष्टजन और साधारण व्यक्ति दास वर्ग के सदस्यों से भिन्न माने जाते थे। दासों के लिये इस प्रकार के एक जातिवाचक शब्द का प्रयोग स्वाभाविक प्रतीत होता है, उसका आरम्भ चाहे जिस प्रकार भी हुआ हो (देखिये *शूद्र*)। आर्यों की दृष्टि में शूद्रों के विवाह को किसी नियम द्वारा कदाचित् ही नियन्त्रित करना आवश्यक था। कोई भी शूद्र किसी भी अन्य शूद्र के साथ विवाह कर सकता था यदि उसके इस विवाह को वास्तविक अर्थों में एक विवाह कहा जाय, क्योंकि, आरम्भिक नियमों के अनुसार वास्तविक अर्थों में उसे विवाह करने का अधिकारी ही नहीं समझा जाता था। किन्तु जो वैदिक काल के लिये उपयुक्त था, वह इस बाद के काल के लिये

[१८५] उ० पु०, २०२ और बाद।

उस समय उत्तरोत्तर कम उपयुक्त होता गया जब अनेक आदिवासी जातियाँ और राजा शान्तिपूर्वक अथवा विजित होकर अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता खोये बिना ही आर्य जाति के अन्तर्गत सम्मिलित हो गये, और जब शूद्र शब्द के अन्तर्गत केवल ऐसे ही व्यक्ति नहीं रह गये जो केवल दास थे, वरन् ऐसे स्वतंत्र व्यक्ति भी आ गये जो, *चण्डालों* अथवा आर्य नियन्त्रण के अन्तर्गत रहनेवाली जाति, अथवा स्वतंत्र *निषादों* की ही भाँति, गाँव के लोगों की आवश्यकता पूर्ति करने वाले अनेक निम्न कार्य करते थे।

किन्तु यह भी सम्भव है कि शूद्रों के अन्तर्गत आर्य जाति के सदस्य भी सम्मिलित रहे हों, क्योंकि वैदिक काल में ही आर्यों का निम्न सामाजिक स्तर पर पतन दिखाई देता है। कम से कम *रथकारों* के साथ स्थिति ऐसी ही प्रतीत होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[१४६] में रथकारों को ब्राह्मणों, राजन्यों, और वैश्यों के साथ-साथ एक विशेष वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है : इसकी इस अर्थ के अतिरिक्त कदाचित ही किसी अन्य रूप में व्याख्या की जा सकती है कि रथकार आर्यवर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं थे, यद्यपि यह सम्भव है कि इनसे वैश्यों के एक उपजाति का तात्पर्य रहा हो। रथकारों को शूद्र मानने का एक अन्य प्रमाण[१४७] भी है। किन्तु अथर्ववेद[१४८] में रथकार और *कर्मार* राजा के चुनाव के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखनेवालों के रूप में आते हैं; वाजसनेयि संहिता[१४९] में इन दोनों वर्गों का आदरपूर्वक उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[१५०] में भी रथकार की एक उच्च पदस्थ व्यक्ति के रूप में चर्चा की गई है। फिक[१५१] के इस मत को स्वीकार करना असम्भव है कि यह वर्ग मूलतः अनार्य था; हमें यह स्वीकार करना होगा कि आरम्भिक वैदिक काल में अपनी कला-कुशलता के लिये प्रसिद्ध रथकार, बाद में इस भावना के विकास के कारण निम्न कोटि के अन्तर्गत आ गया कि हाथ से मजदूरी करना प्रतिष्ठित नहीं है। इस विचार का विकास आर्य-धारणा से एक विचलन था; फिर भी कितना भी अवांछनीय

[१४६] १. १, ४, ८।

[१४७] तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र १. १, ९, और उस पर भाष्य; ४. ७, ७; ९, ५; वेबर : इ० पु०, १०, १२, १३।

[१४८] अथर्ववेद ४. ५, ६। यहाँ 'कर्मार' और 'रथकार' शब्दों का अभिप्राय होना, जैसा कि वेबर : इ० पु०, १७, १९८ में व्यक्त करते हैं, सर्वथा असम्भव है।

[१४९] ३०. ६. ७। तु० की० १४. २७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १ (रथकार); ३, १ (कर्मार)।

[१५०] १३. ४, २, १७।

[१५१] इ० पु०, २०९, २१०।

होते हुये यह अस्वाभाविक नहीं और इसका एक क्षीण-सा समानान्तर उदाहरण आधुनिक योरप के वर्ग-विभेद में मिलता है। इसी प्रकार कर्मार, *तक्षण*[१५२], चर्मम्न, बुनकर तथा अन्य व्यवसायियों को, जो ऋग्वेद में सर्वथा प्रतिष्ठित माने गये हैं, पालि ग्रन्थों[१५३] में शूद्र कहा गया है।

वाद का सिद्धान्त, जो कि धर्मसूत्रों[१५४] में पूरी तरह विकसित मिलता है, मूलतः चार जातियों से भिन्न, विभिन्न जातियों के अन्तर्विवाह के आधार पर अनेक जातियों का उल्लेख करता है। आरम्भिक वैदिक साहित्य के लिये इस सिद्धान्त का कोई औचित्य नहीं है। कुछ दशाओं में तो यह स्पष्टतः त्रुटिपूर्ण है; उदाहरण के लिये, *सूत* को इसी प्रकार की एक जाति कहा गया है, जब कि यह सर्वथा स्पष्ट है कि यदि *सूतगण* एक जाति थे भी तो वह केवल अपने व्यवसाय के आधार पर ही। किन्तु इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं कि सूत, ग्रामणी तथा कर्मकार-वर्ग के अन्य सदस्य इस आशय में एक जाति थे कि वह आरम्भिक वैदिक साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह के कारण उत्पन्न हुये थे। *अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उस पद्धति का एक* क्रमिक विकास हो चला था जिसके आधार पर एक के बाद दूसरी जाति का निर्माण हो रहा था, और उसका प्रमुख निर्धारक तत्त्व उसी प्रकार उनका व्यवसाय था जिस प्रकार आधुनिक काल में भी गोपाल, कैवर्त्त अथवा धीवर और वणिज् नामक जातियाँ मिलती हैं।[१५५]

फिक[१५६] जातक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के ऐसे व्यवसायों का उल्लेख देखते हैं जिनके सदस्य किसी भी जाति के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार के कार्य करनेवालों के अन्तर्गत राजसेवक, गाँव-गाँव घूमनेवाले अभिनेता और नर्तक, ऐसी जंगली जातियाँ जो पर्वतों पर रहती थीं, मछुये तथा व्याध आदि आते हैं। वैदिक काल में सम्भवतः ऐसे ही लोग शूद्र-कोटि के अन्तर्गत रखे गये थे,

[१५२] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ११, ११ में यह नाम 'बृबु' (ऋग्वेद ६. ४५, ३१) के लिये व्यवहृत हुआ है। त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १२७ के अनुसार यह एक जाति का नाम है, किन्तु यह *अत्यन्त असम्भाव्य है*। देखिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०७।

[१५३] फिक : उ० पु०, १६०, २१०।

[१५४] गौतम धर्मसूत्र, ४; वासिष्ठ धर्मसूत्र १८; बौधायन धर्मसूत्र, १. १६. १७।

[१५५] तु० की जॉली : त्सी० गे०, ५०, ५०७ और बाद; बूह्लर : से० बु० ई०, १४, xxxviii, xxxix।

[१५६] उ० पु०, १८४ और बाद।

और वह *पर्णक, पौल्कस, वैन्द* आदि भी इन्हीं में सम्मिलित थे जिनका वाजसनेयि संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरुषमेध के बलि प्राणियों की तालिका में अनेक अन्य लोगों के साथ उल्लेख है। दास भी, जिन्हें फिक[१५७] इसी कोटि के अन्तर्गत रखते हैं, निश्चित रूप से शूद्र शब्द के अन्तर्गत ही सम्मिलित थे।

(५) जातियों का आरम्भः—जातियों के आरम्भ की समस्या कुछ कठिनाई प्रस्तुत करती है। किसी भी अन्य आर्य समाज की तुलना में यहाँ जाति-व्यवस्था की अत्यन्त अनुलंघनीयता के मूल कारण को सम्भवतः आरम्भ से ही आर्यों और शूद्रों के बीच स्पष्ट विभेद में ढूँढ़ना चाहिये। वास्तव में उसी अन्तर ने, जिसके अस्तित्व का वैदिक-भारतीयों ने अपने तथा विजित जनता के बीच अनुभव किया और जिसका आधार मूलतः कदाचित् उच्च और निम्न वर्ग की त्वचा का रङ्ग था, जन्म, व्यवसाय और स्थान सम्बन्धी उस स्वाभाविक विभेद को प्रखर कर दिया जो भारतीय आर्यों के बीच तो वर्त्तमान था किन्तु अन्य आर्य-जातियों में भारत की भाँति जाति-व्यवस्था के रूप में विकसित नहीं हो सका। विषम वैवाहिक सम्बन्ध का सिद्धान्त, जो जाति-व्यवस्था की व्यावहारिकता का प्रमुख चिन्ह है, इस भावना का स्पष्ट संकेत करता है कि आर्यगण तो शूद्रा के साथ विवाह कर सकते थे किन्तु शूद्र किसी आर्या के साथ नहीं। यही विभेद सम्भवतः अन्य सभी विभाजनों की पृष्ठभूमि में वर्त्तमान है : इसकी शक्ति का दृष्टान्त उन मिश्रित विवाहों के प्रति विचित्र भावना में मिलता है जो, उदाहरण के लिये, अमेरिका के दक्षिणी राज्यों और दक्षिणी अफ्रीका में नवीन योरोपीय अक्रामकों तथा वहाँ की उस मिश्रित जनसंख्या के बीच होते थे जिनसे ही यह देश अब बसे हुये हैं। श्वेत और काली जातियों के बीच विवाह को सिद्धान्ततः मान्यता नहीं है; किन्तु (१) श्वेत जाति के पुरुष का काली जाति की स्त्री के साथ विवाह, (२) इन दोनों के बीच अनौपचारिक सम्बन्ध, (३) श्वेत जाति की स्त्री का काली जाति के पुरुष के साथ विवाह, तथा (४) इन दोनों के बीच अनौपचारिक सम्बन्ध के लिये भर्त्सनाओं की अलग-अलग सीमायें लक्षित होती हैं। सम्पूर्ण रूप से इनमें से प्रत्येक बाद की श्रेणी के प्रति उसके पहिले की अपेक्षा अधिक गम्भीर निन्दा का भाव संयुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जाति के इसी तत्त्व ने सामाजिक विभाजनों को जाति-व्यवस्था में परिणत कर दिया

[१५७] वही १९७ और बाद।

था। इसलिये रिस्ले[१५८] द्वारा प्रस्तुत उस सिद्धान्त में सत्य की बहुत अधिक मात्रा है जो जाति को प्रमुख रूप से रक्त का विभाजन मानता है और जिसके द्वारा यह व्याख्या की गयी है कि जो जाति जितनी ही उच्च है उसमें आर्यरक्त की उतनी ही प्रधानता है।

निःसन्देह इसका प्रतिद्वन्दी सेनार्ट[१५९] द्वारा प्रस्तुत वह सिद्धान्त है जो आर्यों के पारिवारिक संगठन पर सर्वाधिक ज़ोर देता है। सेनार्ट के अनुसार आर्यगण विवाह में बहिर्गोत्रीयता और अन्तर्जातीयता दोनों ही नियमों का अनुसरण करते थे। सेनार्ट और कोवालेव्स्की ने रोमन कानून की जैसी व्याख्या की है उसके अनुसार एक व्यक्ति को अपने समान स्तर में उत्पन्न स्त्री के साथ तो विवाह करना चाहिये किन्तु अपने ही गोत्र की स्त्री के साथ नहीं;[१६०] इसी प्रकार एक अथेनियन को अथेनियन स्त्री से ही विवाह करना चाहिये किन्तु अपने ही गोत्र (γένος) की स्त्री के साथ नहीं। भारतवर्ष में यही नियम इस रूप में व्यक्त हुये हैं कि व्यक्ति को अपने गोत्र के अन्दर तो विवाह नहीं करना चाहिये किन्तु अपनी जाति के बाहर भी नहीं। यद्यपि इस सिद्धान्त को आकर्षक रूप से विकसित किया गया है तथापि यह विश्वसनीय नहीं है; समानान्तर लैटिन और ग्रीक दृष्टान्त सम्भावना के रूप में भी ठीक नहीं;[१६१] और भारत में गोत्र के अन्दर विवाह को निषिद्ध करने का नियम ऐसा है जिसकी कड़ाई में उसी अनुपात से विकास मिलता है जिस अनुपात से कालान्तर में उसके प्रमाण का[१६२]।

दूसरी ओर इस बात को अस्वीकृत करने की आवश्यकता नहीं है कि कुछ गोत्रों (gentes, अथवा γένη) की पारिवारिक परम्पराओं द्वारा जातिवाद के विकास में सहायता मिली। रोम के पैट्रीशियन बहुत दिनों तक प्लेबियनों के साथ अन्तर्विवाह करना अस्वीकृत करते रहे; अथेनियन यूपेट्रिडाइ भी अपने जेने (γένη) को निम्न रक्त के सम्बन्ध द्वारा अपवित्र होने से बचाते रहे; और वैदिक भारतीयों में भी ऐसे विशिष्ट परिवार रहे हो सकते हैं

[१५८] पीपुल्स ऑफ इन्डिया में सबसे अच्छी तरह वर्णित और समन्वित है। देखिये इन्डियन एम्पायर, १, अध्याय ६, में सारांश भी।

[१५९] ल० इ०।

[१६०] फै० प्रि०, २९ और बाद।

[१६१] कीथ : ज० ए० सो०, १९०९, ४७२।

[१६२] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ७८ और बाद।

जो केवल अपने बीच ही अन्तर्वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। टेसिटस[163] को ज्ञात जर्मन, विशिष्टों और सामान्य जनों के रूप में विभक्त थे, और ऐंग्लो-सैक्सन लोग विशिष्ट तथा अविशिष्ट स्वतंत्र व्यक्तियों में[164]। विशिष्ट वर्ग की उत्पत्ति को वास्तविक वैदिक काल में नहीं ढूँढना चाहिये क्योंकि इस वर्ग का अस्तित्व पहले से ही वर्त्तमान रहा हो सकता है। इसका कारण यह तथ्य हो सकता है कि राजा को, जिसे हमें मूलतः जनता द्वारा चुना व्यक्ति मानना चाहिये, राजा के रूप में देवता के साथ घनिष्ट रूप से सम्बद्ध अथवा देवता का ही अवतार माना जाता था;[165] और वंशानुगत राजसत्ता ने ही विशेष रूप से पवित्र रक्त की परम्परा को विकसित किया होगा: अतः राजपरिवार और उसकी शाखायें अपने रक्त की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिये उत्सुक रही होंगी। भारत में राजा की पवित्रता के साथ-साथ पुरोहितों के पवित्रता की भावना भी वर्त्तमान थी। यहाँ हम परिवार में राजा और विशिष्ट व्यक्तियों का पृथक्करण, और इसी प्रकार ऐसे पुरोहित वर्ग का भी जो विवाहित नहीं था पृथक्करण देखते हैं। यह ऐसे प्रभाव हैं जो जातिवाद को सम्भव बनाते हैं, विशेषतः उस समय तो और भी जब यह सामान्य लोगों और अधम आदिवासियों के बीच गम्भीर विरोधी भावना के साथ संयुक्त होते हैं।

एक बार निर्मित हो जाने पर जाति स्वभावतः विभिन्न दिशाओं में विकसित हो गई। नेसफील्ड[166] ने व्यवसाय को जातिवाद के विकास का एक आधार माना था। जातिवाद की अन्तिम व्याख्या के रूप में इस सिद्धान्त की गम्भीर आलोचना कदाचित् ही आवश्यक है, किन्तु यह निश्चित है कि

[163] जर्मेनिया, ७, १३, इत्यादि।

[164] मेडले: इंग्लिश कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री,[2] २१ और बाद, और इसमें उद्धृत विचार। राज्यों के निर्माण में छोटे प्रधान, अथवा कभी के छोटे राजा, विशिष्ट जन बन जाते हैं।

[165] उदाहरण के लिये, फ्रेज़र: अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि किङ्गशिप, और दि गोल्डेन बाउ (तृतीय संस्करण), खण्ड १; दि मैजिक आर्ट ऐण्ड दि इवोल्यूशन ऑफ किंग्स। आर्य जाति में इस धारणा के चिह्न स्पष्ट हैं—उदाहरण के लिये रोम का 'रेक्स सैक्रीफिक्यूलस', एथेन्स में आर्कोन वेसिलियस का पवित्र समारोह; तु० की० रिजवे: ओरिजिन ऑफ ट्रैजेडी, पृ० २९।

[166] ब्रीफ व्यू ऑफ दि कास्ट सिस्टम ऑफ नार्थ-वेस्टर्न प्रॉविन्सेज़ ऐण्ड अवध, एलाहाबाद, १८८५।

व्यवसायियों के अलग-अलग वर्ग जातियों का रूप धारण कर सकते हैं। बढ़ई (तक्षन्), रथ बनानेवाले (रथकार), मछली मारने वाले (धैवर) और अन्य ऐसे ही वर्ग स्पष्टतः जातियों के ही प्रकार हैं और इनकी संख्या में समय के साथ-साथ वृद्धि होती जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मूलतः जाति की उत्पत्ति विशुद्ध और सरलतम रूप से व्यवसायों पर ही आधारित थी, अथवा यह कि केवल व्यावसायिक अन्तर मात्र ही, आर्यों और दासों अथवा शूद्रों के रक्त और रङ्ग के आधारभूत अन्तरों के हस्तक्षेप के बिना ही जाति-व्यवस्था को उत्पन्न कर सकता था। इस अन्तर ने उस बात को और महत्त्व-पूर्ण बना दिया जो आर्य जातियों का इतिहास हमें अवनति की ओर उन्मुख दिखाता है, अर्थात् विशिष्ट और अविशिष्ट स्वतंत्र व्यक्तियों के बीच का अन्तर, जो निःसन्देह निर्णायक नहीं किन्तु ऐसा अवश्य है जो विभिन्न शाखाओं में विभक्त होने के पूर्व ही आर्यों में विकसित हो चुका प्रतीत होता है।

यह सर्वविदित है कि ईरानी राजतंत्र में वर्गों का ऐसा ही विभाजन मिलता है जिसकी कुछ अंगों[१६७] में भारतीय राजतंत्र के साथ तुलना की जा सकती है। पुरोहित (अथर्व) और योद्धा (रथाएस्ठा) निर्विवादात्मक रूप से समानान्तर हैं और दो निम्न जातियाँ भी पालि 'गहपतियों' और सम्भवतः शूद्रों के बहुत समान हैं।[१६८] किन्तु यह सब भारतीय आशय में जातियाँ कदापि नहीं। सेनार्ट[१६९] और रिस्ले[१७०] के इस दृष्टिकोण में कोई सम्भावना नहीं है कि पुरानी जातियों के नाम बाद में उस जाति-व्यवस्था पर कृत्रिम रूप से आरोपित कर दिये गये थे जिनकी उत्पत्ति उनसे मूलतः भिन्न थी। हम यह नहीं कह सकते कि वर्गों के पहले से ही जातियों का अस्तित्व था और यह कि भारत ने वर्गों की कल्पना ईरान से ग्रहण की थी, जैसा कि चार वर्णों से सम्बद्ध आरम्भिक ब्राह्मण प्रमाणों की अपेक्षा करते हुये और इस स्थानान्तरण को बाद की घटना के रूप में देखते हुये रिस्ले मानते हैं। साथ ही हम सेनार्ट के इस मत से भी सहमत नहीं कि वर्गों और जातियों की उत्पत्ति परस्पर स्वतंत्र है। यदि वर्ण न रहा होता तो जातिवाद सम्भवतः विकसित ही न हुआ होता। अतः जातिवाद की उत्पत्ति का

[१६७] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २४३, २४४।
[१६८] सेनार्ट : उ० पु०, १४१।
[१६९] वही, १४०।
[१७०] इन्डियन एम्पायर, १, ३३६–३४८।

उपयुक्त समाधान करने के लिये रङ्ग और वर्ग-व्यवसाय दोनों की ही आवश्यकता है।[१७१]

[१७१] जाति की उत्पत्ति से सम्बद्ध भारतीय सिद्धान्त केवल धार्मिक और दार्शनिक हैं, अतः उनका कोई महत्व नहीं। इनके लिये देखिये ऋग्वेद १०. ९० (जो अन्य संहिताओं में भी दुहराया गया है); तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, ४ और बाद; वही ४. ३, १०, १-३ = काठक संहिता १७. ५ = वाजसनेयि संहिता १४. २८-३०; शतपथ ब्राह्मण ८. ४, ३, १ और बाद। ब्राह्मणों की उत्पत्ति के लिये देखिये अथर्ववेद ४. ६, १; १५. ९, १; राजन्य के लिये, अथर्ववेद १५. ८, १; तैत्तिरीय संहिता २. ४, १३, १ और बाद; मूइर, १[२], ८ और बाद; त्सिमर: उ० पु०, २१७-२२०।

जाति सम्बन्धी मूल उद्धरणों का सबसे महत्वपूर्ण संग्रह, मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], और वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १०, है जहाँ प्रायः ब्राह्मणों में उपलब्ध सभी सन्दर्भ ले लिये गये हैं; यहाँ केवल मैत्रायणी संहिता के विवरण ही और सम्मिलित करने हैं, जो केवल तैत्तिरीय और काठक संहिताओं की पुष्टि मात्र करते हैं। जाति से सम्बद्ध महाकाव्य सम्बन्धी विवरण हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १३ में दिये हुये हैं, और इन्होंने ही 'म्यूचुअल रिलेशन्स ऑफ दि फोर कास्ट्स एकॉर्डिङ्ग टु दि मानवधर्मशास्त्र' में जातीय-सम्बन्ध सम्बन्धी मानवधर्मशास्त्रीय विवरण का भी विश्लेषण किया है। तु० की०, लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३. २१२ और बाद; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १८५ और बाद; सेनार्ट: ले० का०; बार्थ: रे० रि०, १८९४, ७५ और बाद; जौली: त्सी० गे०, ५०, ५०७ और बाद; औल्डेनबर्ग वही ५१, २६७-२९० जहाँ सेनार्ट के दृष्टिकोण की महत्वपूर्ण आलोचना है; फॉन श्रोडर: इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, १५२ और बाद; ४२५ और बाद; इलेजिनविट: त्सी० गे०, ३३, ५४९; श्रीधर वी० कटकर: हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इन्डिया। जातकों में उपलब्ध प्रमाण फिक: डी० ग्ली० (१८९७) में संग्रहीत हैं; इसका पर्याप्त महत्व है किन्तु इसकी तिथियाँ अत्यन्त सन्दिग्ध हैं और उन्हें निश्चित रूप से बुद्ध (पाँचवीं शताब्दी, ई० पू०) का समकालीन नहीं माना जा सकता। धर्मसूत्रों में भी पर्याप्त विवरण हैं, किन्तु इनकी तिथियाँ भी अनिश्चित हैं।

वर्त—देखिये वर्त्र।

वर्तनि, रथ के एक भाग के रूप में ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'चक्रधार' का द्योतक है।

[१] १. ५३, ८; ७. ६९, ३; ८. ६३, ८।

[२] ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३३, २; यज्ञीय सोम-वाहन के एक भाग के रूप में, तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ९, ५; षड्विंश ब्राह्मण १. ५, इत्यादि।

वर्तिका (एक पक्षी) का ऋग्वेद[1] में भेड़िये के पंजे से अश्विनों द्वारा छुड़ाये गये होने के रूप में उल्लेख है। यजुर्वेद की संहिताओं[2] में इसे अश्वमेध के वलि-प्राणियों की तालिका में भी सम्मिलित किया गया है।

[1] १. ११२, १८; ११६, ४; ११७, १६; ११८, ८; १०. ३९, १३।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; वाजसनेयि संहिता २४. २०, ३०; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १।
शब्द के रूप के लिये तु० की० पाणिनि ७. ३, ४५ पर वार्त्तिक, जहाँ इसे पूर्वी 'वर्तका' के विपरीत 'उत्तरी' कहा गया है। तु० की० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन, ५, ४५, नोट; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९० भी।

वर्त्र, अथर्ववेद[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में तालाब के 'बाँध' का द्योतक है। प्रथम स्थान के भाष्य तथा पाण्डुलिपियों में 'वर्त'[3] है।

[1] १. ३, ७।
[2] १. ६, ८, १।
[3] ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४।

वर्ध्र, एक ऐसी रस्सी अथवा वन्धन का द्योतक है जिससे, विने हुये मंच को सन्नद्ध किया जाता था। इसका अथर्ववेद[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में उल्लेख है।

[1] १४. १, ६०, जहाँ पैप्पलाद शाखा में 'वरध्रा' पाठ है।
[2] ५. ५, ४, १।

वर्मन, ऋग्वेद[1] और वाद[2] में 'कवच', 'वक्षत्राण', इत्यादि का द्योतक है। यह किस पदार्थ का वना होता था, यह अनिश्चित है। सिलाई का (स्यूत)[3] सन्दर्भ होने के कारण इसे, जैसा कि हेरोडोटस[4] ने उल्लेख किया है, कपड़े का वना माना जा सकता है, किन्तु वाद में *अयस्*, *लोह* अथवा *रजत*, के वने कवचों का सन्दर्भ[5] मिलता है, जिस पर अधिक जोर देना चाहिये अथवा नहीं यह सन्दिग्ध है। फिर भी यह धातु के, अथवा चमड़े पर धातु लगाकर वने हो सकते थे।

[1] १. ३१, १५; १४०, १०; ६. ७५, १. ८. १८. १९; ८. ४७, ८; १०. १०७, ७, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ८. ५, ७ और वाद; ९. ५, २६; १७. १, २७, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. ३१, १५; १०. १०१, ८।
[4] तु० की० हेन : कल्चरफलान्ज़ेन,[6] १६७ और वाद; लैंग : होमर ऐण्ड हिज़ एज, १५० और वाद।
[5] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. १, ३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २९८; श्रेडर : प्रि हिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, २२२; फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, ३४।

वर्ष, प्रमुखतः 'वर्षा',[१] और उसके वाद 'वर्षाऋतु'[२] तथा वर्ष अथवा साल[३] का द्योतक है।

[१] क्लीव : ऋग्वेद ५. ५८, ७; ८३, १०; अथर्ववेद ३. २७, ६; ४. १५, २, इत्यादि।
[२] स्त्री०, वहु० : अथर्ववेद ६. ५५, २; तैत्तिरीय संहिता १. ६, २, ३; २. ६, १, १; ५. ६, १०, १; वाजसनेयि संहिता १०. १२ इत्यादि।
[३] ऐतरेय ब्राह्मण ४. १७, ५; शतपथ ब्राह्मण १. ९, ३, १९, इत्यादि।

वलग, अथर्ववेद[१] और वाद[२] में एक 'गुप्त अभिचार' का द्योतक प्रतीत होता है।

[१] ५. ३१, ४; १०. १, १८; १९. ९, ९।
[२] तैत्तिरीय संहिता १. ३, २, १ जहाँ देखिये सायण का भाष्य; ६. २, ११, १. २; काठक संहिता २. ११; २५. ९; वाजसनेयि संहिता ५. २३; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, ४, २।

वल्क, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[१] में वृक्ष की छाल का द्योतक है।

[१] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ३, ५; ३. ७, ४, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ७, ६।

वल्मीक, बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में पिपीलिका (चींटियों द्वारा बनाया गया मिट्टी का टीला) का द्योतक है।

[१] तैत्तिरीय संहिता १. १, ३, ४; काठक संहिता १९. २; ३१. १२; ३५. १९; वाजसनेयि संहिता २५. ८।
[२] शतपथ ब्राह्मण २. ६, २, १७; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ४, १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ४।

वल्श, 'टहनियों'[१] का द्योतक है और 'शत-वल्श'[२] अथवा 'सहस्र-वल्श'[३] आदि यौगिक शब्दों में मिलता है। यह सब शब्द लाक्षणिक रूप से 'सन्तान'[४] के लिये व्यवहृत हुये हैं।

[१] तैत्तिरीय संहिता ७. ३, ९, १।
[२] ऋग्वेद ३. ८, ११; अथर्ववेद ६. ३०, २, इत्यादि।
[३] ऋग्वेद ३. ८, ११; ७. ३३, ९, इत्यादि।
[४] तैत्तिरीय संहिता १. ३, ५, १; काठक संहिता ३. २, इत्यादि।

१. वश अश्व्य, ऋग्वेद[१] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है। *पृथुश्रवस् कानीत* से उपहार ग्रहण करनेवाले के रूप में इसका शाङ्खायन

[१] १. ११२, १०; ११६, २१; ८. ८, २०; २४, १४; ४६, २१. २३; ५०, ९; १०. ४०, ७।

श्रौत सूत्र[२] में भी उल्लेख है। यह ऋग्वेद के उस सूक्त[3] का भी प्रसिद्ध प्रणेता है, जिसे बहुधा इसके वश[४] नाम द्वारा व्यक्त किया गया है। तु० की० *व्यश्व*।

[२] १६. ११, १३।
[3] ८. ४६।
[४] शतपथ ब्राह्मण ८. ६, २, ३; ९. ३, ३, १९; ऐतरेय आरण्यक १. ५, १. २; शाङ्खायन आरण्यक २. १०. ११। तु० की० वेबर: ए० रि० ३८. ३९।

२. *वश* (बहु०) एक जाति का नाम है जिसे ऐतरेय ब्राह्मण[१] में *कुरुओं, पञ्चालों* और *उशीनरों* के साथ-साथ *मध्यदेश* में बसा हुआ बताया गया है। कौषीतकि उपनिषद्[२] के अनुसार यह लोग *मत्स्यों* के साथ भी सम्बद्ध थे। गोपथ ब्राह्मण[3] में वशों और उशीनरों को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध बताया गया है: यह दोनों नाम[४] भी ऐसा व्यक्त करते हैं कि वश और उशीनर परस्पर सम्बद्ध थे।

[१] ८. १४, ३।
[२] ४. १ (पाण्डुलिपियों के 'सवसन्-मत्स्येषु' के लिये 'स-वश मत्स्येषु' पाठ है, जिसे अन्यथा 'सत्वन्-मत्स्येषु' के रूप में संशोधित किया गया है, कीथ: शाङ्खायन आरण्यक ३६ नोट २; ज० ए० सो० १९०८, ३६७)।
[3] १. २, ९, जहाँ मूलपाठ में 'शवस-उषीनरेषु' है, जो कि निरर्थक है। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४, ३, और नोट २, में 'स-वश-उशीनराणाम्' है।
[४] जैसा कि दोनों ही 'वश्' धातु से व्युत्पन्न हैं। तु० की० औल्डेनबर्ग: बुद्ध, ३९३ नोट; ४०७ नोट।

वशा, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'गाय' का द्योतक है। भाष्यकारों के अनुसार इस शब्द से अदुग्धा गाय का अर्थ है, किन्तु कुछ स्थलों[3] को छोड़कर अन्यत्र इस आशय की आवश्यकता नहीं है।

[१] २. ७, ५; ६. ६३, ९; १०. ९१, १४, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद ४. २४, ४; १०. १०, २; १२. ४, १, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता २. १, ४, ४. ५; ३. ४, २, २; काठक संहिता १३. ४, इत्यादि।
[3] अथर्ववेद ७. ११३, २ जहाँ परिवृक्ता (त्यक्त पत्नी) की 'वशा' से तुलना की गयी है। १२. ४ (जहाँ 'वशा' और 'गो' एकान्तरित होते हैं) में इस बात का कोई संकेत नहीं है (अपवाद, मंत्र १६, जिस पर तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद का अनुवाद, ६५६, ६५८) कि वशा का अर्थ अदुग्धा गाय है। मंत्र १६ में ब्राह्मण लोग अपनी गाय को अदुग्धा गाय कहते हैं। 'सूत-वशा' (अर्थात् बछड़े का जन्म देने के पश्चात् अदुग्धा हो गयी गाय) का तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ४, इत्यादि में उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता २. १, ७, २ और तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ५, २ में अवि के साथ प्रयुक्त 'सूता' बच्चेवाली भेड़ का द्योतक है।

वसति, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'आवास' अथवा 'गृह' का द्योतक है।

[1] १. ३१, १५; ५. २, ६।
[2] वाजसनेयि संहिता १८. १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३, ५, ४; ३. ७, ३, ३, इत्यादि।

वसन, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में परिधान या वस्त्र का द्योतक है।

[1] १. ९५, ७।
[2] छान्दोग्य उपनिषद् ८. ८, ५; कौषीतकि उपनिषद् २. १५; निरुक्त ८. ९; इत्यादि।

वसन्त का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है। इसको नियमित रूप से वर्ष के प्रथम मास के साथ समीकृत किया गया है। देखिये *ऋतु*।

[1] १०. ९०, ६; १६१, ४।
[2] अथर्ववेद ६. ५५, २; ८. २, २२; १२. १, ३६, इत्यादि।

वसावि, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर रौथ[2] के अनुसार 'कोशागार' का द्योतक है।

[1] १०. ७३, ४।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

वसिष्ठ, वैदिक परम्परा के सर्वाधिक प्रसिद्ध पुरोहितों में से एक का नाम है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल का इसे ही श्रेय दिया गया है। यह कथन इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वसिष्ठों[1] और वसिष्ठ[2] का कभी-कभी अन्यत्र के अतिरिक्त इस मण्डल में बहुधा उल्लेख है। जैसा कि औल्डेनबर्ग[3] व्यक्त करते हैं, वसिष्ठ किसी एक व्यक्ति का नाम होना अत्यन्त असम्भाव्य है; सामान्यतया वसिष्ठ से 'किसी भी वसिष्ठ' का तात्पर्य होना चाहिये। किन्तु इस बात को अस्वीकृत करना भी आवश्यक नहीं कि एक वास्तविक वसिष्ठ

[1] ऋग्वेद ७. ७, ७; १२, ३; २३, ६; ३३, और बाद; ३७, ४; ३९, ७; ४०, ७; ७६, ६. ७; ७७, ६; ८०, १; ९०, ७; ९१, ७; १०. १५, ८; ६६, १४; १२२, ८।
[2] ऋग्वेद ७. ९, ६; १३, ४. २१; २२, ३; २३, १; २६, ५; ३३, ११ और बाद; ४२, ६; ५९, ३; ७०, ६; ७३, ३; ८६, ५; ८८, १; ९५, ६; ९६, १; १०. ६५, १५; १५०, ५; १. ११२, ९।
[3] त्सी० गे० ४२, २०४ और बाद। तु० की० ७. २३, १ (एकवचन) और मन्त्र ६, (बहुवचन)।

का अस्तित्व था, क्योंकि एक सूक्त[४] का प्रणेता होने और दस राजाओं के विरुद्ध *सुदास्* की सहायता करनेवाले के रूप में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

वसिष्ठ के जीवन की सर्वाधिक विशिष्टता प्रत्यक्षतः *विश्वामित्र* के प्रति विरोधी भावना थी। ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय विश्वामित्र निश्चित[५] रूप से सुदास् का *पुरोहित* था, किन्तु इस पद से अपदस्थ हो जाने के पश्चात् उसने सुदास् के शत्रुओं के साथ मिल कर सुदास् के विरुद्ध दस राजाओं के साथ युद्ध में भाग लिया था, क्योंकि सुदास् की विजय का वर्णन करनेवाले सूक्त[४] में विश्वामित्र द्वारा अपने मित्रों[६] पर लाये गये संकट का स्पष्ट सन्दर्भ है। फिर भी, औल्डेनबर्ग[७] यह विश्वास करते हैं कि ऋग्वेद में विश्वामित्र और वसिष्ठ के बीच कलह का कोई चिह्न नहीं मिलता। दूसरी ओर, गेल्डनर[८] ऋग्वेद[९] में इस बात का एक संक्षिप्त विवरण देखते हुए कदाचित् ही ठीक प्रतीत होते हैं कि यहाँ वसिष्ठ के पुत्र *शक्ति* की विश्वामित्र के साथ प्रतिद्वन्दिता, विश्वामित्र द्वारा वाक् शक्ति में विशेष प्रवीणता अर्जित करने, तथा विश्वामित्र द्वारा उस प्रतिशोध लेने का विवरण निहित है जिसके लिये उन्होंने सुदास् के सेवकों द्वारा शक्ति की मृत्यु करायी थी। इस विवरण का षड्गुरुशिष्य[१०] द्वारा, जो कि शाट्यायनक[११] में आता है, अधिक पूर्णता के

[४] ऋग्वेद ७. १८। ७. ३३ के सम्बन्ध में औल्डेनबर्ग और गेल्डनर में मतभेद है। देखिये वेदिशे स्टूडियन, २, १३०। किन्तु इसे सम्भवतः ७. १८ के समान ही प्राचीन कह सकना अथवा ऐसा कि यह वास्तविक रूप से वसिष्ठ का ही उच्चारण है, कदाचित सन्दिग्ध है।

[५] देखिये ऋग्वेद ३. ३३. ५३; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ३२८ और बाद।

[६] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६० और बाद।

[७] उ० पु०, २०४, नोट ३।

[८] उ० पु०, २, १५८ और बाद।

[९] ३. ५३, १५. १६. २१-२४, यह अन्तिम चार प्रसिद्ध 'वसिष्ठद्वेषिण्यः' मंत्र हैं जिनकी निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग व्याख्या नहीं करते क्योंकि वह स्वयं एक कापिष्ठल वासिष्ठ थे (देखिये मूइर : उ० पु०, १[२], ३४४; बृहद्देवता ४. ११७ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित)। इन मंत्रों का वास्तविक अर्थ सर्वथा अनिश्चित है। देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, २५४ और बाद।

[१०] तु० की० ऋग्वेद ७. ३२ पर सायण और सर्वानुक्रमणि, १०७, मैकडौनेल का संस्करण; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ११९।

[११] देखिये ७. ३२ पर अनुक्रमणी में टिप्पणी जहाँ ताण्डक और शाट्यायनक दोनों का उद्धरण है (मूइर : उ० पु०, १[२], ३२८)।

साथ उल्लेख किया गया है और जिसका तैत्तिरीय संहिता[12] और पञ्चविंश ब्राह्मण[13] में भी संक्षिप्त सन्दर्भ मिलता है जहाँ वसिष्ठ के पुत्र का वध कराये जाने और सौदासों पर वसिष्ठ की विजय का उल्लेख है। किन्तु यहाँ इस बात पर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इन स्थलों पर वसिष्ठ का वास्तविक विरोधी होने के रूप में स्वयं सुदास् का कोई उल्लेख नहीं है, जब कि ऐतरेय ब्राह्मण[14] में सुदास् पैजवन के पुरोहित और अभिषेककर्त्ता के रूप में वसिष्ठ का उल्लेख है। यास्क[15] ने विश्वामित्र को सुदास् का पुरोहित माना है; यह इस वास्तविकता के अनुकूल है कि विश्वामित्र ही इस पद पर प्रतिष्ठित थे। फिर भी, सम्भव है सुदास् के समाप्त हो जाने पर विश्वामित्र ने अपने पद को पुनः प्राप्त कर लिया हो, और उसके बाद अपने पुत्र के वध के प्रतिशोध-स्वरूप वसिष्ठ ने सौदासों को किसी ऐसे रूप में पराजित कराया हो जिसका उल्लेख नहीं है।[16]

स्थिति जो कुछ भी हो, यह मानने की कदाचित् ही आवश्यकता है कि सौदासों और वसिष्ठों की शत्रुता स्थायी थी। इस बात का प्रमाण[17] उपलब्ध है कि भरतों के पुरोहित वसिष्ठगण ही थे, जब कि एक अन्य उल्लेख[18] में

[12] ७. ४, ७, १। ३. १, ७, ३: ५. ४, ११, ३ में विश्वामित्र के शत्रु के रूप में भी वसिष्ठ।

[13] ४. ७, ३; ८. २, ३; १९. ३, ८; २१. ११, २। उस प्रथा का कौषीतकि ब्राह्मण ४. ८, और जैमिनीय ब्राह्मण १. १५०; ३. २६. ८३. १४९. २०४ में भी उल्लेख है। २. ३९० में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है, जैसा शाट्यायनक (नोट १०) में भी है, कि शक्ति को सौदासों ने आग में फेंक दिया था।

[14] ७. ३४, ९; ८. २१, ११। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ११, १४।

[15] निरुक्त २. २४; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. १२, १३।

[16] रौथ : त्सु० वे०, १२१ और बाद, यह विचार करते हैं कि विश्वामित्र को सेवा-मुक्त कराने में वसिष्ठ-गण अन्ततोगत्वा सफल हो गये थे। वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, १२०; ए० रि०, ३४, ने इस पर संन्देह किया था और मूइर : उ० पु०, १², ३७१-३७५ समस्या को समाधान के योग्य नहीं मानते। फिर भी रौथ और मूइर दोनों ने भरतों को तृत्सुओं का शत्रु मानकर समस्या को और जटिल बना दिया, क्योंकि यह किसी भी प्रकार (देखिये तृत्सु) सम्भव नहीं है, यद्यपि ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो०, १६, ४१, ४२, का भी यही विचार है।

[17] पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ४, २४; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३४।

[18] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, २, १; काठक संहिता ३७. १७।

वसिष्ठों को सामान्य रूप से प्रजाओं का पुरोहित माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वसिष्ठगण इस नियम को ग्रहण करने के प्रवर्त्तक थे कि यज्ञ के समय पुरोहित को एक 'ब्रह्मन्'[१९] के रूप में कार्य करना चाहिए; शतपथ ब्राह्मण[२०] में यह कथन है कि एक समय केवल वसिष्ठगण ही ब्रह्मन् के रूप में कार्य करनेवाले पुरोहित थे, किन्तु बाद में कोई भी पुरोहित इस रूप में कार्य कर सकता था।[२१] तैत्तिरीय संहिता[२२] में जमदग्नि और विश्वामित्र के बीच एक प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख है। ऋग्वेद[२३] में प्रत्यक्षतः, जैसा कि गेल्डनर[२४] का विचार है, पराशर और शतयातु को पौत्र और पुत्र के रूप में वसिष्ठ के साथ सम्बद्ध किया गया है। पिशल[२५] के अनुसार एक अन्य सूक्त[२६] में वसिष्ठ अपने पिता वरुण की सम्पत्ति चुराने का प्रयत्न करते हैं; गेल्डनर[२७] भी यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ऋग्वेद[२८] में वसिष्ठ के वरुण और अप्सरा उर्वशी के पुत्र होने का स्पष्ट सन्दर्भ है। सम्भवतः यह इस तथ्य की व्याख्या कर देता है कि ऋग्वेद[२९] के स्थल पर वसिष्ठों को तृत्सु कहा गया है; क्योंकि एक अद्भुत रूप से जन्म लेने के कारण वसिष्ठ को एक गोत्र प्राप्त करने की आवश्यकता थी, और इसीलिये उन्होंने अपने उन प्रतिपालक राजाओं का गोत्र ग्रहण कर लिया जिनसे अगस्त्य ने इनका परिचय कराया था।

[१९] शुनःशेप के यज्ञ में वसिष्ठ एक ब्रह्मन् थे, ऐतरेय ब्राह्मण ७. १६; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २१, ४।

[२०] १२. ६, १, ४१। तु० की० ४. ६, ६, ५।

[२१] षड्विंश ब्राह्मण १. ५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३५।

[२२] ३. १, ७, ३। तु० की० नोट ११।

[२३] ७. १८, २१।

[२४] वेदिशे स्टूडियन, २, १३२।

[२५] वेदिशे स्टूडियन २, ५५ और बाद।

[२६] ७ ५५। ऑफरेख्त : इन्डिशे स्टूडियन ४. ३३७, ने इस सूक्त में एक कन्या के पास किसी प्रेमी के आगमन का सन्दर्भ माना है। तु० की० लैनमैन : संस्कृत रीडर ३७०; बृहद्देवता ६. ११, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।

[२७] वेदिशे स्टूडियन, २, १३८। देखिये निरुक्त ५. १३ भी; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], ३३१, नोट ९७, बृहद्देवता ५. १५०. १५१।

[२८] ७. ३३, ११।

[२९] ७. ८३, ८।

एक ऋषि के रूप में वसिष्ठ के, वैदिक साहित्य[30], सूत्रों[31] और उस महाकाव्य में भी, अनेक सन्दर्भ हैं जिनमें यह और विश्वामित्र अपनी प्रतिद्वन्दिता[32] के फलस्वरूप युद्ध करते हैं।

[30] ऋग्वेद १, ११२, ९; ७. ८८, ४; ९६, ३; १०. ९५, १७; १८१, १; काठक संहिता १६. १९; २०. ९; ३२. २ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७८); मैत्रायणी संहिता १. ४, १२; २. ७, ९; ४. २, ९; तैत्तिरीय संहिता ५. २, १०, ५; अथर्ववेद ४. २९, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ६. १८, ३; कौषीतकि ब्राह्मण २६. १४; २९. २. ३; ३०. ३; जैमिनीय-उपनिषद् ब्राह्मण ३. ३, १३; १५, २; १८, ६; ऐतरेय आरण्यक २. २, २; बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, ४, इत्यादि।

[31] देखिये वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ८९-९२, ए० रि०, ३५।

[32] मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ३७५-४१४।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३१ और बाद; वेबर ए० रि० ३१-३४; इन्डियन लिटरेचर ३१, ३७, ५३, ७९, १२३, १६२; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २०४-२०७।

वसु ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'सम्पत्ति' अथवा 'धन' का द्योतक है।

[1] ४. १७, ११. १३; २०, ८; ६. ५५, ३; ८. १३, २२, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ७. ११५, २; ९. ४, ३; १०. ८, २०; १४. २, ८ इत्यादि।

वसुक्र तथा इसकी पत्नी ऋग्वेद[1] के कुछ सूक्तों के प्रसिद्ध प्रणेता हैं। यह कथन ऋग्वेद के आरण्यक[2] में मिलता है।

[1] १०, २७-२९।

[2] ऐतरेय आरण्यक १. २, २; शाङ्खायन आरण्यक, १. ३।

वसु-रोचिस् एक नाम है जो ऋग्वेद[1] में केवल एक बार इस रूप में आता है कि इसकी या तो एकवचन अथवा बहुवचन में व्याख्या की जा सकती है। प्रथम विकल्प की दशा में यह गायकों के एक परिवार का द्योतक है[2], और द्वितीय में एक प्रतिपालक का।[3]

[1] ८. ३४, १६।

[2] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६२

[3] ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, १७५, नोट।

वस्तु, समय के वाचक के रूप में, ऋग्वेद[1] में प्रातःकाल का द्योतक है।

[1] १. ७९, ६; १०४, १; १७९, १, इत्यादि इसी प्रकार वाजसनेयि संहिता २८, १२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३६१।

वस्त्र ऋग्वेद[1] और बाद[2] में परिधान अथवा पहनने के कपड़ों का द्योतक है। देखिये *वासस्*।

[1] १. २६, १; १३४, ४; ३. ३९, २; ५. २९, १५, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ५. १, ३; ९. ५, २५; १२. ३, २१, इत्यादि।

वस्न ऋग्वेद[1] और बाद[2] में किसी वस्तु के 'मूल्य' अथवा 'दाम', अथवा क्रय किये जानेवाले पदार्थ के रूप में स्वयं किसी वस्तु का ही द्योतक है।

[1] ४. २४, ९, जहाँ 'भूयसा वस्नं अचरत् कनीयः' का अर्थ 'उसने अधिक मूल्य पर कम दाम की वस्तु प्राप्त किया' है। ठीक ठीक आशय के लिये तु० की० औल्डेनवर्ग: ऋग्वेद-नोटेन, १, ४१९, ४२०।

[2] अथर्ववेद १२. २, ३६ (मूल्य)=वाजसनेयि संहिता ३. ४९ = तैत्तिरीय संहिता १. ८, ४, १; काठक संहिता ९. ५; मैत्रायणी संहिता १. १०, २, जहाँ 'हम उपकरणों की ही भाँति भोजन और पेय का विनिमय करें', आशय है।

तु० की० 'वस्निका' (मूल्य के उपयुक्त), पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, १३ में।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, २४७, श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक एन्टीक्विटीज, ३८२।

वहतु ऋग्वेद[1] और बाद[2] में पिता के घर से पति के घर वधू को ससमारोह ले जाने के संस्कार का नियमित नाम है।

[1] १. १८४, ३; ४. ५८, ९; १०. १७, १ (= अथर्ववेद ३. ३१, ५) ३२, ३; ८५, १३ और बाद।

[2] अथर्ववेद १०. १, १; १४. २, ९. १२. ६६. ७३; ऐतरेय ब्राह्मण ४. ७. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १, २।

वह्नि गाड़ी में जोते जानेवाले किसी भी पशु, जैसे अश्व[1], बकरा,[2] अथवा बैल[3] का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद २. २४, १३; ३७, ३; ३. ६, २, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद ६. ५७, ३।

[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ५, इत्यादि।

वह्य ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त शय्या अथवा किसी अन्य प्रकार के विश्राम करने के स्थान का द्योतक है।

[1] ७. ५५, ८।

[2] ४. ५, ३; २०, ३; १४. २, ३०। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, १५४।

वाको-वाक्य (वार्त्तालाप) ब्राह्मणों[1] में वैदिक संहिताओं के कुछ अंशों को दिया गया नाम है। एक स्थान[2] पर *ब्रह्मोद्य* को एक वार्त्तालाप कहा गया है; सम्भवतः सभी स्थलों पर इस शब्द से ब्रह्मोद्य का ही अर्थ है। गेल्डनर का मत[3] इससे भिन्न है: आप वाकोवाक्य को *इतिहास-पुराण* का एक अनिवार्य अङ्ग मानते हैं जो उनके वर्णनात्मक अंशों के विपरीत वार्त्तालाप अथवा नाटकीय अंशों को व्यक्त करता है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ९, २०; ११. ५, ६, ८; ७, ५; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १, २. ४; २, १; ७, १।
[2] शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ९, २०।
[3] वेदिशे स्टूडियन, १, २९१।
तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, २६७; एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, ४४, ९८, नोट ३। यह निश्चित है कि इससे तर्कशास्त्र का अर्थ नहीं है, यद्यपि मैक्समूलर छान्दोग्य के अपने अनुवाद में इसको इसी प्रकार ग्रहण करते हैं।

वाच्, वैदिक कल्पनाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है, किन्तु इससे सम्बद्ध थोड़े से विषयों का पुराकथाशास्त्रीय के अतिरिक्त कुछ और महत्त्व है। शतपथ ब्राह्मण[1] में वाच् को चार प्रकारों में विभक्त किया गया है—मनुष्यों का, पशुओं का, पक्षियों (वयांसि) का और छोटी रेंगनेवाली वस्तुओं का (क्षुद्रं सरीसृपम्)। संहिताओं[2] में वाच् का विभेद करने अथवा उसे स्फुट बनाने का इन्द्र को श्रेय दिया गया है। *तूणव*, *वीणा*, *दुन्दुभि*[3] आदि वाद्य-यंत्रों का, और एक संहिता[4] में रथ के धुरे की वाणी का भी उल्लेख है। *कुरु-पञ्चालों* की वाणी[5] की, और कौषीतकि

[1] ४. १, ३, १६। काठक संहिता १४. ५; मैत्रायणी संहिता १. ११, ५ में सर्वथा भिन्न विवरण हैं। औल्डेनबर्ग: ऋग्वेद ८. १०० में इस कथा के आरम्भ का संकेत देखते हैं। किन्तु देखिये फॉन-श्रोडर: मिस्टीरियम उन्ट माइमस, ३३९ और बाद; कीथ: ज० ए० सो०, १९११, ९९३ और बाद।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ७, ३; मैत्रायणी संहिता ४. ५, ८।
[3] पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ५, १०-१३; तैत्तिरीय संहिता ६, १, ४, १; मैत्रायणी संहिता ३. ६, ८; काठक संहिता २३. ४।
[4] पञ्चविंश ब्राह्मण उ० स्था०।
[5] शतपथ ब्राह्मण ३. २, ३, १५। इस कठिन वाक्पद ने आशय के सम्बन्ध में कुछ सन्दिग्धता उत्पन्न कर दी है, क्योंकि 'उत्तराहि वाग् वदति कुरुपञ्चालत्रा' का सम्भवतः कुरु-पञ्चालों में उत्तरस्थों की भाषा' अर्थ हो सकता है और इस अर्थ की एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, १२, xlii, नोट १, में उद्धृत काण्व शाखा के पाठ द्वारा कुछ पुष्टि

होती है। फिर भी यहाँ यह शाखा केवल अस्पष्ट ही नहीं है वरन् कुरुओं को उत्तरी **महावृषों** (अतः हमें 'महाविशेषु' के रूप में संशोधन करना चाहिए) संयुक्त करती प्रतीत होती है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। एग्लिङ्ग द्वारा 'उत्तराहि' को 'स्वर में उच्च' आशय में ग्रहण करके कठिनाई दूर करने का प्रयास संतोषजनक नहीं है। सर्वसम्भव समाधान वेबर (इन्डिशे स्टूडियन, १, १९१) का है जो 'कुरुपञ्चालत्रा' को 'कुरुपञ्चालों के बीच' अर्थ में ग्रहण करते हैं, जो इसे एक अच्छा आशय प्रदान करता है, मुख्यतः उस समय जब हम यह स्मरण रखें कि उत्तरी लोग सम्भवतः काश्मीर के **उत्तर-कुरुस्** में बसे थे, जो संस्कृत का गृह प्रतीत होता है (तु० की० फ्रांके : पालि उन्ट संस्कृत ८९)।

ब्राह्मण[6] के अनुसार उत्तर-देश के लोगों के वाणी की इतनी अधिक प्रसिद्धि थी कि लोग उनकी भाषा सीखने के लिये जाते थे। दूसरी ओर भाषा की असभ्यता भी ज्ञात थी जिससे बचना होता था।[7]

वाच् का एक विभेद[8] 'दैवी' और 'मानुषी' के रूप में किया गया है जिसके कुछ उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे 'तथा' का दिव्य प्रतिरूप 'ओम्', इत्यादि। ऐसा कथन है कि ब्राह्मण इन दोनों से परिचित होता है;[9] यह संस्कृत और अपभ्रंश के बीच किया गया विभेद नहीं है, जैसा कि सायण[10] मानते हैं, वरन् सूक्तों और संस्कार सम्बन्धी साहित्य की संस्कृत, और साधारण जीवन की संस्कृत के बीच के विभेद का तात्पर्य है।

[6] ७. ६।

[7] शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, २३. २४ जहाँ असुरों का, सम्भवत. 'हेऽरयः' के स्थान पर 'हेऽलवः' कहनेवालों के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु काण्व शाखा इससे भिन्न है। देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६, ३१, नोट ३।

[8] देखिये काठक संहिता १४. ५; मैत्रायणी संहिता १. ११, ५ (जहाँ 'यश्‌ च वेद यश्‌ च न', शब्द 'दैवी' और 'मानुषी' के साधारण विभेद के स्थान पर आते हैं; सम्भवतः 'वेदो' पढ़ना चाहिए); शतपथ ब्राह्मण ६. २, १, ३४; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८, २३; ऐतरेय आरण्यक १. ३, १; निरुक्त १३. ९, इत्यादि में एक ब्राह्मण।

[9] काठक संहिता उ० स्था०; मैत्रायणी संहिता उ० स्था०, इत्यादि।

[10] देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, २००, नोट।

आर्यों[11] और ब्राह्मणों[12] की भाषा का भी उल्लेख है, जिससे अनार्य भाषाओं के विपरीत संस्कृत भाषा का अर्थ प्रतीत होता है। *व्रात्यों* का अ-दीक्षित होते हुये भी दीक्षित-वाच् बोलनेवालों के रूप में उल्लेख है, जो सरलतापूर्वक उच्चारण करने योग्य भाषा को (अ-दुरुक्त) कठिनता से उच्चारण करने वाली भाषा कहते हैं।[13] इसका यह अर्थ हो सकता है कि ब्राह्मग-जातियों की अपेक्षा अब्राह्मण भारतीय अधिक शीघ्रता से प्राकृत भाषा की ओर अग्रसर हो रहे थे। यह उस दशा में और भी सम्भव होगा जब हम शतपथ ब्राह्मण[७] के अनुसार व्रात्यों को बर्बर भाषा बोलनेवालों के साथ सम्बद्ध कर दें।

[11] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ५; शाङ्खायन आरण्यक ८. ९।
[12] ऐतरेय आरण्यक १. ५, २।
[13] पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, ९। तु० की० लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, २४, ३५; वेबर : इण्डियन लिटरेचर, १७५–१८०; कीथ : ऐतरेय आरण्यक, १७९, १८०; १९६।

वाचक्नवी ('वचक्नु' का वंशज) एक स्त्री का पैतृक नाम है, जिसके साथ एक और, *'गार्गी'* पैतृक नाम भी, जुड़ा है। यह बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में ब्रह्मजिज्ञासु के रूप में आती है।

[1] ३. ६, १; ८, १। तु० की० आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४, ४; शाङ्खायन गृह्य सूत्र, ४. १०; अथर्ववेद परिशिष्ट ४३. ४, २३।

वाज—अश्वों के लिये प्रयुक्त 'शक्ति' अथवा 'गति' का अर्थ रखनेवाला यह शब्द 'दौड़'[1], और 'पुरस्कार'[2], अथवा केवल 'सम्पन्नता'[3] का द्योतक है। कहीं भी इससे अश्व का आशय होना नितान्त असम्भव है, क्योंकि यह आशय *वाजिन्*[4] से व्यक्त होता है।

[1] ऋग्वेद २. २३, १३; ३. ११, ९; ३७, ६; ४२, ६; ५. ३५, १; ८६, २, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १. ६४, १३; २. २६, ३; ३१ ७; ३. २, ३; ८. १०३, ५, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. २७, ५; ९२, ७; ६. ४५, २१. २३, इत्यादि; अथर्ववेद १३. १, २२; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ७, १. १२।
[4] देखिये पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १० और बाद, जहाँ आप अन्यथा सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ८, द्वारा उद्धृत सभी स्थलों की इसी आशय में व्याख्या करते हैं।

वाजपेय, एक ऐसे यज्ञ का नाम है जो शतपथ ब्राह्मण[1] और बाद के प्रमाणों[2] के अनुसार केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा ही किया जाता है। इसी ब्राह्मण[3] में यह भी कथन है कि यह यज्ञ *राजसूय* से श्रेष्ठ है; किन्तु अन्य प्रमाणों[4] ने इसे केवल ब्राह्मण की दशा में *बृहस्पतिसव* का आरम्भिक यज्ञ और राजा की दशा में राजसूय का आरम्भिक यज्ञ बताया है, जब कि शतपथ[5] बृहस्पतिसव को वाजपेय के साथ समीकृत करने के लिये बाध्य है। इस यज्ञ का अनिवार्य समारोह रथ की दौड़ होता था जिसमें यज्ञ-कर्त्ता विजयी बनाया जाता था। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[6] में ऐसा व्यक्त करने के प्रमाण उपलब्ध हैं कि किसी समय यह उत्सव ऐसा होता था जिसे केवल आर्य ही कर सकते थे। वास्तव में हिलेब्रान्ट[7] तो इसकी ओलम्पिक खेलों तक से तुलना करते हैं; किन्तु इसके लिये कदाचित् ही पर्याप्त आधार हैं: यह संस्कार केवल एक रथ की दौड़ की पुरातन प्रथा के आधार पर विकसित होकर ऐसे समारोह में परिणत हो गया था, जिसमें सहानुभूतिक अभिचारों द्वारा यज्ञ-कर्त्ता को विजयी बनाया जाता था। वस्तुतः एग्लिङ्ग[8] इस विचार में ठीक प्रतीत होते हैं कि वाजपेय एक ऐसा आरम्भिक संस्कार होता था, जिसे विधिवत् पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठित होने के पूर्व ब्राह्मण को, और अभिषेक के पूर्व राजा को करना होता था। कुरु का वाजपेय विशेष रूप से प्रसिद्ध था।[9]

[1] ५. १, ५, २. ३।

[2] देखिये वेबर: ऊबर डेन राजसूय; हिलेब्रान्ट: रिचुअल लिटरेचर, १४७ और बाद।

[3] ५. १, १, १३; कात्यायन श्रौत सूत्र १५. १, १. २।

[4] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, २, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ६, १; आश्वलायन श्रौत सूत्र ९. ९, १९; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ११, १, इत्यादि।

[5] ५. २, १, २। तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र १४. १, २।

[6] १५. १। देखिये वेबर: उ० पु०, ४१ और बाद।

[7] वेदिशे माइथौलोजी, १, २४७।

[8] से० बु० ई०, ४१, xxiv, xxv।

[9] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. ३, १४ और बाद; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १८. ३. ७

वाज-बन्धु, ऋग्वेद के एक मंत्र (८. ६८, १९) में एक व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है। फिर भी, यह केवल एक विशेषण ही हो सकता है जिसका अर्थ 'संघर्ष में मित्र' है।

वाज-रत्नायन ('वाजरत्न' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (८. २१, ५) में *सोमशुष्मन* का पैतृक नाम है।

वाज-श्रवस् का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *जिह्वावन्त् बाध्योग* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ४, ३३ (माध्यन्दिन = ६. ५, ३ काण्व)।

वाज-श्रवस (*वाजश्रवस्* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *कुश्रि* का पैतृक नाम है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में *नचिकेतस्* के पिता का भी पैतृक नाम है, जहाँ नाम का रूप प्रत्यक्षतः उशन्त् है यद्यपि सायण ने इसे 'इच्छा करना' के आशय वाले एक कृदन्त के रूप में ग्रहण किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाजश्रवसों को ऋषि कहा गया है।[3] यह लोग *गोतम* थे।[4]

[1] १०. ५, ५, १।
[2] ३. ११, ८, १। तु० की० कठ उपनिषद् १. १, विभिन्न नामों के साथ, जिस पर देखिये वेबर : इन्डियन लिटरेचर १५७, नोट।
[3] १. ३, १०, ३।
[4] तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ११, ८।

वाजसनेय, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] और जैमिनीय ब्राह्मण[2] में *याज्ञवल्क्य* का पैतृक नाम है। इसकी परम्परा, वाजसनेयिनों, का सूत्रों[3] में उल्लेख है।

[1] ६. ३, १५; ४, ३३ (माध्यन्दिन = ६. ३, ७; ५, ३ काण्व)।
[2] २. ७६ (ज० अ० ओ० सो०, १५. २३८)।
[3] अनुपद सूत्र ७. १२; ८. १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ४४, ५३, ८३, २८३; २, ९; ४, १४०, २५७, ३०९; १०, ३७, ७६, ३९३, इत्यादि।

वाजिन्, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर क्षिप्रता और शक्ति के सन्दर्भ में अश्वों का द्योतक है। एक स्थल[2] पर सम्भवतः, जैसा कि लुडविग[3] का विचार है, यह *बृहदुक्थ* के पुत्र का व्यक्तिवाचक नाम है, किन्तु यह विचार बलात लादा गया ही प्रतीत होता है।

[1] २. ५, १; १०, १; ३४, ७; ३. ५३, २३; ६. ७५, ६; १०. १०३, १०, इत्यादि।
[2] १०. ५६, २।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३३।

वाजिन, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में गर्म दूध और दधि के मिश्रण का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ३, १०; वाजसनेयि संहिता १९. २१. २३।
[2] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, २१; ३. ३, ३, २; ९. ५, १, ५७ इत्यादि।
तु० की० एग्लिङ्ग' से० बु० ई०, १२, ३८१, नोट, गार्बे : आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, ३, ४४५, इसे 'दधिमण्ड' मानते हैं।

वाज्य ('वाज' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में केतु का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२, ३८३।

वाडेयी-पुत्र—देखिये *वाडेयीपुत्र*।

वाण, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, 'वाद्य-संगीत' का द्योतक है। किन्तु बाद की संहिताओं[3] और ब्राह्मणों[4] में यह महाव्रत समारोह के समय प्रयुक्त सौ तारों वाली (शत-तन्तु) 'एक प्रकार की वीणा' का द्योतक है। ऋग्वेद[5] में इस वाद्य-यन्त्र की सात 'धातुओं' का स्पष्ट उल्लेख है जिन्हें ही अन्यत्र[6] सात 'वाणियाँ' कहा गया है। यदि इस बाद की व्याहृति से 'छन्द'[7] का आशय माना जाय तो यह प्रथम (धातु) से भिन्न हो सकती है।

[1] १. ८५, १०; ८. २०, ८; ९. ९७, ८; १०. ३२, ४। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १७, ६७।
[2] १०. २, १७।
[3] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ९, २; काठक संहिता ३४. ५।
[4] पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ६, १२; १४. ७, ८; ऐतरेय आरण्यक ५. १, ४, इत्यादि।
[5] १०. ३२, ४।
[6] १. १६४, २४; ३. १, ६; ७, १; ९. १०३, ३, इत्यादि।
[7] मैक्डोनेल : वैदिक ग्रामर, ६४।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २८९, जिनका विचार है कि ऋग्वेद १. ८५, १०, में इससे 'वंशी' का अर्थ है, किन्तु अनिवार्यतः नहीं। मैक्स मूलर (से० बु० ई०, ३२, १३८) इसका १. ८५, १०; ९. ९७, ८, में 'वाणी' और ८. २०, ८; ९. ५०, १, में 'वाण' अनुवाद करते हैं, और ९. ५०, १ के लिए बॉटलिङ्क : कोश, व० स्था० १, 'वाण', में यही आशय स्वीकार किया गया है।

वाणिज, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका में पैतृक व्यवसाय करनेवाले के रूप में 'व्यवसायी' (*वणिज्* का पुत्र) का द्योतक है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३. ४, १४, १।

वाणी—देखिये *वाण* ।

वाणीची, ऋग्वेद के एक मन्त्र (५. ७५, ४) में आता है जहाँ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने इसे एक 'वाद्य-यन्त्र' का आशय प्रदान किया है ।

वात, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'वायु' के लिये प्रयुक्त नियमित शब्द है । पाँच 'वातों' का उल्लेख है ।[3] एक स्थल[4] पर त्सिमर[5] ने इसमें उत्तर-पूर्वी वर्षा-वात (मॉनसून) का आशय देखा है । तु० की० *सलिलवात* ।

[1] १. २८, ६; २. १, ६; ३८, ३; ३, १४, ३. इत्यादि ।
[2] अथर्ववेद ४. ५, २; ५. ५, ७; १२. १, ५१, इत्यादि ।
[3] तैत्तिरीय संहिता १. ६, १, २; काठक संहिता ३२. ६ ।
[4] ऋग्वेद ५. ५३, ८ ।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन, ४५, जो ऋग्वेद १०. १३७, २ की भी तुलना करते हैं, जहाँ दो वातों का सन्दर्भ है ।

वात-पान (वायु-रक्षक) से तैत्तिरीय संहिता (६. १, १, ३) में प्रत्यक्षतः किसी ऐसे परिधान का द्योतक है जो वायु के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता था ।

वात-रशन ऋग्वेद[1] में *मुनियों* के लिये तथा तैत्तिरीय आरण्यक[2] में ऋषियों के लिये व्यवहृत हुआ है । इससे प्रत्यक्षतः उन नग्न तपस्वियों का आशय है जो बाद के भारतीय धर्म में सर्वत्र ज्ञात हैं ।

[1] १०. १३६, २ ।
[2] १. २३, २; २४, ४; २. ७, १ । वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. ७८, यद्यपि बिना पर्याप्त आधार के ही इस शब्द को एक व्यक्तिवाचक नाम मानने के लिए प्रवृत्त थे ।

वातवन्त्, पञ्चविंश ब्राह्मण (२५. ३, ६) में एक ऋषि का नाम है । इसने तथा *दृति* ने किसी यज्ञ-सत्र का आयोजन किया था, किन्तु एक विशेष समय पर ही सत्र को समाप्त कर देने के कारण इसे कष्ट का सामना करना पड़ा और इसके वंशज, वातवत-गण, *दार्तेयों* की अपेक्षा कम सम्पन्न हो सके ।

वातवत (*वातवन्त्* का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *वृषशुष्म* का पैतृक नाम है । कौषीतकि ब्राह्मण[2] में यह नाम एक विभेदात्मक रूप 'बाधावत' के साथ आता है ।

[1] ५. २९ । तु० की० इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३ ।
[2] २. ९ ।

वात्सि (*वत्स* का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (६. २४, १६) में *सर्पि* का पैतृक नाम है।

वात्सी-पुत्र (*वत्स* के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) का, एक गुरु के रूप में बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश में उल्लेख है, जहाँ काण्व शाखा (६. ५, २) के अनुसार यह *पाराशरीपुत्र* का, और माध्यन्दिन शाखा (६. ४, ३१) के अनुसार *भारद्वाजीपुत्र* का शिष्य है।

वात्सी-माण्डवी-पुत्र, बृहदारण्यक उपनिषद् की माध्यन्दिन शाखा (६. ४, ३०) के अन्तिम वंश के अनुसार *पाराशरीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

वात्स्य (*वत्स* का वंशज) एक अथवा अधिक गुरुओं का नाम है। एक का शाखायन आरण्यक[1] में उल्लेख है, जहाँ ऐतरेय आरण्यक[2] के समानान्तर स्थल पर *वाभ्र* है। अन्य का बृहदारण्यक उपनिषद् के वंशों में *कुश्रि*[3], *शाण्डिल्य*[4], अथवा एक दूसरे वात्स्य[5] के शिष्य के रूप में उल्लेख है, जब कि शतपथ ब्राह्मण[6] में भी एक वात्स्य का उल्लेख मिलता है।

[1] ८. ३।
[2] ३. २, ३।
[3] ६. ५, ४ काण्व।
[4] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यन्दिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व); शतपथ ब्राह्मण १०. ६, ५, ९।
[5] २. ५, २०; ४. ५, २६ काण्व।
[6] ९. ५, १, ६२।

वात्स्यायन (*वात्स्य* का वंशज), तैत्तिरीय आरण्यक (१. ७, २) में एक गुरु का नाम है।

वादन, ऋग्वेद के आरण्यकों[1] में वीणा की 'तंत्रि-घर्षणी' का द्योतक है।

[1] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ५; शाङ्खायन आरण्यक ८. ९; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १७, ३, १४, इत्यादि।

वादित, छान्दोग्य उपनिषद् (८. २, ८) में 'गीत-वादित' (गायन और संगीत) समस्त पद में, तथा कौषीतकि ब्राह्मण (२९. ५) में असमस्त रूप में *नृत्य* और 'गीत' के साथ-साथ 'संगीत' का द्योतक है। देखिये *शिल्प*।

वाघावत, कौषीतकि ब्राह्मण[1] में *वातावत* का एक विभेदात्मक पाठ है।

[1] २. ९। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २१५, नोट; २, २९३, नोट।

वाधूय, वधू के उस परिधान का द्योतक है जिसे वह विवाह-संस्कार के समय धारण करती थी, किन्तु जिसे बाद में किसी ब्राह्मण को दे दिया जाता था।[1]

[1] ऋग्वेद १०. ८५, ३४; अथर्ववेद १४, २, ४१। तु० की० कौशिक सूत्र ७९. २१; आश्वलायन गृह्य सूत्र, १. ८, १२, इत्यादि।

वाध्र्यश्व (*वध्र्यश्व* के साथ सम्बद्ध) ऋग्वेद (१०. ६९, ५) में प्रत्यक्षतः अग्नि की एक उपाधि है।

वानस्पत्य (पुल्लिङ्ग रूप में) अथर्ववेद[1] के दो स्थलों पर एक 'छोटे-वृक्ष' का द्योतक प्रतीत होता है। अन्यत्र[2] (क्लीब रूप में) इसमें 'वृक्ष के फल' (*वनस्पति*) का आशय निहित है।

[1] ८. ८, १४; ११. ९, २४। तु० की० १२. १, २७।

[2] शतपथ ब्राह्मण ११. १, ७, २; ३, १, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १६, १।

वाम-कक्षायण, शतपथ ब्राह्मण में *वात्स्य*[1] अथवा *शाण्डिल्य*[2] के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] १०. ६, ५, ९। तु० की० ७. २, १, ११

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५, ४ काण्व। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १०. ४, १, ११।

वाम-देव को परम्पराओं द्वारा ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के प्रणयन का श्रेय[1] दिया गया है, और इसका एक बार इसी मण्डल में उल्लेख[2] भी है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद संहिताओं[3] में इसे उक्त मण्डल के चौथे सूक्त के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। यहाँ यह *गोतम* के पुत्र के रूप में आता है, जब कि ऋग्वेद[4] के चतुर्थ मण्डल के एक सूक्त में गायक के पिता के रूप में गोतम का उल्लेख है, तथा एक अन्य[5] में, गोतम-गण इन्द्र की स्तुति करते हुये आते हैं। बृहद्देवता[6] में वामदेव के सम्बन्ध में असंगत कथाओं का उल्लेख है। एक कथा में ऐसा वर्णन है कि जब यह ऋषि कुत्ते की अँतड़िया पका रहा था तो इसके सम्मुख इन्द्र एक श्येन पक्षी के रूप में प्रकट हुये थे; एक अन्य में इन्द्र के विरुद्ध इसके सफल संघर्ष तथा ऋषियों को इन्द्र का विक्रय कर देने

[1] ऐतरेय आरण्यक २. २, १ इत्यादि।

[2] ४. १६, १८।

[3] काठक संहिता १०. ५; मैत्रायणी संहिता २. १, ११; ३. २, ६।

[4] ४. ४, ११।

[5] ४. ३२, ९. १२।

[6] ४. १२६, १३१ और बाद, मैकडॉनेल की टिप्पणी सहित।

का उल्लेख है। सीग[7] ने इन कथाओं को ऋग्वेद[8] में ढूंढ़ने का प्रयास किया था किन्तु सफलता नहीं मिली। इसके अतिरिक्त, यद्यपि वामदेव का अथर्ववेद[9] और अक्सर ब्राह्मणों[10] में भी उल्लेख है, तथापि वह यहाँ कभी भी इन कथाओं के नायक के रूप में नहीं आता।

[7] सा० ऋ० ७६ और बाद।

[8] ऋग्वेद ४. २७ और ४. २४। प्रथम सूक्त पर देखिये औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, २९१ और बाद; द्वितीय के लिये वही ४१९ और बाद।

[9] देखिये अथर्ववेद १८, ३, १५. १६।

[10] ऐतरेय ब्राह्मण ४. ३०, २; ६. १८, १. २; ऐतरेय आरण्यक २. ५, १ (= ऐतरेय उपनिषद् २. ५, जहाँ वामदेव को जन्म के पूर्व की भी बातों के ज्ञान का श्रेय दिया गया है); बृहदारण्यक उपनिषद् १. ४, २२ (माध्यन्दिन = १. ४, १० काण्व); पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ९, २७।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२३, १२४; वेबर : प्रो० अ० १८९४, ७८९ और बाद; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २१५।

वायत ('वयन्त्' का वंशज) ऋग्वेद (७. ३३, २) में *पाशद्युम्न* का पैतृक नाम है। तु० की० *व्यन्त्*।

वायस, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक बड़े पक्षी का द्योतक है। 'कौये'[3] का आशय केवल षड्विंश ब्राह्मण[4] में मिलता है।

[1] १. १६४, ३२।

[2] निरुक्त ४. १७ के एक उद्धरण में; और ऋग्वेद ५. ५१ के बाद के खिल का मन्त्र १।

[3] वैदिकोत्तर भाषा में इसका एकमात्र यही आशय है।

[4] ६. ८।

वायो-विधिक (पक्षी पकड़नेवाला) शतपथ ब्राह्मण[1] में मिलता है।

[1] १३. ४, ३, १३। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ३६९, नोट ५।

वाय्य (वय्य का वंशज) ऋग्वेद (५.७९, १.२) में *सत्यश्रवस्* का पैतृक नाम है।

वार्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'जल' के आशय में मिलता है। कुछ स्थलों[3] पर इससे 'गन्दे पानी' अथवा 'तालाब' का आशय है।

[1] १. ११६, २२; २. ४, ६; १०. १२, ३; ९९, ४; १०५, १ इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ३. १३, ८; शतपथ ब्राह्मण ६. १, १, ९ इत्यादि।

[3] ऋग्वेद ४. १९, ४; ८. ९८, ८; ९. ११२, ४।

वारक्कि ('वरक' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १) में *कंस* का पैतृक नाम है।

वारक्य ('वरक' वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में *कंस*, *कुबेर*, *जनश्रुत*, *जयन्त*, और *प्रोष्ठपद्* का पैतृक नाम है।

वारण को ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर रौथ[2] ने *मृग* के साथ एक ऐसे विशेषण के रूप में ग्रहण किया है जिसका अर्थ 'जंगली जानवर' है। किन्तु इससे 'गज' का ही आशय उद्दिष्ट रहा होगा, जो बाद के साहित्य में 'वारण' का सामान्य आशय है। इसी प्रकार सम्भवतः अथर्ववेद[3] में 'वारणी' मादा हाथी का द्योतक है।

[1] ८. ३३, ८; १०. ४०, ४।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था० १ (ग)।
[3] ५. १४, ११।
तु० की० पिशल और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, xv, १००–१०२; ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद २९६; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४६७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८०।

वारुणि ('वरुण' का वंशज)—यह *भृगु*[1] का पैतृक नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४, १; शतपथ ब्राह्मण ११. ६, १, १; तैत्तिरीय उपनिषद् ३. १, इत्यादि।

वार्कलि ('वृकला' का 'वंशज'), शतपथ ब्राह्मण[1] में एक गुरु का मातृ-नामोद्भूत नाम है। इस नाम का 'वार्कलिन्' रूप ऐतरेय आरण्यक[2] में देखा गया है किन्तु अशुद्ध है।

[1] १२. ३, २, ६।
[2] ३. २, २, और कीथ की टिप्पणी; शाङ्खायन आरण्यक ८. २।
तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर ३३, १२३, जिनका विचार है कि 'वार्कलि' भी 'वाष्कलि' के समान है।

वार्कारुणी-पुत्र, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश में *आर्तभागीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] ६. ४, ३१ (माध्यन्दिन = ६. ५, २ काण्व, जहाँ एक दूसरा 'आर्कारुणीपुत्र' भी आता है जो प्रथम का शिष्य है)।

वार्ध्रा-णस,[1] *वार्ध्री-नस*,[2] यजुर्वेद संहिताओं में अश्वमेध के बलि-प्राणियों

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४. २०।
[2] वाजसनेयि संहिता २४. ३९ (प्रातिशाख्य, ३, ८९; ६. २८)

की तालिका में एक पशु का नाम है। जैसा कि सायण[3] ने ग्रहण किया है, इसका सम्भवतः 'गैंडा' अर्थ है। एक भिन्न व्याख्या के रूप में बौटलिङ्क[4] 'एक वृद्ध श्वेत बकरा' अथवा एक प्रकार का 'सारस' अर्थ व्यक्त करते हैं।

[3] तैत्तिरीय संहिता उ० स्था० पर।
[4] डिक्शनरी, व० स्था०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८०।

वार्ष-गण ('वृषगण' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *असित* का पैतृक नाम है।

[1] ६. ४, ३३ (माध्यन्दिन = ६. ५, ३ काण्व)।

वार्षगणी-पुत्र ('वृषगण' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र), बृहदारण्यक उपनिषद् (६.४, ३१) के माध्यंदिन शाखा के अन्तिम वंश में *गौतमी-पुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

वार्ष-गण्य ('वृषगण' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२; निदान सूत्र २. ९; ६. ७ इत्यादि। तु० की० गार्बे : सांख्य फिलॉसफी, ३६।

वार्षा-गिर ('वृषागिर्' का वंशज) ऋग्वेद (१.१००, १७) में *अम्बरीप*, *ऋज्राश्व*, *भयमान*, *सहदेव* और *सुराधस्* का पैतृक नाम है।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११३।

वार्ष्ण ('वृषन्' अथवा 'वृष्णि' अथवा 'वृष्ण', का वंशज), *गोबल*,[1] *वर्कु*[2] और *ऐक्ष्वाक*[3] का पैतृक नाम है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ११, ९, ३; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ६, १।
[2] शतपथ ब्राह्मण १. १, १. १०; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, ८, जहाँ काण्व शाखा (८. १, ४) में वार्ष्ण पाठ है।
[3] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ५, ४।

वार्ष्णि-वृद्ध ('वृष्णिवृद्ध' का वंशज) कौषीतकि ब्राह्मण (७.४) में *उल* का पैतृक नाम है।

वार्ष्णेय ('वृष्णि' का वंशज) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०, ९, १५) में *शूष* का पैतृक नाम है।

वार्ष्ण्य ('वृष्णि' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में एक व्यक्ति का पैतृक नाम है।

[1] ३. १, १, ४। काण्व शाखा में यह नाम नहीं है। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, २, नोट २।

वार्ष्य—देखिये *वार्ष्ण्य*।

वाल, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'बाल की चलनी' का द्योतक है।

[1] वाजसनेयि संहिता १९. ८८; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, ३, ११; ८, १, १४, इत्यादि।

वाल-खिल्य, ब्राह्मणों[1] में ऋग्वेद ८.४८ के बाद सम्मिलित कुछ अतिरिक्त सूक्तों का नाम है। तैत्तिरीय आरण्यक[2] में इन सूक्तों के ऋषियों के नाम को भी इसी नाम से पुकारा गया है। तु० की० २. *खिल*।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ५. १५, १. ३. ४; ६. २८, १. ४. ५. १०. ११; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ४, ८; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ११, ३; १४. ५, ४; ऐतरेय आरण्यक ५. २, ४, इत्यादि; गोपथ ब्राह्मण २. ६, ९। तु० की० मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, २२०; से० बु० ई०, ३२, xlvi, और बाद; बृहद्देवता ६. ८४ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित; शेफ्टेलोविट्स : डी० ऋ०, ३५ और बाद।

[2] १. २३।

वाल-दामन्, शतपथ ब्राह्मण (५. ३, १, १०) में 'घोड़े के बाल के फन्दे' का द्योतक है।

वालिशिखायनि, शाङ्खायन आरण्यक[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] ७. २१। तु० की० कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, ४९, नोट ५।

वावाता, ब्राह्मणों[1] में राजा की प्रिय पत्नी का नाम है, जो केवल *महिषी* से ही हीन होती थी।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२, १. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ३; शतपथ ब्राह्मण १३.२,५, ४.१.८; ५,२, ६ इत्यादि।

वाशिता, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में गर्भाधान की इच्छुक गाय का द्योतक है।

[1] ५. २०, २।

[2] काठक संहिता १३. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ९, ९; ऐतरेय ब्राह्मण ६. १८, १०; २१, १४, इत्यादि।

वाशी का ऋग्वेद में मरुतों[1] के अस्त्र तथा त्वष्टा[2] द्वारा धारण किये गये किसी आयुध का द्योतक है। इसका अन्य पौराणिक पृष्ठभूमियों में भी उल्लेख है।[3] फिर भी अथर्ववेद[4] में यह बढ़ई की छुरी के लिये प्रयुक्त हुआ है; यहाँ यह सायण के दृष्टिकोण के अनुसार 'आरी' का द्योतक हो सकता है।[5]

[1] १. ३७, २; ८८, ३; ५. ५३, ४।
[2] ८. २९, ३।
[3] ८. १२, १२; १०. ५३, १०; १०१, १० (उन पत्थरों की जिनसे सोम-पौधे को दबाया जाता है), यह सभी संदिग्ध स्थल हैं।
[4] १०. ६, ३ (जहाँ सभी पाण्डुलिपियों में 'वास्या' है : यह सम्भवतः एक भिन्न शब्द है)।
[5] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २०१।

वासः-पल्पूली (कपड़ा धोनेवाला) यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १।

वासस्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'वस्त्रों' के लिये प्रयुक्त सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। कपड़े अक्सर भेड़ के ऊन से बिने जाते थे। (तु० की० *ऊर्णा*); पूषन् देवता को 'वस्त्रों का बुननेवाला' (वासो-वाय)[3] कहा गया है क्योंकि इनका आकृतियाँ निर्माण करने के साथ सम्बन्ध है। धारण किये जानेवाले परिधान अक्सर कढ़े (तु० की० *पेशस्*) होते थे, और मरुतों को स्वर्ण से अलंकृत परिधान धारण किये हुये बताया गया है।[4] जहाँ अश्वों तथा स्वर्ण का दान करनेवालों के साथ 'वस्त्रों का दान करनेवालों[5]' का उल्लेख है, वहाँ सम्भवतः कढ़े हुये वस्त्रों का ही तात्पर्य है। भारतीयों के अलंकार-प्रेम के ऋग्वेद[6] में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिसकी मेगास्थनीज़ ने भी अपने समय में

[1] १. ३४, १; ११५, ४; १६२, १६; ८. ३, २४; १०. २६, ६; १०२, २, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ९, ७; ११, २; वाजसनेयि संहिता २. ३२; ११. ४०; ऐतरेय ब्राह्मण १. ३ इत्यादि। अभिषेक के समय यज्ञकर्त्ता की पत्नी द्वारा कुश का परिधान धारण करने का शतपथ ब्राह्मण ५. २, १, ८, में उल्लेख है, किन्तु सामान्य रूप से इस प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग सन्दिग्ध है। तु० की० 'कौसुम्भ-परिधान', शाङ्खायन आरण्यक ११. ४।
[3] ऋग्वेद १०. २६, ६।
[4] ऋग्वेद ५. ५५, ६ (हिरण्ययान् अत्कान्)।
[5] ऋग्वेद १०. १०७, २। तु० की० 'वस्त्र-दा', ५. २४, ८।
[6] ऋग्वेद १. ८५, १; ९२, ४; ९. ९६, १; १०. १, ६।

पुष्टि की है।[७] ऋग्वेद में 'सु-वसन'[८] और 'सु-रभि'[९] जैसी उपाधियाँ भी मिलती हैं, जिनसे वस्त्रों के अच्छे लगने अथवा शरीर के ठीक नाप से सिले हुये होने का तात्पर्य है।

अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भारतीय तीन वस्त्र धारण करते थे—एक भीतरी वस्त्र (तु० की० *नीवि*)[१०], एक परिधान,[११] और एक ऊपरी परिधान (तु० की० *अधीवास*),[१२] जो सम्भवतः चोगा होता था और जिसके लिये *अत्क* और *द्रापि* का भी प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। यही शतपथ ब्राह्मण[१३] में दिये हुये उस यज्ञीय परिधानों के वर्णन के भी अनुकूल है जिसके अन्तर्गत सम्भवतः एक 'रेशमी भीतरी वस्त्र' अथवा *तार्प्य*, बिना रँगा हुआ ऊनी परिधान, और उसके बाद एक चोगा आता है, जब कि पगड़ी को सर में बाँधने के बाद उसके सिरे को पीछे बाँधकर और फिर सामने लाकर खोंस दिया जाता था। यह अन्तिम उल्लेख सामान्य जीवन का कदाचित ही प्रचलित प्रयोग रहा होगा, किन्तु संस्कार का एक विशेष कृत्य अवश्य प्रतीत होता है। अथर्ववेद[१४] और शतपथ ब्राह्मण[१५] में भी स्त्रियों के एक इसी प्रकार के परिधान का आशय मिलता है। ठीक-ठीक यह दिखाने के लिये कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि स्त्रियों और पुरुषों की वेश-भूषा में क्या अन्तर था, और न यही स्पष्ट है कि इन दोनों के वस्त्रों का ठीक-ठीक क्या स्वरूप था।

यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यक्षतः वैदिक भारतीय ऐसा मानते थे कि मुनियों

[७] देखिये स्ट्राबो, पृ० ७०९; अर्रियन : इण्डिका, ५. ९।

[८] ऋग्वेद ९. ९७, ५०।

[९] 'अत्क', ६. २९, ३; १०. १२३, ७, के साथ यह शब्द सम्भवतः ऐसा व्यक्त करता है कि वैदिक भारतीयों का वस्त्र 'मिनोअनों' के वस्त्र की भाँति ही शरीर में चिपकता हुआ और होमर में उपलब्ध एचियन-ढंग के वस्त्रों से भिन्न होता था (तु० की० लैङ्ग : दि वर्ल्ड ऑफ होमर, ६० और बाद)।

[१०] अथर्ववेद ८. २, १६; १४. २, ५०। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, ३; वाजसनेयि संहिता ४. १०, इत्यादि।

[११] संकीर्ण आशय में 'वासस्', अथर्ववेद ८. २, १६।

[१२] ऋग्वेद १. १४०, ९; १६२, १६; १०. ५, ४।

[१३] ५. ३, ५, २० और बाद। देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४१, ८५ और बाद।

[१४] ८. २, १६; १४. २, ५०।

[१५] ५. २, १, ८।

के अतिरिक्त सभी सभ्य व्यक्तियों को किसी न किसी प्रकार का वस्त्र अवश्य धारण करना चाहिये।[18]

देखिये *वसन*, *वस्त्र*, *ओतु*, *तन्तु*। चर्म-परिधानों के व्यवहार के लिये देखिये, *मल*।

[18] तु० की० शतपथ ब्राह्मण ११. ५. १. १; और ३. १, २, १३-१९, जहाँ इस तथ्य की कि केवल पुरुष ही वस्त्र धारण करते हैं एक मूर्खतापूर्ण कथा से पुष्टि की गयी है।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६१. २६२।

वासिष्ठ (*वसिष्ठ* का वंशज) बाद की संहिताओं[1] में बहुधा उल्लिखित *सात्यहव्य* का, तैत्तिरीय आरण्यक[2] में *रौहिण* का, और *चैकितानेय*[3] का, पैतृक नाम है। इसके अतिरिक्त, यह भी कथन है कि वासिष्ठगण यज्ञ के समय ब्रह्मन् पुरोहित होते थे।[4] वंश ब्राह्मण[5], और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[6] में एक वसिष्ठ का एक गुरु के रूप में भी उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ६, २, २; काठक संहिता ३४. १७ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७४); मैत्रायणी संहिता ३. ३, ९; ४. ८, ७। **अत्यराति** के साथ इसकी शत्रुता के लिये देखिये ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३, ९. १०।

[2] १. १२, ७।

[3] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४२, १; षड्विंश ब्राह्मण ४. १; इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३८४। तु० की० गोपथ ब्राह्मण २. २, १०।

[4] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, २, १; काठक संहिता ३७. १७; शतपथ ब्राह्मण १२. ६, १, ४१। देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३४; एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, २१२. नोट (डेलब्रुक : आल्टिन्डिशे सिन्टैक्स, ५७० में अनुवाद को शुद्ध करते हुये)।

[5] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

[6] ३. १५, २।

वास्तु-पश्य, बौटलिङ्क[1] के अनुसार एक ब्राह्मण का नाम है, किन्तु यह केवल जैमिनीय ब्राह्मण[2] में 'वास्तुपस्य'[3] का एक विभेदात्मक पाठ है।

[1] डिक्शनरी व० श०, सप्लीमेन्ट, ६।

[2] ३. १२०।

[3] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, '२६, ६१।

वाह, ऋग्वेद (४. ५७, ४. ८) और अथर्ववेद (६. १०२, १) में प्रत्यक्षतः हल को 'खींचने' के लिये प्रयुक्त बैल का द्योतक है। देखिये *रथवाहन* भी।

वाहन (क्लीव) ब्राह्मणों[1] में 'बोझा ढोनेवाले पशु', अथवा कभी-कभी,[2] 'गाड़ी' का द्योतक है। तु० की० *रथवाहन*।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ४. ९, ४; शतपथ ब्राह्मण १. ८, २, ९; २. १, ४, ४; ४. ४, ४, १०।
[2] शतपथ ब्राह्मण ९. ४, २, ११।

वाहस (अजगर) को यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १३, १; १४, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १५; वाजसनेयि संहिता २४. ३४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९४।

वि, ऋग्वेद[1], और कभी-कभी बाद[2] में, 'पक्षी' का द्योतक है।

[1] २. २९, ५; ३८, ७; ६. ६४, ६, इत्यादि।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ६, १५, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८७।

वि-ककर, किसी पक्षी का नाम है, जो वाजसनेयि संहिता[1] के अनुसार अश्वमेध का एक बलि-प्राणी है।

[1] २४. २०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९४; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र. २०. १४, ५, 'विकिर' ('विकिकिर', 'विककर' विभेदो सहित) पाठ है।

वि-कङ्कत, एक वृक्ष (Flacourtia sapida) का नाम है, जिसका बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ७, ३; ६. ४, १०, ५; काठक संहिता १९. १०; मैत्रायणी संहिता ३. १, ९। तु० की० अथर्ववेद ११. १०, ३।
[2] शतपथ ब्राह्मण २. २, ४, १०; ५. २, ४, १८, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५९।

वि-क्रय, अथर्ववेद (३. १५, ४) और निरुक्त (३. ४) में मिलता है और किसी वस्तु के विक्रय का द्योतक है। देखिये *क्रय*।

वि-क्लिन्दु, अथर्ववेद[1] में किसी व्याधि का नाम है। ब्लूमफील्ड[2] इसे 'सीने में कफ जकड़ जाने' की व्याधि मानते हैं।

[1] १२. ४, ५।
[2] अथर्ववेद के सूक्त, ६५८।

वि-घन, तैत्तिरीय संहिता[1] में 'गदा' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ३. २, ४, १। अथर्ववेद ७, २८, १, में 'द्रुघण' है।

वि-चक्षण ताण्ड्य, वंश ब्राह्मण[1] में *गर्दभीमुख* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

वि-चारिन् काबन्धि (*कवन्ध* का वंशज) गोपथ ब्राह्मण[1] में एक पौराणिक गुरु का नाम है।

[1] १. २, ९. १८। तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, २, १७६, नोट ४; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद, १११, ११२।

वि-चृत्, द्वन्द्व रूप में अथर्ववेद[1] के तीन स्थलों पर मिलता है, जहाँ रौथ[2] ने इसमें दो तारों के नाम का आशय देखा है, जब कि तैत्तिरीय संहिता[3] में आप इससे 'मूल' नामक *नक्षत्र* का तात्पर्य मानते हैं। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी स्थलों[4] पर उक्त नक्षत्र का ही आशय है।

[1] २. ८, १; ६. ११०, २; १२१, ३; और देखिये ३. ७, ४ भी।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ४. ४, १०, २।
[4] त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ३५६; व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ३६१, यह व्यक्त करते हैं कि 'विचृतौ', λ और ν स्कॉर्पियोनिस हैं, जब कि 'मूल' के अन्तर्गत वृश्चिक की पूरी पूँछ आ जाती है।

विज्—देखिये २. *अक्ष*।

वि-जामातृ—देखिये *जामातृ*।

वितस्ता का, जो कि पंजाब की पाँच नदियों में से सबसे पश्चिमी नदी है, ऋग्वेद[1] के नदी-स्तुति[2] में उल्लेख है। यह सिकन्दर के इतिहासकारों की 'ह्यदस्पीस' है, जब कि टॉलमी ने इसे अधिक शुद्धतापूर्वक 'विदस्पीस' माना है। यह नाम मुसलमान इतिहासकारों द्वारा 'बिहत' अथवा 'विहत' के रूप में भ्रष्ट कर दिया गया है, जब कि इसका आधुनिक कश्मीरी रूप 'वेथ्' है।

[1] १०. ७५, ५; निरुक्त ९. २६; तु० की० पाणिनि १. ४, ३१ पर काशिका वृत्ति। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १२; इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, १४, १६०:

[2] ऋग्वेद में इस नाम की दुर्लभता यह संकेत करती है कि वैदिक भारतीयों में से अधिकांश की सक्रियता का क्षेत्र पंजाब नहीं था।

वित्त, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'सम्पत्ति' अथवा 'धन' का द्योतक है। तैत्तिरीय उपनिषद्[3] में पृथ्वी को वित्त-पूर्ण (वित्तस्य पूर्णा) कहा गया है यह मत कि मनुष्य की महानता उसकी सम्पत्ति पर निर्भर करती है, तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] जैसे प्राचीन समय तक में मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[5] में सम्पत्ति की इच्छा रखने को (वित्तैषणा) ऐसी वस्तु कहा गया है जिसका ऋषिगण परित्याग कर चुके होते हैं।

[1] ५. ४२, ९; १०. ३४, १३।
[2] अथर्ववेद १२. ३, ५२; तैत्तिरीय संहिता १. ५, ९, २; ६. २, ४, ३ वाजसनेयि संहिता १८. ११. १४, इत्यादि।
[3] २. ८। तु० की० 'वसुमती' नाम जो कि शाङ्खायन आरण्यक १३. १ में आता है।
[4] १. ४, ७, ७।
[5] ३. ४, १: ४. ४, २६।

विदग्ध शाकल्य, बृहदारण्यक उपनिषद्[1], जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] और शतपथ ब्राह्मण[3] में उस गुरु का नाम है जो *विदेह* के राजा जनक के दरबार में *याज्ञवल्क्य* का समकालीन और प्रतिद्वन्दी था।

[1] ३. ९, १; ४. १, १७ (माध्यन्दिन = ७ काण्व)।
[2] २. ७६ (ज० अ० ओ० सो०, १५, २३९)।
[3] ११. ६, ३, ३।

विदथ, एक अस्पष्ट आशयवाला शब्द है और प्रमुखतः ऋग्वेद तक ही सीमित है। रौथ[1] के अनुसार इसका प्रमुख आशय 'आज्ञा', उसके बाद वह व्यक्ति अथवा संस्था जो आज्ञा देती है, और उसके भी बाद लौकिक[2] अथवा धार्मिक[3] उद्देश्यों अथवा युद्ध[4] के लिये आज्ञा देनेवाली 'सभा' है। औल्डेनवर्ग[5] का विचार था कि इसका प्रमुख आशय 'विधान' ('वि-धा', से)

[1] ऋग्वेद १. ३१, ६; ११७, २५: ३. १, १८; २७, ७; ४. ३८, ४; ६. ८, १; १०. ८५, २६; ९२, २; अथर्ववेद ४. २५, १; ५. २०, १२; १८. ३, ७०, इत्यादि।
[2] २. १, ४; २७, १२. १७; ३. ३८, ५. ६; ५. ६३, २; ७. ६६, १०; ८. ३९, १; १०. १२, ७; अथर्ववेद १७. १. १५। इसी प्रकार अथर्ववेद १. १३, ४ में ह्विट्ने (अथर्ववेद का अनुवाद, १५) इस शब्द का 'सात' अनुवाद करते हैं :
[3] ऋग्वेद १. ६०, १; २. ४, ८; ३९, १; ३. १, १; ५६, ८, इत्यादि।
[4] ऋग्वेद १. १६६, २; १६७, ६; ५. ५९, २, इत्यादि।
[5] से० बु० ई०, ४६, २६ और बाद। किन्तु त्सी० गे०, ५४, ६०९–६११ में आप पुनः इसे 'विध्' से व्युत्पन्न मानते हैं। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० २३, नोट १०।

और उसी से व्युत्पन्न 'यज्ञ' अर्थ है। लुडविग[6] का विचार है कि इस शब्द का मूल अर्थ मुख्यतः *मघवनों* और ब्राह्मणों की 'सभा' है। गेल्डनर[7] यह मत व्यक्त करते हैं कि इस शब्द का प्रथमतः 'ज्ञान', 'विद्वत्ता', 'पुरोहितीय विद्या', अर्थ है और उसके बाद 'यज्ञ' और 'आध्यात्मिक अधिकारी'। दूसरी ओर ब्लूमफील्ड[8] इस बात पर ज़ोर देते हैं कि प्रथमतः विदथ से 'गृह'[9] का आशय है ('विद्' अर्थात् 'अर्जित करना' से) और तदुपरान्त गृह से ही सम्बद्ध होने के रूप में 'यज्ञ'; जो कुछ भी हो, यही व्याख्या सब स्थलों के अनुकूल प्रतीत होती है। एक बार[10] राजा (सम्राट्) के लिये व्यवहृत 'विदथ्य' शब्द इस दृष्टिकोण के विपरीत सिद्ध हो सकता है, किन्तु इससे राजा के 'गृह-सम्पत्ति से सम्पन्न' होने का आशय माना जा सकता है; और *सभा* के विपरीत विदथ के साथ स्त्री का सम्बन्ध ब्लूमफील्ड की व्याख्या के अनुकूल[11] है। यह शब्द कहीं भी, ब्राह्मण[12] के गृह की भाँति आश्रम का द्योतक है, जैसा कि लुडविग[13] का विचार है, अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध[14] है।

[6] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २५१ और बाद।

[7] वेदिशे स्टूडियन, १, १४७; त्सी० गे०, ५२, ७५७; ऋग्वेद, ग्लॉसर, १६१।

[8] ज० अ० ओ० सो०, १९. १२ और बाद।

[9] देखिये ऋग्वेद १०. ८५, २६. २७ (विवाह संस्कार में स्त्री का); १. ११७, २५; २. १, ६; अथर्ववेद १८. ३, ७०।

[10] ४. २७, २। १. ९१, २०; १६७, ३; अथर्ववेद २०. १२८, १, में 'विदथ्य' (एक गृहस्थी वाला) पर्याप्त प्रतीत होता है।

[11] तु० की० अथर्ववेद ७. ३८, ४; मैत्रायणी संहिता ४. ७, ४।

[12] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, १३, कात्यायन श्रौत सूत्र १५. ३, ३५, सहित।

[13] उ० पु०, ३, २६१।

[14] ऋग्वेद १. ३१, ६; ५. ६२, ६; ऐतरेय ब्राह्मण १. ३०, २७. २८, निश्चित रूप से इसे स्पष्टतः व्यक्त नहीं करता।

तु० की० त्सिमर (आल्टिन्डिशे लेबेन, १७७) यह विचार व्यक्त करते हैं कि कभी-कभी 'विदथ' का अर्थ (उदाहरण के लिये, 'विदथेषु प्रशस्तः', ऋग्वेद २. २७, १२, में) 'समिति' की अपेक्षा एक 'छोटी सभा' है। किन्तु हमारे पास इस बात का निश्चित निर्णय करने के लिये कोई भी आधार नहीं है कि भारत अथवा अन्य आर्य-जातियों के बीच इतने पहले के समय में भी कभी इस प्रकार की छोटी सभाओं का अस्तित्व था अथवा नहीं।

विदन्वन्त् भार्गव (*भृगु* का वंशज) का पंचविंश ब्राह्मण[1] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में सामनों के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

[1] १३. ११, १०।
[2] ३. १५९ और बाद। (ज० अ० ओ० सो०, २६, ६४)।

विदर्भ, एक स्थान के नाम के रूप में आरम्भिक वैदिक साहित्य के केवल जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में आता है, जहाँ इनके *माचलों* (सम्भवतः कुत्तों की एक जाति) को सिंहों का वध करनेवाला बताया गया है।

[1] २. ४४० (ज० अ० ओ० सो०, १९, १०३, नोट ३।)

विदर्भी-कौण्डिनेय, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों में *वत्स-नपात्* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यन्दिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।

वि-दिश्, एक 'मध्यवर्ती दिशा' का द्योतक[1] है। देखिये *दिश्*।

[1] वाजसनेयि संहिता ६. १९; षड्विंश ब्राह्मण ४. ४।

विदीगय, तैत्तिरीय संहिता[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में एक पशु का नाम है। प्रथम ग्रन्थ के भाष्य में इसे एक प्रकार के कुक्कुट (कुक्कुट-विशेष) के, तथा द्वितीय के भाष्य में एक प्रकार के बगुले (श्वेत-बक) के आशय में ग्रहण किया गया है।

[1] ५. ६, २२, १।
[2] ३. ९. ९, ३; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २०. २२, १३। तु० की० त्सिमर : आल्टि-न्डिशे लेबेन, ९४।

विदेघ, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक व्यक्ति, *माथव*, का नाम है। यह मानना उपयुक्त[2] है कि इस व्यक्ति को उन विदेघों के राजा के रूप में यह नाम दिया गया था, जो बाद में *विदेहों* के रूप में प्रसिद्ध हुये।

[1] १. ४. १, १० और बाद।
[2] तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, xli, नोट ४; १०४, नोट; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. १७०; इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, १३; इन्डियन लिटरेचर १३४।

विदेह, एक ऐसी जाति के लोगों का नाम है जिनका ब्राह्मण काल के

पहले उल्लेख नहीं है। शतपथ ब्राह्मण[1] में *विदेघ माथव* की कथा में इस बात की स्पष्ट परम्परा सुरक्षित है कि विदेह की संस्कृति पश्चिम के ब्राह्मणों से प्राप्त हुई थी, और यह कि *कोशल*, विदेह के पहले ही ब्राह्मण प्रभाव के अन्तर्गत आ गया था। फिर भी विदेहों ने अपने उस राजा *जनक* की संस्कृति द्वारा कुछ प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी, जो बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में ब्राह्मणवाद के प्रमुख प्रतिपालकों में से एक के रूप में आता है। कौषीतकि उपनिषद्[3] में विदेहों को *काशियों* के साथ संयुक्त किया गया है; ऐतरेय ब्राह्मण[4] में जातियों की तालिका में विदेहों को छोड़ दिया गया है जो सम्भवतः इसलिये कि इन्हें कोसल और काशि के साथ-साथ *प्राच्य* शब्द के अन्तर्गत सम्मिलित मान लिया गया है। पुनः, शाङ्खायन श्रौतसूत्र[5] में यह उल्लेख है कि काशि, कोसल, और विदेह इन तीनों राज्यों में एक ही पुरोहित, *जल जातूकर्ण्य*, था; और इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल[6] पर विदेह के राजा पर *आट्णार* और कोसल के राजा *हिरण्यनाभ* के बीच सम्बन्धों की व्याख्या की गयी है, जब कि शतपथ ब्राह्मण[7] में पर आट्णार को हिरण्यनाभ का वंशज और कोसल का राजा कहा गया है।

विदेह का एक दूसरा राजा *नमी साप्य* था, जिसका पञ्चविंश ब्राह्मण[8] में उल्लेख है। यजुर्वेद की संहिताओं[9] में 'विदेह की गायों' का सन्दर्भ प्रतीत होता है, किन्तु तैत्तिरीय संहिता का भाष्यकार विशेषण शब्द 'वैदेही' को 'एक श्रेष्ठ शरीर वाला' (विशिष्ट-देह-सम्बन्धिनी) के अर्थ में ग्रहण करता है, और इस व्याहृति में किसी स्थान के नाम का आशय होना बहुत स्पष्ट नहीं है। बौधायन श्रौतसूत्र[10] के ब्राह्मण सदृश स्थलों पर भी विदेह-गण आते हैं।

कोसल और विदेह की सीमा *सदानीरा*, सम्भवतः आधुनिक गण्डक[11]

[1] १. ४. १, १० और बाद।
[2] ३. ८, २। तु० की० ४. २, ६; ९. ३०; शतपथ ब्राह्मण ११. ३, १, २; ६, २, १; ३, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ९, ९।
[3] ४. १।
[4] ८. १४।
[5] १६. २९, ५।
[6] १६. ९, ११. १३।
[7] १३. ५, ४, ४।
[8] २५. १०, १७।
[9] तैत्तिरीय संहिता २. १, ४, ५; काठक संहिता १४ ५।
[10] २. ५; २१. १३।
[11] तु० की० इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, १२, १२५।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, १७०; इन्डियन लिटरेचर

१०, ३३, ५३, १२७, १२९, इत्यादि; एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, १२, xli; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ३९८, ३९९; रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, २६, ३७; पार्जिटर : ज० ए० सो०, १९१०, १९ और बाद।

(यूनानी भौगोलिकों की 'कोण्डोचेटिस') थी, जो नैपाल से निकल कर पटना के पास गंगा में मिलती थी। स्वयं विदेह भी बहुत कुछ आधुनिक तिरहुत क्षेत्र था।

विद्या, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में, मुख्यत: तीन वेदों के उस ज्ञान का द्योतक है, जिसे तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] जैसे प्राचीन समय तक में 'त्रयी विद्या' कहा गया है। अधिक विशिष्ट आशय में विद्या शब्द शतपथ ब्राह्मण[4] में अध्ययन के विषयों की सूची में आता है। इस व्याहृति से यहाँ क्या आशय है यह निश्चित नहीं : सायण[5] इससे दार्शनिक पद्धति का आशय मानते हैं, और गेल्डनर[6] प्रथम ब्राह्मणों का; जब कि एग्लिङ्ग[7] अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना के साथ *सर्पविद्या* अथवा *विषविद्या* जैसे किसी विशेष विज्ञान का आशय मानते हैं।

[1] ६. ११६, १; ११. ७, १०; ८, ३।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. १, २, ८; ५. १, ७, २; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३, ८. ९, इत्यादि।
[3] ३. १०, ११, ५। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ५, ६, इत्यादि।
[4] ११. ५, ६, ८; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, १०; ४. ५, ११।
[5] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, ८ पर।
[6] वेदिशे स्टूडियन, १, २९०, नोट ४।
[7] से० बु० ई० ४४, ९८, नोट २।

विद्रध, अथर्ववेद[1] में फोड़े जैसी एक व्याधि का द्योतक है। त्सिमर[2] के अनुसार यह *यक्ष्म* के साथ-साथ विकसित होनेवाले एक लक्षण का द्योतक है। बाद में इसे 'विद्रधि' कहा गया है। लुडविग[3] इसकी ऋग्वेद[4] के अस्पष्ट 'विद्रध' के साथ तुलना करते हैं; किन्तु इस स्थल पर इस शब्द का आशय अत्यन्त अनिश्चित है।[5]

[1] ६. १२७, १; ९. ८, २०।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३८६।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद ५. ९३। तु० की० रौथ : ए० नि०, ४२, ४३।
[4] ४. ३२, २३।
[5] औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २९५। तु० की० वाइज़ : सिस्टम ऑफ हिन्दू मेडिसिन २१०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५३१, ६०२; अथर्ववेद ६०; ग्रोहमैन : इन्डिशे स्टूडियन, ९, ३९७; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३७६।

विधवा, 'विध्' धातु से व्युत्पन्न विधवा-स्त्री का द्योतक है। रौथ[1] ने ऋग्वेद[2] के एक कठिन स्थल पर पुलिङ्ग 'विधव' की कल्पना की है, जहाँ प्राप्त ग्रन्थ में प्रत्यक्षतः 'विधन्तं विधवाम्' के रूप में एक मिथ्या अन्वय मिलता है और जिसमें आपने 'विधवम्' का ही एक छन्दात्मक विस्तारण माना है। लुडविग ने अपने पाठ में 'विधन्तम्' को एक स्त्री के समान माना है, जब कि डेलब्रुक[3] 'विधवा और उपासक' आशय मानते हैं। सम्भवतः 'एक विधुर और एक विधवा' अर्थ हो सकता है; किन्तु हमें उस प्रसङ्ग से सम्बद्ध पौराणिक सन्दर्भों का ज्ञान नहीं, जहाँ इसे अश्विनों का एक ऐसा कृत्य कहा गया है जिससे 'पति-विहीन' के रूप में *घोषा* का स्वाभाविक सन्दर्भ होना असम्भव है, क्योंकि इससे सम्बद्ध अश्विनों के कृत्य का इसी सूक्त[4] में कुछ पहले के मन्त्रों में वर्णन किया जा चुका है। 'विधवा' बहुत अधिक मिलनेवाला शब्द नहीं है।[5]

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; इसी प्रकार ग्रासमैन भी।
[2] १०. ४०, ८।
[3] डी० व० ४४३।
[4] १०. ४०, ५।
[5] ऋग्वेद ४. १८, १२; १०. ४०, २; षड्विंश ब्राह्मण ३. ७; निरुक्त ३. १५।

विधु, से ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर स्पष्ट रूप से (जैसा कि वैदिकोत्तर भाषा में भी है) 'चन्द्रमा' अर्थ है। इस स्थल पर चन्द्रमा को 'अनेक के बीच अकेले ही भ्रमण करनेवाला' (विधुं दद्राणं समने बहूनाम्) कहा गया है।

[1] १०. ५५, ५; निरुक्त १४. १८। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, ४६५। यहाँ 'अनेक' से नक्षत्रों का आशय होना न तो निश्चित है और न सम्भव ही। तारों से तात्पर्य होना पर्याप्त व्याख्या है।

वि-नशन, उस स्थान का नाम है जहाँ मरुभूमि के बीच *सरस्वती* नदी लुप्त हो जाती है। इसका पञ्चविंश ब्राह्मण[1] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। यह स्थान पञ्जाब का पटियाला ज़िला प्रतीत होता है।[3] तु० की० *प्लक्ष प्राश्रवण*।

[1] २५. १०, ६; कात्यायन श्रौत सूत्र १४. ५, ३०; लाट्यायन श्रौतसूत्र १०. १५, १; बौधायन श्रौतसूत्र १. १, २, १२; तु० की० बूहलर : से० बु० ई० १४, २, १४७।
[2] ४. २६।
[3] तु० की० इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, २२, ९७।

विप्, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर रौथ[2] के अनुसार उन 'छड़ों' का द्योतक है जो सोम-छनने के तल में लगे होते थे और जिनके आधार पर ही छानने के कपड़े को ताना जाता था। किन्तु यह व्याख्या अत्यन्त सन्दिग्ध है।[3]

[1] ९. ३, २; ६५, १२; ९९, १।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १. २०३; बर्गेन : रिलीजन वेदिके, १, ४; ओल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५४, १७१; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, ३, ९७-११०।

वि-पथ, खराब सड़कों पर चल सकने योग्य गाड़ी का द्योतक है, और *व्रात्य*[1] के वर्णन में आता है। तु० की० *अनस्*।

[1] अथर्ववेद १५. २, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, १४; लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ६, ९; अनुपद सूत्र ५. ४; कात्यायन श्रौतसूत्र २२. ४, ११; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २२. ५, ५; तु० की० ७. ३, ८। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४४।

१. *विपश्चित् दृढ-जयन्त लौहित्य* ('लोहित' का वंशज) का, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) में, *दक्ष जयन्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

२. *विपश्चित् शकुनि-मित्र पाराशर्य* (*पराशर* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १) के एक वंश में *अषाढ उत्तर पाराशर्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

वि-पश् (पाश-रहित) एक नदी का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में दो बार उल्लेख है। यह पंजाब की आधुनिक व्यास और यूनानियों की 'ह्यपेसिस', अथवा 'विपेसिस', नदी ही है। वैदिक भारतीयों के लिये इसकी महत्त्वशून्यता इस तथ्य द्वारा व्यक्त होती है कि ऋग्वेद के दो सूक्तों के अतिरिक्त इसका आरम्भिक वैदिक साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं है। निरुक्त[2] में यह वर्णन निहित है कि इसका पहले का नाम *उरुञ्जिरा* था,

[1] ३. ३३, १. ३; ४. ३०, ११। यास्क : निरुक्त ११. ४८, इस बाद के स्थल पर 'वि-पाशिन्' विशेषण देखते हैं, किन्तु यह अत्यन्त असम्भाव्य है। देखिये ओल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २९४।
[2] ९. २६। २. २४; ९. २६ में भी 'विपाश्' का उल्लेख है।

विधवा, 'विध्' धातु से व्युत्पन्न विधवा-स्त्री का द्योतक है। रौथ[1] ने ऋग्वेद[2] के एक कठिन स्थल पर पुलिङ्ग 'विधव' की कल्पना की है, जहाँ प्राप्त ग्रन्थ में प्रत्यक्षतः 'विधन्तं विधवाम्' के रूप में एक मिथ्या अन्वय मिलता है और जिसमें आपने 'विधवम्' का ही एक छन्दात्मक विस्तारण माना है। लुडविग ने अपने पाठ में 'विधन्तम्' को एक स्त्री के समान माना है, जब कि डेलब्रुक[3] 'विधवा और उपासक' आशय मानते हैं। सम्भवतः 'एक विधुर और एक विधवा' अर्थ हो सकता है; किन्तु हमें उस प्रसङ्ग से सम्बद्ध पौराणिक सन्दर्भों का ज्ञान नहीं, जहाँ इसे अश्विनों का एक ऐसा कृत्य कहा गया है जिससे 'पति-विहीन' के रूप में *घोषा* का स्वाभाविक सन्दर्भ होना असम्भव है, क्योंकि इससे सम्बद्ध अश्विनों के कृत्य का इसी सूक्त[4] में कुछ पहले के मन्त्रों में वर्णन किया जा चुका है। 'विधवा' बहुत अधिक मिलनेवाला शब्द नहीं है।[5]

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; इसी प्रकार ग्रासमैन भी।
[2] १०. ४०, ८।
[3] डी० व० ४४३।
[4] १०. ४०, ५।
[5] ऋग्वेद ४. १८, १२; १०. ४०, २; षड्विंश ब्राह्मण ३. ७; निरुक्त ३. १५।

विधु, से ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर स्पष्ट रूप से (जैसा कि वैदिकोत्तर भाषा में भी है) 'चन्द्रमा' अर्थ है। इस स्थल पर चन्द्रमा को 'अनेक के बीच अकेले ही भ्रमण करनेवाला' (विधुं दद्राणं समने बहूनाम्) कहा गया है।

[1] १०. ५५, ५; निरुक्त १४. १८। तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १. ४६५। यहाँ 'अनेक' से नक्षत्रों का आशय होना न तो निश्चित है और न सम्भव ही। तारों से तात्पर्य होना पर्याप्त व्याख्या है।

वि-नशन, उस स्थान का नाम है जहाँ मरुभूमि के बीच *सरस्वती* नदी लुप्त हो जाती है। इसका पञ्चविंश ब्राह्मण[1] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। यह स्थान पञ्जाब का पटियाला ज़िला प्रतीत होता है।[3] तु० की० *प्लक्ष प्राश्रवण*।

[1] २५. १०, ६; कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ५, ३०; लाट्यायन श्रौतसूत्र १०. १५, १; बौधायन श्रौतसूत्र १. १, २, १२; तु० की० बूहलर: से० बु० ई० १४, २, १४७।
[2] ४. २६।
[3] तु० की० इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, २२, ९७।

विप्, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर रौथ[2] के अनुसार उन 'छड़ों' का द्योतक है जो सोम-छनने के तल में लगे होते थे और जिनके आधार पर ही छानने के कपड़े को ताना जाता था। किन्तु यह व्याख्या अत्यन्त सन्दिग्ध है।[3]

[1] ९. ३, २; ६५, १२; ९९, १।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १. २०३; बर्गेन : रिलीजन वेदिके, १, ४; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५४, १७१; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, ३, ९७–११०।

वि-पथ, खराब सड़कों पर चल सकने योग्य गाड़ी का द्योतक है, और *व्रात्य*[1] के वर्णन में आता है। तु० की० *अनस्*।

[1] अथर्ववेद १५. २, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, १४; लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ६, ९; अनुपद सूत्र ५. ४; कात्यायन श्रौतसूत्र २२. ४, ११; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २२. ५, ५; तु० की० ७. ३, ८। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४४।

१. विपश्चित् दृढ-जयन्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) में, *दृढ जयन्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

२. विपश्चित् शकुनि-मित्र पाराशर्य (*पराशर* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १) के एक वंश में *अषाढ उत्तर पाराशर्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

वि-पश् (पाश-रहित) एक नदी का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में दो बार उल्लेख है। यह पंजाब की आधुनिक व्यास और यूनानियों की 'ह्यपेसिस', अथवा 'विपेसिस', नदी ही है। वैदिक भारतीयों के लिये इसकी महत्वशून्यता इस तथ्य द्वारा व्यक्त होती है कि ऋग्वेद के दो सूक्तों के अतिरिक्त इसका आरम्भिक वैदिक साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं है। निरुक्त[2] में यह वर्णन निहित है कि इसका पहले का नाम *उरुञ्जिरा* था,

[1] ३. ३३, १. ३; ४. ३०, ११। यास्क : निरुक्त ११. ४८, इस बाद के स्थल पर 'वि-पाशिन्' विशेषण देखते हैं, किन्तु यह अत्यन्त असम्भाव्य है। देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २९४।
[2] ९. २६। २. २४; ९. ३६ में भी 'विपाश्' का उल्लेख है।

जब कि गोपथ ब्राह्मण[३] 'वसिष्ठ-शिलाः' को इसके मध्य में स्थित बताता है। पाणिनि[४] भी इसी नाम का उल्लेख करते हैं जो अन्यथा वैदिकोत्तर साहित्य में 'विपाशा' के रूप में ही आता है। प्राचीन काल से अब तक इस नदी की धारा में पर्याप्त परिवर्त्तन हुआ है।[५]

[३] १. २, ७।
[४] ४. २, ७४।
[५] देखिये इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, ७, १३८ (व्यास)। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ११।

वि-पूजन शौराकि[१], अथवा 'सौराकि'[२], यजुर्वेद संहिताओं में एक गुरु का नाम है।

[१] मैत्रायणी संहिता ३. १, ३।
[२] काठक सहिता २७. ५।

विपृथु, शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१४. ७२, २) में प्रत्यक्षतः अन्य ग्रन्थों के *विपथ* का समानार्थी है। यह सम्भवतः केवल एक त्रुटि मात्र ही है।

विप्र, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में एक 'प्रेरित गायक' का द्योतक प्रतीत होता है। बाद के ग्रन्थों[३] में यह अधिक विशिष्टतः एक विद्वान ब्राह्मण का द्योतक है। महाकाव्य परम्परा में इसका 'ब्राह्मण' से अधिक कुछ और अर्थ नहीं।

[१] १. १२९, २. १२; १६२, ७; ४. २६, १, इत्यादि। सात की चर्चा है : ३. ७, ७; ३१, ५; ४. २, १५ इत्यादि।
[२] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ९, १; वाजसनेयि संहिता ९. ४; शतपथ ब्राह्मण १. ४, २, ७ इत्यादि।
[३] शतपथ ब्राह्मण १. ५, ३, १२ इत्यादि।

विप्र-चित्ति[१] अथवा *विप्र-जित्ति*[२], बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो वंशों में एक गुरु का नाम है।

[१] २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व।
[२] २. ५, २२; ४. ५, २८ माध्यन्दिन।

विप्र-जन सौराकि, काठक संहिता[१] के लिए सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश द्वारा दिया गया *विपूजन* के नाम का रूप है।

[१] २७. ५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७७ यह रूप देते हैं, जो कि आधे 'र' को 'ऊ' की मात्रा के रूप में मिथ्याग्रहण के कारण ही हुआ है।

विवाली, एक बार ऋग्वेद[१] में प्रत्यक्षतः किसी अज्ञात नदी के नाम के रूप में मिलता है।

[१] ४. ३०, १२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२, १८।

विभण्डक काश्यप (*कश्यप* का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में *ऋष्यशृङ्ग* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७४। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, 'विभाण्डक' जो अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध अक्षर-विन्यास है (बौटलिङ्कः डिक्शनरी, व० स्था०)।

वि-भिन्दु, ऋग्वेद (८. २, ९१) में एक तोते का नाम है।

तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ५९।

विभिन्दुक, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक ऐसे मनुष्य अथवा दास[2] के नाम के रूप में आता है जिसके लिये *मेधातिथि* ने गायों को हाँक दिया था। हॉपकिन्स[3] मेधातिथि के पैतृक नाम के रूप में इसे 'वैभिन्दुक' पढ़ना चाहते हैं। तु० की० *विभिन्दुकीय*।

[1] १५. १०, ११।
[2] तु० की० सायण
[3] ट्रा० सा० १५, ६० नोट १।

विभिन्दुकीय पुरोहितों के उस वर्ग का नाम है जिनके 'सत्र' का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] ३. २३३ (ज० अ० ओ० सो०, १८, ३८)।

विभीतक[1] और *विभीदक*[2] (जो कि अपेक्षाकृत प्राचीन रूप है), एक ऐसे बड़े वृक्ष (Terminalia bellerica) का द्योतक है जिसके फल के बीज का पासों के रूप में प्रयोग होता था।[3] इसकी लकड़ी का भी, यज्ञाग्नि को प्रज्वलित रखने के लिये, व्यवहार किया जाता था।[4]

[1] ऋग्वेद के बाद यही रूप प्रचलित है।
[2] ऋग्वेद ७. ८६; ६; १०. ३४, १।
[3] ऋग्वेद उ० स्था०। देखिये २. अक्ष।
[4] तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ८; ७, ३। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १३. ८, १, १६, इत्यादि।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६२; रौथ : गुरुपूजाकौमुदी, १-४; ल्यूडर्स : डा० इ०, १७-१९।

१. *विम-द* को अनुक्रमणी द्वारा ऋग्वेद[1] के अनेक सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। इन सूक्तों में इस द्रष्टा[2] के नामोल्लेख, तथा एक बार इसके परिवार, 'विमदों', का भी उल्लेख इस कथन की पुष्टि करता है। साथ

[1] ऋग्वेद १०. २०-२६।
[2] ऋग्वेद १०. २०, १०; २३, ७।

ही इन सूक्तों[3] में 'वि वो मदे'[4] (तुम्हारे पानोत्सव में) पद भी बहुधा आता है। अवसर बाद[5] में भी विमद का उल्लेख है।

[3] ऋग्वेद १०. २३, ६।
[4] ऋग्वेद १०. २१, १-८; २४, १-३।
[5] अथर्ववेद ४. २९, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ५. २।

२. *विमद* का ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर अश्विनों के उस आश्रित के रूप में उल्लेख है जिसे अश्विनों ने *कमद्यू* नामक पत्नी प्रदान की थी। गत विमद से इसका समीकरण असम्भाव्य है।

[1] १. ५१. ३; ११२, १९; ११६, १; ११७, २०; १०. ३९, ७; ६५, १२। ८. ९, १५ के आधार पर लुडविग (ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०५) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विमद और वत्स एक ही व्यक्ति हैं।

वि-मुक्ता (मोती), एक बाद के ग्रन्थ, षड्विंश ब्राह्मण (५. ६) में मिलता है।

वि-मोक्तृ पुरुषमेध[1] के बलि-प्राणियों की तालिका में 'योक्तृ' (जो रथ में अश्वों को सन्नद्ध करता है) के विपरीत उस व्यक्ति का द्योतक है जो रथ से अश्वों को खोलता है। इससे मिलता-जुलता 'विमोचन' शब्द भी अवसर मिलता है।[2]

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १०, १ (तु० की० 'विमोक्त्री' जिसे लाक्षणिक आशय में प्रयुक्त किया गया है, वही, ३. ७, १४, १)।
[2] ऋग्वेद ३. ५३, ५, २०; ४. ४६, ७, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता, ७. ५, १, ५ इत्यादि।

वि-राज् का, एक राजकीय उपाधि के रूप में ऋग्वेद[1] में अनेक बार, किन्तु केवल लाक्षणिक आशय में ही, उल्लेख है। एक वास्तविक उपाधि के रूप में इसे ऐतरेय ब्राह्मण[2] में उत्तर *कुरुओं* और उत्तर *मद्रों* द्वारा प्रयुक्त बताया गया है।

[1] १. १८८, ५; ९. ९६, १८; १०. १६६, १, इत्यादि; अथर्ववेद १२. ३, ११; १४. २, १५, इत्यादि।

वि-रूप उस *अङ्गिरस* का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में दो बार उल्लेख है और जिसे ही अनुक्रमणी[2] द्वारा कुछ सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है।

[1] १. ४५, ३; ८. ७५, ६।
[2] ८. ४३ और बाद; ६४।

विलिगी, अथर्ववेद (५. १३, ७) में एक प्रकार के सर्प का द्योतक है।

विलिष्ट-भेषज, अथर्ववेद (पैप्पलाद, २०. ५, २) में मोच की एक औषधि का द्योतक है।

वि-लोहित अथर्ववेद[1] में उल्लिखित एक व्याधि का नाम है। ब्लूमफील्ड[2] का विचार है कि इससे 'नाक के रक्त-स्राव' का तात्पर्य है। हेनरी[3] इसका 'रक्त-दोष', और व्हिट्ने[4] 'रक्ताल्पता' अनुवाद करते हैं।

[1] ९. ८, १; १२. ४, ४।
[2] अथर्ववेद के सूक्त, ६५७।
[3] ले० १०५, १४२।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद, ५४९।

वि-वध अथवा *वी-वध*, एक ऐसे 'जूये' का द्योतक प्रतीत होता है जिसे बोझ ढोने के लिये कन्धे पर धारण किया जाता था। किन्तु यह ब्राह्मणों[1] में ही मिलता है और केवल 'वि-विवध'[1] (असमान रूप से वितरित बोझ) और 'स-वीवधता'[2] (बोझ की समानता) जैसे पदों में लाक्षणिक रूप से ही प्रयुक्त हुआ है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ७. २, ५, २; ७, ३; 'वि-वीवध', पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ५, १९; 'उभयतो-वीवध', काठक संहिता २७. १०।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण १४. १, १०; 'स-वीवध-त्व', ५. १, ११; २१. ५, ७ इत्यादि।

वि-वयन, ब्राह्मणों[1] में उन 'पट्टियों' का द्योतक है जो सिंहासन (*असन्दी*) में लगी होती थीं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५, ३; शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ६। सूत्रों में 'विवान' का यही आशय है : लाट्यायन श्रौत-सूत्र, ३. १२, १, इत्यादि।

वि-वाह (शादी) का अथर्ववेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है। देखिये *पति*।

[1] १२. १, २४; १४. २, ६५। इसके लिये ऋग्वेदिक शब्द *वहतु* है।
[2] तैत्तिरीय संहिता ७. २, ८, ७; काठक संहिता २५. ३; पञ्चविंश ब्राह्मण ७. १०, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ४. २७, ५ और अक्सर सूत्रों में।

विश्, कुछ सन्दिग्ध आशय का शब्द है। ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर 'बस्ती' अथवा 'आवास' का आशय पर्याप्त और सम्भव है, क्योंकि 'विश्'

[1] ४. ४, १३; ३७, १; ५. ३, ५; ६. २१, ४; ४८, ८; ७. ५६, २२; ६१, ३; ७०, ३; १०४, १८; १०. ९१, २, इत्यादि।

धातु का अर्थ 'प्रवेश करना' अथवा 'वसना' है। अन्य स्थलों पर, जहाँ राजा के सन्दर्भ में विशः आता है, इस शब्द से 'प्रजा' का आशय होना चाहिये;[२] उदाहरण के लिये जहाँ *तृणस्कन्द*[३] अथवा *तृत्सुओं*[४] का उल्लेख है वहाँ यही आशय है। पुनः कुछ स्थलों पर[५] सामान्य रूप से एक जाति के लोगों का आशय पर्याप्त है; उदाहरण के लिये जहाँ ऋग्वेद 'आर्य लोगों'[६] अथवा 'दिव्य लोगों'[७] अथवा 'दास लोगों', इत्यादि[८] की चर्चा करता है वहाँ यही आशय है।

फिर भी, कभी-कभी[९] विश् शब्द *जन* अथवा समस्त जनता के एक उपविभाजन के विशेष आशय में आता है। किन्तु ऐसा प्रयोग बहुत सामान्य

[२] ऋग्वेद ४. ५०, ८; ६. ८, ४; १०. १२४, ८; १७३, ६; अथर्ववेद ३, ४, १; ४. ८, ४; २२, १. ३; तैत्तिरीय संहिता ३. २, ८, ६; वाजसनेयि संहिता ८. ४६; शतपथ ब्राह्मण १. ८, २, १७; ४. २, १, ३; ५. ३, ३, १२; ४, २, ३; १०. ६, २, १; १३. ६, २, ८; कौषीतकि उपनिषद् ४. १२, इत्यादि। नोट ११ के अन्तर्गत उद्धृत अनेक स्थलों को भी यहाँ रक्खा जा सकता है जब कि अथर्ववेद ३. ४, १, इत्यादि, में जनता के उपविभाजन के रूप में 'विश' के अन्तर्गत आनेवाले लोगों द्वारा राजा के निर्वाचन का सन्दर्भ देखा गया है; किन्तु देखिये **राजन्**, और तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, १७९; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, ३०३; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ११३।

[३] ऋग्वेद १. १७२, ३।

[४] ऋग्वेद ४. ३३, ६; गेल्डनर : उ० पु०, १३६।

[५] उदाहरण के लिये ऋग्वेद ६. २, ८; २६, १; ८. ७१, ११; 'मनुषो विशः', ६. १४, २; ८. २३, १३; 'मानुषीः' १०. ८०, ६, इत्यादि।

[६] ऋग्वेद १०. ११, ४।

[७] ऋग्वेद ३. ३४, २; अथर्ववेद ६. ९८, २; वाजसनेयि संहिता १७. ८६।

[८] ऋग्वेद ४. २८, ४; ६. २५, २; 'अदेवीः' ८. ९६, १५; 'असिक्नीः', ७. ५, ३, इत्यादि।

[९] ऋग्वेद २. २६, ३, जहाँ इसका जन, जन्मन्, और पुत्राः के साथ विभेद किया गया है; १०. ८४, ४, जहाँ युद्ध में 'विशं-विशम्' प्रत्यक्षतः आक्रामकों के सैनिक दस्तों का द्योतक है (तु० की० ४. २४, ४, 'विशो युष्माः', भी); १०. ९१, २, जहाँ यह 'गृह' और 'जन' से भिन्न है; अथर्ववेद १४. २, २७, जहाँ 'गृहेभ्यः' के बाद 'अस्यै सर्वस्यै विशे' आता है, जिसका अर्थ एक ऐसा दस्ता है जो समस्त जनता से कम होता है। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १५९, यहाँ ऋग्वेद १. १७२, ३; ७. ३३, ६; ९. ७, ५; १०. १२४, ८; १७३, १; को संकलित करते हैं; किन्तु यह स्थल तथा अनेक अन्य, कबीले के उपविभाजन की अपेक्षा 'प्रजाजनों' के उदाहरण हैं।

नहीं है, क्योंकि अधिकांश स्थलों पर उपरोल्लिखित प्रथम अथवा द्वितीय आशय ही सर्वथा सम्भव है। इसके अतिरिक्त यह निश्चित करना भी अत्यन्त कठिन है कि 'जन' के एक उपविभाजन के रूप में 'विश्' को स्थानीय उपविभाजन मानना चाहिये, अथवा रक्त-सम्बन्ध का द्योतक जो कि इस शब्द के विस्तृत आशय में 'कबीले' के समकक्ष होगा; जब कि *ग्राम* अथवा *गोत्र* के साथ भी 'विश्' का सम्बन्ध सर्वथा अनिश्चित है। अथर्ववेद[10] के एक स्थल पर 'विशः' का 'सबन्धवः' अथवा सम्बन्धियों के साथ-साथ उल्लेख है, किन्तु इस तथ्य से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। और न तो रोमन 'क्यूरिया' (curia) अथवा ग्रीक 'फ्रेट्रे' (φρητρη) के साथ तुलना ही इसपर कोई विशेष प्रकाश डालता है, क्योंकि स्वयं इन संस्थाओं की प्रकृति अत्यन्त अस्पष्ट है और इनके साथ किसी प्रकार की समानता का संगत होना आवश्यक नहीं। जो कुछ भी हो, कुछ दशाओं में 'विश्', गोत्र अथवा कबीले से अधिक कुछ नहीं, अथवा कभी-कभी विभिन्न गोत्रों के सम्मिलन से भी विश् का निर्माण हुआ हो सकता है, जब कि ग्राम अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप से, सम्भवतः, एक स्थानीय संज्ञा रहा होगा। किन्तु वैदिक प्रमाण सर्वथा अनिर्णायक हैं।[11] तु० की० *विश्पति*।

बाद के काल में कुछ दशाओं[12] में 'विश्' का आशय निश्चित रूप से वैदिक

[10] १५. ८, २. ३। तु० की० १४. २, २७ और नोट ९ में ऋग्वेद १०. ९१, २।

[11] विश् मूलतः किसी एक स्थान पर बसे कबीले का द्योतक रहा हो सकता है: कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जहाँ 'गोत्र' से सम्भवतः सार्थक आशय व्यक्त नहीं होता। ऋग्वेद २.२६, ३ पर 'जन्मन्, और 'विश्' के विभेद के लिये बहुत अधिक जोर नहीं दिया जा सकता। ऋग्वेद ५. ५३, ११ में 'मरुतों' के लिये प्रयुक्त 'शर्धं शर्धम्', 'व्रातं व्रातम्', 'गणं गणम्' पदों की तुलना कीजिये जहाँ इन शब्दों को कोई भी ठीक ठीक आशय प्रदान नहीं किया जा सकता, यद्यपि त्सिमर ने इनमें 'जन', 'विश्', और 'ग्राम' के समान ही आक्रामकों के त्रिस्तरीय विभाजन का आशय देखा है। अतः 'गौ' के रूप में अनुवाद का विशेष आधार नहीं है।

[12] सम्भवतः ब्राह्मणों और बाद की संहिताओं के अनेक स्थल इसी आशय के अन्तर्गत आते हैं जहाँ 'विश्', और 'क्षत्र' अथवा कबीले के लोगों और उनके प्रधान, अथवा विशिष्ट जनों और सामान्य ग्रामीणों के बीच, कलह का आशय है—उदाहरण के लिये तैत्तिरीय संहिता २. २, ११, २; मैत्रायणी संहिता २. १, ९; ३. ३, १०; काठक संहिता १९. ९ और अक्सर। पञ्चविंश ब्राह्मण १८. १०, ९; शतपथ

ब्राह्मण २. १, ३, ५; ८. ७, २, ३; १३. २, २, १७. १९; ९, ६; १४. १, ३, २७, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ८. १४ ।

तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन, १५ और बाद; श्रेडरः प्रिहिस्टॉरिक एन्टीक्विटीज़, ८०० और बाद; मैकडौनेलः संस्कृत लिटरेचर, १५८; फॉन श्रोडरः इन्डियन्स लिटरेचर उण्ट कल्चर, ३२, ३३; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० । रोमन 'क्यूरिया', जो कि प्रत्यक्षतः जेन्टिस (Gentes) का संकलन है, के लिये देखिये मॉमसेनः हिस्ट्री ऑफ रोम, १, ७२ और बाद; रो० फौ० १, १४०-१५०; रो० स्टा० ३, ९; टेलरः हिस्ट्री ऑफ रोम ११, १२; स्मिथः डिक्शनरी ऑफ ऐन्टीक्विटीज़ १, ५७६; कक: ल० रो० ३०-३६ । ग्रीक 'फ्रेट्रिया' के लिये, जो सम्भवतः 'जेने' ($\gamma \varepsilon \nu \eta$) से निर्मित इसी समान संस्था था, देखिये डिक्शनरी ऑफ ऐन्टीक्विटीज़, २. ८७६ और बाद; ग्रीनिज : ग्रीक कॉन्स्टीटयूशनल हिस्ट्री १२८ और बाद; बरी : हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, ६९, ७०; गिलबर्ट : ग्रीक कॉन्स्टीटयूशनल ऐन्टीक्विटीज़, १, १०४ और बाद, २१० । 'इंग्लिश' 'हन्ड्रेड्स' और उनके साथ टेसिटस के 'पेजी' (Pagi) की तुलना के लिये देखिये मेड्ले : इङ्गलिश कॉन्स्टीटयूशनल हिस्ट्री, २, ३१८ और बाद ।

राजतंत्र के वर्गों में से विशिष्ट जनों (*क्षत्र, क्षत्रिय*) और पुरोहितों (*ब्रह्मन्, ब्राह्मण*) के विपरीत तृतीय वर्ग तक सीमित है । इस वर्ग की स्थिति के लिये देखिये *वैश्य* ।

वि-शर, अथर्ववेद[1] में एक व्याधि के रूप में आता है । त्सिमर[2] का विचार है कि इससे ज्वर के साथ-साथ होनेवाली हाथ पैर की पीड़ा का तात्पर्य यह है (देखिये *तक्मन्*) । रौथ[3] इस शब्द में किसी दानव का आशय देखते हैं । एक अन्य स्थल[4] पर *बलास* के साथ-साथ 'विशरीक' के प्रयोग द्वारा त्सिमर के दृष्टिकोण की पुष्टि होती है ।

[1] २. ४, २ ।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन, ३९१ ।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० ।
[4] १९. ३४, १० ।

तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, २८४ ।

वि-शाखे—देखिये *नक्षत्र* ।

विश्-पति कुछ अनिश्चित आशय का शब्द है और इस दृष्टि से यह बहुत कुछ *विश्* के ही समान है । त्सिमर[1] का विचार है कि अपने निश्चित आशय में यह गोत्र अथवा कबीले के प्रधान का द्योतक है; किन्तु आप यह

[1] आल्टिन्डिशे लेवेन, १७१ ।

भी स्वीकार करते हैं कि किसी भी स्थल पर इस आशय की आवश्यकता नहीं, और जो एकमात्र स्थल आपने[२] उद्धृत भी किया है वह निश्चित रूप से अनिर्णायक है। अधिकांश स्थलों[३] पर इस शब्द से केवल 'आवास के अधिपति' का ही आशय है, चाहे इसका प्रयोग मनुष्य के लिये, अथवा श्रेष्ठतम गृहपति के रूप में अग्नि के लिये, अथवा सम्भवतः सामान्य जनता की *सभा* की अग्नि के लिये ही किया गया हो। यही आशय ऋग्वेद[४] के उस स्थल के भी अनुकूल है जिसमें 'विश्पति', तथा साथ ही साथ, एक कन्या[५] के पिता और माता को इसलिये निद्रित कर देने का आशय है जिससे उसका प्रेमी उसके पास जा सके, क्योंकि यहाँ गृहस्थी को एक ऐसा सम्मिलित परिवार माना गया हो सकता है जिसमें कन्या के पिता के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति, जैसे पितामह अथवा चाचा भी विश्पति रहा हो सकता है। अन्य स्थलों[६] पर 'प्रजाजनों (विशाम्) के अधिपति' के रूप में राजा ही 'विश्पति' है, यद्यपि यहाँ त्सिमर[७] के विचार से राजा[८] के निर्वाचन का सन्दर्भ है। अथवा पुनः,[९] सम्भवतः 'प्रजा' के आशय में विश् के प्रधान को विश्पति कहा गया है।

[२] ऋग्वेद १. ३७, ८।

[३] ऋग्वेद १. १२, २; २६, ७; १६४, १; २. १, ८; ३. २, १०; ४०, ३; ७. ३९, २; ९. १०८, १०; १०. ४, ४; १३५, १, इत्यादि। इसी प्रकार गृह-स्वामिनी के रूप में 'विश्पत्नी' तैत्तिरीय संहिता ३. १, ११, ४।

[४] ७. ५५, ५ = अथर्ववेद ४. ५, ६।

[५] इसी प्रकार ऑफरेख्त : इण्डिशे स्टूडियन, ४, ३३७ और बाद; त्सिमर : उ० पु०, ३०८। तु० की० लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३७०। गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, ५५ और बाद, बृहद्देवता ६. ११ और बाद (जहाँ देखिये मेकडौनेल की टिप्पणी) के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि इस सूक्त में एक चोर के रूप में वसिष्ठ द्वारा किसी गृह के निकट जाने का सन्दर्भ है। यह व्याख्या विश्पति के आशय को प्रभावित नहीं करती जो यहाँ स्पष्ट रूप से किसी कबीले के प्रधान की उपाधि नहीं है। कभी-कभी 'विश्' सजात के समान हैं; तु० की० तैत्तिरीय संहिता ३. १, ३, २. ३।

[६] अथर्ववेद ३. ४, १; ४. २२, ३। सम्भवतः ऋग्वेद ३. १३, ५ को भी इसी आशय में ग्रहण करना चाहिये; तु० की० ७. ३९, २। तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन, १८, २२।

[७] उ० पु०, १६४, १६५।

[८] किन्तु देखिये **राजन्**।

[९] उदाहरण के लिये तैत्तिरीय संहिता ३. ३, १, ३ जहाँ विश् स्पष्टतः प्रजा-वर्ग का द्योतक है, और विश्पति उनके प्रमुख प्रतिनिधि का। इस प्रकार के स्थल द्वारा हम विश् के प्रधान तक के रूप में भी विश्पति के वैधानिक पद के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

विश्पला, ऋग्वेद[1] की परम्परा के अनुसार एक ऐसी स्त्री का नाम है जिसे, किसी स्पर्धा में नष्ट हो गये एक पैर के स्थान पर अश्विनों ने एक लोहे का (आयसी) पैर प्रदान किया था। पिशल[2] का विचार है कि यहाँ एक ऐसे दौड़ने वाले अश्व का तात्पर्य है जिसके टूटे हुये एक पैर का अश्विनों ने अद्भुत रूप से उपचार किया था, किन्तु यह एक असम्भाव्य अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

[1] १. ११२, १०; ११६, १५; ११७, ११ : ११८, ८ : १०. ३९, ८।

[2] वेदिशे स्टूडियन, १, १७१–१७३। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, ५२; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २४५; ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ वेद, ११३; ओल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ११०, १११।

विश्वक, जिसे ऋग्वेद[1] में 'कृष्णिय' (सम्भवतः कृष्ण का पुत्र) कहा गया है, अश्विनों का एक आश्रित है। अश्विनों ने इसके *विष्णापु* नामक खोये हुये पुत्र को इसे पुनः प्रदान किया था। देखिये २. *कृष्ण*।

[1] १. ११६, २३; ११७, ७; ८. ८६, १; १०. ६५, १२। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, ५२।

विश्व-कर्मन् भौवन ('भुवन' का वंशज) एक सर्वथा पौराणिक राजा का नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] में यह कथन है कि *कश्यप* ने इसका अभिषेक किया था और इसने कश्यप को दक्षिणा के रूप में पृथ्वी (अर्थात् सम्भवतः भूमि के एक टुकड़े) का दान किया था। शतपथ ब्राह्मण[2] में इसने सर्वमेध यज्ञ किया था और इसी प्रकार की दक्षिणा दी थी। किन्तु इन दोनों ही अवसरों पर पृथ्वी ने अपने इस प्रकार दिये जाने को अस्वीकृत कर दिया था। इस कथा में सम्भवतः भूमि-दान सम्बन्धी आरम्भिक घृणा के भाव का सन्दर्भ प्रतीत होता है,[3] किन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसका ऐसा ही अर्थ है।

[1] ८. २१, ८।

[2] १३. ७, १, १५।

[3] रिज़ डेविड्स् : बुद्धिस्ट इन्डिया, ४७। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ४२१, नोट १; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४५६, ४५७।

विश्वन्-तर सौ-षड्मन ('सुषड्मन्' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] में एक ऐसे राजा का नाम है जिसने अपने पुरोहित *श्यापर्णों* को सेवा-मुक्त

[1] ७. २७, ३. ४; ३४, ७. ८। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४३१–४४०; एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४३, ३४४, नोट।

करके विना उनकी सहायता के ही, सम्भवतः दूसरे पुरोहित द्वारा, यज्ञ कराया था। फिर भी *राम मार्गवेय* नामक एक श्यापर्ण ने राजा को पुनः श्यापर्णों की नियुक्ति और उन्हें एक सहस्र गायें प्रदान करने के लिये सहमत करने में सफलता प्राप्त कर ली थी।

विश्व-मनस्, उस ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में इन्द्र के मित्र के रूप में उल्लेख है। अनुक्रमणी के अनुसार यह *व्यश्व* का वंशज और कुछ सूक्तों का प्रणेता था।[3]

[1] ८. २३, २; २४, ७।
[2] १५. ५, २०।
[3] ऋग्वेद ८. २३-२६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०६।

विश्व-मानुष, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है; किन्तु अधिक सम्भवतः इससे केवल 'अखिल मानव जाति' का अर्थ है।

[1] ८. ४५, २२। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १८७।

विश्व-वार, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर प्रत्यक्षतः किसी होता के नाम के रूप में आता है।

[1] ५.४४, ११। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३८।

विश्व-सृज, कुछ ऐसे पौराणिक व्यक्तियों का नाम है जिन्हें पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१८, १ और बाद) में एक यज्ञ-सत्र के आयोजन श्रेय का दिया गया है।

विश्वा-सामन्, ऋग्वेद[1] में एक *आत्रेय* का नाम है।

[1] ५. २२, १। तु० की० औल्डेनबर्ग। त्सी० गे०, ४२, २१५।

विश्वा-मित्र, उस ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में उल्लेख है, और जिसे परम्परा द्वारा ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। एक सूक्त[2] में, जो इसी की कृति प्रतीत होता है, यह *विपाश्* और *शुतुद्री* की स्तुति करता है। यहाँ[3] यह अपने को *कुशिक* का पुत्र कहता है, और

[1] 'कुशिक' के पुत्र के रूप में, ऋग्वेद ३. ३३, ५, में; विश्वामित्र के रूप में ३. ५३, ७. १२ में।
[2] ३. ३३। लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२१, इस सूक्त को इतना अधिक काव्यात्मक मानते हैं कि इस प्रसिद्ध प्रणेता की वास्तविक कृति होना सम्भव नहीं।
[3] ऋग्वेद ३. ३३, ५।

निश्चित रूप से उन *भरतों* का सहायक प्रतीत होता है जिनका यह यहाँ उल्लेख करता है। आक्रमण में लिप्त जातियाँ प्रत्यक्षतः इन नदियों के तट पर पूर्व की दिशा से आई थीं।[४] इन्हें पार करने की इच्छा रखते हुये भी इन्होंने इन नदियों को अत्यन्त बाढ़ की अवस्था में पाया, किन्तु विश्वामित्र ने अपनी स्तुति से इनके जलों को शान्त कर दिया था। ऋग्वेद[५] के इसी मण्डल के एक अन्य स्थल पर भी इनके इसी महान कार्य का उल्लेख है। यह आश्चर्य-जनक है कि सायण[६] ने स्थिति का मिथ्या-ग्रहण किया है: इनके अनुसार, अपने पद द्वारा सम्पत्ति अर्जित कर लेने पर विश्वामित्र दूसरों द्वारा पीछा किये जाने के कारण अपने धन सहित इन नदियों के तट पर भाग आये थे। इस कथा का यास्क[७] द्वारा प्रस्तुत स्वरूप केवल इतना ही व्यक्त करता प्रतीत होता है कि अपने पुरोहित के रूप में कार्य कराने के लिये राजा ने विश्वामित्र को धन दिया था। *सुदास्* की सेवा के सन्दर्भ में विश्वामित्र और वसिष्ठ के सम्बन्धों के लिये देखिये *वसिष्ठ*।

ऋग्वेद[८] के अनेक अन्य स्थलों पर भी विश्वामित्रों का उल्लेख है और इन्हें एक परिवार के रूप में *कुशिकाः*[९] शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है।

बाद के साहित्य में वसिष्ठ की ही भाँति विश्वामित्र भी एक पौराणिक ऋषि बन जाते हैं जिनका सामान्यतया[१०] *जमदग्नि* के सन्दर्भ में उल्लेख है; यह उस *शुनःशेप* के यज्ञ के समय होतृ पुरोहित थे जिसे दत्तक लेकर

[४] इसी प्रकार गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, ३, १५२। त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १२७, १२८ एक भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण करते हैं: रौथ: त्सु० वे०, ९०, के साथ आप यह मानते हैं कि भरतगण तृत्सुओं से भिन्न थे, और विश्वामित्र के अधीनस्थ पश्चिम से आये, किन्तु पराजित हुये थे (देखिये ७. ३३, ६)। किन्तु देखिये वेबर: ए० रि०, ३४, नोट १; पिशल: वेदिशे स्टूडियन, २, १३६। ब्लूमफील्ड: ज० अ० ओ० सो०, १६, ४१, ४२ भी रौथ के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

[५] ३. ५३, ९-११। यह सूक्त सम्भवतः बाद का है।

[६] ऋग्वेद ३. ३३ पर सायण।

[७] निरुक्त २. २४।

[८] ३. १, २१; १८, ४; ५३, १३; १०. ८९, १७; अथर्ववेद १८. ३, ६; ४, ५४; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १५, १।

[९] ऋग्वेद ३. २६, १. ३; २९, १५; ३०, २०; ४२, ९; ५३, ९. १०।

[१०] तु० की० ऋग्वेद ३, ५३, १५. १६; सर्वानुक्रमणी (पृ० १०७) के मैक-डौनेल के संस्करण में, षड्गुरुशिष्य; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, ११७; मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], ३४३; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, ३, १५८ और बाद।

इन्होंने देवरात[11] नाम प्रदान किया था। यह इन्द्र के एक आश्रित थे और ऋग्वेद के आरण्यकों[12] के अनुसार इनका इन्द्र से साक्षात्कार भी हुआ था। इनका एक ऋषि[13] के रूप में भी उल्लेख है।

महाकाव्य[14] में विश्वामित्र को एक ऐसे राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो ब्राह्मण हो गया था। इसके राजा होने का ऋग्वेद में कोई भी चिह्न नहीं है, किन्तु निरुक्त[15] में कुशिक नामक एक राजा को इसका पिता कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[16] में शुनःशेप को *जह्नुओं* का आधिपत्य, और साथ ही साथ, *गाथिनों* के 'दैव वेद' को प्राप्त करनेवाला कहा गया है; और पञ्चविंश ब्राह्मण[17] में विश्वामित्र का एक राजा के रूप में उल्लेख है। किन्तु विश्वामित्र के इस प्रकार राजा होने का कोई वास्तविक चिह्न नहीं मिलता: इसे केवल एक ऐसी कथा मात्र मानना चाहिये जिसका आधार अधिक से अधिक इतना ही है कि विश्वामित्र एक ऐसे परिवार से सम्बद्ध थे जो कभी राजवंश था। किन्तु इतना तक भी सन्दिग्ध है।

[11] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १६ और बाद; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. १७ और बाद।

[12] ऐतरेय आरण्यक २. २, ३; शाङ्खायन आरण्यक १. ५।

[13] ऐतरेय आरण्यक २. २, १; ऐतरेय ब्राह्मण ६. १८, १; २०, ३; तैत्तिरीय संहिता २. २, १, २; ३. १, ७, ३; ५. २, ३, ४, इत्यादि; काठक संहिता १६. १९; २०. ९; मैत्रायणी संहिता २. ७, १९; कौषीतकि ब्राह्मण १५. १; २६. १४; २८. १. २; २९ ३: पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, १२; बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, ४; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ३, १३; १५, १, इत्यादि। जमदग्नि अक्सर इससे सम्बद्ध है, अथर्ववेद ४. २९, ५, इत्यादि।

[14] मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १², ३८८ और बाद।

[15] २. २४।

[16] ७. १८, ९। किन्तु शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. २७ में एक सर्वथा भिन्न वर्णन है, जिसको ही वेबर : ए० रि० १६, नोट ३, ग्रहण करते हैं और जिसमें 'जह्नुओं' के आधिपतित्व का कोई भी सन्दर्भ नहीं है। इससे ऐसा व्यक्त होता है कि इस वाद की परम्परा पर बहुत कम जोर दिया जाना चाहिये।

[17] २१. १२, २।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १२१; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २०९, २१०; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १², ३३७ और बाद; वेबर : उ० पु० १६ और बाद; इन्डियन लिटरेचर, ३१, ३७, ३८, ५३, इत्यादि।

विष, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में नियमित रूप से विषघ्न औषधि के रूप में उस 'विष' का द्योतक है जिसके लिये अथर्ववेद[3] में अभिचारों का उल्लेख है।

[1] १. ११७, १६; १९१, ११; ६. ६१, ३; १०. ८७, १८, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. ६, २; ५. १९, १०; ६. ९०, २।
[3] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, ६१।

विष-विद्या का आश्वलायन गृह्य सूत्र (१०.७५) में अन्य विद्याओं के साथ उल्लेख है। तु० की० *विद्या*।

विषाणा, अथर्ववेद[1] और बाद में पशुओं की सींग का द्योतक है।

[1] ३. ७, १. २; ६, १२१, १; ऐतरेय ब्राह्मण २. ११, १०; शतपथ ब्राह्मण ७. ३, २, १७। प्रमुखतः एक सामयिक पात होनेवाली सीग का ही अर्थ है। देखिये व्हिट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद, ९४।

विषाणका, अथर्ववेद[1] में एक पौधे का नाम है। फिर भी, ब्लूमफील्ड[2] का विचार है कि इस शब्द का केवल 'सींग' अर्थ ही हो सकता है। इसका 'वातीकार'[3] नामक एक व्याधि की औषधि के रूप में प्रयोग किया गया है। इस व्याधि की प्रकृति सन्दिग्ध है : त्सिमर[4] ऋग्वेद[5] में 'अ-वात' विशेषण के साथ तुलना करते हुये ऐसा विचार व्यक्त करते हैं कि यह व्याधि 'घावों' के कारण होती थी; किन्तु ब्लूमफील्ड[6] यह दिखाते हैं कि शरीर में 'वायु' की प्रधानता को ही इस व्याधि का कारण माना गया है।

[1] ६. ४४, ३। तु० की० 'विषाणिका', वाइज़ : हिन्दू सिस्टम ऑफ़ मेडिसिन १४६, में जो सम्भवतः Asclepias geminata है; ब्लूमफील्ड : अ० फा०, १२, ४२६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६८। किन्तु तु० की० व्हिट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद, ३१३।
[2] अथर्ववेद का अनुवाद ४८२।
[3] अथर्ववेद ९. ८, २०; 'वाती-कृत', ६. ४४, ३; १०९, ३।
[4] उ० पु० ३८९, ३९०।
[5] ६, १६, २०; ९. ९६, ८।
[6] उ० पु० ४८१ और बाद, ५१६।

विषाणिन् एक बार ऋग्वेद[1] में *तृत्सुओं* के शत्रुओं की सूची में उल्लिखित एक जाति के नाम के रूप में आता है, तृत्सु के मित्र के रूप में नहीं, जैसा

[1] ७. १८, ७।

रौथ[२] का विचार था। इस शब्द का अर्थ 'सींग-युक्त' है, किन्तु इस आशय में यह अज्ञात है; सम्भवतः इस जाति का शिरस्त्राण सींग के आकार का, अथवा सींगों से अलंकृत रहा होगा। *अलिनों*, *भलानसों*, *शिवों*, और *पक्थों* आदि इनके मित्रों की ही भाँति, इन्हें भी उत्तर-पश्चिम क्षेत्र का निवासी माना जा सकता है।

[२] त्सु० वे० ९५; त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन, १२६। किन्तु त्सिमर (उ० पु० ४३०, ४३१) ने अपना मत परिवर्तित कर लिया था, अतः इस परिवर्तन की उपेक्षा करते हुये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६०, २६१ द्वारा इनकी आलोचना अनुपयुक्त है। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७३।

१. *विषूवन्त्*, अथर्ववेद[१] और बाद[२] में एक वर्ष की अवधि के यज्ञ-सत्र के मध्य-दिन का द्योतक है। तिलक[३] यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि 'विषूवन्त्' का शाब्दिक अर्थ वह दिन है जब रात्रि और दिन की अवधि बराबर होती है—अर्थात सम्पातिक दिन। आपके अनुसार इस शब्द का वास्तविक आशय भी यही है। किन्तु यह सिद्धान्त सम्भावना से रहित है।[४]

[१] ११. ७, १५।

[२] पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ५, २; ७, १; ५. ९, १०; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४१, ४; ४. १८, १; २२, १. २; ६. १८, ८; कौषीतकि ब्राह्मण २५. १; २६. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ३, २; शतपथ ब्राह्मण १०. १, २, २; ३, १४. २३; ४, २; ७, १, ८ इत्यादि।

[३] ओरायन २१, २२।

[४] तु० की० ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० १६, lxxxiii, और बाद।

२. *विषूवन्त्*, अथर्ववेद[१] में गृह के वर्णन में आता है। इससे 'छत की मुंडेरी'[२] का अर्थ प्रतीत होता है।

[१] ९. ३, ८।

[२] तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन १५१ (जिनका विचार है कि यह बालों के पृथक होने के स्थान से विकसित लाक्षणिक प्रयोग है); ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५९८; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५२६।

विषूचिका, वाजसनेयि संहिता[१] में उल्लिखित एक ऐसी व्याधि है जो अत्यधिक *सोम*-पान के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती थी। यह स्पष्टतः

[१] १९. १० = मैत्रायणी संहिता ३. ११, ७ = काठक संहिता ३७. १८ = तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, १, ५ = शतपथ ब्राह्मण १२. ७, ३, २।

'अतिसार', अथवा जैसा कि वाइज़[२] ने इसका नामकरण किया है, 'हैज़े' का द्योतक है। प्रत्यक्षतः इस शब्द से 'दोनों दिशाओं में विसर्जन क्रिया उत्पन्न करनेवाला' आशय है।

[२] हिन्दू सिस्टम ऑफ़ मेडिसिन, ३३०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २७५, ३९२।

वि-ष्कन्ध, अनेक बार किसी व्याधि के नाम के रूप में अथर्ववेद[१] में आता है। इसके विरुद्ध उपचार के लिये एक सीसे के कवच,[२] अथवा पुआल,[३] अथवा एक आँजन,[४] अथवा *जङ्गिड* पौधे के व्यवहार[५] का विधान है। बेवर[६] का विचार है कि इससे उद्दिष्ट व्याधि 'गठिया' अथवा 'वात रोग' है, क्योंकि यह कन्धों को अलग-अलग खींच देता है (वि-स्कन्ध), किन्तु ब्लूमफ़ील्ड[७] के विचार से यह भी, ऋग्वेदिक 'व्यंश'[८] और 'विग्रीव'[९] की ही भाँति, किसी दानव का नाम है, क्योंकि इन दोनों का रूप इसी के समान है और यह दानवों के नाम भी हैं। सम्भवतः एक सूक्त[१०] में उल्लिखित 'कर्शफ' और 'विशफ' ऐसे पौधों के द्योतक हैं जिनका इस व्याधि के उपचार के लिये प्रयोग होता था।

[१] १. १६, ३; २. ४, १ और बाद; ३. ९, २. ६; ४. ९, ५; १९. ३४, ५। तैत्तिरीय संहिता ७. ३, ११, १ में भी यह मिलता है।

[२] अथर्ववेद १. १६, ३। तु० की० २. ४; ३. ९, ६।

[३] अथर्ववेद २. ४, ५।

[४] अथर्ववेद ४. ९, ५।

[५] अथर्ववेद २. ४, १. ५; १९. ३४, ५;

[६] इन्डिशे स्टूडियन ४, ४१०; १३, १४१; १७, २१५। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन. ३९०, ३९१; ग्रिल : हुन्डर्ट लीडर[२], ७१।

[७] अथर्ववेद के सूक्त, २८२, २८३।

[८] ऋग्वेद १. ३२, ५ इत्यादि।

[९] ऋग्वेद ८. ४, २४।

[१०] अथर्ववेद ३. ९, १। तु० की० ब्लूमफ़ील्ड : उ० पु० ३४०। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, का विचार है कि दानवों से ही तात्पर्य है : यही विचार अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

वि-ष्टारिन्, अथर्ववेद[१] में एक विशेष प्रकार के *ओदन* का द्योतक है।

[१] ४. ३४, १ और बाद। ह्विट्नी : अथर्ववेद के अनुवाद २०६, के अनुसार इस नाम (फैला हुआ) का कारण यह था कि पके चावल के पात्रों को नाँद में उलटकर 'रस' गिरा लिया जाता था। देखिये कौशिक सूत्र ६६. ६।

विष्ठा-व्राजिन्, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक संदिग्ध आशयवाला शब्द है। सायण के अनुसार इसका 'एक ही और उसी स्थान पर रहनेवाला' अर्थ है; यदि यह ठीक है तो सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश और बोटलिङ्क की डिक्शनरी द्वारा किया गया अनुवाद 'जिसका यूथ एक स्थान पर ही स्थित हो' उपयुक्त प्रतीत होगा। किन्तु, जैसा कि एग्लिङ्ग[2] संकेत करते हैं, काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य स्थल[3] पर इस शब्द को किसी व्याधि के अर्थ में ग्रहण किया गया है : इस प्रकार 'विष्ठाव्राजिन्' से 'अतिसार-ग्रसित' अर्थ हो सकता है।

[1] ५. १, १२।
[2] से० बु० ई० ४१, १२३, नोट १।
[3] वही, ५०, नोट १।

विष्णापु ऋग्वेद[1] में *विश्वक* का पुत्र है। इसके खो जाने पर अश्विनों ने इसे इसके पिता के पास पहुँचा दिया था।

[1] १. ११६, २३; ११७, ७; ८. ८६, ३; १०. ६५, १२।

विष्फुलिङ्ग, उपनिषदों[1] में आग की 'चिंगनारी' का द्योतक है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, २३; ६. १, १२; कौषीतकि उपनिषद् ३. ३; ४. २०, इत्यादि। तु० की० 'विष्फुलिङ्गक' (अग्नि की चिनगारियाँ बिखेरनेवाला), ऋग्वेद १. १९१, १२ में (सायण के अनुसार 'अग्नि की जिह्वा' अथवा 'गौरैया')।

विष्वक्-सेन, षड्विंश ब्राह्मण के अन्त के एक वंश में *नारद* के शिष्य; एक गुरु का नाम है।

विसल्य[1] और *विसल्यक*,[2] अथर्ववेद में एक व्याधि के नाम हैं। यतः शङ्कर पण्डित के गायक[3] इस शब्द का सभी स्थलों पर 'विसल्पक' के रूप में उच्चारण करते हैं, अतः इसे ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिये।[4] इससे किसी प्रकार की वेदना या पीड़ा, सम्भवतः ज्वर की दशा में होनेवाले सर के दर्द से तात्पर्य हो सकता है।

[1] ९. ८, २०।
[2] ६. १२७, १ और बाद; ९. ८, २. ५; १९. ४४, २।
[3] देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ६०१; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३७६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३७८, ३८४।
[4] ६. १२७ पर भाष्य करते हुये सायण ने 'विसल्पकः', और १९. ४५, २, पर भाष्य करते हुये 'विसर्पकः' पाठ माना है।

वि-स्रस्, वृद्धावस्था की 'जराक्रान्तता', अथवा 'अपाहिजत्व' का द्योतक है।[1]

[1] अथर्ववेद १९. ३४, ३, जहाँ वौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था० 'विस्रसस्' के स्थान पर 'विस्रुहस्' पाठ का संशोधन प्रस्तुत करते हैं (तु० की० ऋग्वेद ६. ७, ६); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ८, २०, ५; ऐतरेय आरण्यक २. ३, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २०, ७; काठक उपनिषद्, ६. ४।

विहल्ह, अथर्ववेद[1] में प्रत्यक्षतः एक पौधे के नाम के रूप में मिलता है। विभेदात्मक रूप 'विहंल' और 'विहह्ल' भी मिलते हैं।

[1] ६. १६, २। तु० की० त्सिमर आल्टिन्डिशे लेबेन, ७२।

वीणा वाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में एक प्रकार के वाद्य यंत्र का द्योतक है। यजुर्वेद[3] में एक 'वीणा-वाद' (वीणा-वादक) को पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है और इसका अन्यत्र[4] भी उल्लेख है। ऐतरेय आरण्यक[5] में, जिसमें यह कहा गया है कि यह यन्त्र एक समय केशयुक्त चर्म से ढँका था, इसके विभिन्न भागों की इस प्रकार गणना करायी गयी है : शिरस्, उदर, अम्भण, तन्त्र, और वादन। शतपथ ब्राह्मण[6] में 'उत्तरमन्द्रा' या तो एक राग है अथवा एक प्रकार की वीणा। तु० की० *वाण*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ४, १; काठक संहिता ३४. ५; मैत्रायणी संहिता ३. ६, ८।

[2] शतपथ ब्राह्मण ३. २, ४, ६; १३. १, ५, १; 'शत-तन्त्री' (**वाण** की भाँति) महाव्रत संस्कार के समय, शाङ्खायन श्रौतसूत्र १७, ३, १, इत्यादि; जैमिनीय ब्राह्मण १. ४२ (ज० अ० ओ० सो०, १५, २३५।

[3] वाजसनेयि संहिता ३०. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १५, १।

[4] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, ८; ४. ५, ९।

[5] ३. २, ५; तु० की० शाङ्खायन आरण्यक ८. ९।

[6] १३. ४, २, ८। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३५६, नोट ३।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २८९; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ३२८; फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर ७५५।

वीणा-गाथिन्, ब्राह्मणों[1] में वीणा-वादक का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण[2] में 'वीणागणगिन्' वादकों के समूह के नायक का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, १४, १; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ५, १; ४, २, ८. ११. १४; ३, ५।

[2] १३. ४, ३, ३; ४, २; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १, २९।

वीणा-वाद—देखिये *वीणा* ।

वीत-हव्य, उस राजा का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में *भरद्वाज* के साथ-साथ और *सुदास्*[2] के समकालीन के रूप में उल्लेख है। इन दोनों ही स्थलों पर इस शब्द को केवल एक विशेषण के रूप में ग्रहण करना भी सम्भव है। अथर्ववेद[3] में 'वीतहव्य', *जमदग्नि* और *असित* के साथ सम्बद्ध होने के रूप में आता है, किन्तु यह स्पष्ट है कि यहाँ कथा का कोई महत्व नहीं। यद्यपि निश्चित नहीं तथापि सम्भव है कि यह *सृञ्जयों* का एक राजा रहा हो।[4] यजुर्वेद संहिताओं[5] में एक वीतहव्य *श्रायस* राजा के रूप में आता है: यह ऋग्वेद के वीतहव्य के समान अथवा उसी के वंश का एक व्यक्ति हो सकता है। तु० की० *वैतहव्य*।

[1] ६. १५, २. ३।
[2] ७. १९, १३।
[3] ६. १३७, १।
[4] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५।
[5] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ५, ३; काठक संहिता २२. ३; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १६, ३। वही ९. १, ९, में इसे 'निरुद्ध' के रूप में प्रत्यक्षतः निर्वासित जीवन व्यतीत करनेवाला बताया गया है; किन्तु भाष्यकार इसको एक राजा नहीं वरन् एक ऋषि के रूप में व्याख्या करते हैं, जो सर्वथा सम्भव है।
तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ४२, २१२; बुद्ध, ४०५।

वीर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में शक्तिशाली और योद्धा होने के रूप में एक व्यक्ति का द्योतक है। सामूहिक रूप से एकवचन[3] में यह शब्द 'पुरुष-सन्तान' का द्योतक है जो वैदिक भारतीयों की कामना का एक प्रमुख अभीष्ट था (तु० की० *पुत्र*)। पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में राजा के पार्षदों और पोषकों के रूप में आठ 'वीरों' की तालिका मिलती है।

[1] १. १८, ४; ११४, ८; ४. २९, २; ५. २०, ४; ६१, ५, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद २. २६, ४; ३. ५, ८, इत्यादि
[3] ऋग्वेद २. ३२, ४; ३. ४, ९; ३६, १०; ७. ३४, २०, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ७. १, ८, १, इत्यादि।
[4] १९. १, ४। यथा : राजा का भ्राता, उसका पुत्र, *पुरोहित*, *महिषी*, *सूत*, *ग्रामणी*, *क्षत्तृ* और *संग्रहीतृ*। देखिये *रत्निन्*।

वीरण, एक बाद के ग्रन्थ, षड्विंश ब्राह्मण (५·२) में, *वीरिण* पौधे के नाम का रूप है।

वीर-हत्या (मनुष्य की हत्या) तैत्तिरीय आरण्यक[1] में वर्णित अपराधों में से एक है। 'वीर-हन्' (मनुष्य का वध करनेवाला) प्राचीन ग्रन्थों[2] में आता है। तु० की० वैर।

[1] १०. ४०।
[2] तैत्तिरीय संहिता १. ५, २, १; २. २, ५, ५; काठक संहिता ३१. ७; कपिष्ठल संहिता ३७. ७; मैत्रायणी संहिता ४. १, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, १२; वाजसनेयि संहिता ३०. ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ६, ८; १६. १, १२, इत्यादि।

वीरिण, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक प्रकार की घास (Andropogon muricatus) का द्योतक है। देखिए *वीरण*।

[1] १३. ८, १, १५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७०।

वीरुध् से ऋग्वेद[1] और बाद[2] में पौधे का अर्थ है। *ओषधि* की तुलना में यह हीन कोटि के पौधों का द्योतक है, किन्तु अक्सर इससे भी प्रत्यक्षतः ओषधि जैसा आशय ही व्यक्त होता है।

[1] १. ६७, ९; १४१, ४; २. १, १४; ३५, ८, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद १. ३२, ३; ३४, १; २. ७, १; ५. ४, १; १९. ३५, ४, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५७।

१. वृक (भेड़िया) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अक्सर उल्लेख है। यह भेड़ों[3] और बछड़ों[4] का शत्रु, तथा मनुष्य[5] तक के लिये घातक हो सकता था। इसके रङ्ग को अरुण[6] बताया गया है। ऋग्वेद[7] में 'वृकी' का भी अनेक बार उल्लेख है।

[1] १. ४२, २; १०५, ७; ११६, १४; २. २९, ६; ६. ५१, १४; ७. ३८, ७, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ७. ९५, २; १२. १, ४९; काठक संहिता १२. १०; मैत्रायाणी सहिता ३. १४, ४; वाजसनेयि संहिता ४. ३४; १९. १०. ९२।
[3] ऋग्वेद ८. ३४, ३; उरा-मथि (भेड़ों को चिन्तित करनेवाला), १०. ६६, ८।
[4] अथर्ववेद १२. ४, ७।
[5] ऋग्वेद १. १०५, ११. १८; २. २९, ६। निरुक्त ५. २१ में, रौथ : सेन्टपीटर्स वर्ग कोश, व० स्था० १६, 'कुत्ते' का आशय देखते हैं, किन्तु यह अनावश्यक प्रतीत होता है। तु० की०, ए० नि०, ६७।
[6] ऋग्वेद १. १०५, १८।
[7] १. ११६, १६; ११७, १७; १८३, ४; ६. ५१, ६; १०. १२७, ६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १८, १४।

२. वृक, ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर 'हल' का द्योतक है।

[1] १. ११७, २१; ८. २२, ६; निरुक्त ५. २६।

वृक-द्वरस्, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ लुडविग[2] इसकी *शण्डिकों* के राजा, वृकद्वरस् के विरुद्ध युद्ध के सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं। किन्तु यह सर्वथा अनिश्चित है। रौथ[3] और औल्डेनबर्ग[4] इसे 'वृकध्वरस्' पढ़ना चाहते हैं। बिना किसी स्पष्ट आधार के ही, हिलेब्रान्ट[5] इसके ईरान से सम्बद्ध होने का मत व्यक्त करते हैं।

[1] २. ३०, ४।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३. १५३; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, २९७, नोट।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; त्सी० गे०, ४८, ११०।
[4] ऋग्वेद-नोटेन, १, २११।
[5] वेदिशे माइथौलोजी, ३, ४४२।

वृक्ष, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक साधारण शब्द है। अथर्ववेद[3] में यह वृक्ष से बने शव रखने के बक्स का द्योतक है जिसे निःसन्देह वृक्ष के तने को खोखला करके बनाया जाता था। षड्विंश ब्राह्मण[4] रक्त-स्राव करनेवाले एक अमङ्गल-सूचक वृक्ष का उल्लेख करता है।

[1] १. १६४, २०. २२; २. १४, २; ३९, १; ४. २०, ५; ५. ७८, ६, इत्यादि
[2] अथर्ववेद १. १४, १; २. १२, ३; ६. ४५, १; १२. १, २७. ५१, इत्यादि।
[3] अथर्ववेद १८. २, २५। तु० की० बृहद्देवता ५. ८३, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।
[4] इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०, और तु० की० ज० अ० ओ० सो०, १५, २१४।

वृक्ष-सर्पी (वृक्ष पर चढ़नेवाला) अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के कीड़े अथवा सर्पिणी का द्योतक है।

[1] ९. २, २२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे, लेबेन, ९८।

वृक्ष्य, शतपथ ब्राह्मण (१. १, १, १०) में वृक्ष के फल का द्योतक है।

वृचया का ऋग्वेद[1] में अश्विनों द्वारा *कक्षीवन्त्* को प्रदान की गयी पत्नी के रूप में उल्लेख है।

[1] १. ५१, ३। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, ३, २०३, जो दो कक्षीवन्तों का विभेद करते हैं, किन्तु बिना पर्याप्त आधार के ही, क्योंकि १. ११६, १७ में स्पष्टतः 'वृचया' का ही सन्दर्भ है।

वृचीवन्त्, ऋग्वेद[1] में एक बार उल्लिखित एक जाति का नाम है जहाँ इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि *सृञ्जय*-राज *दैववात* ने *तुर्वश*-राज और वृचीवन्तों को विजित किया था। त्सिमर[2] का विचार है कि वृचीवन्त् और तुर्वश लोगों को एक ही मानना चाहिये, किन्तु यह अनावश्यक भी है और असम्भाव्य भी; यही मानना पर्याप्त है कि सृञ्जयों के विरुद्ध[3] यह दोनों एक साथ थे। वृचीवन्त् पुनः केवल पञ्चविंश ब्राह्मण[4] की उस विचित्र कथा में ही आते हैं जिसके अनुसार *जह्नुओं* और वृचीवन्तों के बीच राजसत्ता प्राप्त करने की प्रतिद्वन्दिता थी, जिसे जह्नुओं के राजा *विश्वामित्र* ने अपने किसी संस्कार-सम्बन्धी ज्ञान से प्राप्त कर लिया था। देखिये *हरियूपीया* भी।

[1] ६. २७, ५, और बाद।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन, १२४।
[3] औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५३; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५।
[4] २१. १२, २।

वृजन, रौथ[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] के अनेक स्थलों पर 'बस्ती' अथवा 'ग्राम' (जर्मन 'मार्क') तथा उसके निवासियों का द्योतक है। इस मत को स्वीकार करते हुये त्सिमर[3] वृजन में 'सुरक्षित आवास' (क्षिति-ध्रुवा) जहाँ कबीले के लोग रहते थे,[4] एक ग्रामीण समुदाय (*ग्राम* की भाँति) के रूप में स्वयं कबीले का, और युद्ध[5] में कबीले के लोगों का, आशय देखते हैं। दूसरी ओर गेल्डनर[6] वृजन का शाब्दिक आशय 'जाल' मानते हुये अन्य सब आशयों को इसी विचार के आधार पर विकसित करते हैं, किन्तु परम्परागत दृष्टिकोण ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है।

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० २।
[2] १. ५१, १५; ७३, २; ९१, २१; १०५, १९; १२८, ७; १६५, १५; १६६, १४, इत्यादि।
[3] आल्टिन्डिशे लेवेन, १४२, १५९, १६१।
[4] ऋग्वेद १. ५१, १५; ७३, २ (तु० की० १. ७३, ४)।
[5] ऋग्वेद ७. ३२, २७; १०. ४२, १०।
[6] वेदिशे स्टूडियन, १, १३९ और बाद।

वृत्र-घ्न, ऐतरेय ब्राह्मण[1] के एक स्थल पर आता है जहाँ *भरत* के पराक्रम का वर्णन करनेवाली एक *गाथा* में ऐसा कथन है कि इसने *यमुना* और *गङ्गा* के तट पर अश्वों को बाँधा था। यहाँ आनेवाले 'वृत्रघ्ने' शब्द का एक स्थान

[1] ८. २३, ५।

के नाम के रूप में सायण 'वृत्रघ्न' अनुवाद करते हैं। फिर भी, रौथ[2] इसके रूप को चतुर्थी (सम्प्रदान) मानकर 'वृत्र का वध करनेवाले के लिये', अर्थात् इन्द्र, के आशय में व्याख्या करते हुये ठीक प्रतीत होते हैं।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० ऑफरेख्त : ऐतरेय ब्राह्मण, ४२५

वृत्र शङ्कु, शतपथ ब्राह्मण[1] में मिलता है जहाँ कात्ययन श्रौत्र सूत्र[2] के भाष्यकार ने इसे पाषाण-स्तम्भ का द्योतक माना है। यह असम्भाव्य व्याख्या इसी ब्राह्मण[3] के एक अन्य स्थल पर आधारित है।

[1] १३. ८, ४, १।
[2] २१. ३, ३१।
[3] ४. २. ५, १५। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ४३७, नोट १।

वृद्ध-द्युम्न आभिप्रतारिण ('अभिप्रतारिन्' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (३.४८, ९) में एक राजा (राजन्य) का नाम है, जहाँ इसके पुरोहित *शुचिवृक्ष गौपलायन* की प्रशस्ति की गयी है। इसके विपरीत, शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५.१६, १०-१३) में यह कथन है कि इसने यज्ञ में एक त्रुटि कर दी थी जिस पर किसी ब्राह्मण ने यह भविष्यवाणी की कि इस त्रुटि के परिणाम-स्वरूप *कुरुओं* को कुरुक्षेत्र से निष्कासित होना पड़ेगा, और यह घटना वास्तव में सत्य भी हुई।

वृद्ध-वाशिनी, निरुक्त (५.२१) में 'माँदा शृगाल' का द्योतक है।

१. वृश—देखिये *वृष*।

२. वृश जान ('जन' का वंशज) उस प्रसिद्ध पुरोहित का नाम है जिसने अपने प्रतिपालक राजा *त्र्यरुण* के साथ, राजा द्वारा अत्यधिक तीव्र गति से रथ चलाते समय एक बालक के रथ से दब जाने के दृश्य का दुर्भाग्यपूर्ण अवलोकन किया था। इस घटना के पश्चात इसने बालक को पुनरुज्जीवित कर दिया था। इस कथा का पञ्चविंश ब्राह्मण,[1] शाट्यायनक[2] और ताण्डक[3] में संक्षिप्त उल्लेख मिलता है; भाल्लवि ब्राह्मण[4] में भी इसका

[1] १३. ३, १२।
[2] देखिये ऋग्वेद ५. २ पर सायण, और जैमिनीय के वर्णन को, ज० अ० ओ० सो०, १८, २० में।
[3] देखिये सायण उ० स्था०।
[4] प्रत्यक्षतः निदान में उद्धृत होने के रूप में बृहद्देवता ५. २३ में सन्दर्भ है। यह स्थल निदान सूत्र के वर्तमान पाठ में नहीं मिलता। देखिये सीग : सा० ऋ०, ६५, नोट ५।

वर्णन है, और यह बृहद्देवता[5] में भी सुरक्षित है। सीग[6] ने इस कथा के कुछ अंशों को ऋग्वेद[7] में भी ढूढ़ने का प्रयास किया है, किन्तु विद्वानों के मत[8] इस प्रकार के दृष्टिकोण की शुद्धता के विरुद्ध हैं।

[5] ५. १४ और बाद, जहाँ देखिये मैकडौनेल की टिप्पणी।
[6] उ० पु० ६४-७६।
[7] ५. २।
[8] लुडविग ऋग्वेद का अनुवाद, ४, ३२४; हिलेब्रान्ट : त्सी० गे०, ३३, २४८ और बाद; औल्डेनवर्ग : से० बु० ई०, ४६, ३६६ और बाद; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३१२। दूसरी ओर, गेल्डनर : फे० रौ०, १९२ परम्परा की पुष्टि करते हैं। तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ३२।

वृश्चिक, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में 'बिच्छू' का द्योतक है। सर्प की ही भाँति इसके विष को भी भयंकर माना जाता था।[3] जाड़े की ऋतु में इसके भूमि के अन्दर निश्चेष्ट पड़े रहने का वर्णन किया गया है।[4]

[1] १. १९१, १६।
[2] १०. ४, ९. १५; १२. १, ४६; शाङ्खायन आरण्यक १२. २७।
[3] ऋग्वेद उ० स्था०; अथर्ववेद १०. ४, ९. १५।
[4] अथर्ववेद १२. १, ४६। तु० की तिसमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ९८।

वृष, काठक संहिता[1] में एक पौधे का नाम है। बाद में Gendarussa valgaris को इस नाम से पुकारा गया है। मैत्रायणी संहिता[2] में 'वृश' पाठ है जिसे बौटलिङ्क[3] एक छोटे पशु के आशय में ग्रहण करते हैं, जो सर्वथा सम्भव है। तु० की० *येवाष*।

[1] ३०. १।
[2] ४. ८, १।
[3] डिक्शनरी, सप्लीमेन्ट्स का जेनरल इन्डेक्स, २७६।

वृष-खादि, ऋग्वेद[1] में मरुतों की एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसका आशय सन्दिग्ध है : वॉलेनसेन[2] का विचार है कि इस शब्द से कानों में बालियाँ पहनने का आशय है; मैक्स मूलर[3] इसका 'शक्तिशाली बालियाँ' अनुवाद, और चक्र के साथ इनकी तुलना करते हैं।

[1] १. ६४, १०।
[2] ओरियन्ट उन्ट ऑक्सीडेन्ट, २, ४६१, नोट।
[3] से० बु० ई०, ३२, १०७, १२०। तु० की० तिसमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २६३।

वृष-गण, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर उल्लिखित गायकों के एक परिवार का नाम है।

[1] ९. ९७, ८। तु० कौ० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३२।

वृषण-अश्व, ऋग्वेद[1] के उस स्थल पर एक मनुष्य का नाम है जहाँ इन्द्र को सम्भवतः इसकी पत्नी अथवा पुत्री के रूप में *मेना* कहा गया है। जैमिनीय ब्राह्मण,[2] शतपथ ब्राह्मण,[3] षड्विंश ब्राह्मण[4] और तैत्तिरीय आरण्यक[5] में भी इस कथा का उल्लेख है, किन्तु यह स्पष्ट है कि जो कुछ कहा गया है उसके सम्बन्ध में इनमें से किसी भी ग्रन्थ में वास्तविक परम्परा नहीं है।

[1] १. ५१, १३।
[2] २. ७९ (ज० अ० ओ० सो०, १८, ३७)।
[3] ३. ३, ४, १८।
[4] १. १, १६।
[5] १. १२, ३। तु० कौ० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६, ८१, नोट २।

वृष-दंश (शक्तिशाली दाँतवाला) यजुर्वेद संहिताओं[1] में बिल्ली का नाम है जहाँ यह अश्वमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में आती है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में भी इसका उल्लेख है; यहाँ बिल्ली की छींक के उल्लेख का तथ्य इस बात को सम्भव बना देता है कि यह पशु उस समय भी पालतू था। गेल्डनर[3] ने अथर्ववेद[4] के एक सूक्त में 'वृषदती' सहित अन्य विचित्र उपाधियों से व्यक्त पशु में एक पालतू बिल्ली का आशय देखा है; किन्तु व्हिटने[5] ने इस सूक्त में पालतू बिल्ली का सन्दर्भ मानने के विचार को निश्चित रूप से अस्वीकृत कर दिया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २१, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १२; वाजसनेयि संहिता २४. ३१।
[2] ८. २, २।
[3] वेदिशे स्टूडियन, १, ३१३–३१५।
[4] १. १८।
[5] अथर्ववेद का अनुवाद, १९, २०; ब्लूमफ़ील्ड : ज० अ० ओ० सो०, १५, १५३, नोट; अथर्ववेद के सूक्त २६१। तु० कौ० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८६।

वृषन्, ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर एक व्यक्ति का द्योतक प्रतीत होता है। इनमें से एक स्थल पर यह *पाथ्य* पैतृक नाम के साथ आता है।

[1] १. ३६, १०; ६. १६, १४. १५। तु० कौ० मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, १५२, १५३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०४।

वृषभ, ऋग्वेद[1] में नियमित रूप से, किन्तु सामान्यतया लाक्षणिक आशय में, 'बैल' का द्योतक है।

[1] १. ९४, १०; १६०, ३; ६. ४६, ४; पर्जन्य का, ७. १०१, १. ६, इत्यादि। रौथ, २. १६, ५ में 'वृषभान्न' का 'शक्तिवर्धक भोजन करनेवाला' अनुवाद करते हैं; किन्तु इसका शब्दार्थ 'वृषभ जिसका भोजन है', है। तु० की० **मांस**।

वृषल, ऋग्वेद[1] के अक्ष-सूक्त में एक 'जाति-बहिष्कृत' का द्योतक है; बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में भी यही आशय प्रतीत होता है जहाँ वृषल अथवा वृषली के स्पर्श को बचाने का उल्लेख है।

[1] १०. ३४, ११। तु० की० निरुक्त ३. १६।

[2] ६. ४, १२ माध्यन्दिन।

वृष-शुष्म वातावत ('वातावन्त्' का वंशज) *जातूकर्ण्य*, ऋग्वेद के ब्राह्मणों[1] में एक पुरोहित का नाम है। वंश ब्राह्मण[2] के वृषशुष्म से भी कदाचित् इसी नाम का आशय है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ५. २९, १; कौषीतकि ब्राह्मण २. ९। ('वाधावत' पाठान्तर सहित : इन्डिशे स्टूडियन, १, २१५, नोट १)।

[2] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

वृषा-रव ('वृषभ' की भाँति गर्जन करनेवाला) ऋग्वेद[1] में किसी पशु का नाम है। शतपथ ब्राह्मण[2] में यह शब्द द्विवचन में आता है जहाँ इसका सम्भवतः 'हथौड़ा' अथवा 'ढोल बजाने की लकड़ी' अर्थ है।

[1] १०. १४६, २ = तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५, ५, ६।

[2] १२. ५, २, ७। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४२६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९०।

वृष्टि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'वर्षा' के लिये एक साधारण शब्द है।

[1] १. ११६, १२; २. ५, ६, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ३. ३१, ११; ६, २२, ३, इत्यादि।

वृष्टि-हव्य, ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है जिसके पुत्र उपस्तुत-गण थे।

[1] १०. ११५, ९। तु० की० मैक्स मूलर। से० बु० ई०, ३२, १५२, १५३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०८, १०९।

वेणु, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में बाँस के एक टुकड़े का द्योतक है। तैत्तिरीय संहिता[3] में इसे खोखला (सु-षिर) बताया गया है। ऋग्वेद[4] में यह केवल एक वालखिल्य सूक्त की दान स्तुति में आता है, जहाँ रौथ[5] के विचार से 'नरकट की वंशियों' से तात्पर्य है, और बाद के ग्रन्थों में 'वेणु' का यही आशय है। कौषीतकि ब्राह्मण[6] वेणु को *सस्य* के साथ रखते हुये यह कहता है कि यह वसन्त में पकते थे। यहाँ प्रत्यक्षतः बाँस के समान नरकट का भी आशय है।[7]

[1] १. २७, ३।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. २, ५, २; ७. ४, १९, २; काठक संहिता १३. १२; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १९; २. ६, २, १७, इत्यादि।
[3] ५. १, १, ४।
[4] ८. ५५, ३।
[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २।
[6] ४. १२।
[7] तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र ४. ६, १७, भाष्य सहित; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३४३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१।

वेतस, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक जलीय पौधे (Calamus Rotang) अथवा इसी प्रकार की किसी नरकट का द्योतक है। इसे 'हिरण्यय'[3] और 'अप्सुज'[4] कहा गया है।

[1] ४. ५८, ५।
[2] अथर्ववेद १०. ७, ४१; १८. ३, ५; तैत्तिरीय संहिता ५. ३, १२, २; ४, ४, २; वाजसनेयि संहिता १७. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, ४, ३, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद, उ० स्था०; अथर्ववेद १०, ७, ४१।
[4] तैत्तिरीय संहिता ५.३, १२, २, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१।

वेतसु एक ऐसा नाम है जो ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर एकवचन में और एक बार बहुवचन[2] में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इन्द्र द्वारा पराजित हुआ था, किन्तु ऐसा मानने के लिये कोई आधार नहीं कि यह एक दानव था। त्सिमर[3] का विचार है कि 'वेतसु' उस जाति का द्योतक है जिसका एक सदस्य *दशद्यु* था, और इन्हीं लोगों ने *तुग्रों* को पराजित किया था। यह स्थल इतने अधिक अस्पष्ट हैं कि किसी भी व्याख्या को असम्भव बना देते हैं।

[1] ६. २०, ८; २६, ४।
[2] १०, ४९, ४।
[3] अल्टिन्डिशे लेबेन, १२८। तु० की० केगी : डर ऋग्वेद, नोट ३३७।
तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८।

वेतस्वन्त् (नरकट से परिपूर्ण) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में किसी स्थान का नाम है। जैसा कि वेवर[2] कभी मानते थे, यह *एकयावन् गांदम* के नाम का एक अंश नहीं।

[1] २१. १४, २०।
[2] इन्डिशे स्टूडियन, १, ३२। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६१।

वेद, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'पवित्र विद्या' का द्योतक है। बहुवचन[3] में यह अधिक निश्चित रूप से ऋक्, यजुस् और सामवेद का नाम है।

[1] अथर्ववेद ७. ५४, २; १०, ८, १७; १५. ३, ७।
[2] 'त्रय', शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ५, १०; १३. ४, ३, ३; निरुक्त, १. २. १८. २०, इत्यादि।
[3] अथर्ववेद ४. ३५, ६; १९. २, १२; तैत्तिरीय संहिता, ७. ५, ११, २; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३२, १; ६. १५, ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ११, ४; शतपथ ब्राह्मण ११. ३, ३, ७; १२. ३, ४, ११, इत्यादि। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों में इस शब्द से सामान्यतया उन वर्तमान संहिताओं का आशय है जो आरण्यकों में स्वीकृत अपने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, नाम से आती हैं।

वेदाङ्ग, ऋग्वेद के उपाङ्ग के रूप में कुछ ग्रन्थ-विशेष का नाम है। यह सर्वप्रथम निरुक्त[1] और ऋग्वेद प्रातिशाख्य[2] में मिलता।

[1] १. २०।
[2] १२. ४०।
तु० की० रौथ : निरुक्त, १५. और बाद; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, ४२।

१. वेन ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर एक उदार दाता के नाम के रूप में आता है। इसी स्थल पर मिलनेवाला *पृथवान* नाम इसका ही दूसरा नाम हो भी सकता है और नहीं भी। इस सूक्त की एक बाद की ऋचा में *पार्थ्य* सम्भवतः इसका पैतृक नाम है।

[1] १०. ९३, १४। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६।

२. वेन को ऋग्वेद[1] में तिलक[2] शुक्र-ग्रह मानते हैं। किन्तु यह निश्चित रूप से असम्भव है।

[1] १०. १२३।
[2] ओरायन, १६३ और बाद। तु० की० व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० १६, xciv।

१. वेश कुछ सन्दिग्ध आशयवाला शब्द है। कुछ स्थलों[1] पर यह प्रत्यक्षतः 'काश्तकार' या 'असामी' का, और रौथ[2] के अनुसार एक 'आश्रित पड़ोसी' का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद ४. ३, १३; ५. ८५, ७; सम्भवतः १०. ४९, ५: किन्तु तु० की० २. वेश; काठक संहिता १२. ५ ('वेशत्व'); ३१. १२; ३२. ४; वाजसनेयि संहिता, काण्व, २. ५, ७; मैत्रायणी संहिता १. ४, ८; २. ३, ७; ४. १, १३। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १३, २०४, जो 'वेशस्' को अथर्ववेद २. ३२, ५, में, जहाँ 'परि-वेशस्' भी आता है, इसी आशय में ग्रहण करते हैं, और तैत्तिरीय संहिता २. ३, ७, १, के 'वैश्य' (दासता, सेवा) के साथ तुलना करते हैं।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० १, 'वेश' और 'वेशत्व'। तु० की० ह्निट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ७५, जो अथर्ववेद २. ३२, ५, में 'वेषस्' पाठ मानना चाहते हैं; किन्तु 'सेवक' के आशय की उत्पत्ति-सम्बन्धी वेबर की व्याख्या पर्याप्त है। गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, ३, १३५, नोट ४, 'वेश' में या तो एक 'पड़ोसी' का अथवा उसी ग्राम-समुदाय के एक सदस्य का आशय देखते हैं। तु० की० **सजात**।

२. वेश, ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है; यदि ऐसा है तो यह सर्वथा अनिश्चित है कि इससे किसी दानव का ही आशय है अथवा नहीं।

[1] २. १३, ८; १०. ४९, ५। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५२, १६४।

वेशन्ता[1], *वेशन्ती*[2], *वेशान्ता*[3], सभी 'तालाब' अथवा 'सरोवर' के द्योतक हैं। तु० की० *वैशन्त*:

[1] अथर्ववेद ११. ६, १०; २०. १२८, ८. ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १।

[2] अथर्ववेद १. ३, ७।

[3] बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, ११।

वेशस्—देखिये *१. वेश*।

वेशान्ता—देखिये *वेशन्ता*।

वेशी, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर 'सूई' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ७. १८, १७। तु० की० हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १५, २६४, नोट।

वेश्मन् (गृह) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में आता है। यह उस स्थान के रूप में गृह का द्योतक है जहाँ मनुष्य 'वसा' (विश्) होता है।

[1] १०. १०७, १०; १४६, ३।

[2] अथर्ववेद ५. १७, १३; ९. ६, ३०; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २४, ६, इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण १. ३, २, १४, में राजा के एक गृह (एक-वेश्मन्) का प्रजा के असंख्य आवासों के साथ विभेद किया गया है।

वैश्य ऋग्वेद (४. २६, ३; ६. ६१, १४) के दो स्थलों पर 'पड़ोस' की अपेक्षा 'निर्भरता' के सम्बन्ध का द्योतक प्रतीत होता है। तु० की० १. *वेश*।

वैष्क, शतपथ ब्राह्मण (३. ८, १, १५) में यज्ञ-पशु का गला बाँधने के लिये प्रयुक्त 'फंदे' का द्योतक है। देखिये *व्लेष्क*।

वैहत्, ऐसी गाय का द्योतक प्रतीत होता है जिसका गर्भपात हो गया हो। इसका अथर्ववेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है।

[1] १२. ४, ३७ और बाद। ३. २३, १, में एक स्त्री को 'वेहत्' कहा गया है।

[2] वाजसनेयि संहिता १८. २७; २४. १, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ३, इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ४, ६, में एग्लिङ्ग (से० बु० ई०, ४४, १९५) 'गर्भित होने की आकांक्षा रखनेवाली गाय' के आशय में ग्रहण करते हैं, किन्तु तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १२७।

वैकर्ण ऋग्वेद[1] में केवल एक बार उस *दाशराज्ञ* के वर्णन में आता है जिसमें यह कथन है कि *सुदास्* ने दो वैकर्ण राजाओं की इक्कीस जातियों (जनान्) अथवा प्रजाजनों का उन्मूलन कर दिया था। त्सिमर[2] का अनुमान है कि यह *कुरु-क्रिवि* नामक सम्मिलित *जातियाँ थीं* : यह बहुत सम्भव है। एक जाति के नाम के रूप में 'विकर्ण' महाभारत[3] में मिलता है, और एक कोशकार[4] विकर्णों को कश्मीर में बसा बताता है, जो इस देश में ही 'कुरुओं' की वास्तविक बस्ती का स्मरण दिलाता है। तु० की० *उत्तर कुरु*।

[1] ७. १८, ११।

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन, १०३।

[3] ६. २१०५।

[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६१ और बाद, जो 'वैकर्णों' में दो 'वैकर्ण' राजाओं का का आशय देखते हैं।

वैखानस, उन पौराणिक ऋषियों के एक समूह का नाम है जिनका

पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के अनुसार रहस्यु देवमलिम्लुच् ने मुनिमरण में वध किया था। इनका तैत्तिरीय आरण्यक[2] में भी उल्लेख है। पुरुहन्मन्[3] एक वैखानस व्यक्ति था।

[1] १४. ४, ७।
[2] १. २३, ३ (इन्डिशे स्टूडियन, १, ७८)।
[3] १४. ९, २९।

वैजान ('विजान' का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सायण के अनुसार *वृश* का पैतृक नाम है। जैसा कि वेबर[2] ने व्यक्त किया है इसका वास्तविक पाठ 'वै जानः' है।

[1] १३. ३, १२।
[2] इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३२।

वैट्टभटी-पुत्र, बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ५, २) की काण्व शाखा में *कार्शकेयीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है। तु० की० *वैदभृतीपुत्र*।

वैडव (*वीडु* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (११. ८, १४) में *वसिष्ठ* का पैतृक नाम है, जहाँ इसे सामार्नो का द्रष्टा बताया गया है।

वैदूर्य, सर्वप्रथम एक बाद के ग्रन्थ, अद्भुत ब्राह्मण[1] में मिलता है।

[1] वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०; ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३२५ और बाद।

वैतरण एक बार ऋग्वेद[1] में आता है। रौथ[2] का विचार है कि यह शब्द एक पैतृक नाम है; किन्तु यह कदाचित्[3] 'वैतरण के' के आशय में एक विशेषण प्रतीत होता है जिसका *भरत* अथवा *वध्र्यश्व* की अग्नि की ही भाँति 'वैतरण की' अग्नि के लिये प्रयोग किया गया है।

[1] १०. ६१, १७।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २।
[3] लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६५; ग्रिफिथ: ऋग्वेद के सूक्त, २, ४५७, नोट।

वैतहव्य (*वीतहव्य* का वंशज) उस परिवार का नाम है जिसका अथर्ववेद[1] में एक ब्राह्मण की गाय का भक्षण कर लेने के कारण पतन हो गया बताया गया है। इसे *सृञ्जय* कहा गया है, किन्तु यतः यहाँ उद्धृत कथा का ठीक-ठीक रूप अन्यत्र नहीं मिलता, अतः इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह किया जा सकता है।[2] रिसमर[3] के अनुसार 'वैतहव्य' केवल 'सृञ्जयों'

[1] ५. १८, १०. ११; १९, १।
[2] ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ४३४।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, १३२।

की उपाधि मात्र है, किन्तु एक 'वीतहव्य' के अस्तित्व को दृष्टि में रखते हुये यह सम्भव नहीं।[4]

[4] तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १८, २३३।

वैद ('विद' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] और ऐतरेय आरण्यक[2] में *हिरण्यदन्त* का पैतृक नाम है। यह शब्द 'बैद' के रूप में भी लिखा जाता है।

[1] ३. ६, ४; आश्वलायन श्रौत सूत्र, १२. १०, १।

[2] २. १, ५।

वैदथिन ('विदथिन्' का वंशज) ऋग्वेद (४. १६, ११; ५. २९, १२) में *ऋजिश्वन्* का पैतृक नाम है।

वैदद्-अश्वि ('विददश्व' का वंशज) ऋग्वेद[1] में *तरन्त* का पैतृक नाम है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] और जैमिनीय ब्राह्मण[3] में 'वैददश्वियों' को 'तरन्त' और *पुरुमीळ्ह* बताया गया है। पुरुमीळ्ह ऋग्वेद में एक 'वैददश्वि' नहीं है, जो कि इन दो व्यक्तियों की ब्राह्मणों में मिलनेवाली कथा की निरर्थकता का स्पष्ट चिह्न है।

[1] ५. ६१, १०।

[2] १३. ७, १२। तु० की० शाट्यायनक, ऋग्वेद ९. ५८, ३ पर सायण में।

[3] १. १५१; ३. १३९, जहाँ 'वैतदश्वि' रूप है। तु० की० आर्षेय ब्राह्मण पृ० ५४ (बुर्नेल का संस्करण)'।

तु० की० मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३६०; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३२, नोट; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३५४; सीग : सा० ऋ० ६२ और बाद।

वैदभृती-पुत्र ('वेदभृत्' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) बृहदारण्यक उपनिषद् की माध्यन्दिन शाखा (६. ४, ३२) के अन्तिम वंश में एक गुरु का नाम है। तु० की० *वैष्टपुरेयीपुत्र*।

वैदर्भ ('विदर्भ' का राजा) ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४, ९) में *भीम* के लिये व्यवहृत हुआ है।

वैदर्भि (*विदर्भ* का वंशज) प्रश्न उपनिषद् (१. १; २. १) में *भार्गव* का पैतृक नाम है।

वैदेह ('विदेह' का राजा), *जनक* और *नमी साप्य* की उपाधि है।

वैधस ('वेधस्' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (७. १३, १) और शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५. १७, १) में *हरिश्चन्द्र* का पैतृक नाम है।

वैन्य (वैन का वंशज), पौराणिक *पृथि, पृथी,* अथवा *पृथु*[1] का पैतृक नाम है।

[1] ऋग्वेद ८. ९, १०; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ५, २०; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, ४, इत्यादि।

वैपश्चित (*विपश्चित्* का वंशज) *दार्ढ-जयन्ति* (*दृढजयन्त* का वंशज) *गुप्त लौहित्य* (*लोहित* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४२, १) के एक वंश में *वैपश्चित दार्ढजयन्ति दृढजयन्त लौहित्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

वैयश्व (*व्यश्व* का वंशज) ऋग्वेद (८.२३, २४; २४, २३; २६, ११) में *विश्वमनस्* का पैतृक नाम है।

वैयाघ्रपदी-पुत्र ('व्याघ्रपद्' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) काण्व शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५, १) के अन्तिम वंश में *काण्वी-पुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

वैयाघ्र-पद्य ('व्याघ्रपद्' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] और छान्दोग्य उपनिषद्[2] में *इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय* का, छान्दोग्य उपनिषद्[3] में *बुडिल आश्वतराश्वि* का, तथा इसी उपनिषद्[4] और शाङ्खायन आरण्यक[5] में *गोश्रुति* का पैतृक नाम है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[6] में यह पैतृक नाम *राम क्रातुजातेय* के लिये व्यवहृत हुआ है।

[1] १०. ६, १, ८।
[2] ५. १४, १।
[3] ५. १६, १।
[4] ५. २, ३।
[5] ९. ७ ('गोश्रुत-वैयाघ्रपद्य', समस्त पद के रूप में)।
[6] ३. ४०, १; ४. १६, १।

वैयास्क, ऋग्वेद प्रातिशाख्य[1] के एक स्थल पर ऋग्वेद के छन्दों के एक आचार्य के नाम का पाठ है। रौथ[2] यह मानते हुये स्पष्टतः ठीक हैं कि इससे *यास्क* का ही तात्पर्य है।[3]

[1] १७. २५।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] यह 'वियास्क' से व्युत्पन्न पैतृक नाम नहीं, वरन् 'वै यास्कः' का रूप है। तु० की० **वैजान**।

वैर[1] और वैर-देय[2] का, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में निश्चित और पारिभाषिक आशय ऐसा धन है जो किसी व्यक्ति का वध कर दिये जाने पर उसके परिवार अथवा सम्बन्धियों को प्रतिपूर्ति के रूप में दिया जाता था। आपस्तम्ब[3] और बौधायन[4] सूत्रों द्वारा इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। इन दोनों में ही *क्षत्रिय* के लिये १,००० गायें,[5] *वैश्य* के लिये १००, *शूद्र* के लिये १०, तथा प्रत्येक दशा में इन गायों के अतिरिक्त एक बैल देने का विधान है। यह सब किसे देना चाहिये, इस बात को आपस्तम्ब ने अस्पष्ट छोड़ दिया है, किन्तु बौधायन में राजा को समर्पित करने का उल्लेख है। यह मानना तर्कसंगत है कि गायें तो सम्बन्धियों के लिये होती थीं और बैल राजा को इस इसलिये दे दिया जाता था कि वह क्षतिग्रस्त सम्बन्धियों को अपराधी का जीवन लेने के आग्रह का परित्याग करने के लिये अपने हस्तक्षेप द्वारा विरत करता था। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[6] स्त्री के लिये भी 'वैरदेय' का उक्त मापदण्ड ही निश्चित करता है, किन्तु गौतम सूत्र[7] स्त्रियों को शूद्र जाति के समकक्ष रखता है, जिसका केवल एक विशेष दशा में ही अपवाद है। इस प्रकार 'वैरदेय' का उद्देश्य 'वैर-यातन' अथवा 'वैर-निर्यातन' (प्रायश्चित) होता था।

ऋग्वेद[8] में यह महत्वपूर्ण तथ्य भी अंकित है कि मनुष्य का वैरदेय एक सौ (गायें) है क्योंकि इसके लिये 'शत-दाय' (जिसका वैरदेय एक सौ है) उपाधि का प्रयोग हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इन मूल्यों में अन्तर था,

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १, १२। तु० की० तैत्तिरीय संहिता १. ५, २, १; काठक संहिता ९. २; कपिष्ठल संहिता ८. ५; मैत्रायणी संहिता १. ७. ५, जिन सब में सम्भवतः अशुद्ध रूप से ही 'वैरन्' के स्थान पर 'वीरम्' है।

[2] ऋग्वेद ५. ६१, ८ (जिसके ठीक-ठीक आशय के लिये तु० की० मैक्समूलर : से० बु० ई०, ३२, ३६१; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, ९२; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३५४); काठक संहिता २३. ८; २८. २. ३.६।

[3] १०. ९, २४, १–४।

[4] १. १०, १९, १. २।

[5] ब्राह्मण का वध करना इतना जघन्य अपराध है कि वैरदेय से उसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। देखिये आपस्तम्ब १. ९, २४, ७ और बाद; बौधायन १. १०, १८, १८।

[6] १. ९, २४, ५।

[7] १. १०, १९, ३।

[8] २. ३२, ४।

किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण[9] में *शुनःशेप* के लिये सौ गायों के मूल्य का उल्लेख है। यजुर्वेद संहिताओं[10] में 'शत-दाय' पुनः आता है।

मूल्य का इस प्रकार निर्देश यह व्यक्त करता है कि ऋग्वेदिक काल तक में जनमत और राजसत्ता दोनों ही व्यक्तिगत प्रतिशोध के क्षेत्र को सीमित मानने लगे थे; दूसरी ओर, इस पद्धति का अस्तित्व यह भी व्यक्त करता है कि राजा का दण्डात्मक अधिकार कितना क्षीण था (तु० की० *धर्म*)।

[9] ७. १५, ७।
[10] देखिये नोट १। तैत्तिरीय में यह शब्द नहीं मिलता।
तु० की० रौथ : त्सी० गे० ४१, ६७२–६७६; बूहलर और फॉन श्रोडर : फे० रौ०, ४४-५२; बूहलर : से० बु० ई०, २, ७८, ७९; १४, २०१; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीकिटीज़, ४०२; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे १३१, १३२; डेलब्रुक : आल्टिन्डिशे जुस जेन्शियम, २९७।

वैर-हत्य (मानव-वध) का वाजसनेयि संहिता (३०. १३) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४, ९, ५) में उल्लेख है। तु० की० *वीरहन्*।

वै-राज्य—देखिये *राज्य*।

वैरूप ('विरूप' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (८. ९, २१) में *अष्टा-दंष्ट्र* का पैतृक नाम है।

वैशन्त, ऋग्वेद[1] में एक ऐसे राजा का नाम है जिसकी हवि को इन्द्र ने, *वसिष्ठों* की सहायता से *सुदास* के पक्ष में, अस्वीकृत कर दिया था। लुडविग[2] का विचार है कि इस नाम का रूप 'वेशन्त' है और यह *पृथु-पर्शुस्* का पुरोहित था; ग्रिफिथ[3] का कथन है कि सम्भवतः इससे एक नदी का आशय है; किन्तु इन दोनों में से कोई भी दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं।

[1] ७. ३३, २।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७३।
[3] ऋग्वेद के सूक्त २, २४ नोट। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १३०।

वैशंपायन ('विशंप' का वंशज) एक गुरु का नाम है जो बाद में तो अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ, किन्तु आरम्भिक वैदिक साहित्य में केवल तैत्तिरीय आरण्यक (१. ७, ५) और गृह्य सूत्रों में ही आता है।

वै-शालेय ('विशाल' का वंशज), अथर्ववेद (८. १०, २९) में पौराणिक *तक्षक* का पैतृक नाम है।

वैशी-पुत्र (एक वैश्य पत्नी का पुत्र) का ब्राह्मणों[1] में उल्लेख है ।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, ७, ३; शतपथ ब्राह्मण १३. २ ।

वैश्य, एक ओर आर्य समुदाय के शासक-वर्ग (*क्षत्रिय*) और *ब्राह्मण* जैसे उच्च वर्ग, और दूसरी ओर आदिवासी *शूद्रों* से भिन्न प्रजावर्ग के एक व्यक्ति का द्योतक है । यह नाम सर्वप्रथम ऋग्वेद[1] के पुरुष-सूक्त में, और उसके बाद अथर्ववेद[2] तथा बाद[3] में मिलता है । इसका रूप कभी-कभी 'विश्य'[4] भी है ।

वैदिक साहित्य में, जहाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण की पर्याप्त चर्चा है, अकेले वैश्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं है । इसकी चारित्रिक विशेषताओं को अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से ऐतरेय ब्राह्मण[5] के इन विशेषणों द्वारा प्रस्तुत किया गया है : 'अन्यस्य बलि-कृत्' (दूसरे का सहायक); 'अन्यस्याद्य' (जिसका दूसरे लोग उपभोग करें); और 'यथाकामज्येयः' (जिसे इच्छानुसार त्रस्त किया जा सके) । यह निर्विवाद है कि राजा (*राजन्*) इनसे कर लेता था । इसमें भी सन्देह नहीं कि राजा लोग अपने पार्षदों को साधारण लोगों द्वारा पोषित होने का अधिकार देते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि क्षत्रिय लोग वैश्यों की सेवा पर उत्तरोत्तर निर्भर रहने लगे । किन्तु वैश्य दास नहीं होते थे : राजा अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति द्वारा इनका वध नहीं किया जा सकता था, क्योंकि इनके वध करनेवाले को प्रायश्चित-स्वरूप *वैर* देना पड़ता था जिसे ब्राह्मण ग्रन्थों में १०० गायों तक निश्चित किया गया है । इसके अतिरिक्त, यद्यपि राजा इच्छानुसार वैश्य को बहिष्कृत भी कर सकता था, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी राज्य में सम्पत्ति-हीन होता था । हॉपकिन्स[6] के विचार से यह मानना निरर्थक है कि जब इसे इच्छानुसार हटाया जा सकता था तो यह वास्तव में भूमि का स्वामी भी रहा हो सकता था; किन्तु यह मान्यता इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि सामान्यतया राजा भूमि के स्वामी को हटा नहीं सकता था, और इसकी कि राजा लोग अन्ततोगत्वा अपने प्रजाजनों पर ही निर्भर रहते थे, जैसा कि अनेक बहिष्कृत राजाओं की कथाओं द्वारा स्पष्ट है ।

[1] १०. ९०, १२ ।
[2] ५. १७, ९ ।
[3] वाजसनेयि संहिता ३०. ५, इत्यादि । देखिये *वर्ण* ।
[4] अथर्ववेद ६. १३, १; वाजसनेयि संहिता १८. ४८, इत्यादि ।
[5] ७. २९ । तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४३९ ।
[6] इन्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, २२२ और बाद ।

दूसरी ओर, यह मानते हुये हॉपकिन्स[7] का विचार स्पष्टतः ठीक है कि वैश्य वास्तव में कृषक होता था, और यह भी कि वैदिक समाज आदिवासी कृषकों के ऊपर केवल जमीन्दार-वर्ग द्वारा ही निर्मित था, जैसा कि बैडेन पावेल[8] का भी आग्रह है। इस तथ्य के सम्भावना की उपेक्षा न करते हुये भी कि द्रविड़ लोग कृषक थे, यह अस्वीकार करने के लिये भी कोई आधार नहीं कि आर्यगण भी ऐसे ही नहीं थे, और हल चलानेवाले का अंकुश वैश्य के जीवन[9] और मरण[10] का चिह्न था। यह मानना निरर्थक है कि आर्य-वैश्य उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्रों में कार्य नहीं करते थे (तु० की० *पणि, वणिज्*); फिर भी पशुपालन और कृषि इनके सामान्य व्यवसाय रहे होंगे। युद्ध में क्षत्रिय-नेतृत्व के अन्तर्गत (देखिये *क्षत्रिय*) अधिकांश सैनिक वैश्य होते थे। किन्तु होमर के सामान्य व्यक्तियों की ही भाँति, वैश्य-गण गम्भीर युद्ध में बहुत कम योग दान देते रहे होंगे, क्योंकि इनके पास न तो कवच होते थे और न श्रेष्ठ आक्रामक शस्त्र ही। यह तथ्य भी, कि वैश्यगण उस काल के बौद्धिक जीवन में भाग लेते थे, असम्भाव्य है। इस बात की कोई परम्परा नहीं है, जैसी कि क्षत्रियों की दशा में निश्चित रूप से है, कि उस काल की महान उपलब्धि, ब्रह्मवाद, में भी वैश्यों ने कोई भाग लिया था। तैत्तिरीय संहिता[11] के अनुसार वैश्य की आकांक्षा का उद्देश्य *ग्रामणी* अथवा ग्राम-प्रधान बनना होता था, जो पद राजा द्वारा ऐसे धनी वैश्यों को प्रदान किया जाता था जिनकी संख्या निःसन्देह कम नहीं थी। यह कह सकना कठिन है कि वैदिक काल में वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकता था या नहीं। इस प्रकार के दृष्टिकोण[12] की पुष्टि के लिये निर्विवाद रूप से एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, यद्यपि इस प्रकार के परिवर्त्तन हुये हो सकते हैं (देखिये *क्षत्रिय* और *वर्ण*)।

फिक[13] इस बात को ही अस्वीकार करते हैं कि वैश्य कभी एक जाति

[7] ज० पु०, २१० और बाद।
[8] इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, १९० और बाद।
[9] काठक संहिता ३७. १।
[10] कौशिक सूत्र, ८०।
[11] २. ५, ४, ४।
[12] रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, ५५ और बाद, बौद्ध प्रमाणों के आधार पर इसके विपरीत तर्क प्रस्तुत करते हैं; किन्तु वैदिक काल के लिये इसका कोई औचित्य नहीं है, और इनके प्रमाणों में से यदि सब नहीं तो अधिकांश का इस विषय से कदाचित ही सम्बन्ध है।
[13] डी० ग्ली०, १६३ और बाद।

भी थे। इस अस्वीकृति के लिये उस दशा में श्रेष्ठ आधार भी हो सकता है जब हम यह मान लें कि जाति का अर्थ एक ऐसा समूह है जिसके अन्तर्गत ही विवाह करना आवश्यक है, और जो एक पैतृक व्यवसाय ही करता है (तु० की० *वर्ण*)। किन्तु यह मानना त्रुटिपूर्ण[१४] होगा कि केवल सैद्धन्तिकों द्वारा ऐसे व्यक्तियों के लिये वैश्य शब्द व्यवहृत हुआ है जो विशिष्ट जन अथवा पुरोहित नहीं होते थे। वास्तव में यह एक ऐसे निश्चित वर्ग की आरम्भिक अभिधा रही होगी जो अन्य वर्गों से भिन्न था। इसके अतिरिक्त, यदि वैश्यों में भी अनेक विभेद थे, तो ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भी ऐसा अन्तर उपलब्ध है; और यदि अन्य दो को जाति मान लिया जाय तो वैश्यों को भी एक जाति अथवा वर्ग मानने के तथ्य को अस्वीकृत करना असम्भव होगा।

[१४] तु० की० इण्डियन एम्पायर, १, ३४७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २१३ और बाद; वेवर : इण्डिशे स्टूडियन, १०, १ और बाद; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ७ और वाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २४२, २४३; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ७६ और वाद (महाकाव्य के वैश्य के लिये)।

वैश्वा-मित्र (*विश्वामित्र* का वंशज) एक ऐसा शब्द है जिससे ऐतरेय ब्राह्मण (७. १७ और वाद) में इस प्रसिद्ध पुरोहित के वंशजों को व्यक्त किया गया है।

वैष्ठ-पुरेय ('विष्ठपुर' का वंशज) माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५, २०; ४. ५, २५) के प्रथम दो वंशों में एक गुरु का नाम है। यह *शाण्डिल्य* और *रौहिणायन* का शिष्य था।

व्यच्छ, जो कि 'गो-व्यच्छ' के रूप में यजुर्वेद[१] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है, अनिश्चित आशयवाला शब्द है। सायण[२] के अनुसार यौगिक शब्द 'गायों को भगानेवाले' का द्योतक है। जैसा कि सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश ने ग्रहण किया है, इससे सम्भवतः 'गायों को त्रस्त करनेवाले' का आशय है। वेवर[३] ने इसे 'गायों की सेवा करनेवाले', और एग्लिङ्ग[४] ने 'गायों के निकट आनेवाले' के अर्थों में ग्रहण किया है।

[१] वाजसनेयि संहिता ३०. १८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १६, १। तु० की० काठक संहिता १५. ४।

[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण उ० स्था० पर।

[३] इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ८२, नोट ११। इस शब्द के काठक संहिता के प्रयोग द्वारा इस व्याख्या की पुष्टि होती है, जहाँ यह अन्य ग्रन्थों के **गोविकर्तन** के स्थान पर आता है। देखिये **रश्मिन्**।

[४] से० बु० ई०, ४४, ४१६।

व्यू-अद्वर,[1] *व्यू-अद्वरी*,[2] अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में 'कुतरने वाले' ('अद्', खाना) पशु के नाम हैं। तु० की० *व्यध्वर* भी, जिसे ही सेन्ट पीटर्सबर्ग ने सर्वत्र पढ़ा है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ७. ४, १, २७। तु० की० अथर्ववेद ६. ५०, २।

[2] अथर्ववेद ३. २८, २, जहाँ निश्चित रूप से कीटाणु का आशय नहीं है।

व्यध्वर (छिद्र करनेवाला) अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर किसी कीटाणु का द्योतक है, जहाँ इसके पाठ को 'व्यद्वर' के रूप में परिणत कर देने के लिये कोई विशेष आधार प्रतीत नहीं होता, यद्यपि ह्विट्ने[2] का विचार है कि इसे 'व्यध्'[3] (भेदन करना) धातु की अपेक्षा 'वि-अध्वन्'[4] के साथ सम्बद्ध करना अधिक उपयुक्त है। *मशक* (मक्खी) के साथ यह शब्द हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र[5], और सम्भवतः अथर्ववेद[6] के भी एक स्थल पर आता है, जहाँ, फिर भी, ह्विट्ने[7] और शंकर पण्डित *व्यद्वर* पढ़ते हैं।

[1] २. ३१, ४।

[2] अथर्ववेद का अनुवाद, ७४।

[3] पदपाठ इस शब्द का 'वि-अध्वर' के रूप में विग्रह करता है।

[4] इसका अर्थ 'पथ से विरत होना' अथवा 'पथ से अलग जाना' है।

[5] २. १६, ३।

[6] ६. ५०, ३।

[7] उ० पु०, ३१८। तु० की०, १३५। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३१६, ३६१, ४८७; ह्विट्ने : उ० पु०, ३१८, में लैनमैन भी।

व्यल्कशा, ऋग्वेद[1] में एक पौधे का नाम है।

[1] १०. १६, १३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७०।

व्यू-अश्व, अश्विनों[1] के आश्रित, उस ऋषि का नाम है जिसका आठवें मण्डल[2] के अनेक सूक्तों में उल्लेख है। ये सूक्त इसके *विश्वमनस्* नामक शिष्य की कृति हो सकते हैं। दो अन्य स्थलों[3] पर इसका केवल एक प्राचीन ऋषि के रूप में उल्लेख है, और ओल्डेनबर्ग[4] ऐसा संकेत करते हैं कि इस संहिता में इसकी कोई भी कृति नहीं मिलती। ऋग्वेद में 'व्यश्वों' का भी उल्लेख[5] है, जिसके साथ लुडविग[6] *वश अश्व्य* को सम्बद्ध करना चाहते हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण[7] में सामनों के द्रष्टा के रूप में एक *आङ्गिरस* व्यश्व का उल्लेख है।

[1] ऋग्वेद १. ११२, १५।

[2] ८. २३, १६. २३; २४, २२; २६, ९।

[3] ऋग्वेद ८. ९, १०; ९, ६५, ७।

[4] त्सी० गे०, ४२, २१७।

[5] ऋग्वेद ८. २४, २८।

[6] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०६।

[7] १४. १०, ९।

व्यु-अष्टि, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों में एक पौराणिक गुरु का नाम है।

[1] ४. ५, २२; ४. ५, २८ माध्यन्दिन।

व्या-ख्यान, शतपथ ब्राह्मण[1] के एक स्थल पर स्पष्टतः केवल एक वृत्तान्त (कद्रू और सुपर्णी के बीच विवाद से सम्बद्ध) का द्योतक है। अन्य स्थलों[2] पर यह शब्द केवल 'भाष्य' अथवा 'टीका' का द्योतक है। बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में यह बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है और प्रत्यक्षतः 'भाष्य' जैसे किसी ग्रन्थ का द्योतक है, यद्यपि *अनुव्याख्यान* के साथ इसका ठीक-ठीक सम्बन्ध अस्पष्ट ही रह जाता है। सीग[4] का विचार है कि व्याख्यान भी *अन्वाख्यान* और अनुव्याख्यान की ही भाँति वृत्तान्त का द्योतक है।

[1] ३. ६, २, ७।
[2] ६. १, २७. ३३; ७. २, ४, २८।
[3] २. ४, १०; ४. १, ६ (माध्यन्दिन = २ काण्व); ५, ११।
[4] सा० ऋ०, २१. ३४।

व्याघ्र (चीता या बाघ) ऋग्वेद में कहीं नहीं मिलता, किन्तु 'सिंह' और यह शब्द अथर्ववेद[1] में अक्सर आते हैं। इस तथ्य को उचित रूप से ही इस बात का द्योतक मान लिया गया है कि अथर्ववेद का उस काल में निर्माण हुआ था, जब वैदिक भारतीय बंगाल क्षेत्र तक पहुँच कर बस चुके थे। बाद[2] में भी व्याघ्र का बहुधा उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता[3] में सोये हुये व्याघ्र के पास से होकर जाने के संकट का संदर्भ सुरक्षित है। इस पशु की घातक प्रकृति का अक्सर उल्लेख है,[4] और नरभक्षी व्याघ्रों (पुरुषाद्)[5] का भी वर्णन मिलता है। सिंह की ही भाँति व्याघ्र भी शक्ति का प्रतीक है।[6] यह विचार इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि *राजसूय* के समय राजा इस

[1] ४. ३, १; ३६, ६; ६. ३८, १; १०३, ३; १४०, १; १२. १, ४९; २, ४३; १९. ४६, ५; ४९, ४।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ५, ५; काठक संहिता १७. २; मैत्रायणी संहिता २. १, ९; वाजसनेयि संहिता १४. ९; १९. १०; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ५, ३; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, १, ८; छान्दोग्य उपनिषद् ६. ९, ३; १०, २, इत्यादि।
[3] ५. ४, १०, ५।
[4] तु० की० अथर्ववेद ४. ३६, ६; ८. ५, ११, और देखिये शशयु।
[5] अथर्ववेद १२. १, ४९।
[6] अथर्ववेद ४. ८, ४. ७। तु० की० यास्क : निरुक्त ३. १८।

पशु की शक्ति को विजित करने के लिये इसके चर्म पर खड़ा होता था।[७] तु० की० *शार्दूल*, पेत्व भी।

[७] अथर्ववेद ४. ८, ४। तु० की० एग्लिङ्ग। से० बु० ई० ४१, ९२। वह चर्म-परिधान धारण नहीं करता जैसा कि त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७९, का विचार है।
तु० की० श्रेडर : प्रिहिटॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, २४९, २५०।

व्याघ्र-पद्य, छान्दोग्य उपनिषद् (५. १६, १) में *वैय्याघ्रपद्य* का एक मिथ्या-पाठ है।

व्याधि, वैदिक साहित्य[१] में अनेक बार आता है। अलग-अलग व्याधियों का उनके अलग-अलग नामों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। किन्तु वैदिक ग्रन्थों में असंख्य शारीरिक दोषों का भी उल्लेख है। पुरुषमेध के बलि-प्राणियों[२] की तालिका के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया है : वामन, कुब्ज (बौना, कुबड़ा), खलति[३] (गंजा), अन्ध,[४] बधिर,[५] मूक,[६] पीवन् (मोटा व्यक्ति), सिध्मल, किलास[७] (कुष्ठ रोगी), हर्य्-अक्ष (पीली आँखोंवाला व्यक्ति), पिङ्गाक्ष, पीठ-सर्पिन् (लुञ्जा), स्राम (लँगड़ा), जागरण (निद्रा रहित व्यक्ति), स्वपन (सोनेवाला व्यक्ति),[८] अति-दीर्घ, अति-ह्रस्व, अति-स्थूल अथवा अत्यंसल, अति-कृश, अति-शुक्ल, अति-कृष्ण, अति-कुल्व, और अति-लोमश।

मैत्रायणी संहिता[९] में *दिधिषूपति* जैसे पापियों के साथ-साथ बुरे नख

[१] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १०, ३; षड्विंश ब्राह्मण ५. ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. ४, ८।
[२] वाजसनेयि संहिता ३०. १०. १७. २१; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ६, १; १४, १; १७, १।
[३] तु० की० शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ६, ५।
[४] तु० की० बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २, ९; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १, ९; १३, २; ८. ४, २; ९, १; १०, १; कौषीतकि उपनिषद् ३. ३।
[५] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २, १०; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १, १०; कौषीतकि उपनिषद् उ० स्था०।
[६] कौषीतकि उपनिषद् उ० स्था०।
[७] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, १७; २३. १६, ११, इत्यादि में भी 'किलास'।
[८] वाजसनेयि संहिता ३०. २२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १९, १ जहाँ इन व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया गया है : 'अति-मिर्मिर', 'अति-दन्तुर' अथवा 'अति-किरिट', और 'अति-मेमिष'। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ८४, नोट ४।
[९] ४. १, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ९। तु० की० अथर्ववेद ७. ६५, ३।

तथा भूरे दाँत वाले व्यक्तियों का भी उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[10] में 'एक शुक्ल-धव्वों, बड़े-बड़े दाँतों (विक्लिध) और लाल भूरी आँखों वाले व्यक्ति' का उल्लेख है। कुछ मनोरञ्जक-सा त्सिमर[11] का यह विचार है कि वाजसनेयि संहिता[12] में मिलनेवाले 'किर्मिर' शब्द का जातियों के मिश्रण के रूप में 'शवल' अर्थ है, किन्तु यह केवल एक अनुमान मात्र है जो इस शब्द के 'कृ' के साथ मान लिये गये सम्बन्ध पर आधारित है। वाजसनेयि संहिता[13] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[14] में स्त्रियों के लिये अनेक उपाधियाँ व्यवहृत हुई हैं। जिनमें से कुछ व्याधियों की भी द्योतक प्रतीत होती हैं। और अथर्ववेद[15] में स्त्रियों के लिये प्रयुक्त विशेषण, जैसे 'ऋश्य-पदी' और 'वृष-दती' सम्भवतः शारीरिक दोषों के ही द्योतक हैं।

[10] १३. ३, ६, ५। देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ३२३, नोट।

[11] आल्टिन्डिशे लेवेन, ४२८।

[12] ३०. २१।

[13] ३०. १५, 'अवतोका' और 'पर्यायिणी' के अतिरिक्त विशेषतः 'अविजाता' और 'विजर्जरा'; सम्भवतः 'अतीत्वरी' और 'अतिष्कद्वारी' को भी इसी प्रकार समझना चाहिये। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ८०।

[14] ३. ४, ११, १, जहाँ 'अपस्कद्वारी' और 'पर्यारिणी' पाठ है।

[15] १. १८, ४। गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, ३१४, इस सूक्त में पालतू बिल्ली का सन्दर्भ देखते हैं, किन्तु इसमें उपयुक्तता का अभाव है। यहाँ आनेवाली अन्य उपाधियों का आशय सर्वथा स्पष्ट है।

व्यू-आन, प्राण-वायुओं में से एक का नाम है। देखिये *प्राण*।

व्याम, संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में लम्बाई के नाप के रूप में फैले हुये हाथों की दूरी का द्योतक है। इसे ६ फीट अथवा एक फैदम के बराबर माना जा सकता है।[3]

[1] अथर्ववेद ६. १३७, २; तैत्तिरीय संहिता ५. १, १, ४: २, ५, १, इत्यादि।

[2] शतपथ ब्राह्मण १०. २, ३, १. ३; १. २, ५, १४; ७. १, १, ३७ जहाँ भाष्यकार इसे ४ अरत्नियों के बराबर मानता है (जब कि आश्वलायन गृह्य सूत्र ९. १, ९ का भाष्यकार इसे ५ अरत्नियों के बराबर मानता है)। बौधायन के शुल्व सूत्र के अनुसार अरत्नि = २४ अङ्गुल (= $\frac{3}{4}$ इंच)। देखिये फ्लीट : ज० ए० सो०, १९१२, २३१, २३३, २३४।

[3] देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४१, ३०९, नोट ५।

व्यास पाराशर्य (*पराशर* का वंशज) एक पौराणिक ऋषि का नाम है

जो वैदिक काल में केवल *विष्वक्सेन* के शिष्य के रूप में सामविधान ब्राह्मण के अन्त के एक वंश और तैत्तिरीय आरण्यक[1] में आता है।

[1] १. ९, २। तु० की० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन, १, १५६; ४, ३७७; इन्डियन लिटरेचर, १८४, नोट १९९।

व्र, रौथ[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] और अथर्ववेद[3] में 'सैनिक दस्ते' का द्योतक है। त्सिमर[4] ने इस शब्द को (स्त्रीलिङ्ग 'व्रा' के रूप में) एक स्थल पर ग्रामीणों के उस समूह का द्योतक माना है जो *विश्* का एक अंश और सम्बन्धियों (सु-बन्धु) से मिलकर बना होता था। दूसरी ओर पिशल[5] का विचार है कि यह सभी स्थलों पर 'स्त्रीलिङ्ग' का द्योतक है, चाहे इसका पशुओं[6] के लिये, अथवा *समन*[7] में जानेवाली स्त्रियों, अथवा वेश्याओं (विश्या)[8] के लिये, अथवा लाक्षणिक[9] आशय में ही प्रयोग किया गया हो। ये आशय सम्भवतः पर्याप्त हैं।

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०। तु० की० वेख्तेल: न० गो०, १८९४ ३९३।

[2] १. १२४, ८; १२६, ५; ४. १, १६; ८. २, ६; १०. १२३, २। आप १. १२१, २ को छोड़ देते हैं, जहाँ बौटलिङ्क: डिक्शनरी, व० स्था० में इस शब्द को स्त्रीलिङ्ग (व्रा) मानते हैं।

[3] २. १, १, एक अस्पष्ट स्थल है, जिस पर देखिये ह्विटने: अथर्ववेद का अनुवाद ३७, ३८।

[4] आल्टिन्डिशे लेवेन, १६२।

[5] वेदिशे स्टूडियन, २, १२१, ३१३ और बाद।

[6] ऋग्वेद १. १२१, २; ८. २, ६ (मादा हाथी)।

[7] ऋग्वेद १. १२४, ८।

[8] ऋग्वेद १. १२६, ५।

[9] ऋग्वेद ४. १, १६; १०. १२३, २; अथर्ववेद, उ० स्था०।

व्रज, प्रथमतः, ऋग्वेद[1] में 'चरागाह' अथवा उस स्थान का द्योतक है जहाँ दूध-देनेवाले पशु प्रातःकाल *ग्राम* से निकल कर जाते[2] ('व्रज्', जाना से) थे जब कि कुछ पशु चौबीस घंटे[3] ग्राम में ही रहते थे। द्वितीयतः,

[1] ऋग्वेद २. ३८, ८; १०. २६, ३, और सम्भवतः ९७, १०; १०१, ८। तु० की० मनु ४. ४५ पर मेधातिथि और महाभारत १. ४१, १५ जहाँ 'गो-व्रज' बराबर है १. ४०, १७ के 'गवां प्रचाराः' (पशुओं के चरागाह) के।

[2] ऋग्वेद २. ३८, ८।

[3] तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण १. १८, १४ पर सायण।

यह स्वयं 'यूथ'[४] का ही द्योतक है। गेल्डनर[५] का यही मत है, जो रौथ[६] के उस मत से स्पष्टतः अधिक श्रेष्ठ है, जिसके अनुसार वह (रौथ) 'व्रज' को प्रमुखतः 'घेरा' ('वृज्' से) अथवा बन्द स्थान, और 'यूथ' अर्थ को इससे ही निकृष्ट मानते हैं; क्योंकि 'व्रज' का सामान्यतया 'घेरा' अथवा 'बन्द स्थान' अर्थ कहीं भी नहीं मिलता : वैदिक पशुओं को कभी भी गोष्ठों में ही बाँधकर नहीं रक्खा जाता था। फिर भी, कुछ स्थलों पर 'अवरोध'[७] और कुछ पर 'गोष्ठ'[८] अर्थ भी निश्चित है। पशुओं के अपहरण की पुराकथा में भी यह शब्द अक्सर प्रयुक्त हुआ है।[९] कभी-कभी यह 'नाँद' या 'हौज़' का भी द्योतक है।[१०]

[४] ऋग्वेद ५. ३५, ४; ७. २७, १; ३२, १०; ८. ४६, ९; ५१, ५।

[५] वेदिशे स्टूडियन, २, २८२ और बाद; ऋग्वेद, ग्लॉसर, १७४। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ७७।

[६] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। किन्तु तु० की० बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०।

[७] अथर्ववेद ३. ११, ५; ४. ३८, ७; शाङ्खायन आरण्यक २. १६। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, २२ (माध्यंदिन) में यह लाक्षणिक आशय में 'सार्गल' और 'सपरिश्रय' है। ऋग्वेद १०. ९७, १०; १०१, ८ में भी 'अवरोध' अथवा 'गोष्ठ' का अशय सम्भव है जो 'व्रज' से भिन्न नहीं है, क्योंकि 'व्रज' उस स्थान का द्योतक है जहाँ मवेशियों को खाना खिलाया जाता है, अतः यह उन गोष्ठों के लिये व्यवहृत हो सकता है जहाँ रात्रि के समय पशुगण रहते हैं। तु० की गोष्ठ।

[८] ऋग्वेद १०. ४, २, जहाँ एक ऐसे 'गरम व्रज' का सन्दर्भ है जहाँ गायें जाती हैं, और ४. ५१, २, जहाँ उषस् अन्धकार रूपी 'व्रज' के द्वारों को खोलती है; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, १२, २ जहाँ 'व्रज' को अश्वत्थ की लकड़ी का बना बताया गया है। वाजसनेयि संहिता १. २५, में भी 'गोष्ठ' का आशय सम्भव है।

[९] देखिये गेल्डनर : उ० पु० २, २८३ और बाद।

[१०] वाजसनेयि संहिता १०. ४ = तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ११, १ = मैत्रायणी संहिता, २. ६, ७।

व्रत से बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में ऐसे 'दुग्ध' का कुछ विचित्र

[१] अथर्ववेद ६. १३३, २; तैत्तिरीय संहिता ६. २, ५, ३. ४; वाजसनेयि संहिता ४. ११, इत्यादि।

[२] शतपथ ब्राह्मण ३. २, २, १०. १४. १७; ४, २, १५; ९. २, १, १८। तु० की० 'घृत व्रत', पंचविंश ब्राह्मण १८. २, ५. ६, और 'व्रत-दुघा' (वह गाय जो व्रत-दुग्ध प्रदान करती है), शतपथ ब्राह्मण ३. २, २, १४; १४. ३, १, ३४, इत्यादि।

आशय है जिसका व्रत या प्रायश्चित्त की अवधि में व्यक्ति एकमात्र भोज्य पदार्थ के रूप में प्रयोग करता है।

व्रतति, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक 'लता' अथवा 'चढ़नेवाले पौधे' का द्योतक है।

[1] ८. ४०, ६; निरुक्त १. १४; ६. २८। | [2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १, ३ इत्यादि।

व्राज-पति ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ ऐसा कथन है कि जब इन्द्र बाहर जाते हैं तो मित्र-गण 'व्राजपति' *कुलपों* की भाँति उनकी सेवा करते हैं। त्सिमर[2] का विचार है कि इससे युद्ध के समय परिवार के व्यक्तियों का *ग्रामणी* के अधीनस्थ रहने का सन्दर्भ है; किन्तु ह्विट्ने[3] सम्भवतः यह मानते हुये ठीक प्रतीत होते हैं कि इससे अनिवार्यतः केवल ग्राम-प्रधान का नहीं वरन् ऐसे प्रधान का आशय है जो परिवार-प्रधान, अथवा कुछ प्रमुख व्यक्तियों से घिरा हो। अथर्ववेद[4] के एक स्थल पर क्रियाविशेषणात्मक 'सैनिक दलों में' के आशय में अकेले 'व्राज' भी आता है।

[1] १०. १७९, २ = अथर्ववेद ७. ७२, २।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन, १७२।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद, ४३६।
[4] १. १६, १। तु० की० ह्विट्ने : उ० पु० १७।

व्राज-बाहु का कौषीतकि ब्राह्मण (२. ९) में मृत्यु के 'ग्रसित करनेवाले बाहुओं' के आशय में प्रयोग किया गया है। 'व्राज' से यहाँ प्रत्यक्षतः, *व्रज* की भाँति, एक 'अवरोध' अथवा 'गोष्ठ' का आशय है।

व्रात, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर तथा बाद[2] में भी, 'गण' या 'समूह' के आशय में आता है। ऋग्वेद[3] के एक स्थल पर मरुतों के गणों को तीन अलग-अलग शब्दों—'शर्ध', 'व्रात', और 'गण'—, से व्यक्त किया गया है। इस तथ्य के आधार पर त्सिमर[4] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वैदिक सेनायें

[1] १. १६३, ८; ३. २६, २; ५. ५३, ११; ९. १४, २ (सम्भवतः पाँच जातियों का सन्दर्भ है); १०. ३४, ८. १२ (पासे का)। १०. ५७, ५, में 'जीव व्रात' का सन्दर्भ है।
[2] अथर्ववेद २. ९, २ (जीवितों का समूह); तैत्तिरीय संहिता १. ८, १०, २; वाजसनेयि संहिता १६. २५, पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ९, २४; १८. १, ५. १२, इत्यादि।
[3] ५. ५३, ११। तु० की० ३. २६, २, जहाँ 'शर्ध' का उल्लेख नहीं है।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, १६२।

विश्, *ग्राम*, और परिवार के अनुसार युद्ध करती थीं; किन्तु यह निष्कर्ष कदाचित् ही उपयुक्त है, क्योंकि यहाँ विभाजनों को स्पष्ट क्रमों में व्यक्त करने के उद्देश्य का कोई चिह्न नहीं मिलता। इस शब्द से कभी भी 'संघ' का पारिभाषिक आशय होना, जैसा रौथ[५] का विचार है, सम्भव नहीं। तु० की० *व्रातपति*।

[५] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में, जहाँ यही आशय माना गया है; पञ्चविंश ब्रह्मण ६. ९, २५; १७. १, ५. १२; वाजसनेयि संहिता १६. २५; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १०, २।

व्रात-पति (समूहों का अधिपति) एक ऐसी उपाधि है जिसे यजुर्वेद संहिताओं[१] में 'गण-पति' के साथ-साथ, रुद्र के नामों के अन्तर्गत रक्खा गया है। इसका ठीक-ठीक आशय सर्वथा अनिश्चित है, किन्तु इससे, जैसा कि त्सिमर[२] का विचार है, डाकुओं के दल के प्रधान से तात्पर्य हो सकता है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ४, १; काठक संहिता, १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ४; वाजसनेयि संहिता १६. २५।

[२] आल्टिन्डिशे लेबेन, १७९।

व्रात्य को यजुर्वेद[१] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है, जहाँ, फिर भी, इस नाम की कोई व्याख्या नहीं मिलती। इसके सम्बन्ध में अपेक्षाकृत पूर्ण विवरण अथर्ववेद,[२] पञ्चविंश ब्राह्मण[३], और सूत्रों[४] में मिलता है, जो व्रात्यों के व्यवहार के लिये एक संस्कार-विशेष का विस्तार से वर्णन करते हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण के अनुसार 'जाति-बहिष्कृतों' के चार प्रकार हैं—यथा (१) 'हीन', जिनका केवल निम्न अथवा 'दलित' के रूप में वर्णन है; (२) जो किसी पाप के कारण जाति-बहिष्कृत हो जाते हैं (निन्दित); (३) जो आरम्भिक अवस्था में ही, प्रत्यक्षतः जाति-बहिष्कृतों के बीच रहने के कारण जाति-बहिष्कृत हो जाते हैं; और (४) ऐसे वृद्ध व्यक्ति जो नपुंसक हो जाने के कारण जाति-बहिष्कृतों के साथ रहने लगते हैं (शम-नीचमेढ्र)। अन्तिम तीन कोटियाँ किसी भी प्रकार उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी कि प्रथम। चतुर्थ कोटि का उद्देश्य समझना कठिन

[१] वाजसनेयि संहिता ३०. ८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ५, १।

[२] १५. १, १ और बाद।

[३] १७. १-४।

[४] कात्यायन श्रौतसूत्र १२. १; २२. ४; लाट्यायन श्रौतसूत्र, ८. ६; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, २२. ५, ४-१४। देखिये हिलेब्रान्ट : रिचुअललिटरेचर, १३९, १४०।

है : राजाराम रामकृष्ण भागवत्[5] के अनुसार यह ऐसे लोग होते थे जो जाति-बहिष्कृतों के देश में स्त्रियों के साथ अनुचित संभोग करते रहने के कारण अपने शरीर को क्षीण बना लेते थे, और अपाहिजों के रूप में ही अपने देश वापस आते थे। किन्तु मूल ग्रन्थों में यह कथन नहीं मिलता।

यह सम्भव प्रतीत होता है कि वास्तव में महत्त्वपूर्ण 'व्रात्य' वही होते थे जिन्हें 'हीन' कोटि के अन्तर्गत रखा गया है, जब कि अन्य कोटियाँ केवल गौण ही हैं। राजाराम[6] के अनुसार प्रथम कोटि के अन्तर्गत दो वर्ग आते हैं : (क) ऐसे 'हीन' जो अनार्य होते थे; और (ग) च्युत आर्य (गर-गिर्)। फिर भी यह केवल एक अनुमान मात्र और सम्भावना से रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'व्रात्यों' का केवल एक वर्ग था। इनका अनार्य होना सम्भाव्य नहीं, क्योंकि स्पष्ट रूप से ऐसा कहा[7] गया है कि यह अदीक्षित होते हुये भी दीक्षितों की भाषा बोलते थे : इस प्रकार यह प्रत्यक्षतः आर्य थे। इस वक्तव्य द्वारा भी इस कथन की पुष्टि होती है कि 'यह लोग उच्चारण में सरल को उच्चारण में कठिन कहते थे' : सम्भवतः इनकी भाषा का रूप कुछ प्राकृत जैसा ही था (तु० की० *वाच्*)। सूत्रों में इनके अर्हन्तों और यौधों को वर्णाश्रम धर्म के ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समान बताया गया है।

अन्य विवरण इस दृष्टिकोण के अनुकूल हैं कि यह ब्राह्मण-धर्म की सीमा के बाहर के आर्य थे। इसीलिये ऐसा कथन[8] है कि कृषि और वाणिज्य इनमें प्रचलित नहीं था (यह बनजारों जैसे जीवन का संकेत करता है), और यह *ब्रह्मचर्य*, अर्थात् ब्राह्मण-धर्म के अनुसार जीवन के नियमों का, पालन नहीं करते हैं। निर्दिष्ट संस्कारों के आयोजन द्वारा ब्राह्मण-समुदाय में सम्मिलित हो जाने की इनको स्वीकृति थी, जो अनार्यों की दशा में कदाचित ही स्वाभाविक हो सकती है।

व्रात्यों की वेश-भूषा और जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ विवरण मिलते हैं। इनके सिद्धान्त ब्राह्मणों के विपरीत थे : इनमें अपरिष्कार्य व्यक्तियों को पीटने की प्रथा थी।[9] इनके गृहपति पगड़ी (*उष्णीष*) बाँधते थे, एक कोड़ा (*प्रतोद*) और एक प्रकार का धनुष (*ज्याहोड*) रखते थे, काले और श्वेत

[5] ज० ए० सो०, बम्बई शाखा, १९, १६०।
[6] वही, ३५९।
[7] पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, ९।
[8] वही १७. १, २।
[9] वही १७. १, १४।

(कृष्ण-वलक्ष) रंग के दो चर्मों (*अजिन*) का, अथवा काले रंग (कृष्णश) का ही परिधान धारण करते थे, और इनके पास पटरों से ढँकी (फलकास्तीर्ण) एक गाड़ी (*विपथ*) होती थी। नेता के अधीनस्थ अन्य व्यक्ति[10] लाल किनारे वाले परिधान (वल्कान्तानि दामतूषाणि) धारण करते थे, जिनमें से प्रत्येक वस्त्र पर दो-दो किनारे लगे होते थे। इनके पास दोहरे मुड़े हुये चर्म (द्विषंहितान्य् अजिनानि) तथा चप्पलें (*उपानह्*) भी होते थे। नेता चाँदी का एक आभूषण (*निष्क*) धारण करता था, जिसे राजाराम[11] चाँदी के सिक्के में परिणत कर देते हैं। दीक्षित होने पर व्रात्यों को अपनी समस्त सामग्री पुरोहित को दे देनी पड़ती थी। सूत्रों में अनेक अन्य विवरण मिलते हैं (जैसे, इनके जूते या चप्पलें नुकीले और विभिन्न प्रकार के काले रंगों के होते थे), किन्तु यह विवरण पञ्चविंश ब्राह्मण द्वारा प्रमाणित नहीं होते।

व्रात्यों के निवास-क्षेत्र को निश्चित् रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता, किन्तु इनका ख़ानावदोश जीवन[12] कुछ ऐसा संकेत करता है कि यह सरस्वती के उस पार स्थित पश्चिमी जाति के लोग थे। किन्तु इनका पूर्व में स्थित होना भी उतना ही सम्भव है : यह सम्भावना इस तथ्य द्वारा पुष्ट होती है कि सूत्रों में एक ब्राह्मण द्वारा *मगध* के निवासी व्रात्य के व्यक्तिगत उपकरणों का दान ग्रहण करने का सन्दर्भ है। अथर्ववेद[13] के विवरणों से कोई सहायता नहीं मिलती क्योंकि यहाँ व्रात्य का इतने रहस्यवादी ढङ्ग से वर्णन है कि इसे सभी दिशाओं में रहनेवाले के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में रौथ[14] के विश्वास के अनुसार यहाँ पञ्चविंश ब्राह्मण के व्रात्य का नहीं वरन् एक भ्रमणशील *परिव्राजक* अथवा पवित्र बनजारे के रूप में 'व्रात्य' की प्रशस्ति है। यह दृष्टिकोण स्पष्टतः त्रुटि-पूर्ण है, जैसा कि 'उष्णीस', 'विपथ', और 'प्रतोद' आदि शब्दों के व्यवहार से व्यक्त होता है। यह सम्भव

[10] वही, १७. १, १५। इस स्थल का ठीक-ठीक आशय अस्पष्ट है, और जैसा कि लाट्यायन द्वारा व्यक्त होता है, इसके समय तथा उसके पूर्व भी अस्पष्ट ही था; इसके सभी अनुवाद भी अस्पष्ट ही हैं। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३२ और बाद; इन्डियन लिटरेचर ६७, ६८; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३१, ३२; राजाराम, उ० स्था०।

[11] उ० पु० ३६१।

[12] जो इनके नाम से व्यक्त होता है ('व्रात' अथवा इधर-उधर भटकनेवाला)।

[13] देखिये ह्विट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद ७७० और बाद, लैनमैन की टिप्पणी सहित।

[14] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

है कि अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड में, जिसकी प्रकृति कुछ रहस्यात्मक है और जो व्रात्य से सम्बद्ध है, एक पूर्ण *ब्रह्मचारिन्* के उदाहरण-स्वरूप परिवर्तित व्रात्य की, और इसी दृष्टि से उसकी एक देवता के रूप में प्रशस्ति हो।[१५]

[१५] ब्लूमफ़ील्ट : अथर्ववेद, ९४।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३३, ५२, ४४५, नोट; इन्डियन लिटरेचर, ६७, ७८, ११०-११२, १४१, १४६; ऑफरेख्त: इन्डिशे स्टूडियन, १, १३० और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३. xxvi और बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २१६।

व्रीहि, (चावल) का ऋग्वेद[१] में तो कहीं भी नहीं किन्तु अथर्ववेद[२] और बाद[३] में अक्सर उल्लेख मिलता है। चावल सम्भवतः भारत के दक्षिण-पूर्व की सामग्री प्रतीत होता है :[४] यह तथ्य ऋग्वेद में इसके उल्लेख के अभाव का भलीभाँति समाधान कर देता है। काले और श्वेत चावल का तैत्तिरीय संहिता[५] में विभेद किया गया है, जहाँ ही[६] काले, शीघ्रता से बढ़नेवाले (आशु), और बड़े चावल (महा-व्रीहि) के विभेद भी मिलते हैं। शीघ्रता-पूर्वक बढ़नेवाला प्रकार सम्भवतः वही है जिसे बाद में 'षष्टिक' (साठ दिनों में पकनेवाला) कहते थे। मूल ग्रन्थों[७] में व्रीहि और यव सामान्यतया संयुक्त रूप से आते हैं। तु० की० *प्लाशुक*।

[१] ऋग्वेद ५. ५३, १३, में 'धान्य बीज' को 'चावल का बीज' मानना अनावश्यक और अत्यन्त असम्भाव्य है; और न अथर्ववेद २. २६, ५, में 'धान्य रस' को 'चावल का पेय' मानना ही किसी प्रकार तर्क-संगत है।

[२] ६. १४०, २; ८. ७, २०; ९. ६, १४ इत्यादि।

[३] तैत्तिरीय संहिता ७. २, १०, २, जहाँ इसे शरदकाल में पकने वाला बताया गया है; काठक संहिता १०. ६; ११. ५; मैत्रायणी संहिता ३. १०, २; ४. ३, २; वाजसनेयि संहिता १८. १२; ऐतरेय ब्राह्मण २. ८, ७; ११, २; ८. १६, ३. ४; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ५, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, २२ (माध्यंदिन = ६. ३, १३ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४ ३।

[४] २. ३, १, ३। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ४; काठक संहिता १२. ४. ५. ६, इत्यादि।

[५] १. ८, १०, १।

[६] अथर्ववेद ११. ४, १३; जैमिनीय ब्राह्मण १. ४३; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १०, ६, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३९।

व्लेप्क—देखिये *व्लेष्क*।

श

शंयु, बृहस्पति के एक पौराणिक पुत्र का नाम है। यजुर्वेद[1] की संहिताओं आदि, में यह एक गुरु के रूप में उद्धृत है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ६, १०, १; ५. २, ६, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ३, ८, ११; शतपथ ब्राह्मण १. ९, १, २४; तैत्तिरीय आरण्यक १. ५, २। तु० की० लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ११३।

शकट,[1] *शकटी*,[2] प्राचीन साहित्य में 'गाड़ी' के लिये दुर्लभ शब्द हैं। ऋग्वेद[2] में गाड़ी की चरमराहट को रात में वनों में सुनाई पड़नेवाली ध्वनि के समान बताया गया है।

[1] निरुक्त ६. २२; ११. ४७; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १, ८।

[2] ऋग्वेद १०. १४६, ३; षड्विंश ब्राह्मण ४. ७।

शक-धूम, अथर्ववेद[1] के एक सूक्त में मिलता है, जहाँ इसकी नक्षत्रपुञ्ज के राजा के रूप में प्रख्याति है। इस शब्द से 'जलते हुये गोबर के उपलों से उठता हुया धुआँ' अथवा 'ताजे गोबर से उठता हुआ धुआँ' अर्थ प्रतीत होता है : जैसा कि वेबर[2] का विचार है, इसे ऋतु का द्योतक माना गया हो सकता है। फिर भी, ब्लूमफील्ड[3] के विचार से इस शब्द का 'ऋतु भविष्यद्वक्ता' अनुवाद करना चाहिये जिससे ऐसे व्यक्ति का तात्पर्य है जो अग्नि के धूँये के आधार पर ऋतु की भविष्यवाणी करता है। ह्विट्ने[4] तर्कपूर्वक इस दृष्टिकोण का विरोध करते हैं। जैसा कि रौथ[5] का विश्वास था, इससे किसी नक्षत्रपुञ्ज, सम्भवतः 'आकाश गङ्गा', का तात्पर्य होना असम्भाव्य नहीं।

[1] ६. १२८, १. ३. ४, और नक्षत्र कल्प में।

[2] ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३६३; इन्डिशे स्टूडियन, ५, २५७; १०, ६५; नक्षत्र, २, २७२, नोट; २९३।

[3] अ० फा०, ७, ४८४ और बाद; ज० अ० ओ० सो०, १३, cxxxiii; अथर्ववेद के सूक्त, ५३२, ५३३।

[4] अथर्ववेद का अनुवाद, ३७७, ३७८।

[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३५३; कैलैन्ड : आल्टिन्डिशे त्सावर-रिचुअल, १७५, नोट ३।

शकन्—देखिये *शकृत्*।

शक-पूत (गोबर द्वारा पवित्र) ऋग्वेद के एक सूक्त (१०. १३२, ५) में प्रत्यक्षतः किसी राजा का नाम है।

शर्क-भर, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ इसका आशय सन्दिग्ध है। लुडविग[2] और ग्रिल[3] ने इसमें किसी जाति का नाम और ब्लूमफील्ड[4] ने अतिसार का मूर्त्तीकरण देखा है, जब कि ह्विटने[5] के विचार से इससे उन *महावृषों* का तात्पर्य है जो अपने देश में लकड़ी के अभाव में ईंधन के लिये गोबर एकत्र करने के कारण घृणित माने गये हैं।

[1] ५. २२, ४।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ५२०।
[3] हुन्डर्ट लीडर, [2], १५४।
[4] अथर्ववेद के सूक्त, ४४५, ४४६।
[5] अथर्ववेद का अनुवाद, २५९। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १८, २५३।

शका, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है। यह अनिश्चित है कि इससे किसी प्रकार के पत्ती[2], अथवा मक्खी[3], अथवा लम्बे कान वाले पशु,[4] किसका तात्पर्य है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १; १८, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १३; वाजसनेयि संहिता २४. ३२।
[2] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर महीधर।
[3] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १, पर सायण; १८, १।
[4] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १ पर सायण। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।

शकुन (पत्ती) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अक्सर उल्लेख है। यह सामान्यतया एक विशाल पत्ती[3] अथवा शकुन-सूचक[4] पत्ती का द्योतक है। त्सिमर[5] इसकी उस 'कुक्नोस' (κυκνος) के साथ तुलना करते हैं, जो स्वयं भी एक शकुन-सूचक पत्ती है।

[1] ४. २६, ६; ९. ८५, ११; ८६, १३; १०७, २०; ११२, २; १०. ६८, ७; १०६, ३; १२३, ६; १६५, २।
[2] अथर्ववेद १२. १, ५१; ३, १३; २०. १२७, ४; तैत्तिरीय संहिता ३. २, ६, २; वाजसनेयि संहिता १८. ५३, इत्यादि।
[3] तु० की० अथर्ववेद, ११. २, २४. **वयस्** की तुलना में; निरुक्त ३. १८।
[4] तु० की० कौषीतकि ब्राह्मण ७. ४; मैत्रायणी उपनिषद् ६. ३४, इत्यादि।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन, ४३०।

शकुनि (पत्ती) का, *शकुन* की ही भाँति, किन्तु शकुन-सूचक भविष्यवाणी के अधिक स्पष्ट आशय में प्रयोग हुआ है। यह *श्येन* अथवा *सुपर्ण*[1] से छोटा,

[1] ऋग्वेद २. ४२, २।

और शकुन[2] तथा अपशकुन[3] की भविष्यवाणी करता था। जहाँ इसका अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख[4] है वहाँ इससे एक विशेष प्रकार के पक्षी की जाति का तात्पर्य होना चाहिये : बाद में बाज़ पक्षी को इस नाम से पुकारा गया है, किन्तु 'काग' से तात्पर्य हो सकता है; तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार के विचार से यह 'काग' ही है। इसका अन्यत्र[5] भी अनेक बार उल्लेख है।

[2] ऋग्वेद २. ४२, १; ४३, ३।
[3] अथर्ववेद १०. ३, ६।
[4] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १९, १; वाजसनेयि संहिता २४. ४०; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २१।
[5] अथर्ववेद २. २५, २; ७. ६४, १; ११. ९, ९; काठक संहिता २५. ७; ऐतरेय ब्राह्मण २. १५, १२; ४. ७, ३; शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, ३१; छान्दोग्य उपनिषद् ६. ८, २; इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८८, ४३०।

शकुनि-मित्र, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १) में *विपश्चित्, पाराशर्य* के नामों में से एक है।

शकुन्त, अथर्ववेद (११. ६, ८) में 'पक्षी' का एक नाम है।

शकुन्तक,[1] *शकुन्तिका*[2], ऐसे अल्पार्थक शब्द हैं जिनका संहिता में 'छोटा पक्षी' अर्थ है।

[1] ऋग्वेद २.४३, के बाद खिल; वाजसनेयि संहिता २३. २३।
[2] ऋग्वेद १. १९१, १; वाजसनेयि संहिता २३. २२।

शकुन्तला, शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार एक अप्सरा का नाम है, जिसने *नाडपित्* के तट पर *भरत* को जन्म दिया था। वेवर[2] सन्दिग्ध रूप से 'नाडपित' को शकुन्तला की एक उपाधि के रूप में 'नाडपिती' पढ़ते हैं।

[1] १३. ५, ४, १३।
[2] ए० रि० ६।

शकुन्ति, ऋग्वेद (२. ४२, ३; ४३, १) में मिलता है और शकुन-सूचक 'पक्षी' का द्योतक है।

शकुल, बाद की संहिताओं[1] में एक अज्ञात प्रकार की मछली का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद २०. १३६, १; वाजसनेयि संहिता २३. २८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७।

शकृत्,[1] *शकन्*,[2] ऋग्वेद और बाद में पशुओं के 'गोबर' का द्योतक है। यह स्पष्ट है कि खाद के महत्त्व को बहुत पहले ही स्वीकार किया जा चुका था (देखिये *करीष*)। ऋतु की भविष्यवाणी करने के लिये उपलों के धूँये अथवा गोबर के धूँये के प्रयोग के लिए देखिये *शकधूम* ।

[1] केवल प्रथमा और द्वितीया में प्रयुक्त : ऋग्वेद १. १६१, १०; अथर्ववेद १२. ४, ९; तैत्तिरीय संहिता ७. १, १९, ३, इत्यादि :

[2] असरल दशाओं में 'शकन्' आधार है, अथर्ववेद १२. ४, ४; तैत्तिरीय संहिता ५. ७, २३, १; वाजसनेयि संहिता ३७. ९ ।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३६ ।

१. *शक्ति* को जैमिनीय ब्राह्मण[1] में *वसिष्ठ* का वह पुत्र बताया गया है जिसे *विश्वामित्रों* ने आग में फेंक दिया था। षड्गुरुशिष्य[2] के अनुसार, जो शाट्यायनक[3] का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं, शक्ति की कथा इस प्रकार है : शक्ति द्वारा एक प्रतिद्वन्दिता में पराजित होने पर विश्वामित्र ने *जमदग्नि* का आश्रय लिया था। जमदग्नि ने विश्वामित्र को *ससर्परी* सिखाया जिसके पश्चात् विश्वामित्र ने शक्ति को वन में भस्म कराकर अपना प्रतिशोध लिया था। बृहद्देवता[4] में इस कथा का प्रथम अंश ही मिलता है। गेल्डनर[5] ने ऋग्वेद[6] में शक्ति के मृत्यु-संघर्ष का वर्णन देखा है, किन्तु यह व्याख्या अत्यधिक सन्दिग्ध[7] है।

[1] २. ३९० (ज० अ० ओ० सो०, १८, ४७)।

[2] सर्वानुक्रमणी (मैकडौनेल संस्करण) पृ० १०७, और ऋग्वेद ७. ३२ पर।

[3] गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १५९, नोट ३ ।

[4] ४. ११२ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।

[5] उ० पु०, २, १५९ और बाद; अधिक सन्दिग्धतापूर्वक ऋग्वेद, कमेन्टर, ८९ ।

[6] ३. ५३, २२ ।

[7] ओल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २५४ ।

२. *शक्ति आङ्गिरस* (*अङ्गिरस्* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

[1] १२. ५, १६ । तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १६० ।

शक्वरी (स्त्री० बहु०) उन शक्वरी मंत्रों का द्योतक है जिन्हें महानाम्नी

मंत्र भी कहते हैं, और जिससे शक्वर सामन का गायन होता है। ऋग्वेद[1] में यही आशय प्रतीत होता है, और बाद[2] में तो यह निश्चित है।

[1] ७. ३३, ४; १०. ७१, १४; निरुक्त १. ८।
[2] अथर्ववेद १३. १, ५; तैत्तिरीय संहिता २. २, ८, ५; ६, २, ३; ३. ४, ४, १; ५. ४, १२, २; काठक संहिता २६. ४; पञ्चविंश ब्राह्मण १०. ६, ५; १२. १३, १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, ५, ११; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, १, १; ९. २, १७, इत्यादि।
तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक, २५८ और बाद।

शङ्कु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'लकड़ी की खूँटी' का द्योतक है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[3] में यह उन खूँटियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनसे किसी चमड़े को ताना जाता था। *षड्वीश*[4] को बाँधने के लिये प्रयुक्त खूँटियाँ भी इसी नाम से पुकारी गई हैं। छान्दोग्य उपनिषद्[5] में इससे 'काण्ड'[6] अथवा 'पत्तियों के तन्तुओं'[7] का अर्थ हो सकता है।

[1] १. १६४, ४८।
[2] शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, १; २, २; ६, १, ३; १३. ८, ४, १; ऐतरेय ब्राह्मण ३. १८, ६, इत्यादि।
[3] २. १, १, १०।
[4] बृहदारण्यक ६. २, १३ (माध्यन्दिन = ६. १, १३ काण्व), इत्यादि।
[5] २. २३, ४।
[6] मैक्समूलर : से० बु० ई० १, ३५।
[7] लिटिल : ग्रामेटिकल इन्डेक्स, १४९। किन्तु तु० की० ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो०, १६, २२८ जो जैमिनीय ब्राह्मण २. १० में 'शूची' की तुलना करते हैं; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १०, ३।

१. *शङ्ख*, अथर्ववेद[1] में *कृशन* उपाधि के साथ कवच के रूप में प्रयुक्त मोती के शङ्ख का द्योतक है। बाद के साहित्य[2] में यह फूँक कर बजाये जाने-वाले 'शङ्ख' का द्योतक है।

[1] ४. १०, १। देखिये व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १६१ में लैनमैन।
[2] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, ९; ४. ५, १०।

२. *शङ्ख कौष्य* का उस गुरु के रूप में उल्लेख जिसकी काठक संहिता (२२. ७; तु० की० ६) में *जात शाकायन्य* ने आलोचना की थी।

३. *शङ्ख बाभ्रव्य* (*बभ्रु* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४१, १; ४. १७, १) में *राम* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

शङ्ख-ध्म (शङ्ख बजानेवाला) को यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों के अन्तर्गत रक्खा गया है। इसका बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में भी उल्लेख है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १३, १।
[2] २. ४, ९; ४. ५, १०।

शङ्ख शाट्यायनि ('शाट्यायन' का वंशज) आत्रेय (अत्रि का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, १) में नगारिन् के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

शचीवन्त्, प्रत्यक्षतः ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर, जहाँ सम्बोधक 'शचीवः' आता है, किसी व्यक्ति का नाम है। किन्तु रौथ[2] इसके स्थान पर 'शची च' पढ़ना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

[1] १०. ७४, ५।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०८; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, ४८९, नोट।

शण, एक प्रकार के 'सन्' (Cannabis sativa अथवा Crotolaria juncea) का द्योतक है। अथर्ववेद[1] में इसे वन में उगनेवाला और *जङ्गिड* की ही भाँति *विष्कन्ध* के विरुद्ध प्रयुक्त ओषधि बताया गया है। यह शतपथ ब्राह्मण[2] में भी आता है।

[1] २. ४, ५।
[2] ३. २, १, ११; ६. ६, १, २४; २, १५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६८।

शण्ड को यजुर्वेद संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में असुरों के पुरोहित के रूप में *मर्क* के साथ सम्मिलित किया गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ४.१०, १; मैत्रायणी संहिता ४. ६, ३; वाजसनेयि संहिता ७. १२. १३ (१६. १७, में मर्क)।
[2] शतपथ ब्राह्मण ४. २, १, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १, ५। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २२३।

शण्डिक, बहुवचन में ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है। लुडविग[2] के अनुसार यह सूक्त शण्डिकों और उनके राजा पर विजय की स्तुति है।

[1] ३. ३०, ८।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५३।

शत-द्युम्न, उस व्यक्ति का नाम है जिसे *यज्ञेषु* के साथ-साथ, तैत्तिरीय ब्राह्मण (१. ५, २, १) के अनुसार, *मात्स्य* ने यज्ञ करने के ठीक-ठीक क्षण के अपने ज्ञान द्वारा सम्पन्न बनाया था।

शत-पति, मैत्रायणी संहिता[1] के एक मन्त्र और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में इन्द्र की एक उपाधि के रूप में आता है। इन्द्र को मनुष्यों में 'एक सौ का अधिपति' कहा गया है। इस व्याहृति की 'शत देवों के अधिपति' के रूप में व्याख्या करना, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्य में किया गया है, स्पष्टतः असम्भव है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ एक ऐसे मानव अधिपति—शत ग्रामों का अधिपति जो कि बाद के विधानों में ज्ञात है[3]—का सन्दर्भ है जो एक साथ ही राजा का नैयायिक सहायक और कर-संग्राहक दोनों ही होता था।

[1] ४. १४, १२।
[2] २. ८, ४, २।
[3] देखिये फॉय : टी० गे०, ७४।

शत-बलाक्ष मौद्गल्य (*मुद्गल* का वंशज) निरुक्त (११. ६) में एक वैयाकरण का नाम है।

शत-मान्—देखिये *मान* और *कृष्णल*।

शत-यातु (शत-अभिचारीय शक्तियों वाला) ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है। इसका *पराशर* के बाद और *वशिष्ठ* के पहले उल्लेख है। गेल्डनर[2] के विचार मे यह वसिष्ठ का एक पुत्र रहा हो सकता है।

[1] ७. १८, २१।
[2] वेदिशे स्टूडियन, २, १३२। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३९।

शत-रुद्रिय,[1] *शत-रुद्रीय*,[2] यजुर्वेद[3] के उस अंश का नाम है जो रुद्रदेव के शत-पक्षों और उनकी अनेक उपाधियों का उल्लेख करता है।

[1] काठक संहिता २१. ६; शतपथ ब्राह्मण ९. १, १, १; २, १; १०. १, ५, ३. १५।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ३, १; ५, ९, ४; ७, ३, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ११, ९, ९, इत्यादि।
[3] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, १–११; काठक संहिता १७. ११–६६; मैत्रायणी संहिता २. ९, १ और बाद; वाजसनेयि संहिता १६. १ और बाद।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २०२; वेबर : इन्डियन लिटरेचर, १०८, १११, १५९, १६९, १७०; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, १५० और बाद।

शत-शारद, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में 'सौ शरद्-ऋतुओं' अथवा 'वर्षों' का द्योतक है।

[1] ७. १०१, ६; १०. १६१, २।
[2] १. ३५, १; ८. २, २; ५, २१।

शतानीक शात्राजित का ऐतरेय ब्राह्मण[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में एक महान राजा के रूप में उल्लेख है, जो *काशि* के राजा *धृतराष्ट्र* को पराजित करके उसके यज्ञाश्व को अपने साथ ले गया था। यह स्पष्टतः एक *भरत* था। अथर्ववेद[3] में भी इसका उल्लेख है।

[1] ८. २१, ५।
[2] १३. ५, ४, ९-१३।
[3] १. ३५, १ = वाजसनेयि संहिता ३४. ५२, दाक्षायणों के सन्दर्भ में।

शत्रि अग्नि-वेशि ('अग्निवेश' का वंशज), ऋग्वेद[1] में एक उदार दाता का नाम है।

[1] ५. ३४, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५५।

शत्रु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में शत्रु या वैरी का द्योतक है।

[1] १. ३३. १३; ६१, १३; २. २३, ११; ३०, ३ और बाद; ३. १६, २; ४. २८, ४, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. ३, १; ६. ४, २; १०. ३, १, इत्यादि।

शं-तनु, यास्क[1] द्वारा वर्णित एक कथा का नायक है, जो अक्सर बाद[2] में भी मिलता है। यह अपने भ्राता *देवापि* के स्थान पर स्वयं *कुरुओं* का राजा बन गया था। जब इसके पाप-कर्मों ने इसके राज्य को दीर्घ काल तक अकाल-ग्रस्त रक्खा तब यह अपने भ्राता से राजसत्ता ग्रहण करने का निवेदन करने के लिये विवश हुआ; किन्तु देवापि ने इसे अस्वीकृत करते हुये, इसके लिये एक ऐसा यज्ञ किया जिससे वर्षा हो गई। सीग[3] ने ऋग्वेद[4] में इस कथा को ढूँढने का प्रयास किया है, किन्तु यहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि देवापि *आर्ष्टिषेण* ने (इसमें सन्देह नहीं कि एक पुरोहित के रूप में) शंतनु (इसमें सन्देह नहीं कि यह एक राजा है) के लिये वर्षा करायी थी। यहाँ इन दोनों के सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है।

[1] निरुक्त २. १०।
[2] बृहद्देवता ७. १५५ और बाद, मैकडौनेल की *टिप्पणी सहित*; सीग : सा० ऋ०, १२९ और बाद।
[3] उ० स्था०।
[4] १०. ९८।

शपथ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'शाप' का द्योतक है, किसी नैयायिक पद्धति

[1] १०. ८७, १५; निरुक्त ७. ३।
[2] अथर्ववेद ३. ९, ५; ४. ९, ५; १८, ७; १९, ७, इत्यादि।

के रूप में शपथ लेने का नहीं। किन्तु इस प्रकार की शपथ का भी सम्भव होना, जैसा कि बाद में है, कम से कम ऋग्वेद[3] के उस स्थल द्वारा व्यक्त होता है जहाँ वक्ता, सम्भवतः *वसिष्ठ*, इस बात की शपथ लेते हैं कि यदि वह ऐन्द्रजालिक हों तो उनको मृत्यु ग्रसित कर ले और यदि नहीं तो उनके शत्रुओं की मृत्यु हो।

[3] ७. १०४, १५।

तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ३२६, ३२७।

१. शफ (खुर) 'अष्टमांश' का द्योतक है, क्योंकि गाय के खुर इसी प्रकार विभक्त होते हैं। इसी आधार पर एक चतुष्पाद पशु के एक *पाद* को 'चतुर्थांश' के बराबर माना गया है। यह आशय ऋग्वेद[1] जैसे प्राचीन समय तक में मिलता है और बाद[2] में भी दुर्लभ नहीं है।

[1] ८. ४७, १७।
[2] अथर्ववेद ६. ४६, ३; १९. ५७, १; तैत्तिरीय संहिता ६. १, १०, १; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ३, ३, इत्यादि।

तु० की हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १६, २७८; १७, ४७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २५९।

२. शफ, ब्राह्मणों[1] में लकड़ी के एक ऐसे उपकरण का नाम (द्विवचन में प्रयुक्त) है जिसका किसी लोहे के पात्र को आग से उठाने के लिये सँड़सी के रूप में प्रयोग होता था। इसे सम्भवतः इसीलिये ऐसा कहा गया है कि दो भागों में विभक्त होने के कारण खुर के साथ इसकी समानता थी।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण १. २२, १४; शतपथ ब्राह्मण १४. २, १, १६। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ४५८, नोट ४; ४७६।

शफक, अथर्ववेद[1] में किसी पौधे का नाम है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[2] में भी इसका उल्लेख है जहाँ यह किसी खाने के योग जलीय पौधे अथवा फल, सम्भवतः कमलगट्टे, का द्योतक है। इसकी पत्तियों का आकार खुर (*शफ*) की भाँति होने के कारण इसे ऐसा कहा गया प्रतीत होता है।

[1] ४. ३४, ५।
[2] ९. १४, १४।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १८, १३८; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७०; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २०७।

शफाल, बौधायन श्रौत सूत्र[1] में *ऋतुपर्ण* के राज्य का नाम है।

[1] २०. १२। तु० की० कैलैन्ड : ऊ० बौ०, २१, ३६।

शबर, एक जंगली जाति का नाम है, जिसे ऐतरेय ब्राह्मण[1] में दस्युओं के रूप में *अन्ध्रों*, *पुलिन्दों*, *मूतिबों*, और *पुण्ड्रों* के साथ वर्गीकृत किया गया है।

[1] ७. १८, २; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. २६, ६। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ४८३।

शमितृ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उस व्यक्ति का द्योतक है जो वध किये गये पशु को काटता था। कभी-कभी इससे केवल एक 'रसोईये' का ही आशय व्यक्त होता है।

[1] १. १६२, ९ और बाद; २. ३, १०; ३. ४, १०; ५. ४३, ४, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १०. ९, ७ ('शतौदन' पकाने वाला); वाजसनेयि संहिता १७. ५७; २१. २१; २३. ३९; ऐतरेय ब्राह्मण २. ६, २; ७, १०–१२; ७. १, २; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १८, ४, इत्यादि।

शमी, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में एक वृक्ष का नाम है। अथर्ववेद[3] में इसका केशों के लिये विनाशकारी होने,[4] मादकता उत्पन्न करनेवाले, और चौड़ी पत्तियों वाले के रूप में वर्णन है। Prosopis spicigera अथवा Mimosa suma नामक उन दो वृक्षों में इन गुणों का सर्वथा अभाव है, जिनके साथ 'शमी' को सामान्यतया समीकृत किया गया है।[5] यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के लिये *अरणी* की दो लकड़ियों में से निचली का निर्माण शमी की नर्म लकड़ी से होता था,[6] जबकि ऊपरी लकड़ी *अश्वत्थ* की बनी होती थी। इस वृक्ष के फल को शमीधान्य[7] कहा गया है।

[1] अथर्ववेद ६. ११, १; ३०, २. ३।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. १, ९, ६; ४, ७, ४ (निचली 'अरणी' के लिये); काठक संहिता ३६. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ११ और बाद; ६, ४, ५; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, १२; ९. २, ३, ३७, इत्यादि।

[3] अथर्ववेद ६. ३०, २. ३।

[4] धन्वन्तरीय निघन्टु, पृ० १८८ (पूना संस्करण) में शमी और उसके फल को केशों का नाश करनेवाला बताया गया है।

[5] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३०२ में देखिये रौथ।

[6] अथर्ववेद ६. ११, १; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १, १५; तु० की० १३; ३. ४, १, २२; तैत्तिरीय संहिता ५. १, ९, ६; ४, ७, ४।

[7] शतपथ ब्राह्मण १. १, १, १०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५९, ६०।

शम्बर ऋग्वेद[1] में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है। इसका *शुष्ण*, *पिप्रु*, और *वर्चिन्* के साथ उल्लेख है, और एक स्थल पर इसे 'कुलितर'[2] का पुत्र, एक *दास* कहा गया है। एक अन्य स्थल[3] पर ऐसा कथन है कि यह अपने को 'देवक' मानता था। इसके नब्बे[4], निन्यान्बे[5], अथवा एक सौ[6] दुर्गों का सन्दर्भ मिलता है, और एक वार[7] क्लीव बहुवचन में यह शब्द स्वयं 'शम्बर के दुर्गों' का द्योतक है। इसका एक महान् शत्रु *दिवोदास अतिथिग्व* था जिसने इन्द्र की सहायता से इस पर अनेक वार विजय प्राप्त की थी।[8]

यह कह सकना असम्भव है कि शम्बर एक वास्तविक व्यक्ति था अथवा नहीं। हिलेब्रान्ट[9] दृढ़तापूर्वक इस सिद्धान्त के पक्ष में मत व्यक्त करते हैं कि दिवोदास के शत्रु के रूप में यह एक वास्तविक प्रधान था: इसके नामोल्लेख के आँकड़ों[10] के आधार पर यह दिखाते हैं कि, जहाँ दिवोदास के समसामयिक सूक्तों में इसे एक वास्तविक शत्रु माना गया है, वहीं वाद के स्थलों, जैसे सातवें मण्डल में घटना-स्थल के अर्कोसिया से भारत में स्थानान्तरित हो जाने के कारण, इसे एक दानव बना दिया गया है। इस सिद्धान्त के अतिरिक्त भी, वास्तव में वहुत सम्भवतः शम्बर भारत में पर्वतों पर रहने वाला एक आदिवासी शत्रु था।[11]

[1] १. ५१, ६; ५४, ४; ५९, ६; १०२, २; १०३, ८; ११२, १४; १३०, ७; २. १२, ११; १४, ६; १९, ६; ४. २६, ३; ३०, १४; ६. १८, ८; २६, ५; ३१, ४; ४३, १; ४७, २. २१; ७. १८, २०; ९९, ५।
[2] ऋग्वेद ६. २६, ५।
[3] ऋग्वेद ७. १८, २०।
[4] ऋग्वेद १. १३०, ७।
[5] ऋग्वेद २. १९, ६।
[6] ऋग्वेद २. १४, ६।
[7] ऋग्वेद २. २४, २।
[8] ऋग्वेद १. ५१, ६; १३०, ७; २. १९, ६; ४. २६, ३, इत्यादि।
[9] वेदिशे माइथौलोजी, १, १०३, १०८; ३, २७३।
[10] मण्डल १, में सात बार; २, में चार वार; ४, में दो बार; ६, में छह वार; ७ में दो वार। प्रत्यक्षतः यह सन्दर्भ अन्यत्र की अपेक्षा मण्डल ६ में अधिक वास्तविकता सिद्ध करते हैं। २, के सन्दर्भ निश्चित रूप से पौराणिक हैं, और ७, के भी बहुत कुछ ऐसे ही।
[11] ऋग्वेद १. १३०, ७; ४. ३०, १४; ६. २६, ५।

तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७७; मैकडौनेल: वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६१; ओल्डेनवर्ग: त्सी० गे० ४२, २१०; गेल्डनर: ऋग्वेद ग्लॉसर, १७८।

शम्बिन्, जो कि केवल एक बार ही आता है, अथर्ववेद (९. २, ६) में 'पार उतारने वाले नाविक' का द्योतक प्रतीत होता है। इसका शब्दार्थ कदाचित् 'लट्ठे वाला व्यक्ति' है ('शम्ब' से, जो ऋग्वेद १०. ४२, ७ में मिलने वाला एक सन्दिग्ध आशय का शब्द है)।

शंमद् आङ्गिरस (*अङ्गिरस* का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण (१५. ५, ११) में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।[1]

[1] तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १६०।

शम्या, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक 'खूँटी', और अधिक विशिष्टतः, 'मील के पत्थर' का द्योतक है।[3] जूये[4] के सन्दर्भ में यह उन कीलों का द्योतक है जो जूये में बैल के गले को ठीक स्थान पर रखने के लिये जूये के दोनों किनारों पर लगी होती थीं।[5] लम्बाई के एक नाप के रूप में भी 'शम्या' का प्रयोग होता था।[6]

[1] १०. ३१, १०।

[2] अथर्ववेद ६. १३८, ४; २०, १३६, ९; तैत्तिरीय संहिता ६.२, ७, १; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १०, ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ५, २, ७, इत्यादि।

[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, १, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, २२; २, १, १६ और बाद; ५. २, ३, २ इत्यादि।

[4] ऋग्वेद ३. ३३, १३; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, २५; तैत्तिरीय संहिता १. ६, ८, ३।

[5] पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ५, २०। तु० की० ११. १, ६; १५. ७, ६; ग्रियर्सन : विहार पीजेन्ट लाइफ, १९४, और पृ० ३३ का चित्र; कनिङ्घम : स्तूप ऑफ वरहुत, प्लेट २८; कैलेण्ड और हेनरी : ल' अग्निष्टोम, ४९।

[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ६, २। कात्यायन श्रौतसूत्र ५. ३, २० के भाष्य के अनुसार इसकी लम्बाई ३२ अङ्गुल थी। यह २ फीट के बराबर होगा; तु० की० फ्लीट : ज० ए० सो० १९१२, २३२।

शयण्डक—देखिये *शयाण्डक*।

शयन, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'पर्यङ्क' अथवा 'मंच' का द्योतक है। तु० की० *तल्प*, *वह्य*।

[1] ३. २५, १; ५. २९, ८।

[2] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १, २; ७, ४।

शयाण्डक तैत्तिरीय संहिता[1] में उस पशु के नाम का रूप है जिसे मैत्रायणी[2] और वाजसनेयि[3] संहिताओं में 'शयण्डक' लिखा गया है। रौथ[4] के

[1] ५. ५, १४, १।

[2] ३. १४, १४।

[3] २४. ३३।

[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९५।

अनुसार इससे एक प्रकार के पक्षी का तात्पर्य है, किन्तु तैत्तिरीय संहिता का भाष्यकार इसे *कृकलास* के साथ समीकृत करता है ।

शयु, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है । अश्विनों ने इसकी गाय को दुग्धा बनाया था ।

[1] १. ११२, १६; ११६, २२; ११७, २०; ११८, ८; ११९, ६; ६. ६२, ७; ७. ६८, ८; १०. ३९, १३; ४०, ८ ।

१. शर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक प्रकार की 'नरकट' (Saccharum Sara) का द्योतक है । बाण के काण्ड के लिये इसके प्रयोग[3], और इसके शीघ्रतापूर्वक टूटने का[4], अथर्ववेद में स्पष्ट उल्लेख है । तु० की० *शर्य* ।

[1] १. १९१, ३ ।

[2] अथर्ववेद ४. ७, ४; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ६, २; ६. १, ३, ३; काठक संहिता ११. ५; २३. ४; शतपथ ब्राह्मण १. २, ४, १; ३. १, ३, १३; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, ११, इत्यादि; निरुक्त ५. ४, इत्यादि ।

[3] अथर्ववेद १. २, १; ३, १ ।

[4] अथर्ववेद ८. ८, ४ ।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१ ।

२. शर आर्चत्क ('ऋचत्क' का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है । फिर भी, 'आर्चत्क' का पैतृक नाम होना अत्यन्त सन्दिग्ध है ।

[1] १. ११६, २२; तु० की० सम्भवतः १. ११२, १६; ओल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १०३ । तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५० ।

३. शर शौर-देव्य ('शूरदेव' का वंशज) ऋग्वेद[1] में उस उदार दाता का नाम है जिसने तीन गायकों को एक ही बछड़ा दान में दिया था । इस दानस्तुति का व्यंगात्मक होना निश्चित प्रतीत होता है ।[2]

[1] ८. ७०, १३–१५ ।

[2] पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, ५–७; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६३; ५, १७५ ।

शरद्—देखिये *ऋतु* ।

१. शरभ, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में किसी जंगली पशु का नाम है । बाद के संस्कृत साहित्य में यह आठ पैरोंवाला एक पौराणिक पशु है जो हिम-

[1] ९. ५, ९ । तु० की० शलभ ।

[2] तैत्तिरीय संहिता ४. २, १०, ४; वाजसनेयि संहिता १३. ५१; ऐतरेय ब्राह्मण २. ८, ५; शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, ९, इत्यादि ।

मण्डित पर्वतों में रहता है और सिंहों तथा हाथियों का शत्रु है : भाष्यकार महीधर ने वाजसनेयि संहिता में भी यही आशय देखा है किन्तु निराधार रूप से ही। इस पशु को बकरे से मिलता-जुलता बताया गया है;[3] यह सम्भवतः एक प्रकार का मृग था।

[3] अथर्ववेद, उ० स्था०; शतपथ ब्राह्मण, उ० स्था०। एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ५२, नोट १, परम्परागत मान्यता को ही स्वीकार करते हैं।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८९।

२. *शरभ*, ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है।

[1] ८. १००, ६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।

शरव्या (वाण-प्रहार), ऋग्वेद[1] और बाद[2] में मिलनेवाली एक व्याहृति है।

[1] ६. ७५, १६; १०. ८७, १३।
[2] अथर्ववेद १. १९, १. ३; ५. १८, ९; ११. १०, ६; १२. ५, २५. २९; तैत्तिरीय संहिता ४. ५, १, १, इत्यादि।

शराव ब्राह्मणों[1] में अन्न का एक नाम है।

[1] 'सप्तदश-शराव' तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ४, ५; ६, ८; शतपथ ब्राह्मण ५. १, ४, १२।

शरीर वैदिक साहित्य[1] में बहुधा ही मिलनेवाला शब्द है। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर की आन्तरिक रचना की समस्या की ओर वैदिक भारतीयों का ध्यान बहुत पहले ही आकर्षित हुआ था। इसीलिये अथर्ववेद[2] के एक सूक्त में शरीर के अनेक अंगों की गणना कराई गई है जिसमें शुद्धता और व्यवस्था दोनों ही मिलती है[3]। इस स्थल पर एड़ियाँ (पार्ष्णी), मांस, टखने की हड्डियाँ (गुल्फौ), उँगलियाँ (अङ्गुलीः), छिद्र (ख), दो उच्छ्लूक, प्रतिष्ठा (पैर और टखनों के मध्य का भाग), दो घुटने की टोपियाँ (अष्ठीवन्तौ), दो जाँघें (जङ्घे), दो घुटने के जोड़ (जानुनोः सन्धी), का उल्लेख है। इनके बाद दोनों घुटनों के ऊपर चौकोर (चतुष्टय) सरलता से मुड़नेवाला (शिथिर) धड़ (कबन्ध) आता है। दोनों 'श्रोणी' और दो

[1] ऋग्वेद १. ३२, १०; १०. १६, १, इत्यादि; अथर्ववेद ५. ९, ७; १८. ३, ९, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ३४. ५५; तैत्तिरीय संहिता १. ७, २, १; ऐतरेय ब्राह्मण २. ६, १३; १४, २; शतपथ ब्राह्मण १०. १, ४, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, ८।
[2] १०. २।
[3] तु० की० हार्नले : ज० ए० सो० १९०७, १०-१२; ऑस्टियोलोजी, १०९-१११, २४२।

जाँघों (ऊरू) पर 'कुसिन्ध' टिका हुआ है। इनके बाद वक्षस्थल की अस्थियाँ (उरस्), ग्रीवायें, वक्ष के दोनों भाग (स्तनौ), दो 'कफोड' स्कन्ध, रीढ़ की हड्डियाँ (पृष्टीः), हँसलियाँ (अंसौ), बाहें (बाहू), शीर्ष-भाग के सात छिद्र (सप्त खानि शीर्षणि), कान (कर्णौ), नासिका रन्ध्र (नासिके), आँखें (चक्षणी), मुख, जबड़े (हनू), जिह्वा, मस्तिष्क, ललाट, मुख की हड्डियाँ (ककाटिका), कपाल, जबड़ों का ढाँचा (चित्या हन्वोः), आते हैं।

यह पद्धति बाद के उस चरक और सुश्रुत[४] पद्धतियों के साथ अत्यन्त समानता व्यक्त करती है और हार्नले द्वारा अनेक शब्दों को दिये गये आशय को निश्चित बना देती है। 'कफोडौ' का, जिसे पाण्डुलिपियों[५] में विभिन्न प्रकार से पढ़ा गया है, व्हिट्ने ने 'हँसली की हड्डी', किन्तु सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश ने 'कुहनी' अनुवाद किया है। बहुवचन में स्कन्ध नियमित[६] रूप से 'गले की हड्डियों' अथवा अधिक ठीक-ठीक आशय में गले के उस भाग को व्यक्त करता है जिसे बहुवचन में 'उष्णिहा'[७] द्वारा भी व्यक्त किया गया है। 'पृष्टी'[८] उन 'पसलियों का द्योतक नहीं है जिन्हें 'पर्शु'[९] द्वारा व्यक्त किया गया है, वरन् मेरुदण्ड का निर्माण करनेवाली कशेरुकाओं और इसी आधार पर सम्पूर्ण मेरुदण्ड का द्योतक है। मेरुदण्ड के धड़-भाग में सत्रह कशेरुकायें होती हैं जिनमें दोनों ओर निकले अनुप्रस्थ-प्रवर्धों की संख्या ३४ है। कशेरुकाओं को बहुवचन में 'कीकसा' द्वारा भी व्यक्त किया गया है,[१०] जो शब्द कभी-कभी[११] मेरुदण्ड के ऊपरी भाग का, और कभी-कभी[१२] सीने के

[४] ऑस्टियॉलोजी, ११२।

[५] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५६८। अथर्ववेद १०. ७, ३ (जहाँ 'स्कन्धों' की 'कृत्तिकाओं' के साथ तुलना की गयी है जो कदाचित् इसलिये कि इन दोनों की संख्या सात थी, किन्तु यह निश्चित नहीं है); ९, २०; ६. १३५, १; १२. ५, ६७; हॉर्नले : जर्नल, १९०६, ९१८; १९०७, १, २।

[७] अथर्ववेद ६, १३४, १; ऋग्वेद ६. १६३, २ = अथर्ववेद २. ३३, २; अथर्ववेद ९. ८, २१; १०. १०, २०।

[८] ऋग्वेद १०. ८७, १० = अथर्ववेद ८. ३, १०; अथर्ववेद ९. ७, ५. ६; १०. ९, २०; १२. १, ३४; १८. ४, १०; शतपथ ब्राह्मण ७. ६, २, ७; देखिये हार्नले, १९०७, २ और बाद; ह्विट्ने : उ० पु० ५४८; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, १६४, नोट २।

[९] अथर्ववेद ९. ७, ६. इत्यादि।

[१०] अथर्ववेद ९. ७, ५; ८, १४।

[११] अथर्ववेद ११. ८, १५।

[१२] अथर्ववेद २. ३३, २; शतपथ ब्राह्मण ७. ६, २, १०।

पीछे के भाग के मेरुदण्ड को व्यक्त करता है। 'अनूक' भी मेरुदण्ड का,[13] अथवा अधिक विशिष्टतः 'कटि'[14] और वक्ष के पीछे के भाग[15] के मेरुदण्ड का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण[15] में यह कथन है कि मेरुदण्ड के कटि-भाग (उदर) में २० अनुप्रस्थ-प्रवर्ध होते हैं और वक्ष भाग में ३२, जिनके आधार पर मेरुदण्ड की समस्त कशेरुकाओं की संख्या २६ होती है। यही मेरुदण्ड के कशेरुकाओं की वास्तविक संख्या है, किन्तु आधुनिक विभाजन के अनुसार इनमें से सात गले में, बारह वक्ष के पृष्ठ-भाग में, पाँच कटि-भाग में होती हैं, और दो मिथ्या कशेरुकायें जिन्हें 'सेक्रम' और 'कोकिक्स' कहते हैं। 'करूकर'[16] द्वारा भी मेरुदण्ड को व्यक्त किया गया है, किन्तु यह शब्द सामान्यतया बहुवचन[17] में ही आता है और अनुप्रस्थ-प्रवर्धों का द्योतक है, जो आशय 'कुन्ताप'[18] द्वारा भी व्यक्त किया गया है।

'ग्रीवा' बहुवचन में उन ग्रैवेय-कशेरुकाओं का द्योतक है, जिनकी संख्या शतपथ ब्राह्मण[19] में सात बताई गई है। किन्तु सामान्यतया[20] इस शब्द का अर्थ केवल 'श्वास-नालिका', अथवा अधिक शुद्धरूप से, त्वचा के नीचे स्थित अंगूठियों के समान कोमल अस्थि तन्तुओं से निर्मित नालिका है। बहुवचनमें जत्रु भी कोमल-ग्रैवेय अस्थि तन्तुओं,[21] अथवा गले के पृष्ठ-भाग में स्थित उन कोमल अस्थियों का द्योतक है जिन्हें शतपथ ब्राह्मण[22] में निश्चित रूप से इसी नाम से पुकारा गया है और जिनकी संख्या आठ बताई गई है।

[13] अथर्ववेद ४. १४, ८। तु० की० ९. ८, २१ (धड़-भाग का मेरुदण्ड)।

[14] अथर्ववेद २. ३३. २।

[15] शतपथ ब्राह्मण १२. २, ४, १२. १४। तु० की० अथर्ववेद ११. ३, ९ में 'ईषे अनूक्ये' पद, जहाँ गाड़ी के दो काण्डों की कशेरुका के अनुप्रस्थ-प्रवर्धों के साथ तुलना की गई है।

[16] अथर्ववेद ११. ९, ८; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त १२४।

[17] शतपथ ब्राह्मण १२. २, ४, १०. १४।

[18] वही, १२. २, ४, १२।

[19] वही, १२. २, ४, १०।

[20] ऋग्वेद ६. १६३, २ = अथर्ववेद २. ३३. २; अथर्ववेद ६. १३४, १; ९. ७, ३; १०. ९, २०; ११. ८, १५; हॉर्नले: जर्नल, १९०६, ९१६ और बाद।

[21] ऋग्वेद ७. १, १२ = अथर्ववेद १४. २, १२।

[22] १२. २, ४, ११। तु० की० ७. ६, २, १०; हॉर्नले: जर्नल, १९०६, ९२२ और बाद।

'भंसस्', जो कि अथर्ववेद[२३] में तीन बार आता है, नितम्ब के अग्रभाग की दो वक्राकार अस्थियों का द्योतक है, स्वयं नितम्बों का नहीं जैसा कि व्हिट्ने[२४] ने माना है।

शतपथ ब्राह्मण[२५] में मानव-शरीर की अस्थियों की संख्या ३६० बताई गई है। सर और धड़ की अस्थियों की संख्या का एक अन्य स्थल[२६] पर इस प्रकार उल्लेख है : सर के तीन भाग हैं जिनके अन्तर्गत त्वचा, अस्थि और मस्तिष्क आते हैं; गले में १५ अस्थियाँ होती हैं : १४ अनुप्रस्थ-प्रवर्ध (*करूकर*) *और एक मध्य में स्थित शक्ति* (*वीर्य*) *की अस्थि जिसे* पन्द्रहवाँ माना गया है; वक्ष-भाग में १७ अस्थियाँ हैं : १६ जत्रु और सत्तरहवीं उरस्; मेरुदण्ड के उदर-भाग में २१ : २० अनुप्रस्थ-प्रवर्ध (कुन्ताप) और इक्कीसवाँ उदर-भाग; दोनों पार्श्वों में २७ : २६ पसलियाँ (पर्शु) और सत्ताईसवें के रूप में दोनों पार्श्व; मेरुदण्ड के वक्ष-भाग (अनूक) में ३३ हैं : ३२ अनुप्रस्थ-प्रवर्ध और तैंतीसवें के रूप में वक्ष का भाग।

यजुर्वेद संहिताओं[२७] में केवल अस्थि-पंजर की ही नहीं वरन् शरीर के अन्य भागों की भी अनेक गणनायें हैं। इनके अन्तर्गत लोम, त्वचा, मांस, *अस्थि, मज्जन् यकृत, क्लोमन्* (*फेफड़ा*), *मतस्ने* (*गुर्दे*), पित्त, *आन्त्राणि*, गुदा, प्लीहा, नाभि, उदर, वनिष्ठु, योनि, प्लाशि अथवा शेप, मुख, शिरस्, जिह्वा, आसन्, पायु, वाल, चक्षु, पक्ष्माणि, उतानि (भौंहें) नासिका, व्यान, नस्यानि (नाक के भीतर के वाल), कर्ण, भ्रू, शरीर अथवा धड़ (आत्मन्),

[२३] अथर्ववेद २. ३३, ५; ९. ८, २१, जिसका अधिक पूर्ण विवरण पैप्पलाद शाखा में मिलता है (व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद, ७७, ५५१)। ८. ६, ५ में यह योनि का द्योतक है : ह्यॉर्नले, १६–१८।

[२४] उ० स्था०।

[२५] १०. ५, ४, १२; १२. ३, २, ३.४; ह्यॉर्नले : ऑस्टयॉलोजी, २३८, २३९ और १०६–१०९ में आलोचना जो यह व्यक्त करता है कि वैज्ञानिक पद्धति से शतपथ ब्राह्मण कितना दूर है। तु० की० कीथ : त्सी० गे० ६२, १३५ और वाद।

[२६] १२. २, ४, ९–१४; ह्यॉर्नले : ऑस्टयॉलोजी, २४०।

[२७] वाजसनेयि संहिता १९. ८१–९३; मैत्रायणी संहिता ३. ११, ९; काठक संहिता ३८. ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ४।

उपस्थ, श्मश्रूणि और केश आते हैं। एक अन्य गणना[२८] में शिरस्, मुख, केशाः, श्मश्रूणि, प्राण, चक्षुस्, श्रोत्र, जिह्वा, वाच्, मनस्, अङ्गुलीः, अङ्गानि, बाहू, हस्तौ, कर्णौ, आत्मा, उरस्, पृष्टीः, उदर, अंसौः, ग्रीवाः, श्रोणी, ऊरू, अरत्नी, जानूनि, नाभि, पायु, भसत्, आण्डौ, पसस्, जंघा, पद्, लोमानि, त्वच्, मांस, अस्थि, मज्जन्, का उल्लेख है। नामों[२९] की एक अन्य तालिका के अन्तर्गत वनिष्ठु, पुरीतत्, लोमानि, त्वच्, लोहित, मेदस्, मांसानि, स्नावानि, अस्थीनि, मज्जानः, रेतस्, पायु, कोश्य (हृदय के निकट का मांस) पार्श्व्य, इत्यादि आते हैं।

यजुर्वेद संहिताओं[३०] में अश्व के अस्थि-पंजर की अस्थियों का उल्लेख है।

ऐतरेय आरण्यक[३१] में मानव शरीर को एक सौ एक अङ्गों से मिलकर बना बताया गया है; पच्चीस-पच्चीस अवयवों के शरीर के चार-भाग होते हैं और स्वयं धड़ १०१ वाँ भाग है। दो ऊपरी भागों में चार जोड़ों वाली[३२] उङ्गलियाँ, दो कक्षसी (अर्थ निश्चित नहीं),[३३] बाहु (दोस्), हँसली की हड्डी (अक्ष), और अंस-फलक आते हैं। सायण के भाष्य के अनुसार, दो निम्नस्थ भागों के अन्तर्गत चार जोड़ों वाली पाँच पैरों की उँगलियाँ, जाँघ, पैर, और तीन जोड़ आते हैं।

शाङ्खायन आरण्यक[३४] में सर की तीन अस्थियाँ,[३५] गले के तीन जोड़ (पर्वाणि),[३६] हँसली की हड्डियाँ (अक्ष),[३७] उँगलियों के तीन जोड़,[३८] और मेरुदण्ड के २१ अनुप्रस्थ-प्रवर्ध (अनूक)[३९] का उल्लेख है। मैत्रायणी

[२८] वाजसनेयि संहिता २०. ५–१३; मैत्रायणी संहिता ३. ११, ८; काठक संहिता ३८. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ५।

[२९] वाजसनेयि संहिता ३९. ८. ९. १०।

[३०] वाजसनेयि संहिता २५. १–९; मैत्रायणी संहिता ३. १५। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ७. १।

[३१] १. २, २।

[३२] यह तथ्य के विपरीत है : हॉर्नले : ऑस्टियॉलोजी, १२२, १२३।

[३३] सम्भवतः बगल (काँख) को किसी प्रकार से दुहरा माना गया है; कीथ : ऐतरेय आरण्यक, १७५।

[३४] २. २।

[३५] तु० की० हॉर्नले : आस्टयॉलोजी, १७२ और बाद; शतपथ ब्राह्मण १२. २, ४, ९।

[३६] २. ३। देखिये कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, ९, नोट ४।

[३७] २. ४; हॉर्नले ऑस्टियॉलोजी, २०२ और बाद; कीथ : उ० पु० ९, नोट ५।

[३८] २. ५। तु० की० नोट ३२। यहाँ बाद का शाङ्खायन, ऐतरेय के अस्थिशास्त्र में कुछ सुधार करता है।

[३९] २. ६। देखिये कीथ : उ० पु० १०, नोट ४।

संहिता[४०] में सर के चार-भागों (प्राण, चक्षु, श्रोत्र और वाच्) का उल्लेख है, किन्तु इस सम्बन्ध में अनेक विभेद मिलते हैं और एक गणना[४१] में तो १२ भागों तक का उल्लेख है। तैत्तिरीय उपनिषद्[४२] की एक गणना के अन्तर्गत चर्म, मांस, स्नावन्, अस्थि और मज्जा आते हैं, जब कि ऐतरेय ब्राह्मण[४३] में लोमानि, मांस, त्वच्, अस्थि, मज्जन्; और ऐतरेय आरण्यक[४४] में मज्जानः, स्नावानि और अस्थीनि हैं। शरीर से सम्बद्ध अन्य शब्द इस प्रकार हैं: कङ्कूष[४५] जो सम्भवतः कान[४६] का एक भाग है, योनि, कक्ष,[४७] दन्त, नख, प्रपद,[४८] और हलीक्ष्ण[४९]।

[४०] ३. २, ९।

[४१] देखिये कीथ: ऐतरेय आरण्यक १८५, १९२, १९५ में सन्दर्भ। संख्यायें भिन्न और काल्पनिक हैं, अतः इनका वैज्ञानिक महत्व नहीं है।

[४२] १. ७, १।

[४३] ६. २९, ४।

[४४] ३. २, १. २; शाङ्खायन आरण्यक ८. १, २।

[४५] अथर्ववेद ९. ८, २ जहाँ पैप्पलाद शाखा में 'कङ्कुख' है।

[४६] त्सिमर: आल्टिन्डशे लेबेन, ३७८।

[४७] अथर्ववेद ६. १२७, २। तु० की० 'काक्षी', मैत्रायणी संहिता ४. ५, ९।

[४८] अथर्ववेद २. ३३, ५ जिस पर व्हिट्ने के अनुवाद, पृ० ७७ में लैनमैन; कीथ: ऐतरेय आरण्यक २०४। इस आरण्यक में २. १, ४, पैर के अँगूठे के आशय को असम्भाव्य बना देता है।

[४९] अथर्ववेद २. ३३, ३; व्हिट्ने: उ० पु० ७६। तु० की० हॉर्नले: ज० ए० सो० १९०६, ९१६ और बाद; १९०७, १ और बाद; ऑस्टियॉलोजी में सर्वत्र।

शरु, ऋग्वेद[१] और अथर्ववेद[२] में एक प्रक्षेप्यास्त्र का द्योतक है। इससे निश्चित रूप से 'बाण'[३] का और सम्भवतः कभी-कभी 'भाले' या 'तोमर'[४] का आशय है।

[१] १. १००, १८; १७२, २; १८६, ९; २. १२, १०; ४. ३, ७; २८, ३ इत्यादि।

[२] १. २, ३; १९, २; ६. ६५, २; १२. २, ४७।

[३] उदाहरण के लिये ऋग्वेद १०. १२५, ६; और १०. ८७, ६।

[४] सम्भवतः ऋग्वेद ४. ३, ७, जहाँ इसके लिये 'बृहती' व्यवहृत हुआ है, और जहाँ लाक्षणिक प्रयोग तथा 'तोमर' ही सर्वोपयुक्त आशय प्रतीत होता है।

तु० की० श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, २२३; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ३०१।

शर्करा (स्त्री० बहु०) बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'बालू के कण' और 'कंकड़' का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद ११. ७, २१; तैत्तिरीय संहिता ५. १, ६, २; २, ६, २; ६, ४, ४, इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ७; २, १, ४; ३. १२, ६, २; शतपथ ब्राह्मण २. १, १, ८, इत्यादि।

शर्कराख्य—देखिये *शार्कराक्ष*।

शर्कोट, अथर्ववेद[1] में एक पशु का नाम है। यह या तो एक 'सर्प' है, जैसा कि रौथ[2] तथा त्सिमर[3] का विश्वास था, अथवा 'बिच्छू' जैसा कि ग्रिल,[4] हेनरी,[5] और ब्लूमफील्ड[6] मानते हैं।

[1] ७. ५६, ५।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, बाद के 'कर्कोटक' की तुलना करते हुये।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, ९५।

[4] हुन्डर्ट लीडर,[2] १८३।

[5] ले०, ८२।

[6] अथर्ववेद के सूक्त, ५५४, ५५५।

शर्ध—देखिये *व्रात*।

शर्ध्य को ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर रौथ[2] ने सम्भवतः रथ के किसी भाग के द्योतक के रूप में ग्रहण किया है। फिर भी, इसका आशय सर्वथा अनिश्चित है।

[1] १. ११९, ५।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

शर्य,[1] *शर्या*,[2] ऋग्वेद में 'बाण'[3] के द्योतक प्रतीत होते हैं। सम्भवतः 'शर्या'[4] और 'शर्य'[5] (क्लीव) सोम की चलनी की बिनावट के भी द्योतक हैं, किन्तु इन स्थलों का ठीक-ठीक आशय संदिग्ध[6] है।

[1] १. ११९, १०, जहाँ आशय निश्चित नहीं है।

[2] १. १४८, ४; १०. १७८, ३। तु० की० निरुक्त ५. ४; १०. २९।

[3] १. शर से निष्कृष्ट, और शब्दार्थ 'नरकट से बना', होने के रूप में।

[4] ऋग्वेद ९. ११०, ५; १०. ६१, ३।

[5] ऋग्वेद ९. १४, ४; ६८, २।

[6] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, ५२, ऋग्वेद ९. ६८, २ में 'शर्याणि' को सोम-पौधे की बाह्य छाल के अर्थ में ग्रहण करते हैं। देखिये गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, २५५, नोट १, भी।

शर्यणावन्त् ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर आता है, जहाँ सर्वत्र सायण

[1] १. ८४, १४; ८. ६, ३९; ७, २९; ६४, ११; ९. ६५, २२; ११३, १; १०. ३५, २। देखिये जैमिनीय ब्राह्मण ३. ६४ (ज० अ० ओ० सो० १८, १७); ऋग्वेद १. ८४, १३, पर सायण में शाट्यायनक।

ने इसमें एक स्थानीय नाम का आशय देखा है। सायण के विवरण के अनुसार, 'शर्यणाः' (पु०, बहु०) *कुरुक्षेत्र* का एक जिला, और 'शर्यणावन्त्' एक झील है जो कुरुक्षेत्र के पिछले भाग (जघनार्धे) में इस जिले से बहुत दूर नहीं। इस विषय पर सायण की उक्तियों की असामान्य संगति इस शब्द के एक स्थान-नाम होने के अनुकूल है; इसे भी ध्यान में रखना चाहिये कि *अन्यतःप्लक्षा* नामक झील कुरुक्षेत्र में ही थी। फिर भी, रौथ[2] का विचार था कि दो स्थलों[3] पर यह शब्द केवल किसी झील का, जिसका शब्दार्थ 'नरकट (शर्यण) की झाड़ी से ढँका (जल)' है, एक और अन्य पर सोम-पात्र का द्योतक है। त्सिमर[4] इसी आशय के पक्ष में हैं। दूसरी ओर पिशल[5] सायण के मत को ग्रहण करते हैं। हिलेब्रान्ट[6] ने भी इस शब्द को स्थान-नाम माना है, किन्तु आप इसे 'पाँच जातियों'[7] के बीच स्थित करते हैं, जिसकी इसके कुरुक्षेत्र में होने के तथ्य के साथ असंगति नहीं है क्योंकि *पूरुओं* का बाद के *कुरुओं* के साथ सम्बन्ध[8] ज्ञात है; अथवा आप यह भी विचार व्यक्त करते हैं कि 'शर्यणावन्त्' सम्भवतः कश्मीर के उस वूलर सागर का ही एक प्राचीन नाम है जिसकी वैदिक काल में एक स्मृति ही थी। यह सम्भाव्य नहीं; और इससे भी कम सम्भव लुडविग की यह मान्यता[9] है कि 'शर्यणावन्त्' बाद की पूर्वी *सरस्वती* है। बर्गेन[10] ने इसे एक दिव्य सोम-निर्माता का नाम माना है।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] १. ८४, १४; १०. ३५, २।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, १९, २०।
[5] वेदिशे स्टूडियन, २, २१७। इसी प्रकार मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३९८ ३९९।
[6] वेदिशे माइथौलोजी, १, १२६ और बाद।
[7] यह ऋग्वेद ९. ६५, २२ से किसी निश्चित रूप से निष्कृष्ट नहीं होता।
[8] हिलेब्रान्ट : उ० पु०, १, १४२, नोट ४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०५।
[9] उ० पु० ३, २०१।
[10] रिलीजन वेदिके, १, २०६।

शर्यात का ऋग्वेद[1] में एक बार अश्विनों के एक आश्रित के रूप में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[2] और जैमिनीय ब्राह्मण[3] में इसके सम्बन्ध में यह कथा है कि किस प्रकार *शर्यातों* से *च्यवन* रुष्ट, और शर्यात की पुत्री *सुकन्या* को पत्नी रूप में प्राप्त करने पर प्रसन्न हो गये थे, और इसके बाद अश्विनों ने

[1] १. ११२, १७।
[2] ४. १, ५, २।
[3] ३. १२०–१२२ (ज० अ० ओ० सो० ११, cxlv)।

च्यवन को पुनः यौवन-दान दिया था। इसे *मानव* ('मनु' का वंशज) कहा गया है। यह एक यज्ञकर्त्ता, शर्यात मानव, के रूप में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[४] में भी आता है।

[४] ४. ७, १; ८, ३. ५। तु० की० मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २५० और बाद; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, २७२ और बाद; ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १६, २३६, २३७।

शर्व-दत्त (शर्व-देव द्वारा प्रदत्त) *गार्ग्य* (*गर्ग* का वंशज), वंश ब्राह्मण[१] में एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२, ।

शल को अथर्ववेद,[१] काठक संहिता[२] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[३] में सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश ने 'लम्बाई के एक नाप के रूप में व्याख्या की है। ह्विट्ने[४] यह आपत्ति करते हैं कि इन सभी स्थलों[५] का आशय इस अर्थ के अनुकूल नहीं है।

[१] ८. ७, २८।
[२] १२. १० (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६४)।
[३] १. ५, १०, १ (जहाँ भाष्य की यही व्याख्या है)।
[४] अथर्ववेद का अनुवाद, ५०१।
[५] आप काठक पर ध्यान नहीं देते। इनकी आलोचना के विरुद्ध यह ध्यान देना चाहिये कि इन स्थलों में से प्रत्येक पर एक संख्यावाचक शब्द को 'शल' के साथ समस्त किया गया है, जैसे 'त्रिशल', इत्यादि।

शलभ (टिड्डी) अथर्ववेद[१] की पैप्पलाद शाखा में *सरभ* के लिये आता है और ह्विट्ने[२] इसे अधिक सार्थक मानते हैं।

[१] ९. ५, ९।
[२] अथर्ववेद का अनुवाद, ५३४। किन्तु इस स्थल पर बकरे का उल्लेख 'सरभ' की प्रबल पुष्टि करता है। देखिये, शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, ९।

शलली, साही के काँटे का द्योतक है जिसका बालों को पृथक् करने तथा आँखों में आँजन लगाने के लिये प्रयोग होता था।[१]

[१] काठक संहिता २३. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ६, ६; शतपथ ब्राह्मण २. ६, ४, ५।

शलुन अथर्ववेद[१] में मिलता है और एक 'कीड़े' का द्योतक है। पैप्पलाद शाखा में 'शल्ल' पाठ है और सायण ने 'शलग' माना है।

[१] २. ३१, २। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ७३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३१५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८ (शलुन)।

शल्क, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में अग्नि इत्यादि प्रज्वलित करने के लिये प्रयुक्त लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़ों या छिलकों का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. २, ९, ३; ४, २, ३; काठक संहिता २०. ८; २७. ७, इत्यादि।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण २. १४, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ९, ९; २, १, १५।

शल्मलि, सेमल के वृक्ष (Salmalia Malabarica) का द्योतक है। ऋग्वेद[1] में इसके फल को विषैला माना गया है, किन्तु वर की गाड़ी इसी लकड़ी[2] की होती थी। इसे वृक्षों में सबसे ऊँचा बताया गया है।[3]

[1] ७. ५०, ३।
[2] १०. ८५, २०।
[3] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १२, १; वाजसनेयि संहिता २३. १३; शतपथ ब्राह्मण १३. २, ७, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ४, ११, इत्यादि।
तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ३१७, नोट २।

शल्य—देखिये *इषु*।

शल्यक, वाजसनेयि संहिता[1] और बाद[2] में 'साही' (एक काँटेदार जीव) का द्योतक है।

[1] २४. ३५।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ३. २६, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८२।

शवर्त, अथर्ववेद[1] और तैत्तिरीय संहिता[2] में कीड़े की एक जाति का नाम है।

[1] ९. ४, १६, एक विभेदात्मक पाठ 'स्ववर्त' के साथ, व्हिट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद, ५३१।
[2] ५. ७, २३, १।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८। सम्भवतः रौथ यह मानते हुये ठीक प्रतीत होते हैं कि यह शब्द = 'शव-वर्त', अर्थात् 'सड़ा हुआ मांस खानेवाला' एक कीड़ा।

शवस्, वंश ब्राह्मण[1] में *अग्निभू काश्यप* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

शवस, गोपथ ब्राह्मण, (१. २, ९) में केवल एक बार 'स-वशोशीनरेषु' के लिये मिथ्या पाठ 'शवस-उशीनरेषु' में आता है। देखिये *वश*।

शविष्ठ, लुडविग[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] में एक उदार दाता का नाम है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।
[2] ८. ७४, १४. १५।

शश (खरगोश) ऋग्वेद[1] में केवल एक बार मिलता है, जहाँ इसके द्वारा एक छुरा निगल लिये जाने का उल्लेख है। बाद[2] में भी इस पशु का उल्लेख है।

[1] १०. २८, २। बाद में इस विचित्र कथा में खरगोश के स्थान पर बकरा आ जाता है। देखिये वॉटलिङ्क: प्रोसीडिंग्स ऑफ सैक्सन एकेडमी, १८९४ और बाद।

[2] वाजसनेयि संहिता २३. ५६; २४. ३८; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १५; चन्द्रमा ही खरगोश है, शतपथ ब्राह्मण ११. १, ५, ३।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, ८४।

शशयु (शश का पीछा करनेवाला) अथर्ववेद[1] में कुछ पशुओं (*मृग*) की उपाधि है। त्सिमर[2] का विचार है कि इससे बाघ का आशय है, किन्तु यह सम्भाव्य नहीं। रौथ[3] की दृष्टि से किसी हिंसक पक्षी का तात्पर्य है, जब कि भाष्यकार का अनुसरण करते हुये व्हिट्ने[4] इसका, 'छिप कर प्रतीक्षा करनेवाला' अनुवाद करते हैं।

[1] ४. ३, ६।

[2] आल्टिन्डिशे लेवेन, ७९, ८४।

[3] व्हिट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, १४९, में।

[4] उ० स्था०।

तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद का अनुवाद, ३६८।

शश्वती—देखिये *आसङ्ग*।

शष्प, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'घास के अंकुर' का द्योतक है।

[1] वाजसनेयि संहिता १९. १३, ८१; २१. २९; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५, ३; ८, ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, २, ८; ९, १, २, इत्यादि।

शस्तृ, ऋग्वेद (१. १६२, ५) और अथर्ववेद (९. ३, ३) में पशु का वध करनेवाले का द्योतक है।

शस्त्र, उद्गातृ के *स्तोत्र* के विपरीत, होतृ पुरोहित के 'गायन' के लिये पारिभाषिक शब्द[1] है। प्रातःकालीन सोमार्पण के समय के गायनों को 'आज्य' और 'प्रउग', मध्याह्न के समय के गायनों को 'मरुत्वतीय' और 'निष्केवल्य', तथा सायंकालीन को 'वैश्वदेव' और 'आग्निमारुत', कहते हैं।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. २, ७, २, इत्यादि; काठक संहिता २९. २, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १९. २५. २८, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ४. २, ४. २०, इत्यादि।

तु० की० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३५३, और कैलेण्ड तथा हेनरी: ल अग्निष्टोम में सर्वत्र, जहाँ 'शस्त्रों' का विस्तार से विवेचन है।

शाकटायन ('शकट' का वंशज) एक वैयाकरण का नाम है जिसका यास्क[1] ने उल्लेख किया है और जो प्रातिशाख्यों[2] तथा अक्सर बाद में भी मिलता हैं।

[1] निरुक्त १. ३. १२ और बाद। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १४३, १५१, १५२, २१७।
[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य, १. ३; १३. १६; वाजसनेयि प्रातिशाख्य, ३. ८, इत्यादि।

शाक-दास भाडितायन ('भडित' का वंशज) का वंश ब्राह्मण[1] में *विचक्षण ताण्ड्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख मिलता है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

शाक-पूणि ('शकपूण' का वंशज) एक वैयाकरण का नाम है, जिसका निरुक्त[1] में अक्सर उल्लेख मिलता है।

[1] ३. ११; ८. ५. ६. १४; १२. १९; १३. १०. ११। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ८५।

शाकल, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार *शाकल्य* के सिद्धान्तों का द्योतक है। इस स्थल पर इसे एक प्रकार से सर्प के आशय में ग्रहण करते हुये बौटलिङ्क[2] ठीक प्रतीत होते हैं।

[1] ३. ४३, ५ (वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, २७७)। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ३३, नोट।
[2] डिक्शनरी, व० स्था०।

शाकल्य ('शकल' का वंशज), शतपथ ब्राह्मण[1] में *विदग्ध* का, और ऐतरेय[2] तथा शाङ्खायन[3] आरण्यकों में *स्थविर* का पैतृक नाम है। इन्हीं आरण्यकों,[4] निरुक्त[5] तथा अक्सर बाद में भी, एक अपारिभाषित 'शाकल्य' का ऋग्वेद की विवेचना करनेवाले एक आचार्य के रूप में उल्लेख है। वेबर[6] 'विदग्ध' को उस 'शाकल्य' के साथ समीकृत करना चाहते हैं जो ऋग्वेद के पद-पाठ के रचनाकार के रूप में ज्ञात है, किन्तु औल्डेनबर्ग[7] के विचार से यह 'शाकल्य' ब्राह्मण काल के भी बाद में हुआ था। गेल्डनर[8] दोनों को समीकृत करते हैं; फिर भी यह दृष्टिकोण बहुत सम्भाव्य नहीं है।[9]

[1] ११. ६, ३, ३; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ९, १; ४. १, ७, इत्यादि।
[2] ३. २, १, ६।
[3] ७. १६; ८. १. ११।
[4] ऐतरेय ३. १, १; शाङ्खायन ७. १।
[5] ६. २८।
[6] इन्डियन लिटरेचर, ३२, ३३।
[7] प्रोलिगोमेना, ३८०, नोट।
[8] वेदिशे स्टूडियन, ३, १४४-१४६।
[9] कीथ : ऐतरेय आरण्यक २३९, २४०।

शाकायनिन्, बहुवचन में शतपथ ब्राह्मण (१०. ४, ५, १) में *शाकायन्य* के अनुगामियों का द्योतक है।

शाकायन्य ('शाक' का वंशज) काठक संहिता[1] में *जात* का पैतृक नाम है।

[1] २२. ७ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७२)। तु० की० मैत्रायणी उपनिषद् १. २; ६. २९।

शाकिन् (बहु०), को लुडविग[1] ऋग्वेद[2] में उदार दाताओं के समूह का द्योतक मानते हैं।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५५; ग्रिफिथ: ऋग्वेद के सूक्त, १, ५२१, नोट।
[2] ५. ५२, १७।

शाक्त्य (*शक्ति* का वंशज), *गौरिवीति*[1] का पैतृक नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. १९, ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ७; पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ५, १४; १२. १३, १०; २५. ७, २; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, २३. ११. १४; २४. १०, ६. ८।

शाकर—देखिये *शकरी*।

शाखा, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में वृक्ष की शाखा का द्योतक है। ऋग्वेद में इस आशय में *वया* का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग मिलता है।

[1] १. ८, ८; ७. ४३, १; १०. ९४, ३।
[2] अथर्ववेद ३. ६, ८; १०. ७, २१; ११. २, १९, इत्यादि।

शाङ्खायन का एक गुरु के नाम के रूप में कौषीतकि ब्राह्मण में तो उल्लेख नहीं, किन्तु यह शाङ्खायन आरण्यक[1] के अन्त के वंश में आता है जहाँ इस कृति के आचार्य के रूप में 'गुणाख्य' का उल्लेख है। श्रौत सूत्रों[2] में 'शाङ्खायन' नाम कहीं नहीं आता, किन्तु गृह्य सूत्रों[3] में *सुयज्ञ शाङ्खायन* को गुरु के रूप में मान्यता दी गई प्रतीत होती है। बाद के समय[4] में यह मत-सम्प्रदाय उत्तरी

[1] १५. १। औल्डेनबर्ग (से० बु० ई० २९. ४, ५) का यह विचार कि गुणाख्य को सूत्रों का रचयिता माना गया है, अत्यन्त अनावश्यक है; कीथ : ऐतरेय आरण्यक ३२८।
[2] हिलेब्रान्ट : शाङ्खायन श्रौतसूत्र, १, viii और बाद।
[3] शाङ्खायन गृह्यसूत्र ४. १०; ६. १०; इन्डिशे स्टूडियन, १५, १५४, में शाम्बव्य गृह्यसूत्र; आश्वलायन गृह्यसूत्र ३. ४, ४। तु० की० शाङ्खायन गृह्यसूत्र, १. १, १०, पर नारायण में कारिका; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १. २, १८, पर आनर्तीय।
[4] बूहलर : से० बु० ई०, २, xxxi।

गुजरात में प्रचलित था। शाङ्खायन, तैत्तिरीय प्रतिशाख्य[5] में 'काण्डमायन' के साथ आता है।

[5] १५. ७।

तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर ३२, ४४, ५० और बाद; ८०, ३१३, ३१४; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, ४५, १९१, २०५, २४५, २४९।

शाट्यायन ('शाट्य' का वंशज) एक गुरु का पैतृक नाम है, जिसका दो बार शतपथ ब्राह्मण[1] में तथा अक्सर जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। इस द्वितीय ग्रन्थ[3] के एक वंश में इसे *ज्वालायन* का शिष्य कहा गया है, जब कि सामविधान ब्राह्मण के अन्त के वंश में यह *बादरायण* के शिष्य के रूप में आता है। इसके अनुगामी, शाट्यायनियों का सूत्रों[4] और शाट्यायनि ब्राह्मण[5] में अक्सर उल्लेख है, साथ ही इनमें शाट्यायनक[6] का भी उल्लेख है। आर्टेल[7] ने यह दिखाया है कि यह ब्राह्मण जैमिनीय ब्राह्मण के अत्यन्त समान तथा सम्भवतः इसका ही समकालीन है।

[1] ८. १, ४, ९; १०. ४, ५, २।

[2] १. ६, २; ३०, १; २. २, ८; ४, ३; ९, १०; ३. १३, ६; २८, ५।

[3] ४. १६, १।

[4] लाट्यायन श्रौतसूत्र, ४. ५, १८; अनुपद सूत्र, १. ८; २. ९; ३. २. ११; ४. ८, इत्यादि; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ४४।

[5] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, ५. २३, ३।

[6] वही, १०. १२, १३. १४; लाट्यायन श्रौतसूत्र १. २, २४; आश्वलायन श्रौतसूत्र, १. ४, १३।

[7] ज० अ० ओ सो०, १६, ccxli; १८, २० और बाद।

तु० की० मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, २०३; ऑफरेख्त : त्सी० गे० ४२, १५१, १५२।

शाण्ड (*शण्ड* का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक व्यक्ति का नाम है जिसके उदारता की प्रशस्ति की गई है। इसे दूसरे ही मन्त्र में उल्लिखित *पुरुपन्था* के साथ समीकृत किया जाना सम्भव नहीं।

[1] ६. ६३, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५८।

शाण्डिल (पु०, बहु०) एक ऐसा शब्द है जो तैत्तिरीय आरण्यक (१. २२, १०) में '*शाण्डिल्य*' के वंशजों के लिये व्यवहृत हुआ है।

शाण्डिली-पुत्र ('शण्डिल' के एक स्त्री-वंशज का शिष्य) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश में, *राथीतरीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] ६. ४, ३२ (माध्यंदिन = ६. ५, २ काण्व)।

शाण्डिल्य ('शण्डिल' का वंशज) अनेक गुरुओं का पैतृक नाम है (देखिये *उदर* और *सुयज्ञ*)। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाण्डिल्य अनेक वार शतपथ ब्राह्मण[1] में एक अधिकारी के रूप में उद्धृत है, जहाँ इसकी अग्नि अथवा 'यज्ञाग्नि' को 'शाण्डिल'[2] कहा गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह अग्नि से सम्बद्ध उन संस्कारों का एक प्रमुख आचार्य था जिसका शतपथ ब्राह्मण के पाँचवें तथा उसके वाद के काण्डों में उल्लेख है। दसवें काण्ड[3] के अन्त के वंश में इसे *कुश्रि* का शिष्य तथा *वात्स्य* का गुरु वताया गया है। काण्व शाखा[4] अन्तिम काण्ड के अन्त की एक तालिका में इसे 'वात्स्य' के, और वात्स्य को कुश्रि के शिष्य के रूप में व्यक्त किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय और चतुर्थ अध्यायों के अस्तव्यस्त तथा निरर्थक[5] वंशों में इसे विभिन्न व्यक्तियों, जैसे *कैशोर्य काप्य*,[6] *वैष्टपुरेय*,[7] *कौशिक*,[8] *गौतम*,[9] *वैजवाप*,[10] और *आनभिम्लात*,[11] का शिष्य वताया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ विभिन्न शाण्डिल्यों से ही तात्पर्य हो सकता है, किन्तु यह तालिकायें इतनी अस्तव्यस्त हैं कि इन पर गम्भीरतापूर्वक विचार भी नहीं किया जा सकता।

[1] ९. ४, ४, १७; ५, २, १५; १०. १, ४, १०; ४, १, ११; ६, ३, ५; ५, ९। तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४, ४।
[2] ९. १, १ ४३; ३, ३, १८; ५, १, ६१. ६८, इत्यादि।
[3] १०. ६, ५, ९।
[4] ६. ५ ४।
[5] एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, xxxiv, नोट २।
[6] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।
[7] २. ५, २०; ४. ५, २६ माध्यंदिन।
[8] २. ६, १; ४. ६, १ काण्व।
[9] २. ५, २०; ४. ५, २६ (माध्यंदिन = २. ६, १; ४. ६, १. काण्व)।
[10] २. ५, २०; ४. ५, २६ माध्यंदिन।
[11] २. ६, २ काण्व।

तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, xxxi और वाद; ४३, xviii और वाद; वेवर : इन्डियन लिटरेचर, ७१, ७६ और वाद, १२०, १३१, १३२; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, २१३।

शाण्डिल्यायन (*शाण्डिल्य* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में एक गुरु का पैतृक नाम है। प्रत्यक्षतः *चेलक* के साथ इसकी समानता है, और इसी ग्रन्थ[2] में इस वात का उल्लेख भी है। अतः यह मानना तर्कसंगत है कि

[1] ९. ५, १, ६४।
[2] १०. ४, ५, ३। 'शाण्डिल्य' की ही भाँति 'शाण्डिल्यायन' नाम भी सूत्रों में सामान्यरूप से मिलता है। देखिये वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ४५ और वाद।

चैलकि जीवल[3] इसका पुत्र था। यह अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध है कि यह उस *प्रवाहण जैवल* का पितामह था या नहीं, जो एक ब्राह्मण की अपेक्षा राजा था।[4]

[3] शतपथ ब्राह्मण २. ३, १, ३४।
[4] वेबर: इ० स्टू० १, २५९। तु० की० वेबर: इण्डियन लिट्रेचर, ५३, ७६, १२०।

शात-पर्णेय ('शतपर्ण' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१०. ३, ३, १) में *धीर* का पैतृक नाम है।

शाद, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'घास' का द्योतक है।

[1] ९. १५, ६।
[2] वाजसनेयि संहिता २५. १, इत्यादि।

शाप, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में नदी में बहकर आये हुये 'पदार्थ' का द्योतक है, जिसकी सम्भवतः जलों के 'अभिशाप' के रूप में कल्पना की गई है।[3]

[1] ७. १८, ५; १०. २८, ४।
[2] अथर्ववेद ३. २४, ३; शाङ्खायन आरण्यक १२. ११।
[3] तु० की० गेल्डनर: ऋग्वेद, ग्लॉसर १७८; वेदिशे स्टूडियन, ३, १८४, १८५।

शामुल्य, ऋग्वेद[1] के विवाह-सूक्त में रात्रि के समय पहने जानेवाले एक 'ऊनी परिधान' का द्योतक है।

[1] १०. ८५, २९। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २६२।

शामूल का भी जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण[1] में बहुत कुछ *शामुल्य* (ऊनी वस्त्र) जैसा ही सामान्य आशय है। रौथ[2] इसे 'शमील' (समी की लकड़ी के टुकड़े) के रूप में संशोधित करते हैं।

[1] १. ३८, ४। तु० की० ऑर्टैल: ज० अ० ओ० सो०, १६, ११६, २३३; कात्यायन श्रौतसूत्र, ९. ४, ७, कौशिक सूत्र ६९. ३।
[2] ज० अ० ओ० सो०, १६, ccxliii।

शाम्ब—देखिये *शार्कराक्ष*।

शाम्बर, उपयुक्ततः '*शम्बर से सम्बन्ध*' के आशय में एक विशेषता के रूप में ऋग्वेद (३. ४७, ४) के एक स्थल पर आता है। इसे विशेष्य के रूप में 'शम्बर के साथ प्रतिस्पर्धा' के द्योतक के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये।

शाम्बु अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर *आङ्गिरसों* के साथ बहुवचन के रूप में आता है। यह निःसन्देह प्राचीन आचार्यों के एक परिवार का नाम है। शाम्बव्यों[2] के एक गृह्य सूत्र की पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है।

[1] १९. ३९, ५, जहाँ व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ९६०, में मूल ग्रन्थ के संशोधन 'भृगुभ्यः' को 'शाम्बुभ्यः' के पक्ष में परिवर्तित कर देते हैं।

[2] औल्डेनबर्ग : इण्डिशे स्टूडियन, १५, ४, १५४।
तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ६७८।

शायस्थि, वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] इण्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

शारद—देखिये *पुर्*।

१. *शारि*, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में आता है। यतः इसे 'पुरुष-वाच्' वाला कहा गया है, अतः ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह एक प्रकार का पक्षी, सम्भवतः जैसा कि त्सिमर[2] का विचार है, बाद का 'शारिका' ही रहा होगा। देखिये *शारिशाका* भी।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४; वाजसनेयि संहिता २४. ३३।

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन, ९०, ९१।

२. *शारि* का, जो ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है, सायण 'बाण' अर्थ करते हैं। यह अनिश्चित है, किन्तु *शर* अथवा १. *शारि* के साथ सम्बन्ध सर्वथा सम्भव है।[2]

[1] १. ११२, १६।

[2] औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १०३

शारिशाका, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर मिलनेवाला अत्यन्त अस्पष्ट आशय का शब्द है। वेबर[2] का विचार है कि इसका अर्थ 'शारि पक्षी का बीट (शकन्)' अर्थ है; ग्रिल[3] इस शब्द में 'शारिका' का आशय देखते हैं; रौथ[4] इसका 'शक इव' के रूप में संशोधन (शारिः=शालिः) का परामर्श देते हैं; और ब्लूमफील्ड[5] 'शारि-शुकेव' के रूप में संशोधन करते हैं।

[1] ३. १४, ५।
[2] इन्डिशे स्टूडियन १७, २४६।
[3] हुन्डर्ट लीडर, [2] ११२।
[4] व्हिट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, ११०, में।
[5] अथर्ववेद के सूक्त, ३५१। किन्तु देखिये व्हिट्ने : उ० स्था० पर लैनमैन की टिप्पणी।

शार्कराक्ष, वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु, *शाम्ब*, का पैतृक नाम है, जो सम्भवतः *शार्कराक्ष्य* ('शर्कराक्ष' का वंशज) की ही एक त्रुटि है। काठक संहिता[2] में एक गुरु, 'शर्कराख्य', आता है जो पुनः कदाचित स्वयं 'शर्कराक्ष' के स्थान पर ही एक त्रुटि है। 'शार्कराक्षि' पैतृक नाम आश्वलायन श्रौत्र सूत्र[3] में मिलता है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२। | [2] २२. ८। | [3] १२. १०, १०।

शार्कराक्ष्य ('शर्कराक्ष' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] और छान्दोग्य उपनिषद्[2] में जन का पैतृक का नाम है। बहुवचन में यह लोग ऐतरेय आरण्यक[3] और तैत्तिरीय आरण्यक[4] में आते हैं। इसके रूप को 'शार्कराक्ष' के स्थान पर एक अशुद्धि मानना आवश्यक नहीं।

[1] १०. ६, १, १।
[2] ५. ११, १; १५, १।
[3] २. १, ४।
[4] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३८२।

तु० की० कीथ: ऐतरेय आरण्यक २०४; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, ३८८; ३, २५९।

शार्ग, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में एक पक्षी का नाम है। तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य करते हुये सायण इसे 'जंगली चटक' बताते हैं।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १९, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४; वाजसनेयि संहिता २४. ३३। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, ९३।

शार्ङ्ग—ऋग्वेद की अनुक्रमणी[1] में शार्ङ्गों, जरितृ, द्रोण, सारिसृक्क, और स्तम्बमित्र को ऋग्वेद के ही एक सूक्त[2] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। महाभारत[3] में एक कथा आती है जिसमें यह वर्णन है कि ऋषि मन्दपाल के पुत्र, चार शार्ङ्ग-गण, खाण्डवदाह के समय स्तुतियों द्वारा किस प्रकार बच गये थे। इस कथा के आधार पर सीग[4] ने उक्त सूक्त की व्याख्या करने का प्रयास किया है, किन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली है। जैसा कि औल्डेनबर्ग[5] का कथन है, यह कथा स्वयं उक्त सूक्त पर आधारित है, सूक्त इस कथा पर नहीं।

[1] देखिये ऋग्वेद १०. १४२, पर सायण भी; सर्वानुक्रमणी (मैकडौनेल संस्करण), पृ० १६३, पर षड्गुरुशिष्य।
[2] १०. १४२।
[3] १. ८३३४ और बाद।
[4] सा० ऋ०, ४४–५०।
[5] त्सी० गे० ३९, ७९।

शार्दूल (व्याघ्र) का बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में उल्लेख है। तु० की० *व्याघ्र*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; काठक संहिता १२. १०; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ११; वाजसनेयि संहिता २४. ३०।

[2] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, ३; ४. १, ९, ११; ५, ४, १०; १२. ८, ४, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ८, १; ८, ५, २; कौषीतकि उपनिषद् १. २, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ७९।

शार्यात (*शर्यात* का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक गायक का नाम है। *मानव* पैतृक नाम के साथ एक 'शार्यात' ऐतरेय ब्राह्मण[2] में भी ऋग्वेद के एक सूक्त[3] के द्रष्टा हैं। *च्यवन*[4] द्वारा अभिषिक्त[5] और जैमिनीय ब्राह्मण[6] में च्यवन की कथा में आनेवाले 'शर्यात' से प्रत्यक्षतः इसी व्यक्ति का तात्पर्य है। इन दोनों ही स्थलों पर शार्यातों का इसके वंशजों के रूप में उल्लेख है और इसकी पुत्री को 'शार्याती' कहा गया है।

[1] १. ५१, १२; ३. ५१, ७।

[2] ४. ३२, ७।

[3] १०. ९२।

[4] ८. २१, ४।

[5] ४. १, ५, १ और बाद।

[6] ३. १२१ और बाद (व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो०, ११, cxlv; हॉपकिन्स : वही, २६, ५८।

शालङ्कायन ('शलङ्कु' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३८३; आश्वलायन श्रौतसूत्र १२. १०, १०; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४. ९, १। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ७५; इन्डिशे स्टूडियन, १, ४९।

शालङ्कायनी-पुत्र ('शलङ्कु' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३१) के अन्तिम वंश में, *वार्षगणीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

शाला, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में एक विस्तृत आशय में 'गृह' का द्योतक है जिसमें पशुओं के 'गोष्ठ' तथा 'अन्नागार' इत्यादि तक का तात्पर्य निहित है।[3] देखिये *गृह*। अथर्ववेद[4] में गृहस्थ को 'शाला-पति' (गृह का अधिपति) कहा गया है।

[1] ५. ३१, ५; ६. १०६, ३; ८. ६, १०; ९. ३, १ और बाद; १४. १, ६३।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ३, १; शतपथ ब्राह्मण ३. १, १, ६, इत्यादि।

[3] अथर्ववेद ३. १२, १ और बाद, और तु० की० ९. ३, १ और बाद।

[4] ९. ३, १२

शालावत्य ('शलावन्त्' का वंशज), छान्दोग्य उपनिषद् (१. ८, १) में *शिलक* का, और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. ३८, ४) में *गलूनस आर्क्षाकायण* का पैतृक नाम है।

शालि का, जो कि बाद में 'चावल' के लिये प्रयुक्त शब्द है, रौथ ने अथर्ववेद के *शारिशाका* शब्द में 'शारि' के समकक्ष होने का अनुमान किया है।

शालूक, अथर्ववेद[1] में कमल की भक्ष्य-योग्य जड़ों का द्योतक है।

[1] ४. ३४, ५। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन ७०; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २०७।

शाल्व एक जाति के लोगों का नाम है, जो गोपथ ब्राह्मण[1] में *मत्स्यों* के साथ संयुक्त मिलते हैं।

[1] १. २, ९। तु० की० **शल्व**।

शावसायन ('शवस्' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में *देवतरस्* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

शास, ब्राह्मणों[1] में 'तलवार' या 'छुरी' का द्योतक है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७, ५; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २५, १ (**शुनःशेप** का का वध करने के लिये प्रयुक्त चाकू); शतपथ ब्राह्मण ३. ८, १, ४. ५; १३. २, ३, १६।

शिंशपा, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक वृक्ष (Dalbergia Sisu) का नाम है। यह एक ऊंचा और सुन्दर वृक्ष है।

[1] ३. ५३, १८ (**खदिर** सहित)।

[2] अथर्ववेद २०. १२९, ७। तु० की० ६. १२९, १ में 'शांशप'; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३७८।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६१।

शिंशु-मार[1] अथवा *शिशु-मार*,[2] ऋग्वेद तथा बाद की संहिताओं में एक

[1] ऋग्वेद १. ११६, १८; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २१; अथर्ववेद ११. २, २५। शाङ्खायन आरण्यक १२. २८, में पाठ सन्दिग्ध है।

[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, २; वाजसनेयि संहिता २४. ३०, और अथर्ववेद, उ० स्था०, पैप्पलाद शाखा; तैत्तिरीय आरण्यक २. १९।

जल-जन्तु का नाम है। यह या तो 'मगर' अथवा 'घड़ियाल',[3] अथवा 'सूँस'[4] (Delphinus Gangeticus) हो सकता है।

[3] वेबर : इण्डिशे स्टूडियन ५, ३२५, और ऋग्वेद, उ० स्था०, पर सायण; अथर्ववेद, उ० स्था०; तैत्तिरीय संहिता उ० स्था०।

[4] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० 'शिशुमार'; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, १५७; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ६२४।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९६; गेल्डनर: ऋग्वेद, ग्लॉसर, १७९।

शिक्य का अथर्ववेद[1] और बाद[2] में लटका कर ले चलने वाली रस्सी का 'फन्दा'[3] अर्थ प्रतीत होता है।

[1] ९. ३, ६, जहाँ ह्विट्ने यह व्यक्त करते हैं कि यह एक प्रकार का लटकाया जानेवाला अलंकरण रहा होगा। ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५२६, में देखिये लैनमैन। ह्विट्ने द्वारा किया गया एक वैकल्पिक अनुवाद 'लटकाने का फंदा' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५९७। तु० की० सम्भवतः अथर्ववेद, १३. ४, ८।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. २, ४, २. ३; ६, ९, १, इत्यादि।

[3] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, २८ में यही बहुत कुछ स्पष्ट अर्थ है; ६. ७, १, १६। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, २६८, नोट ३।

शिख और *अनुशिख* उन दो पुरोहितों के नाम हैं जिन्होंने पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्पोत्सव के समय *नेष्टृ* और *पोतृ* के रूप में कार्य किया था।

[1] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १, ३५।

शिखण्ड, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में केश-सज्जा की पद्धति के रूप में 'लट' या 'जूड़े' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ७. ३, १६, २ (बहुवचन में); 'चतुः-शिखण्ड', तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, २७; ३. ७, ६, ४ (ऋग्वेद १०. ११४, ३, के 'चतुः-कपर्द' के समान)। इसी प्रकार 'शिखण्डिन्' का अर्थ 'जूड़ा रखनेवाला' है, और अथर्ववेद ४. ३७, ७; ११. २, १२, इत्यादि में मिलते हैं।

शिखण्डिन् याज्ञसेन ('यज्ञसेन' का वंशज) का कौषीतकि ब्राह्मण (७. ४) में *केशिन् दार्भ्य* के पुरोहित के रूप में उल्लेख।

शिखर, पर्वत-शिखर आशय में कौषीतकि ब्राह्मण (२६. १) तथा अक्सर महाभारत में मिलता है।

शिखा, शतपथ ब्राह्मण[1] में सर पर रक्खी जानेवाली बालों की बंधी हुई शिखा का द्योतक है। बिना बँधी शिखा को स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों की दशा में शोक-सूचक माना गया है।[2]

[1] १. ३, ३, ५।
[2] आश्वलायन गृह्य सूत्र, ४. २, ९। तु० की० ब्लूमफील्ड: अ० फा० ११, ३४०; अथर्ववेद के सूक्त, ६३४, अथर्ववेद ९. ९, ७, पर।

शिग्रु एक जाति का नाम है। यह ऋग्वेद[1] के उस स्थल पर आता है जहाँ *अजों* और *यक्षुओं* के साथ इन्हें भी *तृत्सुओं* तथा राजा *सुदास्* द्वारा पराजित हुआ बताया गया है। यह लोग भेद के ही नेतृत्व में थे, जैसा कि लुडविग[2] व्यक्त करते हैं, अथवा नहीं, यह कह सकना असम्भव है। यदि यह 'शिग्रु' बाद के 'शिग्रु' (सहिजन-वृक्ष, Moringa pterygosperma) के साथ सम्बद्ध है, जो सर्वथा सम्भव भी है, तो इस जाति का अनार्य होना सम्भव हो सकता है, किन्तु यह केवल एक अनुमान का ही विषय है।[3]

[1] ७. १८, १९।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७३।
[3] तु० की० औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, ८५; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, १५३; हॉपकिन्सः ज० अ० ओ० सो०, १६, cliv; कीथ : ज० ए० सो०, १९०७, ९२९ और बाद:; ऐतरेय आरण्यक, २००, नोट।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२७।

शिञ्जार एक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में दो बार *काण्व*, *प्रियमेध*, *उपस्तुत*, और *अत्रि* के साथ-साथ उल्लेख है। गेल्डनर[2] इस शब्द को या तो अत्रि का नाम अथवा एक विशेषण मानते हैं।

[1] ८. ५, २५; १०. ४०, ७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३९।
[2] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १७९।

शिति-कक्षी का, तैत्तिरीय संहिता[1] में सायण ने 'श्वेत वक्षवाले' (पाण्डरोदर) गृद्ध के रूप में व्याख्या की है। फिर भी, यह शब्द केवल एक विशेषण ही हो सकता है।[2]

[1] ५. ५, २०, १। तु० की० वाजसनेयि संहिता २४. ४; अथर्ववेद ५. २३, ५।
[2] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९३।

शिति-पृष्ठ, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्पोत्सव के 'मैत्रावरुण' पुरोहित का नाम है।

[1] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३५।

शिति-बाहु ऐषकृत नैमिशि, जैमिनीय ब्राह्मण[1] में एक यज्ञकर्त्ता का नाम है, जहाँ यह कथन है कि एक बन्दर इसकी यज्ञीय 'अपूप' को लेकर भाग गया था।

[1] १. ३६३ (ज० अ० ओ० सो० २६, १९२)।

शितपुट, तैत्तिरीय संहिता[1] में भाष्यकार के अनुसार एक प्रकार की बिल्ली का द्योतक है।

[1] ५. ५, १७, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८६।

शिपद, केवल ऋग्वेद[1] में 'अ-शिमिद्' के साथ नकारात्मक 'अ-शिपद' के रूप में ही आता है। 'शिपद' और 'शिमिद' दोनों ही सम्भवतः अज्ञात व्याधियों के नाम हैं।[2]

[1] ७. ५०, ४।

[2] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३९४।

शिपविलुक अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के कीट का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ५. २०, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २६२।

शिप्रा कुछ अनिश्चित आशयवाला शब्द है : अनेक स्थलों[1] पर इससे 'कपोल' अर्थ प्रतीत होता है; अन्य स्थलों[2] पर यह शिरस्त्राण के 'कपोल रक्षक भाग' अथवा अश्वों के कपोल भाग पर लगे 'टुकड़ों'[3] का द्योतक है। अश्विनों[4] के लिये प्रयुक्त 'अयः-शिप्र' तथा अन्य समस्त पदों, जैसे 'हिरण्य-शिप्र,'[5] 'हरि-शिप्र',[6] और 'हिरि-शिप्र',[7] में इस शब्द से सम्भवतः 'शिरस्त्राण' का ही आशय है जिसका 'लोहे', 'स्वर्ण' अथवा 'पीतरंग' का बना होने के रूप

[1] ऋग्वेद ३, ३२, १; ५. ३६, २; ८. ७६, १०; १०. ९६, ९; १०५, ५, सभी रौथः सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० के अनुसार। गेल्डनर (ऋग्वेद, ग्लॉसर, १७९), जो इस शब्द को क्लीव (शिप्र) मानते हैं, ऋग्वेद १. १०१, १०, में 'अधर' के आशय में, (तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४९, नोट), और ३.३२, १; ८. ७६, १०; १०. ९६, ९, में 'मूछों' के आशय में ग्रहण करते हैं। यास्क (निरुक्त, ६. १७) 'जबड़ा' और 'नासिका' के रूप में आशय का एक विकल्प प्रस्तुत करते हैं।

[2] ऋग्वेद ५. ५४, ११; ८. ७, २५। गेल्डनर : उ० स्था०, यहाँ 'शिप्रा' को शिरस्त्राण के रूप में ग्रहण करते हैं।

[3] ऋग्वेद १. १०१, १०; त्सिमर : उ० स्था०।

[4] ऋग्वेद ४. ३७, ४।

[5] ऋग्वेद २. ३४, ३।

[6] ऋग्वेद १०. ९६, ४।

[7] ऋग्वेद २. २, ३; ६. २५, ९।

में वर्णन है। इसी प्रकार 'शिप्रिन्'[८] का 'शिरस्त्राण धारण करनेवाला' अर्थ होगा।

[८] ऋग्वेद १. २९, २; ८१, ४; ६. ४४, १४, इत्यादि।
तु० की० मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, ३०१; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, ३९, नोट २।

शिफा ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ सायण इस शब्द की एक नदी के नाम के रूप में व्याख्या करते हैं जो सर्वथा सम्भव है।

[१] १. १०४, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १८; पेरी : ज० अ० ओ० सो० ११, २०१।

शिबि का, जो *उशीनर* का पुत्र था, बौधायन श्रौत्र सूत्र[१] में इन्द्र के आश्रित के रूप में उल्लेख है। इन्द्र ने इसके लिये 'वर्शिष्ठिय' के मैदान में यज्ञ किया और इसे विदेशियों के आक्रमण के भय से बचाया था।

[१] २१. १८। तु० की० कैलेण्ड : ऊ० बौ० २८।

शिमिद्, जो कि ऋग्वेद[१] में 'अ-शिमिद्' समस्त पद में आता है, सम्भवतः किसी व्याधि का द्योतक है। इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'शिमिदा' अथर्ववेद[२] और शतपथ ब्राह्मण[३] में एक दानवी के नाम के रूप में आता है। तु० की० *शिपद*।

[१] ७. ५०, ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३९४।
[२] ४. २५, ४।
[३] ७. ४, १, २७।

शिम्बल, सायण के अनुसार ऋग्वेद[१] में 'शाल्मलि' (=*शल्मलि*) के पुष्प का द्योतक है।

[१] ३. ५३, २२। तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १७९; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २५४।

शिम्यु ऋग्वेद[१] में आता है और उन लोगों अथवा उनके राजाओं में से एक का नाम है जिनको *दाशराज्ञ* में *सुदास्* ने पराजित किया था। यतः अन्य स्थल[२] पर शिम्यु-गण *दस्युओं* के साथ संयुक्त हैं, अतः त्सिमर[३] उपयुक्तः यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह अनार्य थे।

[१] ७. १८, ५।
[२] १. १००, १८, जहाँ रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, का विचार है कि इस शब्द से केवल 'शत्रु' का ही अर्थ है।
[३] आल्टिन्डिशे लेबेन, ११८, ११९। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६१।

शिरिम्बिठ ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है, जहाँ यह सम्भवतः किसी व्यक्ति का नाम है। जिस सूक्त में यह नाम आया है उसके प्रणयन का अनुक्रमणी द्वारा इसे ही श्रेय दिया गया है। फिर भी, यास्क[2] इस शब्द का 'मेघ' अनुवाद करते हैं।

[1] १०. १५५, १।
[2] निरुक्त, ६, ३०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६७।

शिलक शालावत्य ('शलावन्त्' का वंशज) एक गुरु का नाम है, जो छान्दोग्य उपनिषद (१. ८, १) में *चैकितायन दाल्भ्य* और *प्रवाहण जैवल* का समकालीन था।

१. *शिल्प* का अर्थ 'कला' है। कौषीतकि ब्राह्मण (२९. ५) में इसके तीन प्रकार बताये गये हैं—'नृत्य', 'गीत' और 'वादित' (वाद्य-संगीत)।

२. *शिल्प कश्यप* का, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश में *कश्यप नैध्रुवि* के शिष्य, एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ४, ३३ (माध्यंदिन=६. ५, ३ काण्व)।

शिव ऋग्वेद[1] में एक बार एक जाति के नाम के रूप में आता है। यहाँ इन्हें *अलिनों, पक्थों, भलानसों,* और *विषाणिनों* के साथ-साथ *सुदास्* द्वारा पराजित बताया गया है। यह सुदास् के मित्र नहीं थे, जैसा कि रौथ[2] मानते हैं। उन यूनानी 'सिबै' ($\Sigma\iota\beta\alpha\iota$)[3] अथवा 'सिबोइ' ($\Sigma\iota\beta o\iota$)[4] के साथ इसके समीकरण के सम्बन्ध में कदाचित् ही सन्देह है जो सिकन्दर के समय में सिन्धु और 'अकेसिनेस' (*असिक्नी*) के बीच बसे थे। पाणिनि[5] पर भाष्यकार द्वारा उत्तरी देश में स्थित होने के रूप में उल्लिखित 'शिव-पुर' नामक ग्राम में भी यह नाम सुरक्षित हो सकता है। तु० की० *शिवि*।

[1] ७. १८, ७।
[2] त्सु० वे० ९५, और बाद; जिसे कभी त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२६, ने भी स्वीकार किया था।
[3] अरियन : इन्डिका, ५. १२।
[4] डियोडोरस, १७. ९६।
[5] ४. २, १०९। वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, ३७६, द्वारा 'शिव' के साथ सम्बद्ध। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व०स्था०।

तु० की० त्सिमर : उ० पु० ४३१; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७३; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६० और बाद।

शिशिर—देखिये *ऋतु*।

शिशु आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

[1] १३. ३, २४। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १६०।

शिशुक, अथर्ववेद[1] में एक विशेषण प्रतीत होता है जिसका 'युवा' अर्थ है। ब्लूमफील्ड[2] के अनुसार इससे 'अश्वपोत' का आशय है। भाष्यकार सायण ने इसका 'शुशुक' पाठ माना है और यह व्याख्या की है कि एक प्रकार के जंगली पशु को इस नाम से पुकारा गया है। तु० की० *आशुंग*।

[1] ६. १४, ३। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २९१।
[2] अथर्ववेद का अनुवाद, ४६४।

१. *शिशुमार* —देखिये *शिशुमार*।

२. *शिशुमार* पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ५, १५) में *शर्कर* के लिये व्यवहृत शब्द है, जहाँ इसे 'सिशुमारर्षि' भी कहा गया है। 'सिशुमारर्षि' शब्द की भाष्यकार ने 'सिशुमार' के रूप में एक ऋषि के अर्थ में व्याख्या की है।

शिश्न-देव का, जो कि ऋग्वेद[1] में दो बार बहुवचन में आता है, 'जिनका देवता लिङ्ग है' अर्थ है। इस शब्द से बहुत सम्भवतः आदिवासियों की शिश्नोपासना का तात्पर्य है।

[1] ७. २१, ५; १०. ९९, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ११८; हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया, १५०; फॉन श्रोडर : वि० ज०, ९, २३७; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, १५५; कीथ : ज० ए० सो०, १९११, १००२, नोट ५।

शीपाल ऋग्वेद[1] में उल्लिखित एक जलीय पौधे (Blyxa Octandra) का नाम है। इसका बाद का नाम 'शैवल' है।

[1] १०. ६८, ५। तु० की० इससे व्युत्पन्न विशेषण 'शीपल्य' (जहाँ 'शीपाल पौधों की प्रचुरता हो), षड्विंश ब्राह्मण ३. १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१।

शीपाला एक बार अथर्ववेद[1] में मिलता है जहाँ या तो इससे '*शीपाल*-पौधे से परिपूर्ण तालाब' अर्थ है, अथवा यह किसी नदी या झील का व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है।

[1] ६. १२, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७१; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २८९, २९०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४६२।

शीपुद्रु अथर्ववेद[1] में केवल *चीपुद्रु* का एक अशुद्ध पाठ-मात्र है।

[1] ६. १२७, १। देखिये ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३७६।

शीर्षक्ति अथर्ववेद[1] में 'सर-दर्द' के लिये एक सामान्य शब्द है।

[1] १. १२, ३; ९. ८, १; १२. २, १९; ५, २३। तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, xxxv; अथर्ववेद के सूक्त २५२; अ० फा० १७, ४१६, जो इसमें 'शीर्ष-शक्ति' देखते हैं (तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर ६४, २)। वौटलिङ्क, प्रोसीडिंग्स आफ सैक्सन एकेडमी, १८९७, ५०, का विचार है है कि इस शब्द से 'गला कड़ा और सर तिरछा' अर्थ है। देखिये ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १४, में लैनमैन। अथर्ववेद १९. ३९, १०, 'शीर्ष-शोक' का 'सर-दर्द' के लिये प्रयोग हुआ है।

शीर्षण्य ब्राह्मणों[1] में *आसन्दी* के शीर्ष-भाग का द्योतक है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५, ३; १२, ३; १७, २; कौषीतकि उपनिषद् १. ५; शाङ्खायन श्रौतसूत्र, १७. २, ८।

शीर्षामय (सर की एक व्याधि) का अथर्ववेद (५. ४, १०; ९. ८, १) में उल्लेख है।

शीष्ट केवल ऋग्वेद[1] के वालखिल्य सूक्त में आता है, जहाँ यह किसी महत्त्वपूर्ण जाति का नाम प्रतीत होता है।

[1] ८. ५३, ४। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६३।

शुक (तोता) का ऋग्वेद[1] में उल्लेख है, जहाँ पीत-रोग के पीलेपन को 'शुक' *रोपणाका* पर स्थानान्तरित करने की इच्छा व्यक्त की गई है। यजुर्वेद संहिताओं[2] में इस पक्षी को अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है। इसे पीतवर्ण और 'पुरुष-वाच्' (मानव भाषा बोलनेवाला कहा गया है।[3] ब्लूमफील्ड[4] के अनुसार यह अथर्ववेद[5] के अस्पष्ट शब्द *शारिशाका* के उत्तरार्द्ध का शुद्ध पाठ है।

[1] १. ५०, १२।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४; वाजसनेयि संहिता २४. ३३; और तु० की० 'शुक-बभ्रु' (शुक की भाँति लाल), वही ४२. २।
[3] तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिता में, उ० स्था०।
[4] अथर्ववेद के सूक्त, ३५२।
[5] ३. १४, ५।

तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९०।

शुक्ति आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण (१२. ५, १६) में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

१. *शुक्र*, तिलक[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] के दो स्थलों पर एक 'ग्रह' के आशय में आता है। यह अत्यन्त असम्भाव्य है। तु० की० *मन्थिन्*।

[1] ओरायन, १६२।
[2] ३. ३२, २; ९. ४६, ४।

२. *शुक्र जाबाल* ('जबाला' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ७, ७) में एक गुरु का नाम है।

शुक्ल—देखिये *यजुस्*।

शुच्ल-दन्त् का ऐतरेय ब्राह्मण (८. २३, ३) में *मृग* (जंगली पशु) की उपाधि के रूप में व्यवहार हुआ है। इससे हाथियों का ही तात्पर्य होना चाहिये।

शुच और *शुचा* ऋग्वेद के एक अस्पष्ट मन्त्र (८. २६, ६) में आता है जहाँ एक पुरुष और एक स्त्री का आशय हो सकता है।

शुचन्ति, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है।

[1] १. ११२, ७। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६५।

शुचि-वृक्ष गौपालायन ('गोपाल' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] में वृद्धद्युम्न *अभिप्रतारिण* के पुरोहित का नाम है। मैत्रायणी संहिता[2] में भी इसका उल्लेख है।

[1] ३. ४८, ९ (ऑफरेख्त के संस्करण में 'गौपलायन')।
[2] ३. १०, ४।

शुतुद्री, जिसका ऋग्वेद[1] में दो बार उल्लेख है, पञ्जाब की सबसे पूर्वी नदी, आधुनिक सतलज, और टॉलमी तथा अर्रियन[2] की 'ज़रद्रोस' का, नाम है। वैदिकोत्तर साहित्य में इस नदी के नाम का 'शतद्रु' के रूप में परिवर्त्तन हो गया प्रतीत होता है। ऐतिहासिक काल के भीतर ही सतलज नदी की धारा में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है।[3]

[1] ३. ३३, १; १०. ७५, ५; निरुक्त ९. २६।
[2] अर्रियन के समय में सतलज नदी स्वतंत्र रूप से 'रन ऑफ् कच्छ' में गिरती थी: इम्पीरियल गजेटियर, २३, १७९।
[3] वही।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १०, ११।

शुनः-पुच्छ (कुत्ते की पूँछ), *शुनःशेप* के एक भ्राता का नाम है।[1]

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५, ७; शाङ्खायन श्रौतसूत्र, ५. २०, १।

शुनःशेप (कुत्ते की पूँछ) एक व्यक्ति का नाम है, जिसका पैतृक नाम *आजगर्ति* है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में वर्णित एक कथा के अनुसार राजा *हरिश्चन्द्र* के पुत्र *रोहित* ने इसे एक बलि-प्राणी के रूप में क्रय कर लिया था क्योंकि रोहित के पिता अपने पुत्र की बलि देने के लिये वरुण को वचन दे चुके थे। शुनःशेप को वस्तुतः बलि-स्तम्भ में बाँध भी दिया गया था किन्तु यह अपनी उन प्रार्थनाओं के द्वारा समय रहते मुक्त हो गया था जिन्हें ऋग्वेद[3] के कुछ सूक्तों में सुरक्षित माना जाता है। इसे *विश्वामित्र* ने, जिनके परामर्श से ही यह देवों से अपनी मुक्ति की प्रार्थना करने के लिये प्रेरित हुआ था, दत्तक ले लिया था और यह उनका *देवरात* नामक पुत्र बन गया। इस पर विश्वामित्र के कुछ अन्य पुत्र रुष्ट हो गये जिसके फलस्वरूप विश्वामित्र ने उन पुत्रों को शाप दे दिया था। फिर भी ऋग्वेद में दिव्य सहायता द्वारा शुनःशेप के मृत्यु से बच जाने मात्र का ही उल्लेख निहित है, और यजुर्वेद की संहिताओं[4] में केवल इतना ही कथन है कि इसे वरुण ने ग्रसित कर लिया था (सम्भवतः 'जलोदर' नामक व्याधि द्वारा),[5] किन्तु इसने वरुण के पाशों से अपने को मुक्त कर लिया।

[1] ७. १३–१८।
[2] १५. २०, १ और बाद। तु० की० १६. ११, २।
[3] १. २४ और बाद। तु० की० ५. २, ७।
[4] तैत्तिरीय संहिता ५. २, १, ३; काठक संहिता १९. ११। मैत्रायणी संहिता ३. २, १, में यह कथा नहीं मिलती।
[5] तु० की० वरुण गृहीत।

तु० की० मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४०८ और बाद; ५७३ और बाद; रौथ : इन्डिशे स्टूडियन १, ४५७; २. ११२ और बाद; वेबर : इन्डियन लिटरेचर ४७, ४८; ए० रि० १०–१६; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ३५५ और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर २०७; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४६; कीथ : ज० ए० सो०, १९११, ९८८, ९८९।

शुनस्-कर्ण एक राजा[1] का नाम है, जो *शिवि* अथवा 'बष्किह' का पुत्र था,[2] और जिसने 'सर्वस्वार' नामक एक कृत्य सम्पन्न करके बिना किसी व्याधि के ही मृत्यु को प्राप्त किया था।

[1] बौधायन श्रौतसूत्र २१. १७; कैलेण्ड : ऊ० बौ० २८।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १२, ६।

शुन-होत्र, बहुवचन में ऋग्वेद (२. १८, ६; ४१, १४. १७) में द्रष्टाओं के एक परिवार का द्योतक है।

शुना-शीर, द्विवाचक रूप में ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उन दो कृषि देवताओं के नाम के रूप में आता है, जो रौथ[3] के विचार से सम्भवतः 'अंश और हल' के मूर्त्तीकरण थे।

[1] ४. ५७, ५. ८।
[2] अथर्ववेद ३. १७, ५; मैत्रायणी संहिता १. ७, १२; वाजसनेयि संहिता १२. ६९; इत्यादि।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। देशीय व्याख्याओं के लिये देखिये बृहद्देवता, ५. ८ और बाद, (मैकडौनेल की टिप्पणी सहित)। ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद ११६, ११७, 'शुनमू' का क्रियाविशेषण मानते हुये 'सफलतापूर्वक' अनुवाद करते हैं।

शुनो-लाङ्गूल (कुत्ते की पूँछ), *शुनः शेप*[1] के भ्राता का नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५, १; शाङ्खायन श्रौतसूत्र, १५. २०, १।

शुम्बल, शतपथ ब्राह्मण[1] में मिलता है। इस शब्द का अर्थ अनिश्चित है: अपने भाष्य में हरिस्वामी इसे 'तृण' मानते हैं; एलिङ्ग[2] का मत है कि सूखी रूई का धागा अथवा बीज-कोश अर्थ हो सकता है। जो कुछ भी हो, इससे किसी ऐसे पदार्थ का ही तात्पर्य है जिसमें सरलता से आग लग सकती है।[3]

[1] १२. ५, २. ३।
[2] से० बु० ई० ४४, २०२, नोट ३; कात्यायन श्रौतसूत्र २५. ७, १२ की तुलना करते हुये।
[3] रौथ: सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

शुल्क से ऋग्वेद[1] में स्पष्ट रूप से 'मूल्य' का आशय है। धर्म सूत्रों[2] में यह 'कर' का द्योतक है, जिस आशय को मुइर[3] ने अथर्ववेद[4] के उस स्थल पर भी देखा है जहाँ आशय के लिये अत्यधिक घातक 'शुक्र' पाठ है। ब्लूमफील्ड[5] और ह्विट्ने[6] ने इस संशोधन को स्वीकार कर लिया है। एक अन्य स्थल पर वेबर[7] द्वारा किये गये इसी संशोधन को ह्विट्ने[8] ने तो स्वीकार ही नहीं किया है, और ब्लूमफील्ड[9] सन्दिग्ध मानते हैं।

[1] ७. ८२, ६; ८. १, ५।
[2] देखिये फॉय: डी० गे० ३९ और बाद।
[3] संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ३१०।
[4] ३. २९, ३।
[5] अथर्ववेद के सूक्त ४३४।
[6] अथर्ववेद का अनुवाद, १३६।
[7] इन्डिशे स्टूडियन, १७, ३०४।
[8] उ० पु०, २५३।
[9] उ० स्था०।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ४१३।

शुशुक—देखिये *आशुंग* और *शिशुक* ।

शुशुलूक ऋग्वेद[1] में एक दानव के नाम 'शुशुलूक-यातु', समस्त पद में मिलता है। सायण के अनुसार इसका अर्थ 'छोटा-उलूक' है। 'शुशुलूका' स्त्रीलिङ्ग रूप में यह मैत्रायणी संहिता[2] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में आता है।

[1] ७. १०४, २२ ।
[2] ३. १४, १७ । तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९३ ।

शुष्क-भृङ्गार, कौषीतकि उपनिषद्[1] में एक गुरु का नाम है।
[1] २. ६ । तु० की शाङ्खायन श्रौतसूत्र, १७. ७. १२ ।

शुश्मिण ऐतरेय ब्राह्मण (८. २३, १०) में *शिबियों* के राजा *अमित्रतपन* का नाम है।

शूद्र वैदिक समाज की चतुर्थ जाति का नाम है (देखिये *वर्ण*)। दसवें मण्डल के उस पुरुष सूक्त[1] के अतिरिक्त यह ऋग्वेद में सर्वथा अज्ञात, जहाँ जातियों की उत्पत्ति से सम्बन्धित सबसे प्राचीन विवरण में सर्वप्रथम शूद्र भी मिलता है। दूसरी ओर ऋग्वेद उस *दस्यु* और *दास* से परिचित है जो दोनों ही आर्य-नियन्त्रण से स्वतंत्र अथवा अधीनस्थ दासों के रूप में आने वाले आदिवासी हैं : यह मानना तर्कसंगत है कि बाद के ग्रन्थों का शूद्र वह आदिवासी था जो आर्यों द्वारा पराधीन बना लिया गया था। उपर्युक्त आशय में, पराजित आदिवासियों को निश्चित रूप से दास बना लिया गया होगा। यह स्पष्ट है कि अक्सर ही अधिकांश आदिवासियों का युद्ध में वध कर दिये जाने के अवसरों के विपरीत भी इनमें से बहुत से लोग बच जाते होंगे और दासों के रूप में व्यक्तिगत स्वामियों द्वारा प्रयुक्त होते रहे होंगे। आदिवासियों के ग्राम निश्चित रूप से वर्तमान, किन्तु आर्यों की अधीनता अथवा नियन्त्रण के अन्तर्गत ही, रहे होंगे : कम से कम इतना सत्य तो बैडेन पावेल के उस सिद्धान्त में हो ही सकता है जो प्रत्यक्षतः भारत की सभी आरम्भिक कृषक-ग्रामों की उत्पत्ति का स्रोत द्रविड़ों को मानते हैं। दूसरी ओर शूद्र शब्द के अन्तर्गत वह असभ्य पर्वतीय जातियाँ भी आ जाती हैं, जो आखेट और मछली मारकर अपना जीवनयापन करती थीं, और जिनमें से अनेक ने अपने पड़ोसी आर्यों की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया होगा :

[1] १०. ९०, १२ । देखिये म्यूर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ८ और बाद ।

वास्तव में यह शब्द आर्य-क्षेत्र की सीमा के बाहर स्थित सभी लोगों के लिये व्यवहृत हो सकता है।

शूद्र सम्बन्धी यह दृष्टिकोण इनकी स्थिति को व्यक्त करनेवाले उन वैदिक सन्दर्भों के सर्वथा अनुकूल है जो केवल परिवारों में रहनेवाले दासों के लिये ही पर्याप्त रूप से व्यवहृत नहीं हो सकता। शूद्र सदैव आर्यों के विपरीत हैं,[२] और शूद्रों की त्वचा के रङ्ग की आर्यों के साथ उसी प्रकार तुलना की गई है,[३] जिस प्रकार इनके रहन-सहन के बीच विभेद किया गया है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण[५] अपने जाति सम्बन्धी विवरण में शूद्रों को 'अन्यस्य प्रेष्य' (दूसरों का सेवक); 'कामोत्थाप्य' (जिसे इच्छानुसार बहिष्कृत किया जा सके); और 'यथाकामवध्य' (जिसका इच्छानुसार वध किया जा सके), कहा गया है। यह सभी शब्द विजित होने के परिणाम-स्वरूप दासों की स्थिति का बहुत कुछ पर्याप्त रूप से वर्णन करते हैं : यह उपाधियाँ नॉर्मनों द्वारा विजित हुये इंगलिश-दासों के लिये भी, विशेषतः उस दशा में थोड़ी अशुद्धता के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं, जब नॉर्मनों को अपने राजा से अधिकार प्राप्त होते थे। पञ्चविंश ब्राह्मण[६] में यह उल्लेख है कि सम्पन्न ('बहु-पशु', अनेक गायोंवाला) होने पर भी शूद्र दास के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता : उसका कार्य अपने श्रेष्ठों का 'पादावनेज्य' (पादप्रक्षालन) है। महाभारत[७] में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शूद्र की कोई सम्पत्ति नहीं होती (न हि स्वम् अस्ति शूद्रस्य)। दूसरी ओर, ठीक उसी प्रकार, जैसे इंग्लैण्ड

[२] अथर्ववेद ४. २०, ४; १९. ३२, ८; ६२, १; वाजसनेयि संहिता १४. ३०; २३. ३०. ३१; तैत्तिरीय संहिता ४. २, १०, २; ७. ४, १९, ३; काठक संहिता, अश्वमेध, ४. ७; १७. ५; मैत्रायणी संहिता २. ८, ६; ३. १३, १, इत्यादि। देखिये आर्य और अर्य भी। तैत्तिरीय संहिता १. ८, ३, १; वाजसनेयि संहिता २०, १७; काठक संहिता ३८. ५, में शूद्र आर्यों के विपरीत है।

[३] काठक संहिता ३४. ५; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ५, १७। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ६. ४, ४, ९; बृहदारण्यक उपनिषद्, १. ४, २५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ४, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ६, ७; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ४; मूइर : उ० पु०, १[२], १४०; महाभारत १२. १८८, ५।

[४] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७, ३. ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २४।

[५] ७. २९, ४; मूइर : संस्कृत टेक्ट्स, १[२], ४३९।

[६] ६. १, ११।

[७] १२. ३०, ७ (हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ७३)। इसी ग्रन्थ का १२. २९४, २१ (वही ७४, नोट) इसके सेवा के कर्त्तव्य पर बल देता है।

में राजकीय-न्याय दासों के जीवन और शरीर की रक्षा करता था,[८] यहाँ भी ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र का वध करने पर बौधायन[९] और आपस्तम्ब[१०] के अनुसार दस गायों का वैरदेय देना पड़ता था। यहाँ वास्तव में यह माना जा सकता है कि स्वामी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा वध करने पर ही यह वैरदेय लिया जाता था; किन्तु इस प्रकार की सीमा का कहीं उल्लेख नहीं है।

धार्मिक कृत्यों में आर्यों और शूद्रों का विभेद निःसन्देह विशेष रूप से स्पष्ट था। मूलग्रन्थ[११] शूद्रों की उपेक्षा करते हुये यह घोषणा करने में संकोच नहीं करते कि उच्च जातियाँ ही 'सब कुछ' हैं। अग्निहोत्र के लिये आवश्यक दुग्ध के लिये गाय दुहने से शूद्रों को वर्जित[१२] किया गया है; और शतपथ ब्राह्मण[१३] यज्ञ के लिये दीक्षित किसी भी व्यक्ति को यज्ञ के समय शूद्र से बोलने का निषेध करता है; यद्यपि शाट्यायनक[१४] इस नियम को कुछ शिथिल करते हुये ऐसे ही शूद्रों को वर्जित करता है जो किसी पाप के अपराधी होते थे। स्वयं यज्ञ के समय शूद्र यज्ञ-शाला में उपस्थित नहीं हो सकता था; शतपत ब्राह्मण[१५] और पञ्चविंश ब्राह्मण[१६] में इसे निश्चित रूप से यज्ञ के अयोग्य (अयज्ञिय) कहा गया है; और काठक संहिता[१७] में ऐसी उक्ति है कि इसे सोमपान के लिये स्वीकृति नहीं देनी चाहिये। 'प्रवर्ग्य संस्कार' के समय यज्ञ-कर्त्ता को शूद्र के सम्पर्क में आने की स्वीकृति नहीं है[१८] क्योंकि यहाँ, जैसा कि काठक संहिता[१७] में भी

[८] पोलक और मेटलैन्ट : हिस्ट्री ऑफ इङ्गलिश लॉ, १, ३५०, ३५५ इत्यादि।

[९] धर्मसूत्र १. १०, १९, १।

[१०] धर्मसूत्र १. ९, २४, ३।

[११] शतपथ ब्राह्मण २. १, ४, २; ४. २, २, १४; इत्यादि। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, xvi और बाद; २६, २९२। तु० की० हॉपकिन्स : उ० पु०, १३, ७३, ७५, नोट।

[१२] काठक संहिता ३१, २; मैत्रायणी संहिता ४. १, ३। इसी प्रकार 'स्थाली' (पकाने का पात्र) किसी आर्य द्वारा ही बनाई जानी चाहिये, मैत्रायणी संहिता १. ८, ३।

[१३] ३. १, १, १०। तु० की० ५, ३, २, २।

[१४] कात्यायन श्रौतसूत्र ७. ५, ७ पर भाष्य में उद्धृत आपस्तम्ब। आशय बहुत निश्चित नहीं, किन्तु मूलग्रन्थ में जो कुछ है वह तर्कसंगत प्रतीत होता है। तु० की० वेबर : उ० पु० १०, ११।

[१५] ३. १, १, १०। मैत्रायणी संहिता ७. १, १, ६, भी देखिये; लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ८२।

[१६] ६. १, ११।

[१७] ११. १०, जहाँ यह करीरों को ग्रहण नहीं करता।

[१८] शतपथ ब्राह्मण, १४. १, १, ३१।

है, शूद्र को सोमपान में भाग लेने से वर्जित माना गया है। दूसरी ओर यजुर्वेद[19] में शूद्र को पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक माना गया है, और एक आर्य तथा शूद्र के बीच द्वन्द्व महाव्रत संस्कार का एक अंग है जिसमें निःसन्देह प्रथम की ही विजय होती है; यह सम्भवतः भारतीय नाटक का पूर्वरूप है।[20]

फिर भी, इस प्रकार के संकेतों का भी अस्तित्व है जिनके अनुसार शूद्रों के वास्तविक महत्व की उपेक्षा करना अवांछनीय माना जाता था। यह तथ्य हमें उन दासों की स्थिति का पुनः स्मरण दिलाते हैं जो, यद्यपि वैधानिक दृष्टि से वंचित होते हुये भी, क्रमशः स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में अपना स्थान बना सकने में समर्थ हो गये। आरम्भिक ग्रन्थों[21] में उसी प्रकार धनी शूद्रों का उल्लेख है, जिस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में 'गहपति' के रूप में और वैधानिक साहित्य[22] में राजाओं के रूप में शूद्र आते हैं। आर्य और शूद्र के विरुद्ध पाप का उल्लेख है।[23] तथा साथ ही साथ अन्य जातियों के वैभव के लिये स्तुतियाँ भी मिलती हैं।[24] शूद्र, तथा साथ ही साथ, आर्यों का प्रिय बनने की इच्छा को भी व्यक्त किया गया है।[25]

सूत्र भी, श्रेष्ठों के समीप बैठने इत्यादि की हीनता,[26] वेदाध्ययन से

[19] वाजसनेयि संहिता ३०. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १, १; शतपथ ब्राह्मण १३. ६, २, १०। यह **राजसूय** के समय भी उपस्थित है, काठक संहिता ३७. १।

[20] कीथ : रसी० गे० ६४, ५३४।

[21] मैत्रायणी संहिता ४. २, ७, १०; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. १, ११। राजा के कुछ मन्त्री शूद्र थे : शतपथ ब्राह्मण ५. ३, २, २, सायण की टिप्पणी सहित।

[22] फॉय : डी० गे० ८; फिक : टी० ग्ली० ८३, ८४। देखिये मनु, ४. ६१; विष्णु ७१. ६४; सम्भवतः जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४, ५। किन्तु देखिये रौथ का संशोधन, ज०अ० ओ० सो०, १६, ccxliii।

[23] काठक संहिता ३८. ५; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ३, १; वाजसनेयि संहिता २०. १७।

[24] तैत्तिरीय संहिता ५. ७, ६, ४; काठक संहिता ४०. १३; मैत्रायणी संहिता ३. ४, ८; वाजसनेयि संहिता १८. ४८। दूसरी ओर, शूद्र भी आर्यों की भाँति अभिचारों का प्रयोग करते हैं, अथर्ववेद, १०. १, ३।

[25] अथर्ववेद १९. ३२, ८; ६२, १; वाजसनेयि संहिता, २६, २, इत्यादि।

[26] गौतम धर्म सूत्र १२. ७; आपस्तम्ब धर्म सूत्र २. १०, २७, १५। इसी प्रकार इसका अपमान करना भी अदण्ड्य है, गौतम, १२. १३, और किसी का अपमान करने पर इसे दण्ड दिया जाता है, वही; १२. १; आपस्तम्ब २. १०, २७, १४।

वर्जित होने,[२७] तथा शूद्रों[२८] अथवा उनके भोजन[२९] के सम्पर्क के संकट से सम्बद्ध ऐसे सामान्य नियमों पर ज़ोर देते हुये जिनका ऊपर उल्लेख नहीं है, यह स्वीकार करते हैं कि शूद्रगण व्यवसायी[३०] बन कर अथवा अन्य किसी भी प्रकार व्यापार[३१] कर सकते थे।

इनके अतिरिक्त सूत्रों[३२] में सभी जाति के व्यक्तियों को शूद्रा स्त्री के साथ विवाह की स्वीकृति दी गई है। यद्यपि वत्स[३३] और कवष[३४] पर यह आक्षेप था कि यह लोग क्रमशः एक शूद्रा और एक दासी के पुत्र थे, तथापि इस प्रकार के आक्षेपों की सम्भावना यह व्यक्त करती है कि ऐसे विवाह होते थे। इसके अतिरिक्त, आर्य और शूद्रा, अथवा शूद्र और आर्या के बीच अवैध सम्बन्धों का यजुर्वेद की संहिताओं[३५] में उल्लेख है।

'शूद्र' शब्द की उत्पत्ति सर्वथा अस्पष्ट है, किन्तु त्सिमर[३६] यह व्यक्त करते हैं कि टॉलमी[३७] ने एक जाति के रूप में सुड्रोए (Συδροι) का उल्लेख किया है जिससे आपके विचार से 'ब्राहुई' का तात्पर्य है। इस समीकरण[३८] पर

[२७] गौतम, १२. ४-६।
[२८] आपस्तम्ब, १. ५, १७, १; २. २, ३, ४, इत्यादि।
[२९] आपस्तम्ब, १. ५, १६, २, इत्यादि।
[३०] गौतम, १०. ६०। तु० की० १०. ५०-६७, सैद्धान्तिक रूप से शूद्रों के कर्त्तव्यों के विस्तृत विवरण के लिये। अपने स्वामी के साथ इनका परस्पर सहयोग का सम्बन्ध होता है।
[३१] विष्णु २. १४।
[३२] पारस्कर गृह्यसूत्र १. ४, ११। इसके विपरीत नियम (जैसे गोभिल गृह्यसूत्र ३. २, ५२) विशेष अवसरों के लिये हैं। देखिये वेबर: इ० स्टु० १०, ७४। दूसरी ओर शूद्र और आर्य-स्त्री के बीच अवैध संभोग के लिये सूत्रों में कठिन दण्ड का विधान है। देखिये आपस्तम्ब १. १०, २६, २०; २७, ९; गौतम १२. २. ३।
[३३] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६, ६।
[३४] ऐतरेय ब्राह्मण २. १९, १।
[३५] आर्य और शूद्रा: वाजसनेयि संहिता २३. ३०; तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, ३; मैत्रायणी संहिता ३. १३, १; काठक संहिता, अश्वमेध, ४. ८। शूद्र और आर्या: वाजसनेयि संहिता २३. ३१। इस मंत्र की शतपथ ब्राह्मण, निःसन्देह जानबूझ कर उपेक्षा करता है।
[३६] आल्टिन्डिशे लेबेन, २१६, ४३५।
[३७] ६. २०।
[३८] अब जातिविज्ञान शास्त्र की दृष्टि से 'ब्राहुइ' को द्रविड़ नहीं वरन् टर्को-ईरानियन माना जाता है (इन्डियन एम्पायर, १, २९२, ३१०)। ऐसा कहा गया है (वहीं १, ३८२) कि यह मूल द्रविड़ों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो भारत में 'मुण्डा' जाति में विलीन हो गये थे; किन्तु यह मत इस तथ्य द्वारा अप्रमाणित हो जाता है कि ऋग्वेद में दस्युओं को 'अनास'

(नासिका विहीन : तु० की० दस्यु, नोट ७) कहा गया है, जो शब्द द्रविड़ों के लिये तो भली प्रकार व्यवहृत हो सकता है किन्तु टर्को-ईरानियन प्रकार के लोगों के लिये इसका व्यवहार हास्यास्पद ही होगा। यह मानना अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है कि 'ब्राहुइ' एक मिश्रित जाति के लोग थे जिनके कालान्तर में अधिकांश द्रविड़-गुण लुप्त हो गये। द्रविड़ों और मुण्डा भाषा-भाषियों के सम्बन्ध पर वैदिक ग्रन्थ कोई प्रकाश नहीं डालते।

किसी प्रकार का ज़ोर दिये बिना ही इस मत[३१] को ग्रहण कर लेना तर्कसंगत होगा कि मूलतः यह शब्द एक ऐसी विस्तृत जाति के लोगों का नाम था जो आर्य-आक्रमण के विरोधी थे। देखिये *निषाद* भी।

[३१] देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, ८५, २५५; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २१२; फिक : डी० ग्ली०, २०१, २०२।

तु० की०, फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, १५४, १५५; जॉली : त्सी० गे० ५०, ५१५; फिक : डी० ग्ली०, २०१ और बाद; रिज डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया ५४; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ७३, और बाद (महाकाव्य में शूद्र के लिये); त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबन ११९ और बाद; वेबर : इन्डिय लिटरेचर, १८, ७७, १११, ११२, २७६; इन्डिशे स्टूडियन, १०, ४ और बाद; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ८ और बाद।

शूद्रा अथर्ववेद[१] और बाद[२] में शूद्र-स्त्री का द्योतक है।

[१] ५. २२, ७ (= दासी ५. २२, ६)।
[२] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, ३; काठक संहिता, अश्वमेध, ४. ८; मैत्रायणी संहिता ३. १३, १; वाजसनेयि संहिता २३. ३०, इत्यादि; 'शूद्रा-पुत्र' (शूद्र-स्त्री से उत्पन्न पुत्र), पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६, ६।

शूर, नियमित रूप से ऋग्वेद[१] तथा अवसर बाद[२] में 'वीर' अथवा 'योद्धा' का द्योतक है।

[१] १. ७०, ११; १०१, ६; १४१, ८; १५८, ३; २. १७, २; ३०, १०, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद ८. ८, १; वाजसनेयि संहिता १६. ३४; २०. ३७, इत्यादि (देवों, इन्द्र और अग्नि के लिये); 'शूर-वीर', अथर्ववेद, ८. ५, १।

शूर-वीर माण्डूक्य ('मण्डूक' का वंशज) ऋग्वेद के आरण्यकों[१] में एक गुरु का नाम है।

[१] ऐतरेय आरण्यक ३. १, १. ३. ४; शाङ्खायन आरण्यक ७. २. ८. ९. १० (जहाँ इस नाम का पाठ 'शौर-वीर' है)।

शूर्प अथर्ववेद[1] और बाद[2] में अन्न 'ओसाने' के लिये प्रयुक्त एक बिनी हुई टोकरी का द्योतक है। इसे अथर्ववेद[3] में 'वर्ष-वृद्ध' (वर्षा से फूला हुआ) कहा गया है, जिससे, जैसा कि त्सिमर[4] का कथन है, ऐसा व्यक्त होता है कि यह अक्सर सूखी लकड़ी की नहीं वरन् नरकट की बनी होती थी।

[1] ९. ६, १६; १०. ९, २६; ११. ३, ४; १२. ३, १९ और बाद; २०. १३६, ८।
[2] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ८, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ५, ४; ३. २, ५, ११, इत्यादि।
[3] १२. ३, १९।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, २३८।
तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ६८६, में लैनमैन; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६४९।

शूल, जो कि माँस भूनने के लिये प्रयुक्त शलाका का द्योतक है, ऋग्वेद[1] तथा बाद के ब्राह्मणों[2] में मिलता है।

[1] १. १६२, ११।
[2] शतपथ ब्राह्मण ११. ४, २, ४; ७, ३, २; ४, ३; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १५, ३ (अन्त्येष्टि के समय प्रयुक्त तथा, भूनने को व्यक्त करता हुआ)। रुद्र के आयुध के रूप में 'शूल' एक बाद के ग्रन्थ, षड्विंश ब्राह्मण ५. ११, से पहले नहीं मिलता। वैदिकोत्तर भाषा में 'त्रि-शूल' शिव का नियमित आयुध है।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २७१।

१. *शूष वार्ष्ण्य* ('वृष्णि' का वंशज) का तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १०, ९, १५) में 'आदित्य' के साथ अभिषिक्त हुये होने का सम्मान प्राप्त करनेवाले के रूप में उल्लेख है।

२. *शूष वाह्नेय* ('वह्नि' का वंशज) *भारद्वाज* (*भरद्वाज* का वंशज), वंश ब्राह्मण[1] में *अराड दात्रेय शौनक* के शिष्य, एक गुरु का नाम है। तु० की० *शुष*।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

शृङ्ग ऋग्वेद[1] और बाद[2] में किसी प्रकार के पशु की 'सींग' का द्योतक है। इसीलिये अथर्ववेद[3] में बाण के 'शूलाग्र' को उसकी सींग कहा गया है।

[1] १. १४०, ६; १६३, ११; २. ३९, ३; ३. ८, १०, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद २. ३२, ६; ८. ६, १४; ९. ४, १७, इत्यादि।
[3] ४. ६, ५। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १५४।

शृङ्ग-वृष् ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में किसी मनुष्य का नाम है। लुडविग[2] के अनुसार यह *पृदाकुसानु* का पिता था।

[1] ८. १७, १३।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६१। तु० की० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, १४२, नोट।

शेरभ और *शेरभक* अथर्ववेद[1] में सर्पों अथवा दानवों के नाम हैं।

[1] २. २४, १। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ६४।

शेव-धि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'कोश' अथवा 'निधि' का द्योतक है।

[1] २. १३, ६; ७. ५३, ५; ९. ३, १५ (लाक्षणिक आशय में)। तु० की० ८. ५२, ९।
[2] अथर्ववेद ५. २२, १४; वाजसनेयि संहिता १८. ५९, इत्यादि।

शेवृध और *शेवृधक* अथर्ववेद[1] में सर्पों अथवा दानवों के नाम हैं।

[1] २. २४. १। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ६४।

शेषण से, अथर्ववेद (७. १०९, ५) में पासों को फेंकने के लिये उठाने (*ग्लहन*, ग्रहण करने) के विपरीत, पासों को 'फेंकने' या 'छोड़ने' का अर्थ है। तु० की० *ग्लह*।

शेषस् ऋग्वेद[1] में 'सन्तान' का द्योतक है।

[1] १. ९३, ४; ५. १२, ६; ७०, ४; ६. २७, ४. ५; ७. १, १२; ४, ७; १०. १६, ५।

शैब्य (*शिबियों* का), ऐतरेय ब्राह्मण (८. २३, १०) में राजा *अमित्रतपन शुष्मिण* की उपाधि है। प्रश्न उपनिषद् (१. १; ५. १) में 'शैब्य' एक गुरु, *सत्यकाम*, का पैतृक नाम है।

शैलन, बहुवचन में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. २, ३; २. ४, ६) में आचार्यों के एक सम्प्रदाय का नाम है।

शैलालि ('शिलालिन्' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में एक सांस्कारिक गुरु का नाम है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[2] में एक 'शैलालि' ब्राह्मण का उल्लेख है और 'शैलालिनों' का मत-सम्प्रदाय सूत्रों[3] में अक्सर आता है।

[1] १३. ५, ३, ३।
[2] ६. ४, ७।
[3] अनुपद सूत्र, ४. ५, इत्यादि। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १५६; इन्डियन लिटरेचर १९७, जो 'शिलालिनों' को आरोपित नट सूत्र की, पाणिनि ४. ३, ११०, १११ के साथ तुलना करते हैं।

शैलिन अथवा *शैलिनि* ('शिलिन' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *जित्वन्* का पैतृक नाम है। सम्भवतः इसके साथ *शैलन* की तुलना करनी चाहिये।

[1] 'शैलिन', बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, ५, माध्यंदिन, में; 'शैलिनि' बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, २, काण्व में। तु० की० मैक्समूलर : से० बु० ई०, १५, १५२, नोट २।

शैलूप को यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है। इससे एक 'अभिनेता' या 'नर्तक' का आशय हो सकता है। सायण के अनुसार यह एक ऐसा व्यक्ति है जो अपनी पत्नी की वैश्यावृत्ति पर निर्भर रहता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २९०; वेबर : इन्डियन लिटरेचर, १११, १९६, १९७। 'शैलूष' का ठीक-ठीक आशय इस बात पर निर्भर करता है कि भारत में नाटक कितना प्राचीन है। इसके लिये तु० की० इतिहास; कीथ : ज० ए० सो०, १९११, ९९५ और बाद।

शोण सात्रासाह का, जो एक *पञ्चाल* राजा और *कोक* का पिता था, शतपथ ब्राह्मण[1] में अश्वमेध करनेवाले रूप में उल्लेख है। इसके अश्वमेध में *तुर्वश* लोग भी उपस्थित थे।

[1] १३. ५, ४, १६–१८। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ४००।

शौङ्गायनि ('शौङ्ग' का वंशज') वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२, ३८३। आश्वलायन श्रौतसूत्र, १२. १३, ५, इत्यादि, में 'शुङ्ग-गण' आचार्यों के रूप में ज्ञात हैं।

शौङ्गी-पुत्र ('शुङ्ग' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश में *सांकृती-पुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] ६. ४, ३१ (माध्यंदिन=६.५,२, काण्व)।

शौच ('शुचि' का वंशज) उस *आह्नेय* नामक मनुष्य का नाम है जिसका तैत्तिरीय आरण्यक (२. १२) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

शौचद्-रथ ('शुचद्-रथ' का वंशज) ऋग्वेद (५. ७९, २) में *सुनीथ* का पैतृक नाम है।

शौचेय ('शुचि' का वंशज) *प्राचीनयोग्य* ('प्राचीनयोग' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (११. ५, ३, १. ८) में एक गुरु का नाम है। 'शौचेय', तैत्तिरीय संहिता (७. १, १०, २) में *सार्वसेनि* का पैतृक नाम भी है।

शौनक ('शुनक' का वंशज) एक सामान्य पैतृक नाम है। यह *इन्द्रोत*[१] और *स्वैदायन*[२] के लिये व्यवहृत हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद्[३] में *रौहिणायन* के गुरु के रूप में एक शौनक आता है। कौषीतकि ब्राह्मण[४] में एक 'शौनक-यज्ञ' का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद्[५] में *अतिधन्वन्* शौनक एक गुरु के रूप में आता है। इसी उपनिषद्[६] तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[७] में शौनक कापेय का उल्लेख है जो उस *अभिप्रतारिन् काक्षसेनि* का समकालीन था, जिसका इस द्वितीय उपनिषद् के एक अन्य स्थल[८] के अनुसार शौनक ही पुरोहित था। सूत्रों और बृहद्देवता, इत्यादि में, व्याकरण, संस्कार, तथा अन्य विषयों के एक महान आचार्य के रूप में भी एक शौनक आता है।[९]

१ शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ३, ५; ४, १।
२ वही, ११. ४, १, २।
३ २. ५, २०; ४. ५, २६ माध्यंदिन।
४ ४. ७।
५ १. ९, ३।
६ ४. ३, ५. ७।
७ ३. १, २१।
८ १. ५९, २।
९ तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, २४, ३२–३४, ४९, ५४, ५६, ५९, ६२, ८५, १४३; मैकडौनेल : बृहद्देवता, १, xxiii; कीथ : ऐतरेय आरण्यक, १८, १९, २९७।

शौनकी-पुत्र ('शुनक' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३०. ३१) के अंतिम वंश में *काश्यपीबाला-क्यामाठरीपुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

शौर्प-णाय्य ('शूर्पणाय' का वंशज) माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ५, २०; ४. ५, २६) के प्रथम दो वंशों में *गौतम* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

शौल्बायन अथवा *शौल्वायन* ('शुल्ब' का वंशज) एक गुरु, *उदङ्क*[१], का पैतृक नाम है। शतपथ ब्राह्मण[२] के अनुसार एक शौल्बायन उन लोगों का अध्वर्यु पुरोहित था जिनके गृहपति (होता की उपाधि, जो कि यज्ञ-सत्र के समय अग्रगामी होता है) *अयस्थूण* थे।

१ तैत्तिरीय संहिता ७. ४, ५, ४; ५, ४. २; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, २ माध्यंदिन।
२ ११. ४, २, १७ और बाद।

शौष्कल, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों में से एक का नाम है। इसका सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार 'सूखी मछली अथवा सूखे मांस पर निर्भर रहनेवाला',[2] अथवा देशीय कोशकारों के अनुसार 'सूखी मछली बेचनेवाला', अर्थ है; जब कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के सायण-भाष्य में 'कँटियों' से मछली पकड़नेवाले के रूप में इसकी व्याख्या की गई है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ८१, नोट ७; एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, ४४, ४१५।

[2] इसका शब्दार्थ, 'सूखी (शुष्कल) वस्तु से सम्बद्ध', है।

श्रुष्टि आङ्गिरस (अङ्गिरस् का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

[1] १३. ११, २१। तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, २, १६०; हॉपकिन्स: ट्रा० सा०, १५, ६८।

श्मशान उस समाधि का नाम है जिसके भीतर मृतक की अस्थियों को गाड़ा जाता था (तु० की० *अनग्निदग्ध*)। इसका अथर्ववेद,[1] तथा अक्सर बाद[2] में भी उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[3] में ग्राम की सीमा से ओझल, उत्तर की ओर झुके, सुन्दर और शान्त अथवा बञ्जर स्थान पर, दक्षिण-पूर्वाभिमुख चतुष्कोणीय समाधि बनाने का विधान है। अग्निचित् द्वारा अग्नि-वेदिका के ही समान अन्त्येष्टि-वेदिक का निर्माण करने का विधान है। प्राच्यों की समाधियाँ गोलाकार होती थीं।

[1] ५. ३१, ८; १०. १, १८।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. २, ८, ५; ४, ११, ३; काठक संहिता २१. ४; मैत्रायणी संहिता ३. ४, ७; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, २, १५, इत्यादि।

[3] १३. ८, १, १ और बाद। तु० की० एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, ४४, ४२४ और बाद।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ४०७; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १६, cliii।

श्मश्रु का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'दाढ़ी' और 'मूँछ' अर्थ है। कभी-कभी इसका केश[3] (सर का बाल) के साथ विभेद भी किया गया है। दाढ़ी

[1] २. ११, १७; ८. ३३, ६; १०, २३, १. ४; २६, ७; १४२, ४।

[2] अथर्ववेद ५. १९, १४; ६. ६८, २; वाजसनेयि संहिता १९. ९२; २०. ५, इत्यादि। पशुओं के लिये व्यवहृत, वही, २५. १; शतपथ ब्राह्मण १२. ९, १, ६ इत्यादि।

[3] शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, ४८, इत्यादि।

बनवाना (देखिये *वप्तृ* और *क्षुर*) ज्ञात था। तैत्तिरीय संहिता[४] के अनुसार दाढ़ी रखना पुरुषत्व का द्योतक माना जाता था, और यह मेगास्थनीज़[५] के इस विवरण के सर्वथा अनुकूल है कि भारतीय मृत्यु के दिन तक अपनी दाढ़ी को भली प्रकार सजा कर रखते थे।

[४] ५. ५, १, १।
[५] डियोडोरस, २. ६३, में। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६५-२६७।

श्यापर्ण सायकायन उस अन्तिम व्यक्ति का नाम है जिसके लिये शतपथ ब्राह्मण[१] के अनुसार यज्ञ-वेदिका के निर्माण के समय पाँच बलि-प्राणियों का वध किया गया था। इसी ग्रन्थ[२] में इसका पुनः यज्ञ-वेदिका का निर्माण करनेवाले के रूप में उल्लेख है। यह किसी न किसी प्रकार *सल्वों*[३] से सम्बद्ध रहा होगा। इसके परिवार, श्यापर्णों, का ऐतरेय ब्राह्मण[४] में उल्लेख है, जहाँ ये उस आत्माभिमानी पुरोहित-परिवार के रूप में आते हैं जिन्हें राजा *विश्वन्तर* ने अपना यज्ञ कराने से वंचित कर दिया था, किन्तु इनका एक नायक, *राम मार्गवेय*, इन्हें पुनः ग्रहण कर लेने के लिये राजा को मना सकने में सफल हो गया था। श्यापर्ण किसी न किसी रूप में *कुन्तियों* द्वारा *पञ्चालों* की पराजय से भी सम्बद्ध था।[५]

[१] ६. २, १, ३९।
[२] ९. ५, २, १।
[३] १०. ४, १, १०।
[४] ७. २७। तु० की० एग्लिङ्ग : से०बु०ई०, ४३, ३४४-३४५; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ४३७ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २१५, २१६।
[५] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७१।

श्याम भी *अयस्* के साथ सम्भवतः अथर्ववेद[१] में 'लोहे' का द्योतक है। अथर्ववेद[२] और बाद[३] में 'श्याम' से अकेले भी यही आशय है।

[१] ११. ३, ७।
[२] ९. ५, ४।
[३] तैत्तिरीय संहिता ४. ७, ५, १; काठक संहिता १८. १०; मैत्रायणी संहिता २. ११, ५; वाजसनेयि संहिता १८. १३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५२, ५४; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़ १८९।

श्याम-जयन्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश में *जयन्त पाराशर्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है। इस स्थल पर इसी नाम का एक अन्य व्यक्ति *मित्रभूति लौहित्य* के शिष्य के रूप में आता है।

श्याम-पर्ण काठक[1] और मैत्रायणी[2] संहिताओं में उस व्यक्ति का नाम है जिसे *सोमदत्त कौश्रेय* ने शिक्षा दी थी।

[1] २०. ८ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७२)। | [2] ३. २, ७।

श्याम-सुजयन्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश में *कृष्णधृति सात्यकि* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

श्यामाक, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में एक प्रकार के कृषित प्रियंगु (Panicum frumentaceum) का नाम है। अथर्ववेद[3] में इसके बीज के हल्केपन का उल्लेख है, और यहीं यह कहा गया है कि यह हवा में उड़ जाता है। यहाँ कपोतों के भोजन के रूप में भी इसका उल्लेख है।[4] श्यामाक तथा इसके बीज (*तण्डुल*) को छान्दोग्य उपनिषद्[5] में अत्यन्त छोटा बताया गया है; जहाँ मैक्समूलर[6] ने इसका 'कनारी नामक पक्षी को खिलाया जानेवाला बीज' (Canary seed) अनुवाद किया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १, २; २. ३, २, ६; ४. ७, ४, २; मैत्रायणी संहिता २, ११, ४; वाजसनेयि संहिता १८. १२; काठक संहिता १०. २।
[2] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, ३, २; १२. ७, १, ९, इत्यादि; कौषीतकि ब्राह्मण ४. १२।
[3] १९. ५०, ४।
[4] २०. १३५, १२।
[5] ३. १४, ३।
[6] से० बु० ई० १, ४८।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४१, २७५।

१. श्याव, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है। *हिरण्यहस्त* के साथ इसका समीकरण किया जा सकता है।

[1] १. ११७, २४; १०. ६५, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५०; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ३२।

२. *श्याव* का ऋग्वेद[1] में *सुवास्तु* नदी के तट पर रहनेवाले एक उदार दाता के रूप में उल्लेख है।

[1] ८. १९, ३७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६१।

३. *श्याव* ऋग्वेद के एक स्थल (५. ६१, ९) पर स्पष्टतः, जैसा कि सायण का विचार है, *श्यावाश्व* का द्योतक प्रतीत होता है।

श्यावक का ऋग्वेद (८. ३, १२; ४, २) में एक यज्ञकर्ता तथा इन्द्र के मित्र के रूप में उल्लेख है। २. *श्याव* के साथ इसे समीकृत किया जा सकता है।

श्यावसायन, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) में *देवतरस्* का पैतृक नाम है। इसका रूप सम्भवतः *शावसायन* का ही एक अशुद्ध रूप है।

श्यावाश्व एक व्यक्ति का नाम है, जिसका ऋग्वेद[1] में अनेक बार उल्लेख है। अनुक्रमणी द्वारा इसे पाँचवें, आठवें, और नवें मण्डल के कई सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है।[2] इनमें से एक सूक्त[3] में श्यावाश्व ने, प्रत्यक्षतः अपने प्रतिपालकों के रूप में, *तरन्त* (*विददश्व* का पुत्र) और *पुरुमीळ्ह*, तथा साथ ही साथ, *रथवीति* का उल्लेख किया गया है। इसी सूक्त पर बृहद्देवता[4] में मिलनेवाली यह कथा आधारित है कि यह उस *अर्चनानस्* का पुत्र था जिसने रथवीति दाल्भ्य के लिये यज्ञ किया था। इसका पिता अपने पुत्र के विवाह के लिये राजा की पुत्री को प्राप्त करना चाहता था; किन्तु यद्यपि राजा तो तैयार हो गया तथापि उसकी पत्नी यह चाहती थी कि उसका दामाद एक ऋषि हो। इस प्रकार निराश होकर पिता और पुत्र जब अपने घर लौट रहे थे तब मार्ग में उनकी तरन्त और पुरुमीळ्ह से भेंट हो गई जो राजा के पिता के पूर्व-प्रतिपालक थे। इन दोनों ने उनके प्रति आदर भाव प्रदर्शित किया तथा तरन्त की पत्नी 'शशीयसी' ने श्यावाश्व को प्रचुर धन का दान दिया। इसके पश्चात पुत्र की सौभाग्य से वन में मरुतों से भेंट हो गई और वह इनकी (मरुतों की) स्तुति करके ऋषि बन गया। परिणामस्वरूप उक्त राजा ने अन्ततोगत्वा स्वयं अपनी पुत्री श्यावाश्व को समर्पित कर दी। सीग[5] यह दिखाने का प्रयास करते हैं इस कथा की पूर्व-मान्यता ऋग्वेद में ही मिलती है; किन्तु इस मत को स्वीकार करना कठिन है क्योंकि ऋग्वेद के सन्दर्भ अत्यन्त अस्पष्ट हैं, और 'शशीयसी' एक उपाधि से अधिक

[1] ५. ५२, १; ६१, ५. ९ (इस नाम का एक लघु रूप 'स्याव' यहाँ प्रयुक्त हुआ है); ८१, ५; ८. ३५, १९; ३६, ७; ३८, ८।

[2] ५. ५२–६१; ८१; ८२; ८. ३५–३८; ९. ३२।

[3] ५. ६१।

[4] ५. ४९ और बाद। देखिये ऋग्वेद ५. ६१ पर अनुक्रमणी (मैकडौनेल संस्करण, पृ० ११७ और बाद) में षड्गुरुशिष्य; ऋग्वेद ५. ६१; १७–१९; सीग : सा० ऋ०, ५० और बाद, में नीतिमंजरी।

[5] उ० पु० ५०–६०। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, ३, १४८।

और कुछ नहीं।[६] इस सूक्त के पीछे कोई इतिहास है, यह स्पष्ट है; किन्तु क्या है इसका अब कदाचित ही निर्णय किया जा सकता है।

श्यावाश्व द्वारा 'वैददश्वि' से उपहार प्राप्त करने का शाङ्खायन श्रौत सूत्र[७] में भी सन्दर्भ मिलता है। अथर्ववेद[८] में व्यक्तियों के नाम की दो तालिकाओं में इसका नाम आता है जिनमें से प्रथम में 'पुरुमीढ', और द्वितीय में अर्चनानस् तथा अत्रि भी सम्मिलित हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण[९] में इसे एक सामन् आरोपित किया गया है और तैत्तिरीय आरण्यक[१०] में भी सम्भवतः इसका ही सन्दर्भ है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र और पञ्चविंश ब्राह्मण[११] में इसे 'आर्चनानस' ('अर्चनानस्' का पुत्र), और बाद[१२] में 'आत्रेय' ('अत्रि' का वंशज) कहा गया है।

[६] ५. ६१, ६। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश,, व० स्था०, और वेबर : ऐ० रि० २७, ने इस शब्द को एक उपाधि के रूप में ही ग्रहण किया है।

[७] १६. ११, ७-९।

[८] ४. २९, ४; १८. ३, १५।

[९] ८. ५, ९। वेबर : ए० रि०, २७, नोट ४, इस असम्भाव्य अनुमान पर आधारित हैं कि यह एक क्षत्रिय था।

[१०] १. ११, २। किन्तु तु० की० सीग : ऋ० पु० ६१, नोट ४, जो इस शब्द को विशेषण के रूप में ग्रहण करते हैं जैसा अथर्ववेद ११. २, १८ में है; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १४. ३३, २६।

[११] ८. ५, ९।

[१२] अनुक्रमणी में इसे और इसके पिता को आत्रेय कहा गया है। नोट १ के अन्तर्गत ऋग्वेद के ८वें मण्डल से उद्धृत स्थल पर अत्रि का इसके साथ उल्लेख है।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १२६, १२७; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१४; ऋग्वेद-नोट, १, ३५४; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३५९, और बाद; लेवी : ल' डाक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, १२२।

श्येन, ऋग्वेद[१] में एक शक्तिशाली हिंसक पक्षी, बहुत सम्भवतः बाद के 'गरुड़' या 'गृद्ध' का नाम है। बाद[२] में (जैसा कि वैदिकोत्तर साहित्य में भी है) इससे 'बाज़' या 'चील्ह' का अर्थ प्रतीत होता है। यह पक्षियों में तीव्र गतिवाला[३] और छोटे-छोटे पक्षियों के लिये भयकारक होता था।[४] यह पक्षियों में सर्वाधिक शक्तिशाली भी होता था,[५] और पशुओं तक पर आक्रमण कर

[१] १. ३२, १४; ३३, २; ११८, ११; १६३, १; १६५, २, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ३. ३, ४; ७. ४१, २; ११. ९, ९, इत्यादि।

[३] तैत्तिरीय संहिता २. ४, ७, १; ५. ४, ११, १; षड्विंश ब्राह्मण ३. ८।

[४] ऋग्वेद २. ४२, २; अथर्ववेद ५. २१, ६।

[५] काठक संहिता ३७. १४।

सकता था।[6] यह मनुष्यों पर दृष्टि रखता था (नृ-चक्षस्),[7] जिससे निःसन्देह इससे आकाश में अत्यधिक ऊँचाई पर उड़ने का सन्दर्भ है। यह आकाश से सोम को लाता था।[8]

[6] ऋग्वेद ४. ३८, ५। यह श्येन द्वारा भेड़ के छोटे बच्चों को उठा ले जाने के तथ्य के सर्वथा अनुकूल है।

[7] अथर्ववेद ७. ४१, २।

[8] देखिये ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, १-२४, जो सभी सम्बद्ध स्थलों को उद्धृत करते हैं।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८७, ८८, यह व्यक्त करते हैं कि श्येन के लिये व्यवहृत 'ऋजिप्य' (ऊँचा उड़ना) उपाधि, ईरानियन में श्येन का वास्तविक नाम ही है।

अपयितृ (भोजन पकानेवाला) शतपथ ब्राह्मण (१. २, २, १४) में आनेवाला एक शब्द है।

श्रमण (भिक्षुक सन्यासी) सर्वप्रथम उपनिषदों[1] में मिलता है। फिक[2] के अनुसार, कोई भी श्रमण बन सकता था। मेगास्थनीज़ के समय के लिये यह मेगास्थनीज़ के प्रमाणों द्वारा ही व्यक्त होता है, जो, फिर भी, वास्तविक *मध्यदेश* की सीमा के बाहर पूर्वी भारत से ही सम्बद्ध है।[3] इसका वैदिक प्रमाण केवल इसका नाम तथा यह तथ्य है कि बृहदारण्यक उपनिषद् और तैत्तिरीय आरण्यक में इसके बाद *तापस* शब्द आता है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद्, ४. ३, २२; तैत्तिरीय आरण्यक २. ७ (इन्डिशे स्टूडियन, १, ७८ में)।

[2] डी० ग्ली० ३९ और बाद।

[3] स्ट्राबो, १५. १, ४९, ६०; अर्रियन : इन्डिका १२. ८. ९।

तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, २७, २८, १२९, १३८।

श्रवण—देखिये *नक्षत्र*।

श्रवण-दत्त (*श्रवण* द्वारा प्रदत्त) *कौहल* ('कोहल' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में *सुशारद शालङ्कायन* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

श्रविष्ठ—देखिये *नक्षत्र*।

श्रायस, तैत्तिरीय संहिता[1] और काठक संहिता[2] में *कण्व* का पैतृक नाम है, जहाँ यह एक गुरु के रूप में आता है। तैत्तिरीय संहिता[3] के एक अन्य स्थल तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में यह *वीतहव्य* का पैतृक नाम है।

[1] ५. ४, ७, ५।

[2] २१. ८।

[3] ५. ६, ५, ३।

[4] ९. २, ९; २५. १६, ३।

श्री, 'सम्पन्नता' के लिये नियमित शब्द है जो ऋग्वेद[1] में एक बार और बाद[2] में अक्सर मिलता है। देखिये *श्रेष्ठिन्*।

[1] ८. २, १९, में यही आशय प्रतीत होता है।
[2] अथर्ववेद ६. ५४, १; ७३, १; ९. ५, ३१; १०. ६, २६; ११. १, १२. २१; १२. १, ६३; ५, ७; तैत्तिरीय संहिता २. २, ८, ६; ५. १, ८, ६; ६. १, १०, ३; ७. २, ७, ३, इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण (११. ४, ३) तक में इसे एक देवी मान लिया गया है। देखिये रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, २१७ और बाद। यह प्राचीनतम बौद्ध मूर्तियों में ऐसे दो हाथियों के बीच बैठी मिलती है जो इस पर जल डाल रही हैं। इस प्रकार की देवी भारत में आज तक प्रचलित है।

श्रुत-कक्ष का ऋग्वेद[1] में एक बार उस सूक्त के ऋषि के रूप में उल्लेख है जिसके प्रणयन का अनुक्रमणी द्वारा इसे ही श्रेय दिया गया है। इसके एक सामन् का पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में उल्लेख है।

[1] ८. ९२, २५। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०८।
[2] ९. २, ७ (श्रौत-कक्ष)।

श्रुत-रथ ऋग्वेद[1] में एक युवक राजा का नाम है। यह *कक्षीवन्त* सहित पज्र परिवार का प्रतिपालक भी था।[2]

[1] १. १२२, ७।
[2] ऋग्वेद ५. ३६, ६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५५; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, ९७।

श्रुतर्य, ऋग्वेद (१. ११२, ९) में एक बार, अश्विनों के एक आश्रित के नाम के रूप में आता है।

श्रुतर्वन् आर्क्ष्य ('ऋक्ष' का वंशज) एक राजा का नाम है। ऋग्वेद (८. ७४, ४. १३) के एक सूक्त में इसकी उदारता की प्रशस्ति, और एक अन्य (१०. ४९, ५) में *मृगय* पर इसकी विजय का उल्लेख है।

श्रुतर्-विद् ऋग्वेद[1] में एक मनुष्य का नाम है।

[1] ५. ४४, १२। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३८, १३९।

श्रुत-सेन का, शतपथ ब्राह्मण (१३. ५, ४, ३) और शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६. ९, ४) में *जनमेजय* के भ्राताओं में से एक के रूप में उल्लेख है।

श्रुप वाह्नेय ('वह्नि' का वंशज) *काश्यप* (*कश्यप* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, १) में *देवतरस्* के शिष्य, एक गुरु का नाम

है। 'श्रुष' शब्द का *शूष* के स्थान पर एक मिथ्यपाठ होना अपेक्षाकृत अधिक सम्भव है।

श्रुष्टि-गु, ऋग्वेद[1] के वालखिल्य सूक्त में एक मनुष्य का नाम है।

[1] ८. ५१, १। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४०, १४१; हॉपकिन्स ज० अ० ओ० सो०, १७, ९०।

श्रेणि से पक्षियों,[1] अथवा अश्वों,[2] अथवा रथों,[3] इत्यादि की पंक्ति का अर्थ है।

[1] ऋग्वेद ५. ५९, ७।
[2] ऋग्वेद १. १२६, ४।
[3] ऋग्वेद ४. ३६, ६; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १४, १।

श्रेष्ठिन् ब्राह्मणों[1] के अनेक स्थलों पर आता है, जहाँ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश द्वारा इस शब्द को 'धनी व्यक्ति' का आशय प्रदान किया गया है। फिर भी, ऐसा सम्भव है कि इस शब्द में 'व्यापारियों की पंचायत के मुखिया' अथवा आधुनिक 'सेठ' का आशय वर्तमान रहा हो।[2] 'श्रैष्ठ्य'[3] के प्रयोग के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का सन्देह है, जो, जैसा कि सामान्यतया माना गया है, केवल 'श्रेष्ठतम स्थान' मात्र का नहीं वरन् निश्चित रूप से पंचायत की अध्यक्षता का द्योतक है।

संघों अथवा पंचायतों का धर्म सूत्रों[4] में उल्लेख और बौद्ध ग्रन्थों[5] तथा महाकाव्य[6] में महत्त्व है। किन्तु वैदिक प्रमाण यह सिद्ध कर सकने के लिये अपर्याप्त हैं कि वैदिक काल में भी इस प्रकार के संघटनों का अस्तित्व था।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३०, ३; कौषीतकि ब्राह्मण २८. ६; कौशितिक उपनिषद् ४. २०। 'भग' देवों के 'श्रेष्ठिन्' हैं, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, ४, १०।

[2] हॉपकिन्स : इन्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, १६८ और बाद।

[3] अथर्ववेद १. ९, ३ = तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ४, २ = काठक संहिता ५. ६ = मैत्रायणी संहिता १. ४, ३। देखिये इस शब्द के लिये अथर्ववेद १०. ६, ३१; ऐतरेय ब्राह्मण ४. २५, ८; ७. १८, ८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, ९, २; शतपथ ब्राह्मण १३. ७, १, १; छान्दोग्य उपनिषद् ५. २, ६; कौषीतकि उपनिषद् २. ६; ४. १५. २०, इत्यादि। सम्पूर्ण रूप से 'श्रेष्ठ्य' का प्रयोग इस सिद्धान्त के पक्ष में नहीं कि यह एक पारिभाषिक शब्द है।

[4] गौतम धर्मसूत्र, ११. २०. २१ इत्यादि। फॉय : डी० गे० १४, नोट, २, इत्यादि।

[5] रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया ८८, और बाद।

[6] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ८१ और बाद।

श्रोत्रिय अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'वेद-वेदाङ्ग में निष्णात ब्राह्मण' का द्योतक है।

[1] ९. ६, ३७; १०. २, २० और बाद।
[2] काठक संहिता २३. ४; २८. ४; ऐतरेय ब्राह्मण १. २५, १५; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, ५; १३. ४, ३, १४; तैत्तिरीय उपनिषद् २. ८, इत्यादि। तु० की० 'महा-श्रोत्रिय' छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, १, में

श्रौत-ऋषि[1] अथवा *श्रौतर्षि*[2] ('श्रुतिऋषि' अथवा 'श्रुतर्षि' का वंशज), देव*भाग* का पैतृक नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १, ६।
[2] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ९, ११।

श्रौमत्य ('श्रुमन्त्' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१०. ४, ५, १) में एक गुरु का नाम है।

श्लेष्मन् सामान्य रूप से उसका द्योतक है जिससे किसी वस्तु के भागों को आपस में जोड़ा जाता है ('श्लिष्', जोड़ना से): चर्म[1] के सन्दर्भ में किसी प्रकार के फीतों से तात्पर्य हो सकता है; रथ[2] की दशा में सम्भवतः 'रस्सियों' या 'बन्धनों' का अर्थ है; और लकड़ी[3] की दशा में सम्भवतः 'गोंद' का आशय है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३२, ६; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १७, ३; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ४।
[2] काठक संहिता ३४. ९। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १, १३, जहाँ एक रथ को 'श्लेष्मवन्त्' (रस्सियों से बँधा हुआ) कहा गया है।
[3] कौषीतकि ब्राह्मण ६. १२। तु० की० नोट १ में उद्धृत उपनिषद् और शाङ्खायन आरण्यक २.१, जो जैमिनीय के उद्धृत स्थल का ही एक भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है।

श्लोक की, बहुवचन में, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में दिये हुये साहित्यिक प्रकारों के अन्तर्गत *उपनिषदों* के बाद और *सूत्रों* के पहले गणना कराई गई है। तैत्तिरीय उपनिषद्[2] में 'श्लोक-कृत्' आता है: जैसा कि मैक्स मूलर[3] ने अनुवाद किया है, यह 'कवि' का ही द्योतक है, केवल 'मन्त्रोच्चारण'

[1] २. ४, १०; ४. १, ६ (माध्यन्दिन = ४. १, २ काण्व); ५, ११।
[2] ३. १०, ६।
[3] से० बु० ई० १५, ६९।

करनेवाले मात्र का नहीं जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने माना है।[४] ठीक ठीक क्या अर्थ है यह कहा नहीं जा सकता : सामान्य रूप से ऐसे 'मन्त्रों' से तात्पर्य हो सकता है जिनके अनेक प्रकार ब्राह्मणों में सुरक्षित हैं और जिन्हें श्लोक कहा गया है।[५]

[४] अथर्ववेद ५. २०, ७, में कोश द्वारा इस शब्द को यही आशय प्रदान किया गया है।

[५] उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण ११. ३, १, ५; ५, ४, १२; १३. ७, १, १५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २२, ३; ऐतरेय आरण्यक २. ३, ८; पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १८, ४; तैत्तिरीय आरण्यक ८. १; कौषीतकि उपनिषद् १. ६, इत्यादि।

श्लोण्य, तैत्तिरीय ब्राह्मण[१] में 'लँगड़ेपन' का द्योतक है, 'त्वचा की व्याधि' (त्वग्-दोष) का नहीं जैसा कि भाष्यकार ने माना है।

[१] ३. ९, १७, २। तु० की० 'श्लोण' (लँगड़ा), अथर्ववेद १२. ४, ३; तैत्तिरीय संहिता ६. १, ६, ७, इत्यादि।

श्व-घ्निन् से, ऋग्वेद[१] तथा अथर्ववेद[२] में स्पष्टतः 'द्यूतकार' अथवा 'द्यूत का व्यसनी' अर्थ है। मूलतः यह 'आखेट करनेवाले' का द्योतक रहा हो सकता है।[३]

[१] १. ९२, १०; २. १२, ४; ४. २०, ३; ८. ४५, ३८।

[२] ४. १६, ५।

[३] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, ७१।

श्वन् ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'कुत्ते' के लिये प्रयुक्त शब्द है जिसका स्त्रीलिङ्ग 'शुनी'[३] है। कुत्ता पालतू जानवर होता था,[४] और चोरों तथा अन्य प्रकार के 'बलात् प्रवेशकों' के विरुद्ध गृह की रक्षा करने के लिये इसका प्रयोग होता था।[५] वराह (वराह-यु)[६] के आखेट के लिये भी इसका व्यवहार होता था, किन्तु सिंह के विपरीत इसे नगण्य माना जाता था।[७] वालखिल्य सूक्त[८] की एक दान-स्तुति में सौ कुत्तों के उपहार का उल्लेख है।

[१] १. १६१, १३ (जहाँ आशय अस्पष्ट है); १८२, ४; २. ३९, ४, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ६. ३७, ३; ११. २, २; पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ८, २२, इत्यादि।

[३] अथर्ववेद ४. २०, ७ (चतुर्-अक्षी); शतपथ ब्राह्मण ६. ५, २, १९।

[४] ऋग्वेद २. ३९, ४।

[५] ऋग्वेद ७. ५५, ५।

[६] ऋग्वेद १०. ८६, ४।

[७] अथर्ववेद ४. ३६, ६।

[८] ऋग्वेद ८. ५५, ३।

अन्यत्र, अस्वच्छ[९] होने के कारण, कुत्ते को बलि के लिये उपयुक्त नहीं माना गया है; और इसे यज्ञ स्थल से भगा दिया जाता था।[१०] कुत्ते के माँस का भक्षण नैराश्य तथा क्षुधा की अन्तिम दशा में ही किया जाता था।[११] भोजनोत्सव के पश्चात हड्डियाँ कुत्तों को दे दी जाती थीं।[१२] एक कथा में इन्द्र के विश्वासपात्र कुत्ते[१३] के रूप में 'सरमा' का उल्लेख है जो गायों को ढूँढ़ता है। यजुर्वेद[१४] में रुद्र कुत्तों के अधिपति (श्व-पति) हैं; इसी संहिता[१५] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में 'कुत्तों की रखवाली करनेवाले' (श्वनिन्) का उल्लेख है। कुछ ग्रन्थों[१६] में उल्लिखित चार आँखोंवाले (चतुर्-अक्ष) कुत्ते निःसन्देह पौराणिक[१७] हैं। तु० की० कुर्कुर।

[९] जैमिनीय ब्राह्मण १. ५१, ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ४, १, ४।
[१०] ऋग्वेद ९. १०१, १।
[११] ऋग्वेद ४. १८, १३। बाद में 'श्व-पच' (कुत्ते का मांस पकानेवाला) एक पतित जाति का द्योतक है।
[१२] अथर्ववेद ६. ३७, ३। तु० की० ९. ४, १६।
[१३] १. ६२, ३; ७२, ८, इत्यादि। देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १५१।
[१४] वाजसनेयि संहिता १६. २८; काठक संहिता १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ५।
[१५] वाजसनेयि संहिता १६. २७; ३०. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ३, १, इत्यादि। तु० की० 'श्व-नी' (कुत्ते का नायक), मैत्रायणी संहिता २. ९, ५।
[१६] तु० की० ऋग्वेद १०. १४, १०. ११; अथर्ववेद १८. २, ११. १२; तैत्तिरीय आरण्यक ६. ३, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, ४, १; शतपथ ब्राह्मण १३. १, २, ९, इत्यादि।
[१७] ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १६५ और बाद; अथर्ववेद के सूक्त, ५००, का विचार है कि सूर्य और चन्द्रमा ही यम के दो कुत्ते हैं (तु० की० दिव्य श्वन्)।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३३; हॉपकिन्स : अ० फा० १५, १५४–१६३।

श्व-पद्, अथर्ववेद (८. ५, ११; १९. ३९, ४) में 'हिंसक पशु' का द्योतक है।

श्वयथ से शतपथ ब्राह्मण[१] में 'सूजन' का अर्थ है। बौधायन श्रौत सूत्र[२] के अनुसार *विदेह* में व्याप्त 'शीयथु' नामक व्याधि भी सम्भवतः एक प्रकार की 'सूजन' (? 'गड्ड') थी।

[१] ४. २, १, ११ (एक पुराकथा में आँख की)।
[२] २. ५; कैलेण्ड : ऊ० बौ० ३५, ३६।

श्व-वर्त (कुत्तों में मिलनेवाला) कुछ पाण्डुलिपियों के अनुसार अथर्ववेद (९. ४, १६) में कीड़े की एक जाति का नाम है। देखिये *शवर्त*।

श्वशुर, ऋग्वेद तथा उसके बाद[1] से पत्नी के श्वसुर (पति के पिता) का द्योतक है। सूत्र के पूर्व इसके अन्तर्गत पति के श्वसुर (पत्नी के पिता) का आशय सम्मिलित नहीं है।[2] जब तक श्वसुर वास्तविकता तथा अवस्था दोनों ही दृष्टि से पति के परिवार का प्रधान रहता था तब तक पुत्र-वधू (स्नुषा) के लिये श्वसुर का आदर करना अनिवार्य था।[3] जब वृद्ध श्वसुर परिवार का नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जाता था तब पुत्र-वधू श्वसुर और सास के ऊपर स्वयं गृह-स्वामिनी (सम्राज्ञी) बन जाती थी।[4] बहुवचन[5] में यह शब्द श्वसुर और सास दोनों का ही द्योतक है।

[1] १०. २८, १; ८५, ४६; ९५, ४; अथर्ववेद ८. ६, २४; १४. २, २६, इत्यादि।
[2] पारस्कर गृह्यसूत्र ३. १०, ४६।
[3] देखिये ऋग्वेद १०. ९५, ४; अथर्ववेद ८. ६, २४; मैत्रायणी संहिता २. ४, २; काठक संहिता १२. १२ (इन्डिशे स्टूडियन, ५, २६०); ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२, ७। इसी प्रकार अथर्ववेद १४. २, २६, में पुत्रवधू को श्वसुर की सेवा करनी चाहिये।
[4] ऋग्वेद १०. ८५, ४६। देखिये **पति**।
[5] ऋग्वेद १०. ९५, १२; अथर्ववेद १४. २, २७; काठक संहिता, उ० स्था०। यह एक बहुवचन होते हुये भी बहुभर्तृत्व का चिह्न नहीं है।
तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ५१५, ५१६।

श्वश्रू, पति[1] और पत्नी[2] दोनों के ही 'सासों' का द्योतक है। इसका पति यदि परिवार की व्यवस्था कर सकने में असमर्थ[3] हो जाता था तो उसके साथ यह भी पुत्र-वधू के अधीनस्थ हो जाती थी, अन्यथा आदर की अधिकारणी होती थी।[4] ऋग्वेद[5] में एक जूये का व्यसनी इस बात के लिये असन्तोष व्यक्त करता है कि उसके लिये अक्ष-क्रीड़ा के दुष्परिणामों में से एक अपनी सास की कृपा से वंचित हो जाना भी है।

[1] ऋग्वेद १०. ८५, ४६; अथर्ववेद १४. २, २६।
[2] ऋग्वेद १०. ३४, ३।
[3] ऋग्वेद १०. ८५, ४६।
[4] अथर्ववेद १४. २, २६।
[5] ऋग्वेद १०. ३४, ३।
तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ५१६।

श्वाजनि, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ५, २) में एक वैश्य का नाम है।

श्वापद भी, *श्वपद्* की ही भाँति, एक 'हिंसक पशु' का द्योतक है। इसका ऋग्वेद,[1] अथर्ववेद,[2] तथा अक्सर बाद[3] में भी उल्लेख है।

[1] १०. १६, ६।
[2] ११. १०, ८।
[3] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, १० (जहाँ इनमें से प्रमुख के रूप में शार्दूल का उल्लेख है); १२. २, ४, १६; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ४, २९; शाङ्खायन आरण्यक १२. १६, इत्यादि।

श्वा-विध् (कुत्ते का भेदन करनेवाला) अथर्ववेद[1] तथा बाद[2] में 'साही' (एक काँटेदार पशु) का नाम है। इसे लम्बे कानवाला (कर्ण)[3] कहा गया है। *शल्यक* भी देखिये।

[1] ५. १३, ९।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४; वाजसनेयि संहिता २३. ५६; २४. ३३, इत्यादि।
[3] अथर्ववेद, उ० स्था०।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८२।

श्विक्न, एक जाति के लोगों का नाम है जिनका शतपथ ब्राह्मण[1] में दो बार इनके राजा *ऋषभ याज्ञतुर* के सन्दर्भ में उल्लेख है। तु० की० *श्वैक्न*।

[1] १२. ८, ३, ७; १३. ५, ४, १५। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २०९, २१०।

१. *श्वित्र*, अथर्ववेद[1] तथा बाद की संहिताओं[2] में सर्प की एक जाति का नाम है।

[1] ३. २७, ६ (जहाँ एक त्रिभेदात्मक रूप 'चित्र' मिलता है); १०. ४, ५. १३।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १०, २; मैत्रायणी संहिता २. १३, २१, के सामान्तर स्थल पर, सम्भवतः त्रुटिवश 'चित्र' हो गया है।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९५; ह्विट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद १३४। वाजसनेयि संहिता २४. ३९ में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में आनेवाले 'श्वित्र' का सम्भवतः यही आशय है; किन्तु सेन्ट-पीटर्सबर्ग कोश इसकी 'एक प्रकार के पालतू पशु' अथवा सामान्य आशय में 'श्वेत-पशु' के रूप में व्याख्या करता है।

२. *श्वित्र*, पञ्चविंश ब्राह्मण (१२. ११, ११) में विशेषण के रूप में मिलता है जिसका 'श्वेत कुष्ठ से पीड़ित' आशय है।

श्वित्र्य—देखिये *श्वैत्रेय*।

श्वेत-केतु आरुणेय[1] (*अरुण* का वंशज) अथवा *औद्दालकि*[2] (उद्दालक का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में बहुधा उल्लेख है। कौषीतकि उपनिषद[3] में यह *आरुणि* के पुत्र श्वेतकेतु तथा एक *गौतम* के रूप में आता है। कौषीतकि ब्राह्मण[4] में इसका कौषीतकिनों के यज्ञ-संस्कार के समय *सदस्य* अथवा सत्रहवें पुरोहित के कर्त्तव्य की जटिल समस्या के अधिकारी विद्वान और यज्ञ की त्रुटियों को बतानेवाले के रूप में उल्लेख है; यहीं इसके पिता आरुणि का भी उल्लेख है। यह कुछ मौलिक विचार रखने वाला व्यक्ति था क्योंकि ब्रह्मचारियों के लिये मधु खाने का सामान्य निषेध होने पर भी इसने मधु खाने पर ज़ोर दिया था।[5] यह *पञ्चाल* राजा *प्रवाहण जैवल* का समकालीन तथा उनके द्वारा शिक्षित हुआ था।[6] यह *विदेह* के जनक का भी समकालीन था और इस राजा के दरबार में शास्त्रार्थ करनेवाले ब्राह्मणों में इसका उल्लेख है।[7] शाङ्खायन श्रौतसूत्र[8] में इसके सम्बन्ध में यह कथा मिलती है : *जल जातूकर्ण्य* को *काशि*, *कोसल*, और *विदेह* के तीन राजाओं का पुरोहित होने का सौभाग्य प्राप्त था। इसे देखकर श्वेतकेतु ने रुष्ट होकर अपने पिता की यज्ञ में अत्यधिक आस्था के लिये भर्त्सना की थी क्योंकि उनके यज्ञों ने दूसरों को ही सम्पन्न किया उन्हें नहीं। इसके

[1] शतपथ ब्राह्मण ११. २, ७, १२; ५, ४, १८; ६, २, १; १२. २, १, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ७, १; ६. १, १ (माध्यंदिन = ६. २, १ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, १; ६. १, १; ८, १।

[2] शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ३, १३; ४. २, ५, १४।

[3] १. १।

[4] २६. ४।

[5] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ४, १८।

[6] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १ (माध्यंदिन = ६. २, १ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, १।

[7] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, २, १ (इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि अन्य ब्राह्मणों के साथ यात्रा करते हुये ही यह जनक के दरबार में पहुँच गया था : यह विदेह के देश में कभी भी बसा नहीं था, वरन् स्पष्टतः, अपने पिता की ही भाँति, एक कुरु-पञ्चाल था); बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ७, १, जहाँ यह भी शास्त्रार्थ में याज्ञवल्क्य से पराजित हुआ है।

[8] १६. २७, ६ और बाद। 'कृत्स्नके ब्रह्मबन्धौ व्यजिज्ञासिपि' का ठीक-ठीक आशय बहुत निश्चित नहीं है। किन्तु आरुणि ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि उनके जीवन का लक्ष्य ज्ञान से प्रेम करना है, पुरोहितों को मिलनेवाले भौतिक सुखों को प्राप्त करना नहीं।

पिता ने इसे ऐसा कहने से वर्जित करते हुये उत्तर दिया कि उसने यज्ञ की वास्तविक विधि का ज्ञान प्राप्त किया है और उसके जीवन की यही आकांक्षा रही है कि वह अन्य ब्राह्मणों के साथ अपने इस ज्ञान का आदान-प्रदान करे।

श्वेतकेतु सम्बन्धी सभी सन्दर्भ अर्वाचीन वैदिक काल में ही मिलते हैं। अतः आपस्तम्ब धर्म सूत्र[९] द्वारा इसे 'अवर' अथवा बाद के काल का एक ऐसा व्यक्ति कहा जाना आश्चर्यजनक नहीं जो अपनी विशेष योग्यता के कारण ही ऋषि बन गया था। फिर भी इसका काल-निर्धारण बहुत बाद में नहीं करना चाहिये क्योंकि शतपथ ब्राह्मण, जिसमें इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, निःसन्देह पाणिनि के पूर्व का तथा इस वैयाकरण के समय में भी एक प्राचीन काल का ग्रन्थ माना गया है। अतः श्वेतकेतु के एक आनुमानिक काल के रूप में ५०० ई० पू० का समय अत्यन्त प्राचीन की अपेक्षा अत्यन्त बाद का ही मानना चाहिये।[१०]

[९] १. २, ५, ४-६।
[१०] इस पर देखिये बूहलर : से० बु० ई० २, xxxvii और बाद; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xxxv और बाद; मैक्स-मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर : ३६० और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, ६५; १३, ४४३; कीथ : ऐतरेय आरण्यक २२ और बाद।
तु० कीं० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ४३३; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४२१ और बाद; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ३९७ नोट।

श्वेत्या, एक नदी-स्तुति[१] में आता है और सम्भवतः सिन्धु की एक सहायक नदी[२] का नाम है।

[१] १०. ७५, ६।
[२] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १४, १५; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २००, इसका रूप 'श्वेती' मानते हैं; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १८४, दोनों ही रूप देते हैं।

श्वैक्र (*श्विक्रों* का राजा) उस *प्रतीदर्श* की उपाधि है जो, शतपथ ब्राह्मण[१] के अनुसार, 'दाक्षायण' यज्ञ करनेवालों में से एक था। इसने *सुलन् सार्ञ्जय* को भी इस यज्ञ की शिक्षा दी थी : अतः वेबर[२] ने श्विक्रों और *सृञ्जयों* के परस्पर सम्बद्ध होने का निष्कर्ष निकाला है।

[१] २. ४, ४, ३।
[२] इन्डिशे स्टूडियन, १, २०९, २१०।

श्वैत्रेय ऋग्वेद[१] के दो स्थलों पर आता है जहाँ सायण ने इस शब्द को 'श्वित्रा' के वंशज, एक व्यक्ति का नाम माना है। उक्त प्रथम स्थल ऋग्वेद[२]

[१] १. ३३, १४; ५. १९, ३।
[२] ६. २६, ४।

के ही छठवें मण्डल के एक ऐसे स्थल के समान है जहाँ *दशद्यु* का श्वैत्रेय के बिना ही उल्लेख है। लुडविग[3] ने दशद्यु को 'श्वैत्रेय' ('श्वित्री' का पुत्र) के साथ समीकृत करते हुये उसे *कुत्स* का पुत्र माना है।[4] बर्गेन[5] और वॉनेक[6] के विचार से यह वास्तव में एक *भुज्यु* था। गेल्डनर[7] के विचार से यह 'श्वित्रा' नामक गाय[8] का पुत्र एक बैल था जिसका युद्ध के लिये प्रयोग होता था; किन्तु यह अत्यन्त सन्दिग्ध है, यद्यपि अन्यत्र 'श्वैत्रेय' शब्द एक बैल के लिये भी व्यवहृत हुआ है।[9] 'श्वित्र्य'[10] का भी श्वैत्रेय के ही समान आशय प्रतीत होता है।

[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४७।
[4] तु० की० ऋग्वेद १. ५१, ६; ६. २६, ३. ४।
[5] रिलीजन वेदिके, ३. ११।
[6] कुन : त्सी० ३५, ५२७।
[7] ऋग्वेद, ग्लॉसर, ७, ८।
[8] तु० की० 'श्वेतरी', ऋग्वेद, ४. ३३, १।
[9] कीथ : ज० ए० सो० १९१०, ९३५।
[10] ऋग्वेद १. ३३, १५, जहाँ रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, 'श्वित्र्यम्' को 'श्वित्री' का 'कर्मपद' (द्वितीया-रूप) मानते हैं।

ष

षण्ड, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्पोत्सव के समय के एक पुरोहित का नाम है। तु० की० *कुषण्ड*।

[1] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३५।

षण्डिक का, मैत्रायणी संहिता[1] में *केशिन्* के एक समकालीन के रूप में उल्लेख है। सम्भवतः अन्यत्र *खण्डिक* को यथावत ही पढ़ना चाहिये।

[1] १. ४, १२, जहाँ फॉन श्रोडर कोई विभेद नहीं देते। किन्तु पाण्डुलिपियों में 'ष' और 'ख' निरन्तर ही एकान्तर्गत हुये हैं।

स

सं-रुध् और *सं-लिखित*, अज्ञात आशयवाले पारिभाषिक शब्द हैं जिनका अथर्ववेद (७. ५०, ५) में पासे के सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है।

सं-वत्सर (वर्ष) का ऋग्वेद और उसके बाद से बहुधा उल्लेख मिलता है।[1]

[1] ऋग्वेद १. ११०, ४; १४०, २; १६१, १३; ७. १०३, १. ७, इत्यादि; अथर्ववेद १. ३५, ४; २. ६, १; ३. १०, २; ४. ३५, ४; ६. ५३, ३, इत्यादि।

संहिताओं और ब्राह्मणों के समान प्रमाणों के आधार पर इसकी अवधि १२ मासों में विभक्त ३६० दिनों के बराबर थी, और यह निःसन्देह मोटे रूप से एक ऐसा चान्द्र-संयुति वर्ष था जिससे इसकी अवधि यद्यपि ६ दिन[२] अधिक थी। सौर वर्ष के रूप में यह केवल सामवेद के निदान सूत्र[३] में ही आता है, जहाँ ऐसा कथन है कि २७ नक्षत्रों में से प्रत्येक में सूर्य १३⅓ दिन व्यतीत करता है।

वर्ष की सौर वर्ष (चाहे नाक्षत्र अथवा अयनवर्तिन्) के साथ असंगति के कारण, स्वीकृत तथा प्राकृतिक वर्ष के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के निश्चित प्रयास किये गये थे। जैसा कि हम देख चुके हैं (देखिये *मास*) प्रमाण इसी बात की प्रबल पुष्टि करते हैं कि ब्राह्मण-काल में मलमास-पद्धति का समावेश सरल कार्य नहीं था, यद्यपि ऐसे चिह्न अवश्य हैं जिन्हें हम पञ्चवर्षीय अथवा षष्ठवर्षीय मलमास-पद्धति मान सकते हैं। किन्तु इस बात का कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है कि वास्तव में इन अवधियों का पालन किया ही जाता है।

वास्तव में, त्सिमर[४] का विचार है कि इसके लिये आवश्यक प्रमाण उन वर्षों की तालिकाओं में उपलब्ध हैं जिनकी संख्या अक्सर पाँच गिनाई गई है : संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, और वत्सर;[५] अथवा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, वत्सर;[६] अथवा संवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, इद्वत्सर, वत्सर;[७] अथवा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, उद्वत्सर;[८] अथवा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर; इद्वत्सर।[९] किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि न केवल नामों में ही पर्याप्त अन्तर है, वरन् कुछ स्थलों पर केवल चार का,[१०] कुछ पर[११] तीन का, और

[२] देखिये मास

[३] ५. १२, २. ५। तु० की० वेबर : नक्षत्र, २, २८४।

[४] आल्टिन्डिशे लेवेन ३६९, ३७०, और तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० : 'संवत्सर', २।

[५] वाजसनेयि संहिता २७. ४५।

[६] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ७, ३. ४।

[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ४, १।

[८] काठक संहिता १३. १५; ३९. ६; ४०. ६।

[९] ज्योतिष, १०, पर भाष्य में उद्धृत, गर्ग।

[१०] 'सं–', 'परि–', 'इदा–', 'अनु-वत्सर, पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १३, १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, १०, १।

[११] 'इदा–', 'परि–', 'सं–वत्सर', अथर्ववेद ६. ५५, ३; 'इदु–', 'परि–', 'सं–वत्सर', तैत्तिरीय संहिता ५. ७, २, ४।

कुछ पर[१२] दो का ही, तथा कुछ अन्य[१३] पर छह तक का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इनमें से किसी भी गणना में नामों के मलमास-पद्धति के साथ सम्बद्ध होने का कोई सन्दर्भ नहीं है। सर्वसम्भाव्य यही प्रतीत होता है कि यहाँ केवल 'वत्सर' (वर्ष) के ही अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन और वास्तविक विभेद के रूप में 'संवत्सर' तथा 'परिवत्सर' पर आधारित 'वत्सर' के ही पुरोहितीय विभेद की तालिकाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इन तालिकाओं के आविष्कार की कुञ्जी सम्भवतः पञ्चविंश ब्राह्मण[१४] जैसे स्थलों पर मिल सकती है जहाँ अनेक चातुर्मास्य यज्ञों को विभिन्न वर्षों के साथ समीकृत किया गया है।[१५] दो वर्षीय तालिका में त्सिमर द्वारा, द्वितीय वर्ष में मलमास सहित प्रत्येक ३५४ दिनों के दो वर्षों की तालिका का आशय देखने का प्रयास भी विशेष रूप से अनुपयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार का ३५४ दिनों के वर्ष का सूत्र के पूर्व अस्तित्व होना ज्ञात नहीं।

त्सिमर[१६] ने उन प्रसिद्ध १२ दिनों में भी मलमास-पद्धति के समावेश का प्रयास देखा है जिनमें ऋभुगण अगोह्य[१७] के गृह में प्रसुप्त बताये गये हैं। आपका विचार है कि यह उन १२ दिनों को व्यक्त करते हैं जिन्हें ३५४ दिनों के चान्द्र वर्ष को ३६६ दिनों के सौर वर्ष के बराबर करने के लिये मकर संक्रान्ति के समय उसमें संयुक्त कर दिया जाता था; और प्राचीन जर्मनी में '१२ रात्रियों' के प्रति आदर व्यक्त किया गया होने के आधार पर आप यह भी निष्कर्ष निकालते हैं कि मलमास की यह पद्धति इन्डो-जर्मन है।[१८] इस

[१२] 'सं–', 'परि–वत्सर', अथर्ववेद ८. ८, २३; तैत्तिरीय आरण्यक १०. ८०।

[१३] 'सं–', 'परि–', 'इदा–', 'अनु-', वत्सर, सं-वत्सर, वाजसनेयि संहिता ३०. १५; 'सं–', 'परि–', 'इदा–', 'इदु–', इद्वत्सर, तैत्तिरीय आरण्यक ४. १९, १। तु० की० वेबर : नक्षत्र, २, २९८, नोट १; मैक्स मूलर : ऋग्वेद, ४^{2}, xxv, नोट १।

[१४] १७. १३, १७।

[१५] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ९१; थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक, १२; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० २४, ४२।

[१६] उ० पु० ३६६, ३६७; तिलक : ओरायन, १६, और बाद; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, १४५।

[१७] ऋग्वेद ४. ३३, ७। तु० की० १. ११०, २; १६१, १३। देखिये इस कथा के लिये : मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १३३; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, २३६।

[१८] देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, २४२ और बाद; १७, २२३, २२४; १८, ४५, ४६; प्रो० अ०, १८९४, ८०९; थिबो : उ० पु० १०; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीकिटीज़ ३०८, ३१०; व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० १६, xciv।

दृष्टिकोण के त्रुटिपूर्ण होने में कदाचित ही सन्देह है, और यह १२ दिन केवल इसी आशय में 'वर्ष की प्रतिमा' (संवत्सरस्य प्रतिमा)[१९] हैं कि यह बारह मासों को व्यक्त करते हैं; काल-गणना के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

शामसास्त्री[२०] ने बौधायन श्रौत सूत्र[२१] के कुछ स्थलों पर एक विचित्र तिथिक्रम में वर्ष-चक्र के पाँचवें वर्ष के रूप में केवल संवत्सर के प्रयोग का सन्दर्भ देखा है। किन्तु यह दृष्टिकोण असम्भाव्य[२२] है।

[१९] काठक संहिता ७. १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ९, १०; कौषीतकि ब्राह्मण २५. १५। देखिये अथर्ववेद ४. ११, ११; वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३८८।
[२०] ग्वाम् अयन, १३७, १३८।
[२१] २. १२; ३. १; २६. १८; ३०. ३। देखिये कौषीतकि ब्राह्मण १. ३; शतपथ ब्राह्मण ११. १, १, ७।
[२२] कैलेण्ड : क० बौ० ३६, ३७, इस असंगति की एक कहीं अधिक तर्क-संगत व्याख्या करते हैं।

संवरण, ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर वर्णित किसी ऋषि का नाम है।

[१] ५. ३३, १०। तु० की० औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २१५।

संवर्ग-जित् लामकायन, वंश ब्राह्मण[१] में, *शाकदास* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

१. सं-वर्त एक बार ऋग्वेद[१] में *कृश* के साथ प्राचीन यज्ञकर्त्ता के रूप में आता है। इसे इस द्वितीय नाम के साथ ही समीकृत किया जा सकता है।

[१] ८. ५४, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४१, १६४।

२. सं-वर्त आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज) के संबन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण[१] में यह कथन है कि इसने *मरुत्त* को अभिषिक्त किया था।

[१] ८. २१, १२। तु० की० ल्यूमैन : त्सी० गे० ४८, ६७ और बाद।

सं-श्रवस् सौवर्चनस एक गुरु का नाम है जिसने तैत्तिरीय संहिता (१. ७, २, १) के अनुसार *तुमिञ्ज* के साथ एक सांस्कारिक विषय पर वार्ता की थी।

सं-श्रावयितृ, कौषीतकि उपनिषद् (२. १) में उस सेवक (द्वारपाल) का द्योतक है जो आगन्तुकों की सूचना देता है।

सं-श्लिष्टका[1] अथवा *संश्लिष्टिका*[2] एक पशु का नाम है जिसका *गोधा* के साथ-साथ जैमिनीय ब्राह्मण और शाट्यायनक में उल्लेख है।

[1] ऋग्वेद ८. ९१, पर सायण में शाट्यायनक।
[2] जैमिनीय ब्राह्मण १. २२१ (ज० अ० ओ० सो०, १८, २९)।

सं-सर्प—देखिये *मास*।

सं-स्कन्ध एक व्याधि का नाम है जिसका अथर्ववेद[1] में *विष्कन्ध* के साथ-साथ उल्लेख है। फिर भी, व्हिट्नी[2] का विचार है कि यह एक विशेषण है जिसका आशय 'विष्कन्ध नामक व्याधि को रोकनेवाला' है।

[1] १९. ३४, ५, सायण की टिप्पणी सहित।
[2] अथर्ववेद का अनुवाद ९५२।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ६५, ३९१; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २८३।

सं-होत्र एक बार ऋग्वेद[1] में आता है जहाँ गेल्डनर[2] के विचार से संस्कार की शिक्षा पानेवाले शिष्यों के विद्यालय को व्यक्त करते हुये इसका 'विद्यालय' आशय सर्वोपयुक्त प्रतीत होता है।

[1] १०. ८६, १०।
[2] वेदिशे स्टूडियन २, ३८।

सक्तु बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'मोटे पिसे भोजन', अथवा विशेषतः 'जौ के आटे के भोजन' का द्योतक है। ऋग्वेद[2] में, जहाँ यह शब्द केवल एक बार आता है, इससे *तितउ* द्वारा चाले जाने के पूर्व की दशा के अन्न का अर्थ प्रतीत होता है। यदि यह बाद का शब्द 'चलनी' का द्योतक है, तो भी 'सक्तु' से श्रेष्ठ अथवा महीन भोजन के विपरीत 'मोटा भोजन' (सत्तू) अर्थ हो सकता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, १०, ६; वाजसनेयि संहिता, १९. २१ और बाद; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, १६; ९. १, १, ८ (तु० की० **गवेधुका**), इत्यादि; काठक संहिता, १५. २ (तु० की० **अपामार्ग**)। तु० की० **कुवल**, **कर्कन्धु**, **बदर** : शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, २२, इत्यादि।
[2] १०. ७१, २।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २३८।

सखि (मित्र) ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से शाब्दिक और लाक्षणिक दोनों ही आशयों में एक प्रचलित शब्द है।

[1] १. १६४, २० (पक्षियों का); ३. ४३, ४ (अश्वों का); २. १, ९; ५. १२, ५; ६. ७५, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ५. ४, ७; ११, ९; १३, ५, इत्यादि। इसी प्रकार 'सखित्व' और 'सख्य' (मित्रता) भी प्रचलित हैं— उदाहरण के लिये ऋग्वेद १. १०, ६; ३. १, १५; ४. २५, २, इत्यादि, और ऋग्वेद १. १७८, २; २. १८, ८; ७. २२, ९, इत्यादि।

सघन्, तैत्तिरीय संहिता[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में एक पक्षी, सम्भवतः 'श्येन' अथवा 'गृद्ध' का नाम है।

[1] ३. २, १, १।

[2] २. ८, ६. १; बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था० (गृद्ध)। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८८।

सङ्ग प्रयोगि का मैत्रायणी संहिता (३. १, ९) में एक गुरु के रूप में उल्लेख प्रतीत होता है।

सं-गति से ऋग्वेद (१०. १४१, ४) के एक स्थल पर *समिति* (लोगों की सभा) का आशय प्रतीत होता है।

सं-गव उस समय का द्योतक है जब कि चरनेवाली गायों को दुहने के लिये हाँक कर ले जाया जाता था। दिन के विभाजन में यह मध्याह्न के पूर्व के समय का द्योतक है, और ऋग्वेद[1] में तथा अक्सर बाद[2] में मिलता है। तु० की० *गो* और *अहन्*।

[1] ५. ७६, ३।

[2] अथर्ववेद ९. ६, ४६; मैत्रायणी संहिता ४. २, ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ९, २; ५, ३, १; २. १, १, ३; शतपथ ब्राह्मण २. २, ३, ९; छान्दोग्य उपनिषद् २. ९, ४; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १२, ४।

तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, ३, ११२ और बाद।

सं-गविनी ऐतरेय ब्राह्मण[1] में मिलता है जहाँ यह कथन है कि *भरतों* के पशु सन्ध्या के समय *गोष्ठ* में रहते थे किन्तु मध्याह्न के समय 'संगविनी' में चले आते थे। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि संगविनी एक प्रकार का छायादार स्थान होता था जहाँ मध्याह्न की धूप से बचाकर पशुओं का दोहन किया जाता था।

[1] ३. १८, १४। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ११२, ११३; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६२।

सं-ग्रहीतृ, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में मिलता है। यह एक पदाधिकारी होता था जिसको राजा के *रत्निनों* के अन्तर्गत रक्खा गया है। प्रत्येक स्थल पर इससे 'सारथी' का ही आशय पर्याप्त है; किन्तु सायण[3] कुछ स्थलों पर इसमें राजा के 'कोशाध्यक्ष' का आशय मानते प्रतीत होते हैं।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, २; काठक संहिता १५. ४; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५; ४. ३, ८ (एक 'रत्निन्' के रूप में); शतरुद्रिय में बहुवचन में: तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ४, २; काठक संहिता १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ४; वाजसनेयि संहिता १६. २६।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ५; ९, ६; ३. ८, ५, ३; ऐतरेय ब्राह्मण २. २५, ६; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ८; ४, ३, २३।

[3] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, २, पर, और वैकल्पिक रूप से १. ८, १६, पर भी; किन्तु १. ८, १५, तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १०, ६ पर सारथी के रूप में ही।

तु० की० एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४१, ६३, नोट १।

सं-ग्राम—ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमुखतः या तो शान्ति[1] अथवा युद्ध[2] के समय की 'सभा' का द्योतक है और इससे 'एकत्रित सशस्त्र सैनिकों' का ही तात्पर्य है। अथर्ववेद[3] और बाद[4] में इसका सामान्य आशय 'युद्ध' है।

वैदिक युद्ध-कला के सम्बन्ध में अत्यन्त कम विवरण मिलता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रकृत सरल थी। रथियों के साथ कुछ पैदल सैनिक ही सेना का निर्माण करते थे और यह दोनों ही साथ-साथ युद्ध में जाते थे।[5] पैदल सैनिक अक्सर रथियों द्वारा पराजित हो जाते थे।[6] रथी प्रायः क्षत्रिय, और पैदल सैनिक उनके अनुचर होते थे। जरक्सेस ने जिस सेना को ले कर यूनान पर आक्रमण किया था उसकी भारतीय सैनिक टुकड़ी के सम्बन्ध में हिरोडोटस के विवरण द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि पैदल सैनिक सम्भवतः अत्यन्त साधारण कवच धारण करते थे और आक्रमण के लिये उनके पास केवल धनुष और बाण ही होते थे।[7] दूसरी ओर सेना के विशिष्ट

[1] अथर्ववेद १२. १, ५६, जहाँ यह **समिति** के साथ संयुक्त है। इस तथा नोट २ में उद्धृत स्थल पर हम इसमें लोगों की बड़ी सभाओं के विपरीत छोटी ग्राम-सभाओं के नाम का पारिभाषिक आशय देख सकते हैं; किन्तु ऐसा मानने के लिये श्रेष्ठ आधार नहीं हैं।

[2] अथर्ववेद ४. २४, ७, जहाँ 'संग्रामान्' पाठ माना गया है; किन्तु सामान्तर स्थलों (तैत्तिरीय संहिता ४. ७, १५, २; मैत्रायणी संहिता ३. १६, ५) पर 'संग्रामम्' है।

[3] ५. २१, ७; ११. ९, २६।

[4] तैत्तिरीय संहिता २. १, ३, १; ८, ४, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद २. १२, ८।

[6] अथर्ववेद ७. ६२, १। तु० की० **मुष्टिहन्**।

[7] हिरोडोटस ७. ६५।

जन *वर्मन्* और *शिप्रा*, तथा धनुष की प्रत्यञ्चा के घर्षण से हाथों को सुरक्षित रखने के लिये *हस्तघ्न*, धारण कर रखते थे। रथ पर उसका चालक तथा उसकी बायीं ओर योद्धा (*सारथि, सव्यष्ठा*) होता था। युद्ध में अश्वारोहण का कहीं भी उल्लेख नहीं।[८] और यह वैदिक विचारों के कदाचित ही अनुकूल रहा होगा, क्योंकि योद्धा प्रमुखतः अपने धनुष पर ही निर्भर रहता था जिसका घोड़े के पीठ पर बैठ कर प्रभावशाली ढंग से प्रयोग कठिन है। व्यवहारतः प्रमुख आक्रामक *आयुध* धनुष होता था; तोमर, तलवार, और कुठार कभी कभी ही प्रयुक्त होते थे।

जैसा कि होमर की कविताओं में है,[९] और जिसे टेसिटस[१०] ने जर्मनी के सम्बन्ध में माना है, आक्रमकों का कबीलों के आधार पर संगठन होता था अथवा नहीं यह अनिश्चित है (तु० की० *व्रात*); किन्तु महाकाव्य में सम्बन्धीजन (*ज्ञाति*) साथ-साथ युद्ध करते थे[११], और इसमें सन्देह नहीं कि न्यूनाधिक मात्रा में वैदिक काल के लिये भी यही नियम व्यवहृत हो सकता है।

नगरों पर आक्रमण और अधिकार ('उप-सद्', 'प्र-भिद्')[१२] करने के लिये सम्भवतः नियमित रूप से अवरोध का ही आश्रय लिया जाता था क्योंकि उस समय के आक्रमण की विधियों की प्रभावहीनता के कारण सीधा आक्रमण कठिन और व्यय-साध्य रहा होगा। हिलेब्रान्ट[१३] का विचार है कि ऋग्वेद[१४] का 'पुर चरिष्णू' एक प्रकार का रथ था; यह किसी नगर पर आक्रमण करने की रोमनों की पद्धति—ट्रोजनों की भाँति—का भारतीय रूप हो सकता है।

सुरक्षा तथा विजय सम्बन्धी साधारण युद्धों के अतिरिक्त आस-पास के

[८] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २९६, जहाँ आप यह स्वीकार करते हैं कि अन्यत्र अश्वारोहण का उल्लेख है; ह्निट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३१२।

[९] इलियड २. ३६२।

[१०] जर्मेनिया, ७।

[११] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, १९३।

[१२] तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६. २, ३, १; शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ४, ३-५; ऐतरेय ब्राह्मण १. २३, २, इत्यादि; गोपथ ब्राह्मण २. २, ७; हिलेब्रान्ट : *वेदिशे माइथौलोजी*, १, ३००, नोट।

[१३] उ० पु० ३, २८९, नोट।

[१४] ८. १, २-८, जहाँ इसे 'शुष्ण' नामक दानव का बताया गया है।

क्षेत्रों पर आक्रमण, एक अक्सर होनेवाली तथा सामान्य घटना थी।[55] इनका उद्देश्य युद्ध-विजित सम्पत्ति (*उदाज*, *निराज*) प्राप्त करना होता था, जिसमें से, लोगों के साथ-साथ, राजा भी हिस्सा लेता था।

युद्ध में ध्वज भी रक्खे जाते थे और सैनिक विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्र (*दुन्दुभि*, *बकुर*)[56] बजाते थे।

[55] तु० की० ऋग्वेद १०. १४२, ४, की जैसी सायण ने तथा हिलेब्रान्ट : उ० पु०, २, ६४, नोट ५, ने व्याख्या की है; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ४, १ (कुरु राजाओं के दृष्टान्त के समान)।

[56] बाद में ऐसी ही है, अर्रियन : इन्डिका, ७. ९। दोनों दलों की तीव्र ध्वनियाँ 'क्रन्दस्' शब्द से व्यक्त होती हैं (ऋग्वेद २. १२, ८; तु० की० ६. २५, ६; १०. १२१, ६) जिसका अर्थ 'शोर मचाता हुआ आक्रामक' है। तु० की० टेसिटस : जर्मेनिया २, भी। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४६९-४७२; वेबर : प्रो० अ०, १८९८, ५६४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २९३-३०१। देखिये **इषु**, **धन्वन्**, **रथ**, भी। हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २८१ और बाद, महाकाव्य के कवच तथा युद्ध-कला का पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं। देखिये वही १५, २६५, २६६, में भी आपका नोट। युद्ध के समय यज्ञ के लिये, तु० की० **पुरोहित**।

सं-घात से कुछ स्थलों[1] पर 'युद्ध' का आशय प्रतीत होता है।

[1] काठक संहिता २९. १; वाजसनेयि संहिता १. १६; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, ४८।

सचिव ('साथी', 'सेवक'; 'सच्' अथवा 'अनुगम करना' से) जो कि बाद में राजा के साथी अथवा मंत्री के लिये साधारण शब्द है, वैदिक साहित्य में ऐतरेय ब्राह्मण (३. २०, १) में मिलता है जहाँ इसका मरुतों के लिये इन्द्र ने प्रयोग किया है। आशय में यह जर्मन शब्द 'comes' अथवा अंग्रेजी शब्द 'gesith'[1] के समान प्रतीत होता है।

[1] स्टब्स : सेलेक्ट चार्टर्स, ५७।

स-जात एक बार ऋग्वेद[1] में, तथा बाद[2] में अक्सर मिलता है। इस शब्द का स्पष्टतः 'सम्बन्धी' और तदुपरान्त विस्तृत रूप से समान स्तर या

[1] १. १०९, १।

[2] अथर्ववेद १, ९, ३; १९, ३; २. ६, ४; ३. ३, ६; ६. ५, २; ७३, १; ११. १, ६. ७; तैत्तिरीय संहिता २. १, ३, २; २, १, २; ६, ९, ७; मैत्रायणी संहिता २. १, ८; काठक संहिता ११. १२. १३; १२. १; वाजसनेयि संहिता ५. २३; १०, २९; २७. ५, और अक्सर ब्राह्मणों में।

पद का व्यक्ति अर्थ होना चाहिये; किन्तु इसके आशय का विभेद नहीं किया जा सकता क्योंकि यह दोनों ही आशय बहुधा एक दूसरे में सन्निविष्ट मिलते हैं। निःसन्देह राजा के 'सजात' राजा,[3] साधारण व्यक्ति के 'वैश्य',[4] और सैनिकों के 'क्षत्रिय' रहे होंगे। किन्तु इससे उस प्रकार जाति का सन्दर्भ नहीं है जैसा बाद के 'सजाति'[5] (एक जाति के व्यक्ति) शब्द से व्यक्त होता है। सजातियों के विवाद को अपकारक कहा गया है।[6]

[3] अथर्ववेद ३. ३, ४. ६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, १८८।
[4] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, १९ (ग्रामणी के सजात)।
[5] मनु ९. ८७; १०. ४१, इत्यादि। इसका 'सजात्य' रूप ऋग्वेद २. १, ५; ३. ५४, १६; ८. १८, १९; २०, २१; २७, १०; १०. ६४, १३; में मिलता है। किन्तु इससे किसी जाति का आशय नहीं है।
[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, १२, २।

सं-चर से, तैत्तिरीय संहिता[1] में, पशुओं के पथ का आशय है। सामान्यतया यह शब्द यज्ञ-भूमि के उस 'स्थान' अथवा 'कक्ष' का द्योतक है जहाँ संस्कार में भाग लेनेवाले अनेक व्यक्ति विराजमान होते थे।[2]

[1] ५. ४, ३, ५।
[2] शतपथ ब्राह्मण १. ९, २, ४; ३. १, ३, २८; लाट्यायन श्रौत सूत्र ३. ७, ११; कात्यायन श्रौत सूत्र १. ३, ४२, इत्यादि।

सं-ज्ञान ('सहमति', 'समवेतता') का ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के रूप में उल्लेख है। इस स्थिति के निर्माण के लिये अथर्ववेद में अनेक अभिचार मिलते हैं। वैदिक ग्रामों के आकार की लघुता तथा उनके निवासियों की परस्पर आर्थिक निर्भरता के कारण उन ग्रामों में शान्ति का अभाव प्रायः अवश्य ही रहा होगा। तु० की० *भ्रातृव्य*।

[1] १०. १९, ६।
[2] अथर्ववेद ३. ३०, ४; ७. ५२, १; ११. १, २६, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ३, २; ३, १, १४; वाजसनेयि संहिता २६. १; ३०. ९; निरुक्त ४. २१, इत्यादि।

सत, संस्कारों[1] के सन्दर्भ में उल्लिखित एक प्रकार के 'पात्र' का नाम है।

[1] वाजसनेयि संहिता १९. २७. ८८; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, २, १३; ८, ३, १४।

सतीन-कङ्कत,[1] ऋग्वेद[2] में किसी पशु का नाम है जिसे सायण 'जलीय सर्प'[3] मानते हैं।

[1] इसका शब्दार्थ 'वास्तविक कंघीवाला' प्रतीत होता है।
[2] १. १९१, १।
[3] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डशे लेवेन, ९८।

सत्य-काम (सत्य का प्रेमी) *जाबाल* (*जबाला* का वंशज) एक गुरु का नाम है जो किसी अज्ञात पिता द्वारा उत्पन्न एक दासी का पुत्र था। छान्दोग्य उपनिषद्[1] के अनुसार *गौतम हारिद्रुमत* ने इसे एक *ब्रह्मचारिन्* के रूप में दीक्षित किया था। इस उपनिषद्[2] तथा बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में इसका अधिकारी विद्वान के रूप में अक्सर उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] में यह *जानकि आयस्थूण* द्वारा किसी सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करता है। ऐतरेय[5] तथा शतपथ[6] ब्राह्मणों में भी इसका उल्लेख है।

[1] ४. ४, १ और बाद।
[2] ४. ५, १; ६, २; ७, २; ८, २; ९, १०; १०, १; ५. २, ३।
[3] ४. १, १४ (माध्यन्दिन = ४. १, ६ काण्व)।
[4] ६. ३, १९ (= ६. ३, १२)।
[5] ८. ७, ८।
[6] १३. ५, ३, १।

सत्य-यज्ञ (वास्तविक यज्ञकर्ता) *पौलुषि* (पुलुष का वंशज) *प्राचीन-योग्य* ('प्राचीनयोग' का वंशज), शतपथ ब्राह्मण,[1] छान्दोग्य उपनिषद्[2] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] में एक गुरु का नाम है। इस अन्तिम ग्रन्थ में इसे *पुलुष प्राचीनयोग्य* का शिष्य कहा गया है।

[1] १०. ६, १, १।
[2] ५. ११, १।
[3] ३. ४०, २ (एक वंश में)।

सत्य-वचस् (सत्यवादी) *राथीतर* (*रथीतर* का वंशज) तैत्तिरीय उपनिषद् (१. ९, १,) में एक ऐसे गुरु का नाम है जिसने सत्य के महत्त्व पर विशेष ज़ोर दिया था।

सत्य-श्रवस् (वास्तविक ख्यातिवाला) *वाय्य* ('वय्य' का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है। लुडविग[2] का विचार है कि यह *सुनीथ शौचद्रथ* का पुत्र था।

[1] ५. ७९, १७ और बाद।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५६।

सत्य-हविस्, मैत्रायणी संहिता (१. ९, १, ५) में एक पौराणिक 'अध्वर्यु' का नाम है।

सत्याधिवाक चैत्ररथि (*चित्ररथ* का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१. ३९, १) में एक मनुष्य का नाम है।

सत्वन् से, ऋग्वेद[1] में तथा बाद[2] में अक्सर, 'योद्धा' का आशय है।

[1] १. १३३, ६; १७३, ५; २. २५, ४; ३०, १०; ३. ४९, २, इत्यादि

[2] ५. २०, ८; ६. ६५, ३; वाजसनेयि संहिता १६. ८. २०, इत्यादि।

सत्वन्त् एक जाति के लोगों का नाम है, जिन्हें ऐतरेय ब्राह्मण[1] में दक्षिण में बसा बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण[2] में सत्वन्तों की *भरत* द्वारा पराजय तथा उसके (भरत) द्वारा इनके अश्वमेध के लिये सुसज्जित अश्व के छीन लिये जाने का उल्लेख है: यह सन्दर्भ इस बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है कि ऐतरेय ब्राह्मण[3] के एक अन्य स्थल पर मूल पाठ के 'सत्वनाम' को उस 'सत्वताम्' (सत्वन्तों का) के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिये जिन पर, ऐसा प्रतीत होता है कि, भरत-गण बहुधा आक्रमण किया करते थे। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, कोवेल, तथा मैक्स मूलर ने कौषीतकि उपनिषद्[4] में भी यह नाम देखा है, किन्तु यह निश्चित[5] है कि यहाँ मूल पाठ 'सत्वन्-मत्स्येषु' नहीं वरन् 'स-वश-मत्स्येषु' है।

[1] ८. १४, ३।

[2] १३. ५, ४, २१

[3] २. २५ ६।

[4] ४. १।

[5] औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ३९९, नोट, जो कि मैक्स मूलर : से० बु० ई० १, lxxvii को शुद्ध करते हैं।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २११, २१२, ४१९; ९, २५४; कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ३६७।

सदन—देखिये *गृह*।

सदंदि—देखिये *तक्मन्*।

सदस्—देखिये *गृह*।

सदस्य—देखिये *ऋत्विज्*।

सदा-नीरा एक नदी का नाम है जो शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार *कोसलों* और *विदेहों* के बीच की सीमा थी। देशीय कोशकारों ने इस नदी को 'करतोया'[2] के साथ समीकृत किया है, किन्तु यह बहुत अधिक पूर्व में स्थित

[1] १. ४, १, १४ और बाद।

[2] देखिये इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, १५, २४।

प्रतीत होती है । वेबर[3] द्वारा इसका 'गण्डकी'[4] के साथ समीकृत किया जाना सम्भवतः ठीक है; क्योंकि, यद्यपि महाभारत[5] में इन दोनों नदियों में विभेद किया गया है, तथापि ऐसा दिखाने के लिये कोई आधार नहीं कि यह विभेद किसी श्रेष्ठ परम्परा पर ही आधारित है ।

[3] इन्डिशे स्टूडियन, १, १७२, १८१ ।
[4] देखिये व० स्था० । बड़ी गण्डक, इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया १२, १२५ ।
[5] २. ७९४ ।
तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध ३९८, नोट ।

सदा-पृण, ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है ।

[1] ५. ४४, १२ । तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३९ ।

सधन्, तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ८, ६, १) में *सघन्* का मिथ्या पाठ है ।

सध्रि, ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है ।

[1] ५. ४४, १० । तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८ ।

सनक, दो *काप्यों* (दूसरा *नवक* था) में से एक का नाम है जिन्होंने *विभिन्दुकीयों* के उस यज्ञ में भाग लिया था जिसका जैमिनीय ब्राह्मण[1] में उल्लेख है । लुडविग[2] का विचार है कि ऋग्वेद[3] के एक स्थल पर 'सनकों' का यज्ञ करनेवालों के रूप में उल्लेख है, किन्तु यह अत्यन्त सन्दिग्ध है ।[4]

[1] ३. २३३ (ज० अ० ओ० सो० १८, ३८) ।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १४७ ।
[3] १. ३३, ४ ।
[4] गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १८९ ।

सनग—देखिये *सनातन* ।

सनत्-कुमार, छान्दोग्य उपनिषद् (७. १, १; २६, २) में एक पौराणिक ऋषि का नाम है ।

सन-श्रुत (प्राचीनकाल से प्रसिद्ध) *अरिंदम* (शत्रुओं का दमन करनेवाला) का ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४, ९) में एक महाराज के रूप में उल्लेख है ।

सनाच्-छ्व, सम्भवतः काठक संहिता[1] में एक गुरु का व्यक्तिवाचक नाम है । कपिष्ठल संहिता[2] में 'शहनाश्छ्व' है । बहुत सम्भवतः दोनों ही ग्रन्थों का पाठ भ्रष्ट है ।

[1] २०. १ ।
[2] ३१. ३ (फॉन श्रोडर : काठक संहिता २, १८, नोट ५) ।

सनातन, तैत्तिरीय संहिता[1] में एक पौराणिक ऋषि का नाम है। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के प्रथम दो वंशों में यह *सनग* के शिष्य तथा *सनारु* के गुरु के रूप में आता है, जो दोनों भी पौराणिक व्यक्तित्व ही है।

[1] ४. ३, ३, १।
[2] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।

सनारु—देखिये *सनातन*।

सनिस्रस—देखिये *मास*।

सं-दंश—देखिये *गृह*।

सं-दान, ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में एक 'बन्धन', 'अवरोधक', अथवा 'पाश' का द्योतक है।

[1] १. १६२, ८. १६।
[2] अथर्ववेद ६. १०३, १; १०४, १; ११. ९, ३; तैत्तिरीय संहिता २. ४, ७, २; शतपथ ब्राह्मण १४. ३, १, २२, इत्यादि।

सं-धा, बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों[1] में 'सन्धि' अथवा 'समझौते' का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद ११. १०, ९. १५; तैत्तिरीय संहिता १. ७, ८, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १, ६; २. १, १, ३; कौषीतकि उपनिषद् ३. १।

सं-धि, शतपथ ब्राह्मण[1] में पृथिवी और आकाश के संधि-स्थल, अथवा क्षितिज का द्योतक है। प्रकाश तथा अन्धकार के संधि-स्थल के रूप में इससे 'गोधूलि'[2] का भी आशय है।

[1] ३. २, १, ५; १०. ५, ४, २।
[2] वाजसनेयि संहिता २४. २५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ५, १; २. २, ९, ८; द्विवचन : शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ५५; ९. ४, ४, १३, इत्यादि। बाद में प्रचलित शब्द 'संध्या' है।

सं-नहन, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में 'बन्धन' या 'रस्सी' का द्योतक है।[1]

[1] तैत्तिरीय संहिता १. १, २, २; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ३, ६; २. ६, १, १५, इत्यादि।

स-पत्न (प्रतिद्वन्द्वी) बाद की संहिताओं[1] में मिलनेवाला एक साधारण

[1] अथर्ववेद १. १९, ४; १०. ६, ३०; १२. २, ४६; तैत्तिरीय संहिता १. ६, २, २; ३. २, ८, ५, इत्यादि।

शब्द है जो ऋग्वेद[2] के दसवें मण्डल में भी आता है। यह *स-पत्नी* ('स-पत्नी', और इसलिये 'सौत') के समान आधार पर ही बना एक विचित्र पुल्लिङ्ग शब्द है।

[2] १०. १६६, १, इत्यादि; 'सपत्न-हन्' यौगिक शब्द में भी, १०. १५९, ५, इत्यादि; अथर्ववेद १.२९, ५, इत्यादि।

स-पत्नी, ऋग्वेद[1] में 'सह-पत्नी' के आशय में आता है। प्रथम तथा अन्तिम मण्डल में इसका 'प्रतिद्वन्दी' के रूप में 'सह-पत्नी' अर्थ है।[2] वैदिकोत्तर संस्कृत में यह शब्द 'प्रतिद्वन्दी' का पर्याय बन गया है।

[1] ३. १, १०; ६, ४।

[2] १. १०५, ८; १०. १४५, १–५ (तु० की० मन्त्र २ में 'पतिं मे केवलम् कुरु', अर्थात, 'मेरे पति को सर्वथा मेरा ही बनाओ')।

सप्त-गु, ऋग्वेद के उस सूक्त[1] का प्रसिद्ध प्रणेता है जिसके एक मन्त्र में ही इसका उल्लेख भी है।

[1] १०. ४७, ६। तु० की० ब्लूमफील्ड : अ०.फा० ३७, ४२३।

सप्त सिन्धवः, एक निश्चित देश[1] के नाम के रूप में केवल एक बार ही आता है, जब कि अन्यत्र[2] इससे स्वयं सात नदियों का ही आशय है। मैक्स मूलर[3] का विचार है कि इससे पंजाब की पाँच नदियों के साथ-साथ सिन्धु तथा *सरस्वती* का तात्पर्य है; अन्य लोगों[4] का विचार है कि या तो सरस्वती के स्थान पर *कुभा* मानना चाहिये अथवा मूलतः 'ऑक्सस'[5] भी सात नदियों में से एक रही होगी। इनमें से किसी भी समीकरण पर ज़ोर न देते हुये त्सिमर[6] सम्भवतः ठीक प्रतीत होते हैं; क्योंकि ऋग्वेद और बाद में 'सात' एक प्रिय संख्या है।

[1] ८. २४, २७।

[2] ऋग्वेद १. ३२, १२; ३४, ८; ३५, ८; ७१, ७; १०२, २; ४. २८, १; ८. ९६, १, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ३८. २६; अथर्ववेद ४. ६, २; तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ६, १, इत्यादि।

[3] चिप्स, १, ६३। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ४९०, नोट।

[4] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २००; लासन : इ० आ० १[2], ३; व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३११।

[5] तु० की० थॉमस : ज०ए० सो० १८८३, ३७१ और बाद।

[6] आल्टिन्डिशे लेबेन, २१।

तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १६, २७८; इन्डिया, ओल्ड ऐन्ड न्यू, ३३।

सप्त सूर्याः का, जिनका संहिताओं[1] में उल्लेख है, तैत्तिरीय आरण्यक[2] में बाद में जिनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् नामकरण किया गया है : मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ८९।

[1] अथर्ववेद १३. ३, १०; काठक संहिता ३७. ९।

[2] १. ७। तु० की० अग्नि की 'सप्तजिह्वायें' जिनका ऋग्वेद में उल्लेख है, और

'आरोग', 'भ्राज', पटर', 'पतङ्ग', 'स्वर्णर', 'ज्योतिषीमन्त', और 'विभास के रूप में नामकरण किया गया है, किन्तु, अत्यन्त दुर्लभ रूप से ही, यह बाद[3] में भी आते हैं। एक समय[4] वेबर का विचार था कि इस वाक्पद से सात ग्रहों (देखिये *ग्रह*) का तात्पर्य है, किन्तु बाद में आपने अपने इस विचार का परित्याग कर दिया।[5] सम्भवतः ऋग्वेद[6] की 'सात रश्मियों' का तात्पर्य है।

[3] कीथ : ऐतरेय आरण्यक २६६; हॉपकिन्स : ग्रेट इपिक ऑफ इन्डिया ४७५।
[4] इन्डिशे स्टूडियन १, १७०; २, २३८।
[5] वही १०, २७१, नोट, जहाँ आप ऋग्वेद ९. ११४, ३ के 'सप्त दिशो नाना-सूर्याः' (विभिन्न सूर्य और सातदिशायें) के साथ इसकी तुलना करते हैं।
[6] ऋग्वेद १. १०५, ९; ८. ७२, १६; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १६, २७७।

सप्त-मानुष, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर अग्नि की एक उपाधि (सात जातियों के) रूप में मिलता है। हॉपकिन्स[2] का विचार है कि इससे ऋग्वेद के सात 'गृह्य' मण्डलों (२.–८.) का आशय है, किन्तु यह रौथ[3] के इस विचार की अपेक्षा कम सम्भव प्रतीत होता है, कि 'सप्तमानुष', 'वैश्वानर' के समान है।

[1] ८. ३९, ८।
[2] ज० अ० ओ० सो० १६, २७८।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

सप्त-वध्रि, अश्विनों के उस आश्रित का नाम है जिसकी, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों के अनुसार, अश्विनों ने एक वृक्ष से बँध जाने पर रक्षा की थी। अथर्ववेद[2] में भी इसका उल्लेख है। गेल्डनर[3] के अनुसार इसे *अत्रि* के साथ समीकृत किया जा सकता है।

[1] ५. ७८, ५; ८. ७३, ९; १०. ३९, ९।
[2] ४. २९, ४।
[3] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १९०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५६; बॉनेक : त्सी० गे० ५०, २६८।

सप्ति ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में एक 'द्रुतगामी अश्व' का द्योतक है।

[1] १. ८५, १. ६; १६२, १; २. ३४, ७; ३. २२, १, इत्यादि।
[2] वाजसनेयि संहिता २२. १९. २२।

सप्त्य, ऋग्वेद (८. ४१, ४) के एक स्थल पर 'दौड़ के मैदान' का द्योतक प्रतीक होता है।

स-बन्धु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'सम्बन्धी' का द्योतक है।

[1] ३. १, १०; ५. ४७, ५; ८. २०, २१, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ६. १५, २; ८. २, २६; १५. ८, २. ३, इत्यादि।

सभा से, वैदिक भारतीयों की सभा तथा 'सभा-भवन' का तात्पर्य है। इसका ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में अक्सर उल्लेख है, किन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति निश्चित नहीं। जब सभा कोई सार्वजनिक कार्य नहीं सम्पन्न कर रही होती थी, तब, सम्भवतः, सभा-भवन का स्पष्टतः द्यूत-कक्ष[3] के रूप में भी प्रयोग किया जाता था : एक द्यूतकार को निश्चित रूप से इसलिये 'सभा-स्थाणु' (सभा-भवन का स्तम्भ) कहा गया है कि वह वहाँ सदैव उपस्थित रहता था।[4] होमर के 'लेसचे' ($\lambda e\sigma X\eta$) की भाँति, सामाजिक सम्पर्कों, गायों इत्यादि से सम्बन्धित सामान्य वार्तालाप,[5] तथा वाद-विवाद और शाब्दिक प्रतिस्पर्धाओं,[6] इत्यादि के लिये भी सभा-भवन का प्रयोग होता था।

[1] ६. २८, ६; ८. ४, ९; १०. ३४, ६। तु० की० 'सभा-सह', १०. ७१, १०।

[2] अथर्ववेद ५. ३१, ६; ७. १२, १. २; ८. १०, ५; १२. १, ५६; १९. ५५, ६; तैत्तिरीय संहिता १. ७, ६, ७; मैत्रायणी संहिता ४. ७, ४; वाजसनेयि संहिता ३. ४५; १६. २४; २०. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १०, ६; शतपथ ब्राह्मण २. ३, २, ३; ५. ३, १, १०; कौषीतकि ब्राह्मण ७. ९, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १०. ३४, ६; अथर्ववेद ५. ३१, ६; १२. ३, ४६ (यहाँ सभा के स्थान पर 'द्यूत' का प्रयोग किया गया है)।

[4] वाजसनेयि संहिता ३०. १८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १६, १, सायण की टिप्पणी सहित। त्सिमर (आल्टिन्डिशे लेबेन, १७२) ने मन्त्र (वाजसनेयि संहिता ३. ४५; २०. १७; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ३, १; काठक संहिता ९. ४; मैत्रायणी संहिता १. १०, २.) में 'ग्राम, वन, और सभा में हमने क्या पाप किया है' का आशय देखते हैं जिसमें महानों पर आक्रमण (वजसनेयि संहिता ३. ४५ पर महीधर) अथवा द्यूत-सम्बन्धी विवादों के निर्णय में पक्षपात (वही २०. १७ पर महीधर) का सन्दर्भ है। किन्तु इससे द्यूत अथवा अन्य-अ-राजनैतिक कार्यों का सन्दर्भ हो सकता है, जैसा कि एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ३९८, ने इसका कुछ भिन्न अनुवाद (वही ४४, २६५) करते हुए माना है।

[5] ऋग्वेद ६. २८, ६। तु० की० ८. ४, ९। इसी प्रकार अथर्ववेद ७. १२, २ में सभा को 'नरिष्टा' कहा गया है। किन्तु इसी सूक्त (७. १२, ३) में सभा में गम्भीर भाषण का भी सन्दर्भ मिलता है। गम्भीर राजनैतिक कार्यों तथा मनोरंजन के परस्पर सन्निवेश के लिए देखिये टेसिटस : जर्मेनिया, २२।

[6] त्सिमर : उ० पु० १७४, ने ऋग्वेद २. २४, १३ में 'सभेय' को इसी आशय में ग्रहण किया है।

लुडविग[७] के अनुसार 'सभा' समस्त प्रजाजनों की नहीं, वरन् ब्राह्मणों और *मघवनों* (सम्पन्न दाताओं) की होती थी। इस दृष्टिकोण की ब्राह्मणों के लिये व्यवहृत 'सभेय',[८] 'रयिः सभावान्'[९] इत्यादि उपाधियों द्वारा पुष्टि भी होती है। किन्तु इन स्थलों पर ब्लूमफील्ड[१०] ने, उपयुक्ततः, 'सभा' को कौटुम्बिक आशय में प्रयुक्त माना है, और सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश भी अनेक स्थलों[११] पर इसे किसी सार्वजनिक सभा से नहीं वरन् गृह से ही सम्बद्ध मानता है। त्सिमर[१२] 'सभा' को इतना ही मानते हैं कि यह *ग्रामणी* की अध्यक्षता में एकत्र ग्राम-परिषद् के आयोजन-स्थल का द्योतक है। हिलेब्रान्ट[१३] यह मानते हुये ठीक प्रतीत होते हैं कि 'सभा' और *समिति* का विभेद नहीं किया जा सकता, तथा इसमें सु-जातों[१४] के सत्र के आयोजन के उल्लेख द्वारा आर्यों के एक वर्ग के विपरीत दूसरे वर्ग की सभा का नहीं वरन शूद्रों

[७] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २५३–२५६। इस दृष्टिकोण के लिए आप ने ऋग्वेद ८. ४, ९; १०. ७१, १० (जो अस्पष्ट स्थल हैं) का उद्धरण दिया है। तु० की० ऋग्वेद ७. १, ४; अथर्ववेद १९. ५७, २।

[८] ऋग्वेद २. २४, १३। तु० की० १. ९१, २०; अथर्ववेद २०. १२८, १; वाजसनेयि संहिता २२. २२, इत्यादि। मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, २७६, ने 'सभेय' मे 'दरबारी शिष्टाचार' का आशय माना है, किन्तु यह कुछ सन्दिग्ध ही है; वेदों में आचारों पर उतना स्पष्ट ज़ोर नहीं है जितना होमरिक समाज में था।

[९] ऋग्वेद ४. २, ५; १. १६७, ३, में 'सभावती' सम्भवतः वाच् अथवा 'योषा' के लिए व्यवहृत हुआ है।

[१०] ज० अ० ओ० सो०, १९, १३।

[११] अथर्ववेद ८. १०, ५ (फिर भी, जहाँ स्पष्टतः 'सभा' का ही आशय है; देखिये ८. १०, ६); तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १०, ३; छान्दोग्य उपनिषद् ८. १४, (किन्तु यहाँ निश्चित रूप से 'सभा-भवन' का आशय है; देखिए ५. ३, ६, जहाँ सभा-भवन में जाते हुए राजा का वर्णन है : 'सभा-ग')। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने इसका ठीक ठीक आशय आवास-गृह में स्थित 'सभा-भवन' दिया है।

[१२] आल्टिन्डिशे लेबेन, १७४। किन्तु आप शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १४; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, ६, की उपेक्षा करते हैं, जहाँ यह दिखाया गया है कि राजा किसी सभा में उतना ही सम्मिलित होता था जितना समिति में भी; आपने किसी भी ऐसे स्थल का उद्धरण नहीं दिया है जिससे यह स्पष्ट हो कि ग्रामणी अध्यक्षता करता था।

[१३] वेदिशे माइथौलोजी, २, १२३–१२५।

[१४] ऋग्वेद ७. १, ४।

अथवा दासों के विपरीत आर्यों की सभा का ही सन्दर्भ है। हिलेब्रान्ट ने 'सभ्य अग्नि' में भी सभा-सत्र के समय प्रयुक्त यज्ञाग्नि के सन्दर्भ का चिह्न देखा है।[15]

स्त्रियाँ सभा में नहीं आती थीं,[16] क्योंकि राजनैतिक कार्यों से इन्हें प्रायः पृथक ही रक्खा जाता था। न्यायालय के रूप में 'सभा' के लिये तु० की० *ग्राम्यवादिन्*। सभा द्वारा सम्पन्न कार्यों के सम्बन्ध में एक भी विवरण नहीं मिलता।

[15] अग्नि 'सभ्य' हैं, अथर्ववेद ८. १०, ५; १९. ५५, ६। ऋग्वेद के लिये देखिये ३. २३, ४; ५. ३, ११; ७. ७, ५।

[16] मैत्रायणी संहिता ४. ७, ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, १७२–१७४।

सभा-चर, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक है। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश का विचार है कि यह 'सभा-ग' का समानार्थी और एक विशेषण है। यतः इसे 'धर्म' को समर्पित किया गया है अतः इसमें न्यायालय के रूप में सभा के एक ऐसे सदस्य का आशय देखना चाहिये जो सम्भवतः किसी विवाद पर निर्णय देने के लिये बैठा हो : यह दिखाने के लिये कोई आधार नहीं है कि सम्पूर्ण सभा निर्णय देती थी अथवा उसके कुछ चुने हुये सदस्य। 'सभाचर' का विशेष प्रयोग इस वाद के विकल्प की ओर ही संकेत करता है। देखिये *सभासद्* भी।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १, सायण की टिप्पणी सहित। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ७७, नोट १।

सभा-पति, शतरुद्रिय[1] में आनेवाली एक उपाधि है।

[1] वाजसनेयि संहिता १६. २४; तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ३, २; काठक संहिता १७. १३, इत्यादि।

सभा-पाल, तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ७, ४, ६) में मिलता है, जहाँ इससे 'सभा-भवन के रक्षक' का आशय हो सकता है।

सभाविन्, तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४, १६, १) में भाष्यकार सायण के अनुसार 'द्यूत-कक्ष के रक्षक' का द्योतक है।

सभा-सद्, सम्भवतः उन पञ्चों का पारिभाषिक नाम है जो सभा में बैठ कर विवादग्रस्त समस्याओं पर निर्णय देते थे (तु० की० *सभाचर*)।

यह शब्द, जो अथर्ववेद[1] तथा बाद[2] में मिलता है, सभा के केवल किसी एक सदस्य को बहुत भली प्रकार व्यक्त नहीं कर सकता। ऐसा भी सम्भव है कि सभासदों से, जो कदाचित परिवारों के प्रधान होते थे, साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक समय और अधिक बार उपस्थित रहने की आशा की जाती रही हो। सामान्य वाद-विवाद और निर्णय की अपेक्षा सभा की बैठक का न्यायार्थ आयोजन ही अधिक बार होता रहा होगा।

[1] ३. २९, १ (यम का); ७. १२, २; १९. ५५, ६।
[2] काठक संहिता ८. ७; मैत्रायणी संहिता १. ६, ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, २६; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१, १४।

सभा-स्थाणु—देखिये *सभा*।

सभेय—देखिये *सभा*।

सम्-अङ्क एक अस्पष्ट आशय का शब्द है जो अथर्ववेद[1] के दो स्थलों पर आता है। ब्लूमफील्ड[2] ने प्रथम स्थल पर इसका 'अंकुश' अनुवाद किया है, और दूसरे पर इसे एक अन्न-नाशक कीटाणु के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

[1] १. १२, २; ६. ५०, १।
[2] अथर्ववेद के सूक्त ७. १४२। तु० की० सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

समन, ऋग्वेद में कुछ सन्दिग्ध आशयवाला शब्द है। रौथ[1] ने इसका या तो 'युद्ध'[2] अथवा 'उत्सव'[3] अनुवाद किया है। पिशल[4] का विचार है कि यह एक प्रकार का ऐसा सामान्य उत्सव होता था जिसमें स्त्रियां अपने मनोरंजन के लिये,[5] कविगण प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये,[6] धनुर्धर धनुर्विद्या का पुरस्कार प्राप्त करने के लिये,[7] और अश्व दौड़ के लिये[8] जाते थे। यह उत्सव प्रातःकाल[9] तक चलता था, अथवा उस समय तक जब तक कि रात

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[2] ऋग्वेद ६. ७५, ३. ५; ९. ९६, ९; १०. १४३, ४; अथर्ववेद ६. ९२, २; वाजसनेयि संहिता ९. ९।
[3] ऋग्वेद २. १६, ७; ६. ६०, २; ७. २, ५; ८. १२, ९; ९. ९७, ४७; १०. ५५, ५; ८६, १०; अथर्ववेद २. ३६, १।
[4] वेदिशे स्टूडियन, २, ३१४।
[5] ऋग्वेद १. १२४, ८ (तु० की० ना); ४. ५८, ८; ६. ७५, ४; ७. २, ५; १०. ८६, १०; १६८, २।
[6] ऋग्वेद २. १६, ७; ९. ९७, ४७। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, ३८।
[7] ऋग्वेद ६. ७५, ३. ५।
[8] ऋग्वेद ९. ९६, ९; अथर्ववेद ६. ९२, २।
[9] ऋग्वेद १. ४८, ६ जिसे रौथ ने व्यवसाय के लिये जानेवाले व्यक्तियों के आशय में ग्रहण किया है।

भर जलनेवाली अग्नि से प्रज्वलित अग्निकाण्ड ही उत्सव में भाग लेनेवालों को इधर-उधर नहीं भगा देता था।[10] युवतियाँ[11] और अधेड़ स्त्रियाँ[12] यहाँ पति ढूँढ़ने का प्रयास करती थीं, जब कि नर्तकियाँ अवसर से लाभ उठाकर अर्थोपार्जन करती थीं।[13]

[10] ऋग्वेद १०. ६९, ११। तु० की० ७. ९, ४।
[11] अथर्ववेद २. ३६, १।
[12] ऋग्वेद ७. २, ५।
[13] ऋग्वेद ४. ५८, ८, जहाँ ६. ७५, ४; १०. १६८, २ के समान ही रौथ ने 'आलिङ्गन' का आशय देखा है। इसकी यूनान के उन उत्सवों के साथ अत्यन्त समानता है जिनमें युवतियाँ मुक्त रूप से अपरिचितों से मिलती थीं तथा जो बाद की परम्परा के अनेक सुखान्त नाटकों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते है (तु० की० महफे: ग्रीक लिटरेचर, १, २, २५९ और बाद)। तु० की० गेल्डनर: ऋग्वेद, ग्लॉसर १९०।

समर—'युद्ध' के आशय में यह कौषीतकि ब्राह्मण[1] में, और गेल्डनर[2] के अनुसार ऋग्वेद[3] में मिलता है।

[1] ७. ९; शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १५. १५, १२।
[2] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १९०।
[3] ६. ९, २ (यज्ञ के समय; तु० की० 'समर्य', ४. २४, ८, इत्यादि)।

समा मूलतः 'ग्रीष्म' का द्योतक प्रतीत होता है, और अथर्ववेद[1] के कुछ स्थलों पर इसे इसी आशय में देखा भी जा सकता है। इसीलिये अपेक्षाकृत अधिक सामान्यतः यह 'ऋतु' का भी द्योतक है, किन्तु यह प्रयोग दुर्लभ है।[2] अधिकतर यह केवल 'वर्ष'[3] का द्योतक है; किन्तु एक स्थल पर शतपथ ब्राह्मण[4] ने वाजसनेयि संहिता[5] में इसकी 'मास' के अर्थ में व्याख्या की है, जो सन्दिग्ध ही है।

[1] १. ३५, ४; २. ६, १; ३. १०, ९। तु० की० व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ३६।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ४. २५, ७; निरुक्त ९. ४१।
[3] ऋग्वेद ४. ५७, ७; १०. ८५, ५; १२४, ४; अथर्ववेद ५. ८, ८; ६. ७५, २, इत्यादि।
[4] ६. २, १, २५।
[5] २७. १, महीधर की टिप्पणी सहित। देखिये एग्लिङ्ग: से० बु० ई०, ४१, १६८, नोट १।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ३७२; श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, ३०१।

समान—देखिये *प्राण*।

समान-गोत्र[1] और *समान-जन*[2] का ब्राह्मणों में क्रमशः 'एक ही परिवार का सदस्य' और 'वर्ग' अर्थ है। *समान-बन्धु* शब्द ऋग्वेद[3] में मिलता है।

[1] कौषीतकि ब्राह्मण २५. १५।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण १६. ६, ९; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. २, १०।
[3] १. ११३, २; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, २५।

समान्त (एक ही सीमावाला), अर्थात्, 'पड़ोसी', और एतदर्थ 'शत्रु', मैत्रायणी संहिता (२. १, २४) में आता है।

सम्-इति, वैदिक जाति की एक 'सभा' का द्योतक है। इसका ऋग्वेद,[1] और अक्सर[2] बाद में, तथा कभी-कभी, *सभा*[3] के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। लुडविग[4] का विचार है कि 'समिति' के अन्तर्गत सभी लोग, मुख्यतः 'विशः' (प्रजाजन), आते थे। इसमें *मघवन्* और ब्राह्मण भी इच्छानुसार सम्मिलित हो सकते थे, यद्यपि इनकी विशेष सभा को 'सभा' शब्द से ही व्यक्त किया गया है। यह दृष्टिकोण सम्भाव्य नहीं, और न त्सिमर[5] का यही मत कि 'सभा' ग्राम-वासियों की सभा होती थी। यह मानते हुये हिलेब्रान्ट[6] ठीक प्रतीत होते हैं कि 'समिति' और 'सभा' बहुत कुछ एक ही हैं जिनमें से एक शब्द वास्तविक सभा का द्योतक है और दूसरा मुख्यतः सभा के स्थान का।

राजा उसी प्रकार किसी समिति[7] में भी जाता था जिस प्रकार किसी 'सभा' में। राजा का चुनाव भी यहीं होना, जैसा कि त्सिमर[8] का विचार है, उतना ही अनिश्चित है जितना स्वयं उसके निर्वाचित होने का ही तथ्य

[1] १. ९५, ८; ९. ९२, ६; १०. ९७, ६; १६६, ४; १९१, ३ :
[2] अथर्ववेद ५. १९, १५; ६. ८८, ३; ७. १२, १; १२. १, ५६, इत्यादि।
[3] अथर्ववेद ७. १२, १; १२. १, ५६; १५. ९, २. ३, ८. १०, ५. ६।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३. २५३ और बाद।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन, १७२ और बाद।
[6] वेदिशे माइथौलोजी, २, १२४, नोट ६।
[7] ऋग्वेद ९. ९२, ६; १०. ९७, ६ (जहाँ, जैसा कि त्सिमर, १७६, १७७, का विचार है, अल्पजनसत्ता का कदाचित ही आशय है। इससे केवल एक ही रक्त-सम्बन्ध वाले राजाओं का शेष लोगों के साथ समिति में जाने का तात्पर्य है)।
[8] ऋग्वेद १०. १७३ के साथ अथर्ववेद ६. ८७. ८८ को तथा अथर्ववेद ३. ४, ६ के साथ अथर्ववेद ५. १९, १५ को उद्धृत करते हुये उ० पु० १७५।

(देखिये राजन्)। किन्तु इस बात के स्पष्ट चिह्न हैं कि सभा तथा राजा के बीच सहमति राजा की समृद्धि के लिये आवश्यक होती थी।[9]

यह मानना तर्क-संगत है कि सभा का कार्य सामान्य रूप से सभी प्रकार की नीतियों पर विचार-विनिमय करना, जिस सीमा तक वैदिक भारतीय विधान बनाने पर ध्यान देते थे उस सीमा तक विधान बनाना, और नैय्यायिक कार्य सम्पन्न करना होता था (तु० की० *सभासद्*)। किन्तु सम्भवतः मूल स्थलों की प्रकृति के परिणाम-स्वरूप इन कार्यों में से किसी के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं।

देवों की भी समिति होती थी, अतः उसे 'दैवी'[10] कहते थे। इसी प्रकार देवों की 'सभा'[11] भी होती थी।

बौद्ध ग्रन्थों,[12] महाकाव्यों[13] और नीति-ग्रन्थों[14] में शासन के प्रभावशाली अंग के रूप में 'समिति' का अस्तित्व समाप्त हो गया है।

[9] अथर्ववेद ६. ८८, ३। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २, 'समिति' को यहाँ और ५. १९, १५; ऋग्वेद १०. १६६, ४; १९१, ३, में 'संघ' के अर्थ में ग्रहण करते हैं, किन्तु यह न तो आवश्यक है और न सम्भव ही।

[10] ऋग्वेद १०. ११, ८।

[11] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ११, १३. १४,

[12] तु० की० बूह्लर : त्सी० गे०, ४८, ५५, 'परीस' पर।

[13] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १४८–१५२ जो प्राचीन समिति के ह्रास का कारण अभिजात युद्ध-परिषद् और गुप्त पुरोहितीय सभा को मानते हैं। निःसन्देह, यह अत्यन्त सम्भव है कि किसी भी समय 'समिति' ऐसा स्थान न रहा हो जहाँ साधारण मनुष्यों के दृष्टिकोणों पर कुछ अथवा कोई ध्यान दिया जाता था। राजा तथा महान व्यक्ति ही भाषण देते थे; शेष लोग केवल उसको अपनी मान्यता-अमान्यता प्रदान करते थे, जैसा कि होमर के काल में तथा जर्मनी में भी था (तु० की० लैङ्ग : ऐन्थ्रोपॉलोजी ऐण्ड क्लासिक्स, ५१, और बाद; टेसिटसः जर्मेनिया, ११. १२, जहाँ, उनके सामान्य कर्त्तव्यों तथा दण्डात्मक अधिकारों का उल्लेख है)।

[14] फॉय : डी० गे० ६, ७, १०।

सम्-इध्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अग्नि प्रज्वलित करने के लिये प्रयुक्त

[1] ४. ४, १५; ६. १५, ७; १६, ११; ७. १४, १; १०. १२, २, इत्यादि।

[2] वाजसनेयि संहिता ३. ४; २०. २५, इत्यादि।

ईंधन का द्योतक है। गेल्डनर[3] एक स्थल[4] पर इसमें एक पुरोहित, बाद के 'अग्निध्', के नाम का आशय देखना चाहते हैं।

[3] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १९१। | [4] ऋग्वेद १०. ५२, २।

समुद्र, ऋग्वेद तथा बाद में एक बहु-प्रयुक्त शब्द है। इसका इस दृष्टि से महत्त्व है कि इससे यह पता चलता है कि वैदिक भारतीय समुद्र से परिचित थे। इसे यद्यपि विवियन सेन्ट मार्टिन[1] ने अस्वीकृत किया है, तथापि न केवल मैक्स मूलर[2] और लासन[3] ने ही इसे माना है, वरन् समुद्र-सम्बन्धी वैदिक भारतीयों के ज्ञान को यथा-साध्य सीमित करनेवाले त्सिमर[4] भी ऋग्वेद[5] के एक स्थल पर तथा निःसन्देह बाद[6] के लिये इसे स्वीकार करते हैं। आप यह व्यक्त करते हैं कि समुद्र की सीमा तथा उसका बहाव अज्ञात है, सिन्धु के मुहाने का कहीं भी उल्लेख नहीं है, भोजन के रूप में मछली भी ऋग्वेद में ज्ञात नहीं (तु० की० मत्स्य), और अनेक स्थलों पर लाक्षणिक आशय में समुद्र का दो महासागरों,[7] अर्थात् एक उच्च और निम्न,[8] के रूप में उल्लेख है, इत्यादि। अन्य स्थलों पर आपके विचार से समुद्र वास्तव में अन्य सब सहायक नदियों के मिल जाने के पश्चात् सिन्धु नदी का ही द्योतक है।[9] इसके द्वारा वैदिक भारतीयों के समुद्र-सम्बन्धी ज्ञान को संकीर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया गया हो सकता है, जब कि वास्तव में सिन्धु नदी से परिचित इन लोगों को समुद्र का ज्ञान होना निश्चित है। समुद्र की

[1] ऐ० वे०, ६२ और बाद। तु० की० विलसन : ऋग्वेद १, xli।

[2] से० बु० ई० ३२, ६१ और बाद, जो ऋग्वेद १. ७१, ७; १९०, ७; ५. ७८, ८; ७. ४९, २; ९५, २; १०. ५८, को उद्धृत करता है।

[3] इ० आ० १[2], ८८३।

[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, २२ और बाद। तु० की० मैकडौनेल: संस्कृत लिटरेचर १४३, १४४।

[5] ७. ९५, २।

[6] अथर्ववेद ४. १०, ४ (सीप); ६. १०५, ३, (समुद्र का 'वि-क्षर'); १९. ३८, २; तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १३, १, इत्यादि।

[7] ऋग्वेद १०. १३६, ५। तु० की० अथर्ववेद ११. ५, ६।

[8] ऋग्वेद ७. ६, ७; १०. ९८, ५।

[9] देखिये, उदाहरण के लिये, ऋग्वेद १. ७१, ७; ३. ३६, ७; ४६, ४; ५. ८५, ६; ६. ३६, ३; ७. ९५, २; ८. १६, २; ४४, २५; ९. ८८, ६; १०७, ९; १०८, १६ (जहाँ जलधाराओं का सन्दर्भ है); अथवा ऋग्वेद १. १६३, १; ४. २१, ३; ५. ५५, ५; ८. ६, २९, जहाँ समुद्र और भूमि का विभेद किया गया है।

निधियों,[10] सम्भवतः मोतियों, अथवा व्यावसायिक लाभ[11] के भी सन्दर्भ मिलते हैं। *भुज्यु* की कथा भी जलीय परिवहन की ओर संकेत करती प्रतीत होती है।

वेवीलोनियाँ के साथ वैदिक काल में सागर के मार्ग से व्यापार होता था या नहीं इसे सिद्ध करना कठिन है : हिब्रू भाषा के 'बुक ऑफ किंग्स'[12] में 'कोफ' और 'तुखीम', वन्दर (कपि) और मोर, के उल्लेख पर दिया गया ज़ोर,[13] इस 'बुक ऑफ किंग्स' की काल-सम्बन्धी संदिग्धता के कारण अप्रमाणित हो जाता है। साथ ही साथ, उस व्यापार को बहुत आरम्भिक समय का मानने के लिये विशेष कारण भी नहीं है जो बाद में निःसन्देह ७०० ईसा पूर्व के लगभग विकसित हो गया था।[14]

बाद के ग्रन्थों में समुद्र द्वारा बहुधा सागर का ही आशय है।[15]

[10] तु० की० ऋग्वेद १. ४७, ६; ७. ६, ७; ९. ९७, ४४।

[11] तु० की० ऋग्वेद १. ४८, ३; ५६, २; ४. ५५, ६; और 'डायोस्क्यूरी' और अश्विनों की सामान्य समानता।

[12] १ किंग्स, १०. २२।

[13] उदाहरण के लिये वेवर द्वारा इन्डियन लिटरेचर ३, में।

[14] देखिए केनेडी : ज० ए० सो०, १८९८, २४१, २८८; बूहलर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ७९ और बाद; इन्डिशे पालियोग्राफी १७-१९, जो इस सम्बन्ध की प्राचीनता को अत्यन्त अतिरंजित कर देते हैं; विनसेन्ट स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया, २५ नोट।

[15] तैत्तिरीय संहिता २. ४, ८, २; ७. ५, १, २। इसे ऐतरेय ब्राह्मण ५. १६, ७ में कभी न समाप्त होनेवाला कहा गया है (तु० की० ३. ३९, ७ भी); यह पृथ्वी के चारों ओर स्थित है, वही ८. २५, १। शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ११ (तु० की० १०. ६, ४, १) में पूर्वी और पाश्चात्य समुद्र यद्यपि लाक्षणिक हैं तथापि यह सम्भवतः दोनों समुद्रों, हिन्द महासागर और अरब सागर, के ज्ञान की ओर संकेत करते हैं।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, १४-१५; पिशल और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, xxiii।

सम्राज्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में, राजा (*राजन्*) की अपेक्षा शक्ति में बड़े और श्रेष्ठ शासक अथवा सम्राट का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण[3] में, *वाजपेय* और *राजसूय* सम्बन्धी विचित्र सिद्धान्त के अनुसार, सम्राज् को

[1] ३. ५५, ७; ५६, ५; ४. २१, १; ६. २७, ८; ८. १९, ३२; ।

[2] वाजसनेयि संहिता ५. ३२; १३. ३५; २०. ५, इत्यादि।

[3] ५. १, १, १३। तु० की० १२. ८, ३, ४; १४. १, ३, ८।

राजा की अपेक्षा उच्च, और वाजपेय यज्ञ के द्वारा ही इस पद को अर्जित करनेवाला बताया गया है। फिर भी 'राजाओं के अधिराज' के रूप में इस शब्द के प्रयोग का कोई चिह्न नहीं मिलता, जो कि सम्भवतः इसलिये कि राजनैतिक स्थितियाँ इस प्रकार के किसी ऐसे उदाहरण का आधार प्रस्तुत नहीं करतीं, जैसा कि तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में अशोक के उदाहरण से सिद्ध होता है। किन्तु, साथ ही साथ, *विदेह* के *जनक* की भाँति महत्त्वपूर्ण राजाओं को ही सम्राज् द्वारा व्यक्त किया गया है।[4] ऐतरेय ब्राह्मण[5] में यह पूर्वी राजाओं की उपाधि के रूप में व्यवहृत हुआ है। तु० की० *राज्य*।

[4] शतपथ ब्राह्मण ११. ३, २, १. ६; २, २, ३; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, १; ३, १। तु० की० वेबर : ऊबर डेन वाजपेय, ८।

[5] ८. १४, २. ३। अन्य नाम इस प्रकार है : उत्तर के राजाओं के लिये 'विराज्'; दक्षिण के राजाओं के लिये 'स्वराज्'; सत्वन्तों के लिये 'भोज'; मध्यदेशीय लोगों (कुरु-पञ्चाल, वश, और उशीनर) के लिये केवल 'राजन्'। यही सम्भवतः उचित परम्परा है।

सरघ्,[1] और *सरघा*,[2] दोनों ही ब्राह्मणों में 'मधुमक्खी' के द्योतक हैं। देखिये *सरह्* भी।

[1] शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ३, १४।

[2] पञ्चविंश ब्राह्मण २१. ४, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, १०, १।

सरयु का एक नदी के नाम के रूप में ऋग्वेद में तीन बार उल्लेख है। *चित्ररथ* और *अर्ण* को प्रत्यक्षतः उन *तुर्वशों* और *यदुओं* द्वारा पराजित बताया गया है जिन्होंने सरयु को पार किया था।[1] 'सरयु' एक स्थल पर *सरस्वती* और *सिन्धु* के साथ[2], और दूसरे पर *रसा*, *अनितभा*, और *कुभा* के साथ आता है,।[3] बाद में, वैदिकोत्तर काल में, सरयू (दुर्लभ रूप से सरयु)

[1] ४. ३०, १८। इस स्थल से कोई सहायता नहीं मिलती, क्योंकि इसके द्वारा यह मानने की सम्भावना बनी रहती है कि या तो तुर्वश-यदु का आर्य चित्ररथ और अर्ण को पराजित करनेवालों के रूप में उल्लेख ही नहीं है, अथवा यदि है तो यह मानने के लिये भी कि ये लोग इन दोनों के विरुद्ध पूर्व से आये होंगे।

[2] १०. ६४, ९।

[3] ५. ५३, ९।

अवध की एक नदी, आधुनिक सरजू[४], का नाम है। त्सिमर[५] ने सभी वैदिक स्थलों पर इससे इसी नदी का आशय माना है। एक स्थल[३] पर, जिसे सरयु को पंजाब में स्थित करने के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है, आपने उत्तर-पूर्वी, तथा साथ-साथ, पश्चिम की सामान्य मानसून का सन्दर्भ देखा है। हॉपकिन्स[६] के विचार से सरयु को पश्चिम में ढूँढना चाहिए, और लुडविग[७] इसे क्रुम्‌ (*क्रुमु*) के साथ समीकृत करते हैं। विवियन ड सेन्ट मार्टिन ने इसे *शुतुद्री* (सतलज) और *विपाश्* की सम्मिलित धारा के साथ समीकृत किया है।

[४] यह अवध की महान नदी घाघरा की बाँई ओर से आकर मिलनेवाली सहायक नदी है। सरजू नाम बहराम घाट के नीचे स्वयं घाघरा नदी के लिये भी व्यवहृत होता है। निचली घाघरा नदी की एक शाखा को, जो कि उसकी दाहिनी ओर से निकलती हुई और घाघरा की एक प्राचीन घाटी से बहती हुई बलिया के बाद गंगा नदी में गिरती है, छोटी सरजू कहा गया है। तु० की० इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, २२, १०९; १२, ३०२ (घाघरा); २३, ४१८ (पूर्वी टौंस); २६, प्लेट ३१।

[५] आल्टिन्डिशे लेबेन, १७, ४५। तु० की० मूइरः संस्कृत टेक्स्ट्स २[२], xxv; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३२३।

[६] रिलीजन्स ऑफ इन्डिया, ३४।

[७] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २८०।

सरस्, बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में सरोवर का द्योतक है।

[१] वाजसनेयि संहिता २३. ४७. ४८; ३०. १६।

[२] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३, ६; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ९; छान्दोग्य उपनिषद् ८. ५, ३।

सरस्वती[१] एक नदी का नाम है जिसका ऋग्वेद और बाद में अक्सर उल्लेख है। बाद की संहिताओं के अनेक स्थलों[२] पर इससे उद्दिष्ट नदी निश्चित रूप से आधुनिक सरस्वती है जो पटियाला की मरुभूमि में विलीन हो जाती है

[१] शब्दार्थ, 'सरोवरों से परिपूर्ण', जिससे सम्भवतः इसकी उस स्थिति का सन्दर्भ है जब जल अत्यन्त कम हो जाता था। ध्वन्यात्मक दृष्टि से यह नाम इरानियन 'हरकैति' (आधुनिक 'हेल्मान्द' के समान है।

[२] तैत्तिरीय संहिता ७. २, १, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १०, १; कौषीतकि ब्राह्मण १२. २. ३; शतपथ ब्राह्मण १. ४, १, १४; ऐतरेय ब्राह्मण २. १९, १. २; सम्भवतः अथर्ववेद ६. ३०, १। यह तालिका सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० ३ (ग) के रौथ के दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तुत की गई।

(देखिये *विनशन*)। रौथ[3] तक यह स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर इसी नदी का तात्पर्य है। *दृषद्वती*[4] के साथ यह ब्रह्मावर्त्त (देखिए *मध्यदेश*) की पश्चिमी सीमा का निर्माण करती थी। आरम्भिक वैदिक भारत की यह एक पवित्र नदी थी। इसके तट पर किये गये यज्ञों को सूत्रों[5] में अत्यन्त महत्वपूर्ण और पवित्र कहा गया है।

ऋग्वेद[6] के अनेक अन्य स्थलों पर और बाद[7] में भी रौथ ने ऐसा माना है कि इससे वास्तव में एक अन्य, *सिन्धु*, नदी का तात्पर्य है : केवल इसी प्रकार ही इस बात की व्याख्या की जा सकती है कि सरस्वती को 'नदियों में श्रेष्ठ' (नदीतमा),[8] सागर तक जाने वाली[9], और ऐसी महान नदी क्यों कहा गया है जिसके तट पर अनेक राजाओं[10], और वास्तव में पाँच जातियों को बसा बताया गया है।[11] इस मत को त्सिमर[12] तथा अन्य विद्वानों[13] ने स्वीकार किया है।

दूसरी ओर, लासन[14] और मैक्स मूलर[15] वैदिक सरस्वती और बाद की

[3] ऋग्वेद ३. २३, ४ (जहाँ 'दृषद्वती' आता है); १०. ६४, ९; ७५, ५ (जहाँ सिन्धु का भी उल्लेख है)।

[4] कदाचित आधुनिक 'चौतङ्ग' जो थानेसर के पूर्व से हो कर बहती है। तु० की० ओल्डम : ज० ए० सो० २५, ५८; इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, २६, प्लेट ३२।

[5] कात्यायन श्रौत सूत्र १२. ३, २०; २४. ६, २२; लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १५, १; १८, १३; १९, ४; आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. ६, २. ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. २९।

[6] १. ८९, ३; १६४, १९; २. ४१, १६ और बाद; ३०, ८; ३२, ८; ३. ५४, १३; ५. ४२, १२; ४३, ११; ४६, २; ६. ४९, ७; ५०, १२; ५२, ६; ७. ९, ५; ३६, ६; ३९, ५; ४०, ३; ८. २१, १७; ५४, ४; १०. १७, ७; ३०, १२; १३१, ५; १८४, २।

[7] अथर्ववेद ४. ४, ६; ५. २३, १; ६. ३ २; ८९, ३; ७. ६८, १; १४. २, १५., २०; १६. ४, ४; १९. ३२, ९; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १३, ३; वाजसनेयि संहिता १९. ९३; ३४. ११; शतपथ ब्राह्मण १. ६, २, ४; ११. ४, ३, ३; १२. ७, १, १२; २, ५; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, ८। इन सभी स्थलों को नोट २ में रक्खा जाना चाहिये।

[8] ऋग्वेद २. ४१, १६।

[9] ऋग्वेद ६. ६१, २. ८; ७. ९६, २।

[10] ऋग्वेद ८. २१, १८।

[11] ऋग्वेद ६. ६१, १२।

[12] आल्टिन्डिशे लेबेन ५–१०।

[13] उदाहरण के लिये, ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, १, ६०; २, ९०, इत्यादि; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०१, २०२।

[14] इ० आ० १², ११८।

[15] से० बु० ई० ३२, ६०।

सरस्वती[16] के समीकरण को ही स्वीकार करते हैं। मैक्स मूलर का मत है कि वैदिक काल में यह सतलज की ही भाँति एक विशाल नदी थी, जो या तो सिन्धु में मिलकर अथवा स्वयं सागर तक पहुँचती थी, और शेष भारत के साथ पंजाब की पश्चिमी सीमा के रूप में एक 'लौह दुर्ग' के समान थी। सरस्वती के आकार अथवा धारा के किसी महान परिवर्त्तन का कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है, यद्यपि इस बात को अस्वीकार करना कि इसका आकार क्षीण हो गया होगा असम्भव है। किन्तु, सर्वत्र, बाद की और पहले की सरस्वती के समीकरण को स्वीकार करने के पक्ष में प्रबल आधार उपलब्ध हैं। उस सूक्त[17] तक में, जिसमें इसे पाँच जातियों का पोषक कहा गया है, इसकी दिव्य प्रकृति पर ज़ोर दिये गये होने के चिह्न वर्त्तमान हैं, और यह इसकी बाद की पवित्रता के बहुत कुछ अनुकूल है। इसके अतिरिक्त इस सूक्त में, यदि सरस्वती का अर्थ सिन्धु है तो, उस *पारावत* जाति के लोगों को अपने निवास स्थान से बहुत दूर बताया गया है, जो बाद के पञ्चविंश ब्राह्मण[18] के प्रमाण द्वारा पूर्व में स्थित मिलते हैं। पुनः, उन *पूरुओं* को, जो सरस्वती के तट पर बसे थे[19], बहुत कठिनाई के साथ ही सुदूर पश्चिम में स्थित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाँच जातियों को उस दशा में सरलतापूर्वक सरस्वती के तट पर बसा हुआ माना जा सकता है जब कि उन्हें, जैसे कि वह प्रतीत होते हैं, *कुरुक्षेत्र* के *भरतों* का पश्चिमी पड़ोसी मान लिया जाय; और ऐसी दशा में सरस्वती को सरलतापूर्वक

[16] ऋग्वेद १०.७५, ५ में नदियों की गणना में (प्रत्यक्षतः पूर्व से आरम्भ करते हुये पश्चिम की ओर) गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, के नामों में से 'सरस्वती' जमुना और सतलज के बीच आती है, जो स्थान उस आधुनिक 'सर्सूति' (सरस्वती) का है जो थानेसर के पश्चिम में बहती हुई पटियाला क्षेत्र में एक और पश्चिमी नदी, घग्गर, से मिलकर सिरसा के आगे जाने के पश्चात भट्नेर के निकट मरुभूमि में विलीन हो जाती है; किन्तु इस स्थान से लेकर सिन्धु तक एक सूखी नदी की घाटी ('हक्र' अथवा 'घग्गर') का चिह्न देखा जा सकता है। देखिये इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, २६, प्लेट ३२। तु० की० ओल्डम : ज० ए० सो०, २५, ४९–७६, भी।

[17] ऋग्वेद २. ४१, १६ ('देवितमे')।

[18] देखिये **पारावात**, और तु० की० **वृसय**।

[19] ऋग्वेद ७. ९५. ९६। लुडविग। उ० पु० ३, १७५, यह स्वीकार करते हैं कि यहाँ सिन्धु से तात्पर्य नहीं हो सकता। देखिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी' १, ११५।

पंजाब की सीमा माना जा सकता है। पुनः, एक स्थल[20] पर 'सप्तनद' स्पष्टतः एक नगर का द्योतक है : यह बहुत सम्भव है कि यह सिन्धु और कुभा सहित पाँच नदियाँ नहीं वरन् सिन्धु और सरस्वती सहित पाँच नदियाँ हों। और न इसका कारण ही जानना कठिन है कि इस नदी को समुद्र में मिलने वाली क्यों कहा गया है : या तो वैदिक कवियों ने इस नदी की धारा का उसके अन्त तक कभी अनुगमन नहीं किया, अथवा यह या तो पूर्णरूप से या बहुत दूर तक वस्तुतः मरुभूमि में प्रविष्ट कर गई थी और केवल ब्राह्मण काल में आकर ही इसके मरुभूमि में विलीन हो जाने के तथ्य का पता लग सका। वास्तव में वाजसनेयि संहिता[21] में ऐसा कहा गया है कि पाँच नदियाँ सरस्वती में मिलती हैं; किन्तु यह स्थल न केवल बाद का है (जैसा कि *देश* शब्द का प्रयोग व्यक्त करता है) वरन् यहाँ यह नहीं कहा गया है कि उद्दिष्ट पाँच नदियों से पंजाब की नदियों का तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त इस स्थल की न तो किसी अन्य संहिता में समानता मिलती है और न इसे एक आरम्भिक सृजन ही कहा जा सकता है; यदि यह बाद का है तो इससे बाद की सरस्वती का ही संदर्भ होना चाहिए।

सम्पूर्ण रूप से हिलेब्रान्ट[22] सरस्वती-सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं,[23] किन्तु आप इसमें एक पौराणिक नदी के नाम का आशय देखने के अतिरिक्त बाद की वैतरणी[24], तथा साथ ही साथ, अर्कोसिया[25] की

[20] ऋग्वेद ८. २४, २७। सरस्वती तथा सप्तनदों का सम्बन्ध कुछ अस्पष्ट ही है। ऋग्वेद ८. ५४, ४, में सरस्वती तथा सात नदियों का पृथक् पृथक् आवाहन किया गया है, किन्तु ६. ६१, १०. १२ में इसका 'सात भगिनियों वाली' (सप्त स्वसा) के रूप में उल्लेख है। ७. ३६, ६ में इसको 'सातवीं' कहा गया है जो सरस्वती को इन नदियों में से ही एक बना देता है। यदि उक्त पहले के स्थलों को उनके ठीक-ठीक अर्थ में ग्रहण कर लिया जाय तो 'सप्त-स्वसा' को यह व्यक्त करता हुआ माना जा सकता है कि सरस्वती नदी-पद्धति के बाहर थी (जिस दशा में यहाँ सिन्धु, कुभा, और पञ्जाब की अन्य पाँच नदियों का तात्पर्य होगा; देखिये **सप्त सिन्धवः**); किन्तु मोटे रूप से इस शब्द से यहाँ सात बहनों में से एक का तात्पर्य हो सकता है।

[21] ३४. ११।

[22] वेदिशे माइथौलोजी, १, ९९, और बाद; ३, ३७२–३७८।

[23] आप केवल नोट २४ और २५ में उद्धृत स्थलों को छोड़ कर ऋग्वेद में सर्वत्र यही आशय देखते हैं।

[24] ७. ९५, ६; १०. १७, ७; अथर्ववेद ७. ६८, २; १४. २, २०; पञ्चविंश ब्राह्मण ३५. १०, ११।

[25] ऋग्वेद ६. ४९, ७; ६१; सम्भवतः वाजसनेयि संहिता ३४. ११।

अर्वन्दब का भी आशय देखते हैं। यह मत अनिवार्यतः इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ऋग्वेद का छठवाँ मण्डल, सातवें के विपरीत, ईरानी भूमि को अपनी क्रिया-कलाप का क्षेत्र मानता है : यह उतना ही अनुपयुक्त है जितना कि स्वयं यह सिद्धान्त।[२६] ब्रुनहॉफर[२७] ने एक समय इस ईरानी समीकरण को स्वीकार कर लिया था, किन्तु बाद[२८] में उन्होंने उस ऑक्सस के पक्ष में अपना मत परिवर्तित कर लिया जो यहाँ सर्वथा अप्रासङ्गिक है। देखिए *सप्त प्रास्रवण* भी।

[२६] देखिये **दिवोदास**।
[२७] बेज़ेनबर्गर : बीट्रेज, १०,२६१, नोट २।
[२८] ईरान उन्ट तूरान, १२७।
तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ३३७ और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १४१, १४२; वैदिक माइथौलोजी, पृ० ८६-८८; फॉन श्रोडर : इण्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ८४, १६४।

सरह्, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'मधुमक्खी' का द्योतक है। तु०की० *सरघ*।

[१] १. ११२, २१।
[२] तैत्तिरीय संहिता ५. ३, १२, १२; शतपथ ब्राह्मण १३. ३, १, ४। धातु का उणादि सूत्र १. १३३, में 'सरट्' रूप दिया गया है; किन्तु **सरघ** यह व्यक्त करता है कि 'सरह्' से ही तात्पर्य होना चाहिये। (तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० २३८, नोट २)।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९७।

सरित्, ऋग्वेद और बाद में 'जलधारा' का द्योतक है।[१]

[१] ४. ५८, ६; ७. ७०, २; अथर्ववेद १२. २, ४१; वाजसनेयि संहिता ३४. ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण १.२, १, ११, इत्यादि।

सरीसृप, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में अक्सर किसी भी 'रेंगनेवाले पशु', अथवा 'सर्प' का द्योतक है।

[१] १०. १६२, ३।
[२] अथर्ववेद ३. १०, ६; १९. ७, १; ४८, ३, इत्यादि।

सर्प, ऋग्वेद[१] में, जहाँ इसके लिये सामान्य शब्द *अहि* है, केवल एक बार, किन्तु बाद[२] में अक्सर आता है।

[१] १०. १६, ६।
[२] अथर्ववेद १०. ४, २३; ११. ३, ४७; तैत्तिरीय संहिता १. ५, ४, १; ३. १, १, १, इत्यादि।

सर्प-राज्ञी को तैत्तिरीय संहिता[1] के अनुसार ऋग्वेद के एक सूक्त[2] की ऋषि बताया गया है।

[1] १. ५, ४, १; ७. ३, १, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ६, ६; २. २, ६, १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २३, १. २।

[2] १०. १८९।

सर्प-विद्या की शतपथ ब्राह्मण[1] में विद्याओं की एक शाखा के रूप में गणना कराई गई है। इसे निश्चित रूप से निर्धारित नियमों का आकार प्रदान कर दिया गया होगा, क्योंकि इसके एक 'पर्व' के अध्ययन का 'सन्दर्भ है। गोपथ ब्राह्मण[2] में इसका 'सर्प-वेद' रूप मिलता है।

[1] १३. ४, ३, ९। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २, २५। आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७, ५, में **विप-विद्या,** और छान्दोग्य उपनिषद् (७. १. २. ४; २, १; ४, १; ७, १) में 'सर्प-देवजन-विद्या' है।

[2] १. १, १०। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३६७, नोट ३।

सर्प वात्सि (*वत्स* का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] ६. २४, १५। ऑफरेख्त : ऐतरेय ब्राह्मण ४२४, इस नाम को 'सर्पिर्' के रूप में ग्रहण करते हैं। यह निसन्देह संदिग्ध है, क्योंकि यह शब्द केवल 'प्रथमा' रूप में ही आता है।

सर्पिस्, चाहे गले अथवा जमे रूप में, घृत का द्योतक है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार भी यह *घृत* से भिन्न नहीं है। यहाँ रौथ ने सायण द्वारा अपने ऐतरेय ब्राह्मण[1] के भाष्य में उद्धृत इस परिभाषा को अस्वीकृत कर दिया है कि 'सर्पिस्' गले हुये और 'घृत' जमे हुये रूप का द्योतक है। इस शब्द का ऋग्वेद[2] तथा बाद[3] में बहुधा उल्लेख है।

[1] १. ३, ५।

[2] १. १२७, १; ५. ६, ९; १०. १८, ७।

[3] अथर्ववेद १. १५, ४; ९. ६, ४१; १०. ९, १२; १२. ३, ४५; तैत्तिरीय संहिता २. ३, १०, १, इत्यादि।

सर्व-चरु ऐतरेय[1] और कौषीतकि[2] ब्राह्मणों में मिलता है जहाँ देवों द्वारा एक 'सर्वचरौ' यज्ञ के आयोजन का उल्लेख है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार यह शब्द एक व्यक्ति का नाम है; किन्तु इससे किसी स्थान[3] के नाम का अथवा केवल विशेषणात्मक[4] आशय ही हो सकता है।

[1] ६. १, १।

[2] २९. १।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण, उ० स्था० पर सायण।

[4] ऑफरेख्त : ऐतरेय ब्राह्मण ४२५, नोट १, जो यह व्यक्त करते हैं कि यहाँ 'यज्ञे' की पूर्ति करनी चाहिये।

सर्व-वेदस, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में या तो एक ऐसे यज्ञ का जिसमें यज्ञकर्त्ता अपना सर्वस्व ऋत्विजों को दे देता है,[1] अथवा किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति का,[2] द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ७, ७; कौषीतकि ब्राह्मण २५. १४; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ३, १।

[2] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, १; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ७, १५; शतपथ ब्राह्मण ४. ६, १ १५, इत्यादि।

सर्षप, जो कि 'सरसों' का द्योतक है, वैदिक ग्रन्थों में केवल कुछ वार ही आता है।[1]

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४, ३। तु० की० षड्विंश ब्राह्मण ५. २; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ४. १५, ८, इत्यादि। वाद के सहित्य में यह प्रचलित हो गया है।

सला-वृकी—देखिये *सालावृक*।

सलिल-वात, यजुर्वेद संहिताओं[1] में एक विशेषण के रूप में आता है जिसका 'जलों से आ रही वायु की कृपा',[2] अर्थ है। इससे, कदाचित, समुद्र से आनेवाली दक्षिण-पश्चिमी मानसून[3] का तात्पर्य है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ४. ४, १२, ३; काठक संहिता २४. ४; मैत्रायणी संहिता ३. १६, ४।

[2] अथवा भाष्यकार के अनुसार 'सलिलाख्येन वात-विशेषेण अनुगृहीतः'।

[3] इन्डियन एम्पायर १, ११०। वैदिक संहिताओं में इस तथ्य के अतिरिक्त कदाचित ही अन्य सन्दर्भ है कि मरुतों को समर्पित सूक्तों को मानसून का वर्णन करने वाला माना जा सकता है। देखिये ऋग्वेद १. १९, ७; ३७, ६ और वाद; ३८, ८; ६४, ८; ८८, ५; ५. ८३, १ और वाद; ८५, ४; त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन, ४२–४४।

सल्व, एक जाति के लोगों के नाम के रूप में शतपथ ब्राह्मण[1] के उस स्थल पर मिलता है जहाँ *श्यापर्ण सायकायन* की इस दम्भपूर्ण उक्ति का उल्लेख है कि यदि उसका एक संस्कार-विशेष पूर्ण हो जाता तो उसकी जाति के लोग न केवल सल्वों के विशिष्ट जन, ब्राह्मण, और कृषक वन जाते, वरन् उसकी जाति के लोग सल्वों से भी आगे वढ़ जाते। मन्त्र पाठ[2] में भी इसी जाति का उल्लेख प्रतीत होता है जहाँ इनकी इस वोपण की चर्चा की गई है

[1] १०. ४, १, १०।

[2] २. ११, १२।

कि जब इन लोगों ने *यमुना* के तट पर अपने रथ[3] रोके थे तो उस समय *यौगन्धरि* इनके राजा थे। बाद का प्रमाण[4] यह है कि 'साल्व' अथवा 'शाल्व' लोग *कुरु-पञ्चालों* के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे और इनमें से कुछ प्रत्यक्षतः यमुना तट के निकट विजयी भी हुये थे। इन्हें वैदिक काल में उत्तर-पश्चिम में स्थित करने के लिये श्रेष्ठ प्रमाण नहीं है।[5]

[3] विन्टरनिज़ : मन्त्र-पाठ, xlv.xlvii, इस इस मंत्र में एक साल्व स्त्री द्वारा चक्र (? चरखा) घुमाने का आशय देखते हैं। किन्तु एक युद्धोपम आक्रमण का सन्दर्भ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[4] महाभारत, ४. १, १२; ८. ४८ (४५, १४। पाणिनि ४. १, १७३, पर काशिका वृत्ति में उद्धृत एक कारिका में भी युगन्धरों का सन्दर्भ है।

[5] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २१५। बाद में वह राजस्थान में मिलें हो सकते हैं, लासन : इ० आ०, १[2], ७६०।

सव्य-ष्ठा,[1] *सव्य-ष्ठ*,[2] *सव्ये-ष्ठ*,[3] और *सव्य-स्थ*[4]—यह सभी *सारथि* के विपरीत रथी के लिये प्रयुक्त शब्द के ही विभिन्न रूप हैं, जो, जैसा कि स्वाभाविक है, यह व्यक्त करते हैं कि योद्धा रथ हाँकनेवाले के बायें ओर खड़ा होता था। भाष्यकार[5] 'सव्यष्ठा' में केवल एक अन्य 'सारथी' का ही आशय देखना चाहते हैं, किन्तु यह सर्वथा अनुपयुक्त है,[6] और सम्भवतः शूद्र-सारथी के विरुद्ध बाद की जातीय घृणा की भावना को ही व्यक्त करता है।

[1] अथर्ववेद ८. ८, २३।

[2] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, ९; ३, १, ८; ४, ३, १७. १८।

[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ९, १।

[4] शतपथ ब्राह्मण की काण्व शाखा, एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ६२, नोट १; मैत्रायणी संहिता ४. ३, ८।

[5] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ८; और तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर।

[6] एग्लिङ्ग : उ० स्था०; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ सो०, १३, २३५।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २९६।

सस, ऋग्वेद[1] में 'घास'[1] का द्योतक है। यह शब्द सोम-पौधे[2] तथा यज्ञीय 'कुश'[3] के लिये भी व्यवहृत हुआ है।

[1] १. ५१, ३; १०. ७९, ३।

[2] ३. ५. ६; ४. ५, ७, इत्यादि।

[3] ५. २१, ४।

ससर्परी एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[1] के दो कौतूहलवर्धक मन्त्रों में आता है। बाद की व्याख्या[2] के अनुसार यह एक विशेष प्रकार की वाणी-सम्बन्धी उस प्रवीणता का द्योतक है जिसे *विश्वामित्र* ने *जमदग्नि* से प्राप्त किया था। यह क्या थी यह सर्वथा अनिश्चित है।

[1] ३. ५३, १५. १६।
[2] बृहद्देवता ३. ११३, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।
तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १५९।

सस्य, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में नित्य ही समान रूप से 'अन्न' का द्योतक है। यह अवेस्ता के 'हह्य' के ही समान है। देखिये *कृषि*।

[1] ७. ११, १; ८. १०, २४।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ३, ३; ५. १, ७, ३; ७. ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ४. २, २, इत्यादि।
तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक एन्टीक्विटीज़, २८४।

सह, अथर्ववेद[1] में, रौथ[2] के अनुसार तो एक पौधे का नाम है, किन्तु ब्लूमफील्ड[3] का विचार है कि यह शब्द केवल एक विशेषण है जिसका 'शक्तिशाली' अर्थ है।

[1] ११. ६, १५। तु० की० सामविधान ब्राह्मण २. ६, १०।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २ (ख)
[3] अथर्ववेद के सूक्त, ६४८।
तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ६४२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७२।

सह-देव ऋग्वेद[1] में एक राजा का नाम है, जहाँ इसे *सिम्युओं* और *दस्युओं* पर विजयी बताया गया है। उस राजा सहदेव सार्ञ्जय के साथ इसका समीकरण सर्वथा सम्भाव्य है जिसका शतपथ ब्राह्मण[2] में एक बार *सुप्लन् सार्ञ्जय* कहे गये होने तथा दाक्षायण यज्ञ सम्पन्न कर सकने में सफल हो जाने के कारण अपना नाम परिवर्तित करनेवाले के रूप में उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में इसका उस *सोमक साहदेव्य* के साथ उल्लेख है जो ऋग्वेद[4] में भी आता है।

[1] १. १००, १७।
[2] २. ४, ४, ३. ४। तु० की० १२. ८, २, ३।
[3] ७. ३४, ९।
[4] ४. १५, ७ और बाद।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १३२; ह्लिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५, १०६।

सह-देवी, आप्य के पाठ के अनुसार अथर्ववेद[1] में एक पौधे का नाम है।

[1] ६. ५९, २। तु० कौ० ग्रिल : हुन्डर्ट लीडर,[2] १६३; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३२५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४९०, जो इस पाठ को स्वीकार नहीं करते। 'सहदेव' नामक एक पौधा सामविधान ब्राह्मण २. ६, १०, में आता है।

सहमान, अथर्ववेद (२. २५, २; ४. १७, २; ८. २, ६; ७, ५) में एक पौधे का नाम है :

सहो-जित्—देखिये *जैत्रायण*।

सांवरणि, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ यह स्वभावतः मनु का पैतृक नाम ('संवरण' का वंशज) प्रतीत होता है। ब्लूमफील्ड[2] के अनुसार यह उस *सावर्णि* का एक भ्रष्ट रूप है जिससे 'सवर्णा' के गर्भ से मनु के जन्म का सन्दर्भ है (कथा के अनुसार 'सवर्णा' से उस समान स्त्री का तात्पर्य है जिसे 'सरण्यू' का स्थानापन्न बना दिया गया था; देखिये *मनु*)। यह सम्भव तो है किन्तु निश्चित नहीं। शेफ्टेलोविल्स[3] का विचार है कि ऋग्वेद की काश्मीर-पाण्डुलिपि में, जहाँ 'सांवरणम्' है, इसे सोम की एक उपाधि मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। किन्तु यह सर्वथा असम्भाव्य प्रतीत होता है।[4] या तो हमें 'मनु सांवरणि' नामक एक वास्तविक व्यक्ति को मानना चाहिये, अथवा यह कि 'मनु सांवरणि' केवल 'मनु' है जिसने किसी अज्ञात कथा के आधार पर यह पैतृक नाम धारण कर लिया था।

[1] ८. ५१, १।
[2] ज० अ० ओ० सो०, १५, १८०, नोट।
[3] डी० ऋ० ३८।
[4] देखिये औल्डेनबर्ग: गो०, १९०७, २३७।

साकम्-अश्व देवरात, शाङ्खायन आरण्यक (१५. १) के अन्तिम वंश में *विश्वामित्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

सांकृती-पुत्र ('संकृत' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश में *आलम्बायनीपुत्र*[1] अथवा *आलम्बीपुत्र*[2] के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५, २ काण्व। [2] वही ६. ४, ३२ माध्यन्दिन।

सांकृत्य ('संकृति' का वंशज) उस गुरु का नाम है जिसका, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] की माध्यन्दिन शाखा के अन्तिम वंश में, *पाराशर्य* को शिष्य बताया गया है।

[1] २. ५, २०; ४. ५, २६। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ८. २१; १०. २१; १६. १६, में भी सांकृत्य आता है।

साची-गुण का ऐतरेय ब्राह्मण[1] में आनेवाले एक मंत्र में *भरतों* के क्षेत्र के अन्तर्गत किसी स्थान के नाम के रूप में उल्लेख है। फिर भी ल्यूमैन[2] के अनुसार इससे इन्द्र की एक उपाधि, 'शाचीगु', का तात्पर्य है।

[1] ८. २३, ४।
[2] त्सी० गे०, ४८, ८०, नोट ५। यह अनुमान असम्भाव्य प्रतीत होता है।

सांजीवी-पुत्र ('सांजीवी' का पुत्र) एक गुरु का नाम है जो शतपथ ब्राह्मण[1] के दसवें काण्ड के अन्त के और काण्व शाखा[2] के चौदहवें काण्ड के अन्त के वंशों में *माण्डूकायनि* के शिष्य के रूप में आता है। दोनों शाखाओं[3] के बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त के वंशों में इसे *प्राश्नीपुत्र आसुरिवासिन्* का शिष्य बताया गया है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसमें आचार्यों की दो परम्परायें संयुक्त थीं—एक *शाण्डिल्य* की अग्नि-पूजक परम्परा, और दूसरी *याज्ञवल्क्य* की परम्परा।

[1] १०. ६, ५, ९।
[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५, ४ काण्व।
[3] वही ६. ४, ३२ (माध्यन्दिन = ६. ५, २ काण्व)। तु० की० एग्लिङ्ग से बु० ई० १२, xxxiv और बाद; वेबर : इन्डियन लिटरेचर, १३१।

साति औष्ट्राक्षि ('उष्ट्राक्ष' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

सात्य-कामि (*सत्यकाम* का वंशज) तैत्तिरीय संहिता (२. ६, २, ३) में *केशिन्* का पैतृक नाम है।

सात्य-कीर्त, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ३२, १) में उल्लिखित आचार्यों की एक परम्परा का नाम है।

सात्य-यज्ञ ('सत्ययज्ञ' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (३. १, १, ४) में एक गुरु का नाम है।

१. सात्य-यज्ञि ('सत्ययज्ञ' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (११. ६, २, १. ३; १३. ४, २, ४; ५, ३, ९) में *सोमशुष्म* का पैतृक नाम है।

२. सात्य-यज्ञि, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२. ४, ५,) में *शैलनों* और *कारीरदियों* के साथ उल्लिखित आचार्यों की एक परम्परा का नाम है।

सात्य-हव्य ('सत्यहव्य' का वंशज) उस *वासिष्ठ* का पैतृक नाम है जिसका ऐतरेय ब्राह्मण (८. २३, ९) में *अत्यराति जानंतपि* के, तथा तैत्तिरीय संहिता (६. ६, २, २) में *देवभाग* के समकालीन के रूप में उल्लेख है।

सात्राजित ('सत्राजित्' का वंशज), *शतानीक*[1] का पैतृक नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१, ५; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, १९. २१।

सात्रा-साह ('सत्रासाह' का वंशज), *शोण*[1] का पैतृक नाम है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, १६. १८।

सादिन्, अथर्ववेद[1] में पैदल चलने वाले (अ-साद) के विपरीत एक 'अश्वारोही' का द्योतक है। एक 'अश्व-सादिन्' से वाजसनेयि संहिता[2] भी परिचित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] तथा स्वयं ऋग्वेद[4] में अश्वारोहण के सन्दर्भ हैं, जब कि ऐतरेय आरण्यक[5] में एक बेंड़े-बेंड़े अश्वारोहण का उल्लेख है। आश्वलायन[6] एक भारवाही पशु (वह्य) के विपरीत 'सवारी के अश्व' (साद्य) से परिचित है।

[1] ११. १०, २४।
[2] ३०. १३।
[3] ३. ४, ७, १।
[4] १. १६२, १७; ५. ६१, ३। तु० की० १. १६३, ९।
[5] १. २, ४; शतपथ ब्राह्मण ७. ३, २, १७।
[6] सूत्र ९. ९, १४।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३०, २९५, २९६; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३५८; कीथ : ऐतरेय आरण्यक १७७; वेबर : प्रो० अ० १८९८, ५६४।

साधारणी, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर, जैसा कि मैक्स मूलर[2] मानते हैं, महाकाव्य की द्रौपदी की भाँति एक uxor communis का नहीं, वरन् एक नर्तकी का द्योतक है।

[1] १. १६७, ४।
[2] से० बु० ई० ३२, २७७।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३३२; म्यूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४६१; पिशल और गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, १, xxv।

साप्त ऋग्वेद[1] में एक व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है, किन्तु इसका आशय सर्वथा अनिश्चित ही है।

[1] ८. ५५, ५। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, ५५२ ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त २, २६६।

सात्तरथ-वाहनि ('सत्तरथवाहन' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *शाण्डिल्य* के शिष्य, एक गुरु का पैतृक नाम है।

[1] १०. ६, ४, १०. ११। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, २५९, नोट।

साप्य अथवा *साय्य*, ऋग्वेद (६. २०, ६) में *नमी* का पैतृक नाम है।

साम-वेद, सामनों के संग्रह का नाम है, जिसका ब्राह्मण-ग्रन्थों[1] में अक्सर उल्लेख है। स्वयं 'सामन्' का ऋग्वेद[2] में बहुधा उल्लेख है, और ऋक्, यजुः तथा सामन् की त्रयी अथर्ववेद तथा उसके बाद[3] से सर्वथा प्रचलित है। यह संहितायें उस 'साम-ग'[4] (सामनों के गायक) से भी परिचित हैं जो बाद[5] में आता है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ९, १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३२, १; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ८, ३; १२. ३, ४, ९; ऐतरेय आरण्यक ३. २, ३; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, १३ (माध्यन्दिन = १. ५ ५ काण्व); २. ४, १०; ४. १, ६ (= ४. १, २); ५, ११; छान्दोग्य उपनिषद् १. ३, ७; ३. ३, १. २; १५, ७; ७. १, २. ४; २, १; ७, १, इत्यादि।

[2] १. ६२, २; १०७, २; १६४, २४, इत्यादि। तु० की० ओल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ३८, ४३९ और बाद।

[3] १०. ७, १४; ११. ७, ५; वाजसनेयि संहिता ३४. ५, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद २. ४३, १; १०. १०७, ६; अथर्ववेद २. १२, ४।

[5] ऐतरेय ब्राह्मण २. २२, ३; ३७, ४; ३. ४, १।

साम-श्रवस्, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में मिलता है। मैक्स मूलर[2] के अनुसार यह शब्द *याज्ञवल्क्य* की उपाधि है, किन्तु बौटलिङ्क[3] इसे इस आचार्य के एक शिष्य का नाम मानते हैं।

[1] ३. १, ३।
[2] से० बु० ई० १५, १२१।

[3] अनुवाद, ३६।

साम-श्रवस (*सामश्रवस्* का वंशज), शतपथ ब्राह्मण (१७. ४, ३) में *कुपीतक* का पैतृक नाम है।

सामुद्रि (*समुद्र* का वंशज), शतपथ ब्राह्मण (१३. २, २, १४) में एक पौराणिक ऋषि, 'अश्व', का नाम है।

सांमद ('संमद' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१३. ४, ३, १२) में पौराणिक 'मत्स्य' का पैतृक नाम है।

साम्राज्य—देखिये । *सम्राज्* और *राज्य* ।

साय[1] बहुधा क्रियाविशेषणात्मक 'सायम्'[2] (सन्ध्या-समय) के रूप में आता है, और ऋग्वेद तथा बाद में 'सन्ध्या' का द्योतक है । तु० की *अहर्* ।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ३, ३; कौषीतकि ब्राह्मण २. ८; शतपथ ब्राह्मण ७. ३, २, १८ ।
[2] ऋग्वेद ५. ७७, २; १०. १४६, ४; अथर्ववेद ३. १२, ३; ४. ११, १२; ८. ६, १०, इत्यादि । तु० की० 'सायं-प्रातर्' (प्रातःकाल और सन्ध्या), अथर्ववेद ३. ३०, ७; १९. ३९, २, इत्यादि ।

१. सायक, ऋग्वेद (२. ३२, १०; ३. ५३, २३; १०. ४८, ४) में बाण का द्योतक है ।

२. सायक जान-श्रुतेय ('जनश्रुत' का वंशज) *काण्ड्विय*, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) में *जनश्रुत काण्ड्विय* के शिष्य, एक गुरु का नाम है ।

सायकायन (*सायक* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *श्यापर्ण* का, तथा बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के द्वितीय वंश में *कौशिकायनि* के शिष्य एक गुरु का, पैतृक नाम है ।

[1] १०. ३, ६, १०; ५, २, १ ।
[2] ४. ५, २७ (माध्यन्दिन = ४. ६, ३ काण्व) ।

साय्य—देखिये *साप्य* ।

सारथि, ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में, योद्धा (*सव्यष्ठा*) के विपरीत रथ के सारथी का द्योतक है ।

[1] १. ५५, ७; १४४, ३; २. १९, ६; ६. २०, ५; ५७, ६; १०. १०२, ६ ।
[2] अथर्ववेद १५. २, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ९, १; मैत्रायणी संहिता ४. ३, ८, इत्यादि ।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २९६ ।

सारमेय ('सरमा' का वंशज) ऋग्वेद[1] में पृथ्वी के एक कुत्ते के लिए, तथा यम[2] के कुत्तों के लिये भी व्यवहृत हुआ है ।

[1] ७. ५५, २ (यदि इस स्थल पर मृतकों की आत्मा का सन्दर्भ न माना जाय) ।
[2] १०. १४, १० ,

सार्ञ्जय, ऋग्वेद[1] की एक दानस्तुति में मिलता है जहाँ यह शब्द सम्भवतः 'सृञ्जय' के वंशज की अपेक्षा एक 'सृञ्जय राजा' का द्योतक है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र[2] के अनुसार यह इसी सूक्त में उल्लिखित एक *प्रस्तोक* था, किन्तु यह निष्कर्ष बहुत उपयुक्त नहीं है। यह स्पष्टतः *भरद्वाजों* का प्रतिपालक था[3]। *सहदेव सुप्लन* के लिये भी यही उपाधि व्यवहृत हुई है।

[1] ६. ४७, २५। [2] १६. ११, ११।
[3] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ४; १२. ८, २, ३।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १०४, १०५।

सार्प-राज्ञी, पञ्चविंश (४. ९, ४) और कौषीतकि (२७. ४) ब्राह्मणों में *सर्पराज्ञी* के समान है।

सार्व-सेनि ('सर्वसेन' का वंशज) तैत्तिरीय संहिता (७. १, १०, ३) में *शौचेय* का पैतृक नाम है।

साला-वृक, ऋग्वेद[1] में दो बार मिलता है जहाँ यह प्रत्यक्षतः 'लकड़-बग्घे' या 'जंगली कुत्ते' का द्योतक है। यही आशय इन्द्र[2] द्वारा *यतियों* के विनाश की उस कथा के भी अनुकूल है जिसमें इन्द्र द्वारा यतियों को *सालावृकों* को समर्पित कर देने का उल्लेख है। 'सालावृकेय'[3] भी इसी शब्द का एक विभेदात्मक पाठ है जिसका शब्दार्थ 'सालावृक का वंशज' है। इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'सालावृकी'[4] है, किन्तु तैत्तिरीय संहिता[5] में यह 'सलावृकी' के रूप में आता है। तु० की *तरक्षु*।

[1] १०. ७३, ३; ९५, १५।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ७, ५; एतरेय ब्राह्मण ७. २८, १; कौषीतकि उपनिषद् ३. १ (पाठ भेद)।
[3] पञ्चविंश ब्राह्मण ८. १, ४; १३. ४, १६; १४. ११, २८; १८. १, ९; १९. ४, ७; जैमिनीय ब्राह्मण १. १८५ (ज० अ० ओ० सो० १९, १२३); काठक संहिता ८. ५; ११. १०; २५. ६; ३६. ७ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६५, ४६६); कौषीतकि उपनिषद् ३. १ (शंकरानन्द की शाखा के अनुसार)। अथर्ववेद २. २७, ५ में इन्द्र को सालावृकों का शत्रु कहा गया है।
[4] काठक संहिता २८. ४।
[5] ६. २, ७, ५; मैत्रायाणी संहिता ३. ८, ३ भी; आपस्तम्ब धर्म सूत्र १. १०, १७; ११, ३३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ८१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १३, १९२; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ६८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३०६, जो 'शृगाल' के पक्ष में अपना निर्णय देते हैं।

सावयस ('सवयस' का वंशज), शतपथ ब्राह्मण (१. १, १, ७) में 'अषाढ' अथवा 'आषाढ' का पैतृक नाम है।

सा-वर्णि, ऋग्वेद[1] में 'सावर्ण्य'[2] के साथ-साथ एक पैतृक नाम के रूप में मिलता है। यह स्पष्ट है कि 'सवर्ण' नाम के किसी भी व्यक्ति का कभी भी कोई अस्तित्व नहीं था; किन्तु रौथ[3] ने इस दृष्टिकोण तथा इस बात को स्वीकार कर लिया है कि यहाँ उस 'स-वर्णा' नामक स्त्री के वंशज, पौराणिक मनु सावर्णि, का सन्दर्भ है जिसने कथा[4] के अनुसार सरण्यू का स्थान ग्रहण किया था।

[1] १०. ६२, ११।
[2] १०. ६२ ९।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० को० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], १७।
[4] ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो०, १५, १७१ और बाद।

सिंह, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में सिंह का ही द्योतक है। सिंह के गर्जन (नद्) का अक्सर उल्लेख है[3], और इसे 'स्तनथ'[4] कहा गया है। यह इधर-उधर भ्रमण करता (कु-चर) और पहाड़ों पर रहता है (गिरि-ष्ठ)[5]। यही स्पष्टतः वह 'भयंकर वध करने वाला जंगली पशु' (मृगो भीम उपहत्नुः)[6] है जिसके साथ रुद्र की तुलना की गई है। जब जलों में प्रविष्ट अग्नि की सिंह से तुलना की गई है,[7] तब पानी पीने के स्थानों पर पशुओं पर आक्रमण करने की सिंह की आदत का तात्पर्य है। शृगाल द्वारा सिंह को पराजित करने को आश्चर्यजनक कहा गया है।[8] सिंह को, जो कि मनुष्यों के लिए भयंकर होता था,[9]–फँसाया,[10] अथवा छिपे हुये स्थान से घायल किया जाता था,[11] अथवा शिकारियों द्वारा घेर कर मारा जाता था।[12]

[1] १. ६४, ८; ९५, ५; ३. २, ११; ९, ४; २६, ५; ४. १६, १४, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. ३६, ६; ५. २०, १. २; २१, ६; ८. ७, १५; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २१, १. काठक संहिता १२. १०, इत्यादि; मैत्रायणी संहिता २. १, ९; कौषीतकि उपनिषद् १. २।
[3] देखिये ऋग्वेद १. ६४, ८; ३. २६, ५। इसके साथ ढोल की ध्वनि की तुलना की गई है, अथर्ववेद ५. २०, १।
[4] ऋग्वेद ५. ८३, ३; अथर्ववेद ५. २१, ६; ८. ७, १५।
[5] ऋग्वेद १. १५४, २; १०. १८०, २।
[6] ऋग्वेद २. ३३, ११।
[7] ऋग्वेद ३. ९, ४।
[8] ऋग्वेद १०. २८, ४।
[9] ऋग्वेद १०. १७४, ३।
[10] ऋग्वेद १०. २८, १०।
[11] ऋग्वेद ५. ७४, ४।
[12] ऋग्वेद ५. १५, ३। तु० की० स्ट्राबो १५. १, ३१।

किन्तु कुत्ते सिंह से भयभीत रहते थे।[13] *सिंहिनी* भी अपने साहस के लिये प्रसिद्ध थी; अत्यधिक शत्रुओं के विपरीत *सुदास्* को इन्द्र द्वारा दी गई सहायता की जंगली मेप (पेत्व) द्वारा सिंहिनी की पराजय के साथ तुलना की गई है।[14] मनुष्यों पर आक्रमण करने के समय सिंहिनी के खुले हुये जबड़ों का ऐतरेय ब्राह्मण[15] में उल्लेख है। यजुर्वेद संहिताओं और ब्राह्मणों में भी सिंहिनी का उल्लेख हैं।[16] देखिए *हलीक्ष्ण* भी।

[13] अथर्ववेद ५. ३६, ६।
[14] ऋग्वेद ७. १८, १७।
[15] ६. ३५, १।
[16] तैत्तिरीय संहिता १. २, १२, २; ६. २, ७, १; वाजसनेयि संहिता ५. १०; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, २१; मैत्रायणी संहिता ३. ८, ५।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७८, ७९।

१. *सिच्*, परिधान के 'किनारे' का द्योतक है। ऋग्वेद में एक ऐसे पुत्र का सन्दर्भ है जो अपने पिता का ध्यान आकर्षित करने के लिये उसके परिधान के किनारे को पकड़ कर खींचता है।[1] एक ऐसी माता का भी उल्लेख है जो अपने वस्त्र के किनारे से अपने पुत्र को ढँकती है।[2] यह शब्द बाद[3] में भी आता है।

[1] ३. ५३, २।
[2] १०. १८, ११।
[3] अथर्ववेद १४. २, ५१; शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, १८।

२. *सिच्*, द्विवाचक में सेना[1] की एक टुकड़ी का, अथवा बहुवचन[2] में 'सेना-पंक्ति' का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १०. ७५, ४।
[2] अथर्ववेद ११. ९, १८; १०, २०।

तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ६५; गेल्डनर : वही, ३, ३१।

३. *सिच्* ऋग्वेद के एक स्थल (१. ९५, ७) पर, जहाँ यह द्विवाचक में प्रयुक्त हुआ है, 'क्षितिज' (शब्दार्थ दो सीमायें; अर्थात् आकाश और पृथिवी की सीमायें) का द्योतक प्रतीत होता है।

सिध्मल (कोढ़ी) वाजसनेयि संहिता (३०. १७) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४, १४, १) में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है। तु० की० *किलास*।

सिनीवाली अमावस्या तथा उसकी अधीक्षक देवी का नाम है, जो चन्द्रमा और वनस्पति के सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यापक विचार के अनुसार

उर्वरता और विकास की देवी है। यह ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से बहुधा मिलती है।

[1] २. ३२, ७. ८; १०. १८४, २।
[2] अथर्ववेद २. २६, २; ६. ११, ३; ९. ४, १४; १४. २, १५; १९. ३१, १०; तैत्तिरीय संहिता २. ४, ६, २; ३. ४, ९, १. ६; ५. ५, १७, १; ६, १८, १; काठक संहिता ३५. २, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३५२; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १२५।

सिन्धु का ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में अवसर केवल 'जलधारा' (तु० की० *सप्त सिन्धवः*) अर्थ है; किन्तु इससे अपेक्षाकृत अधिक ठीक-ठीक 'सर्वश्रेष्ठ जलधारा' (सिन्धु नदी) का भी[3] तात्पर्य हो सकता है। फिर भी, संहिता-काल[4] के पश्चात् यह नाम दुर्लभ और इस रूप में आता है जैसे इसका अर्थ 'दूरी' हो। सिन्धु के (सैन्धव) अश्व प्रसिद्ध थे।[5] देखिये *सैन्धव*। तु० की० *सरस्वती* भी।

[1] १. ९७, ८; १२५, ५; २. ११, ९; २५, ३. ५; ३. ५३, ९, इत्यादि।
[2] ३. १३, १; ४. २४, २; १०. ४, १५; १३. ३, ५०, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. १२२, ६; १२६, १; ४. ५४, ६; ५५, ३; ५. ५३, ९; ७. ९५, १; ८. १२, ३; २५, १४; २०, २५; २६, १८; १०. ६४, ९; अथर्ववेद १२. १, ३; १४. १, ४३; सम्भवतः ६. २४, १; ७. ४५, १; १९. ३८, २; वाजसनेयि संहिता ८. ५९, भी।
[4] 'सिन्धु-सौवीर' बौधायन धर्म सूत्र १. २, १४ में आते हैं। तु० की० बूहलर : से० बु० ई० , १४, १४८; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ३९४, नोट।
[5] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २, १५ (माध्यंदिन = ६. १, १३ काण्व)।
तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेवेन, १६, १७, २७।

सिन्धु-क्षित्, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक दीर्घकाल तक निर्वासित किन्तु अन्तोगत्वा प्रतिष्ठित *राजन्यर्षि* का नाम है, जो सम्भवतः सर्वथा पौराणिक[2] व्यक्ति ही प्रतीत होता है।

[1] १२. १२, ६।
[2] औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३५, नोट ३।

सिरी, ऋग्वेद (१०. ७१, ९) में एक 'बुनकरी' का द्योतक प्रतीत होता है।

सिलाची अथर्ववेद[1] में एक ओषधिक पौधे का नाम है, जिसे *लाक्षा* भी कहते हैं।

[1] ५. ५, १. ८। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४१९; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २२८।

सिलाञ्जाला, जिसे भाष्यकार 'शलाञ्जाला' पढ़ता है, अथर्ववेद[1] में एक पौधे, सम्भवतः किसी 'अन्न की लतिका' का नाम है। कौशिक सूत्र[2] में इस शब्द का 'शिलाञ्जाला' पाठ है। तु० की० *सिलाची*।

[1] ६. १६, ४।
[2] ५१. १६। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४६६; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २९२, २९३।

सीचापू, यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में एक प्रकार के पक्षी का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १९, ६; वाजसनेयि संहिता २४. २५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९४।

सीता (फाल-रेखा) ऋग्वेद[1] तथा अक्सर बाद[2] में आता है।

[1] ४. ५७, ६. ७ (जो कि ऋग्वेद में कृषि से सर्वाधिक सम्बन्धित तथा सम्भवतः एक बाद का सूक्त है)।
[2] अथर्ववेद ११. ३, १२; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ५, ४. ५; ६, २, ५; काठक संहिता २०. ३, इत्यादि।
तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ८६, नोट।

सीमन्, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में बालों में कढ़ी माँग का द्योतक है।

[1] ९. ८, १३।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ५. ७, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ४, १; १५. ५, २०; शतपथ ब्राह्मण ७. ४, १, १४। तु० की० अथर्ववेद ६. १३४, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १७, ३, में 'सीमन्त'।

सीर (हल) का ऋग्वेद[1] तथा अक्सर बाद[2] में उल्लेख है। जैसा कि

[1] ४. ५७, ८; १०. १०१, ३. ४।
[2] अथर्ववेद ६. ३०, १; ९१, १; ८. ९, १६, इत्यादि; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १, २; २. ५, ८, १२; वाजसनेयि संहिता १८. ७; मैत्रायणी संहिता २. ११, ४।

इसको खींचने के लिये प्रयुक्त छह बैलों,[3] अथवा आठ,[4] अथवा बारह,[5] अथवा, यहाँ तक कि चौबीस बैलों[6] के उल्लेख द्वारा व्यक्त होता है, यह विशाल तथा भारी होता था। हल को खींचने वाले पशु 'बैल' होते थे जिन्हें, निःसन्देह, वरत्राओं[7] से सन्नद्ध किया जाता था। बैल को हलवाहे की *अष्ट्रा* अथवा अंकुश से हाँका जाता था (तु० की० *वैश्य*)[8]। हल के विभिन्न भागों के सम्बन्ध में अत्यन्त कम ज्ञात है। देखिये *लाङ्गल* और *फाल*।

[3] अथर्ववेद ६. ९१, १; ८. ९, १६; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ५, २; काठक संहिता १५. २; २०. ३; शतपथ ब्राह्मण ७. २, २, ६; १३. ८, २, ६।
[4] अथर्ववेद ६. ९१, १।
[5] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ७, १; ५. २, ५, २; काठक संहिता १५. २; मैत्रायणी संहिता २. ६, ३, इत्यादि।
[6] काठक संहिता १५. २। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १३, २४४, नोट १।
[7] वरत्रा, ऋग्वेद ४. ५७, ४, (मुद्गल की कथा के बैल का) और १०. १०२, ८, में मिलता है। इससे हल की अपेक्षा जूये में ही 'वरत्रा' के माध्यम से बैल को सन्नद्ध करने का सन्दर्भ हो सकता है।
[8] तु० की० ऋग्वेद ४. ५७, ४; १०. १०२, ८।
　तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २३६, २३७।

सील (हल), कपिष्ठल संहिता (२८. ८) में मिलता है।

सीलमावती, ऋग्वेद[1] में लुडविग[2] के अनुसार एक नदी का नाम है, किन्तु यह अत्यन्त असम्भाव्य है।[3] सायण इस शब्द का 'पुआल से परिपूर्ण' अर्थ मानते हैं।

[1] १०. ७५, ८।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।
[3] त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ४२९; बौटलिङ्क: डिक्शनरी, व०, स्था०; गेल्डनर: ऋग्वेद, ग्लॉसर, १९५।

सीस (सीसा) सर्वप्रथम अथर्ववेद[1] में आता है, जहाँ इसके कवच[2] के लिये प्रयुक्त होने का उल्लेख है। बाद में यह शब्द प्रचलित हो गया है।[3]

[1] १२. २, १. १९ और बाद, ५३।
[2] १. १६. २. ४।
[3] मैत्रायणी संहिता २. ४, २; वाजसनेयि संहिता १८. १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ६, ५; शतपथ ब्राह्मण ५. १, २, १४; ४, १, ९; १२. ७, १, ७; २, १०; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ७, इत्यादि।

नामक रानी और एक अन्य अवसर[४] पर इन्हें सहायता प्रदान की थी। एक बाद के सूक्त में यह *त्रसदस्यु* के साथ प्रतिद्वन्दिता के किसी चिह्न के बिना ही आते हैं,[५] किन्तु अन्यत्र ऐसा प्रतीत होता है कि त्रसदस्यु के पिता *पुरुकुत्स* ने इन्हें पराजित किया था।[६] ऐतरेय ब्राह्मण[७] में इन्हें एक महान राजा स्वीकार किया गया है जिनके पुरोहित *वसिष्ठ* थे। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[८] में भी इनका इसी प्रकार वर्णन है जहाँ अपने पुरोहित के प्रति इनकी उदारता का उल्लेख है।

इनकी ठीक-ठीक पैतृकता कुछ अनिश्चित है क्योंकि इन्हें *पैजवन* ('पिजवन' का पुत्र; इस पैतृक नाम की यास्क ने इसी प्रकार व्याख्या की है) कहा गया है। यदि यह व्याख्या ठीक है तो *दिवोदास* इनका पितामह रहा होगा। यदि यह दिवोदास के पुत्र थे तो पिजवन को अपेक्षाकृत और प्राचीन पूर्वज मानना होगा। प्रथम विकल्प अधिक सम्भव प्रतीत होता है। तु० की० *तुर्वश*, *दाशराज्ञ*। *पैजवन*, *भरत*, *सौदास*।

[४] ऋग्वेद १. ४७, ९ जहाँ, फिर भी, रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०, १, 'सु-दास्' को एक विशेषण (भली भाँति उपासना करने वाला) के रूप में ग्रहण करते हैं।

[५] ऋग्वेद ७. १९, ३।

[६] ऋग्वेद १. ६३, ७, लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १७४, के साथ 'सुदासे' के स्थान पर 'सुदासम्' पाठ मानते हैं। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ११२, नोट १; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, १५३; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ६३।

[७] ७. ३४, ९।

[८] १६, ११, १४।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलाजी, ३, १०७ और बाद; वेबर : ए० रि० ३१, और बाद।

१. सु-देव, लुडविग[१] के अनुसार ऋग्वेद[२] के एक सूक्त में एक यज्ञ-कर्त्ता का व्यक्तिवाचक नाम है।

[१] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६०।

[२] ८. ५, ६।

२. सु-देव काश्यप (कश्यप का वंशज) तैत्तिरीय आरण्यक[१] में उस गुरु का नाम है जिसने ब्रह्मचर्य भंग हो जाने के प्रायश्चित्त का विधान किया था।

[१] २. १८। तु० की० १०. १, ८; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १८८, नोट; १०, १०३।

सु-देवला, बौधायन श्रौतसूत्र (२०. १२) के अनुसार एक स्त्री के रूप में *ऋतुपर्ण* का नाम है।

सु-देवी—देखिये *सुदास्*।

सु-धन्वन् आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ३, १) में एक गुरु का नाम है।

१. सु-नीथ शौचद्-रथ ('शुचद्रथ' का वंशज) ऋग्वेद (५. ७९, २) में एक व्यक्ति का नाम है। तु० की *सत्यश्रवस्*।

२. सु-नीथ कापटव, वंश ब्राह्मण[१] में एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

१. सु-पर्ण (श्रेष्ठ पंखों वाला) ऋग्वेद[१] और बाद[२] में एक बड़े हिंसक पक्षी, 'श्येन' अथवा 'गृद्ध', का द्योतक है। उस स्थल पर जहाँ यह सड़ा हुआ मांस[३] खाने वाले के रूप में आता है, गृद्ध का ही आशय होना चाहिए। जैमिनीय ब्राह्मण[४] एक ऐसे श्येन का उल्लेख करता है जो *क्रुञ्च्* की भाँति जल से दुग्ध को पृथक् कर देता था। ऋग्वेद[५] में सुपर्ण को *श्येन* का पुत्र बताया गया है और एक अन्य स्थल[६] पर इसका श्येन के साथ विभेद किया गया है : इस आधार पर ही त्सिमर[७] ने यह मान लिया कि इससे सम्भवतः बाज़ पक्षी का तात्पर्य है।[८] अथर्ववेद में इसकी वाणी का उल्लेख है,[९] और इसे पर्वतों पर रहनेवाला बताया गया है।[१०]

[१] १. १६४, २०; २. ४२, २; ४. २६, ४; ८. १००, ८; ९. ४८, ३, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद १. २४, १; २. २७, २; ३०, ३; ४. ६, ३, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ८, ५, इत्यादि।

[३] मैत्रायणी संहिता ४. ९, १९; तैत्तिरीय आरण्यक ४. २९।

[४] २. ४३८ (ज० अ० ओ० सो०, १९, १०१)।

[५] १०. १४४, २।

[६] २. ४२, २।

[७] आल्टिन्डिशे लेबेन ८८।

[८] वैदिकोत्तर काल में सुपर्ण एक पौराणिक पक्षी हो गया है और इसे विष्णु के वाहन, गरुड़, के साथ समीकृत किया गया है; फिर भी गरुड़ को सुपर्णों का राजा भी कहा गया है।

[९] २. ३०, ३।

[१०] ५. ४, २।

२. सुपर्ण का, यजुर्वेद संहिताओं[१] में, एक ऋषि के रूप में मूर्तीकरण किया गया है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ३, २; काठक संहिता ३९. ७।

सु-पित्र्य, जो कि ऋग्वेद[1] में एक बार आने वाला शब्द है, सम्भवतः एक विशेषण (अपनी पैतृकता को सुरक्षित रक्खे हुये) है। फिर भी, लुडविग[2] इसे विना किसी विशेष सम्भावना के ही, एक व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं।

[1] १०. ११५, ६। | [2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६९।

सु-प्रतीत औलुण्ड्य, वंश ब्राह्मण[1] में *बृहस्पतिगुप्त* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

सुप्लन् सार्ञ्जय—यह *सृञ्जयों* के उस राजा का नाम है जिसे *प्रतीदर्श* ने दाक्षायण-यज्ञ की शिक्षा दी थी, और जिसने अपनी विजय के चिह्न-स्वरूप अपना नाम *सहदेव* रख लिया था।[1]

[1] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ४; १२. ८, २, ३। तु० की० लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस १३९; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५, १०६।

सु-बन्धु को ऋग्वेद[1] के सूक्तों में सायण ने एक व्यक्तिवाचक नाम माना है; किन्तु यह निश्चित नहीं, और रौथ[2] ने इन स्थलों पर इसे केवल एक संज्ञा के रूप में ही देखा है जिसका 'एक श्रेष्ठ मित्र' अर्थ है। बाद की परम्परा[3] यह व्याख्या प्रस्तुत करती है कि *गौपायन* कहे जाने वाले 'सुबन्धु' तथा इसके भ्राता, *असमाति* के पुरोहित थे जिन्हें अलग करके असमाति ने *किरात* और *आकुलि* को पुरोहित बना लिया था। इन दोनों के द्वारा सुबन्धु का कपोत मूर्छित कर दिया गया था, जिसे उसके तीन भ्राताओं ने कुछ सूक्तों[4] के उच्चारण द्वारा पुनः चेतन कर दिया था।

[1] १०. ५९, ८; ६०, ७. १०।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० १।
[3] बृहद्देवता ७. ८३ और बाद, मैक्डौनेल की टिप्पणी सहित। देखिये असमाति, नोट १, भी।
[4] ऋग्वेद १०. ५७-६०। तु० की० मैक्स मूलर : ज० ए० सो० २, ४२०-४५५; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ३९, ९०।

सु-ब्रह्मण्य, ब्राह्मणों[1] में उस पुरोहित का द्योतक है जो उद्गातृ (देखिये

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ४, ६; १८, ४; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, ९। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३६२, ३७४।

ऋत्विज्) के तीन सहायकों में से एक के रूप में कार्य करता है। इसके पद का नाम सुब्रह्मण्या है।[२]

[२] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३, १-७. ११. १२; कौषीतकि ब्राह्मण २७. ६, इत्यादि। स्वयं पुरोहित को भी यही नाम दिया गया है, ऐतरेय ब्राह्मण ७. १, २; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ९, १९, इत्यादि।

सु-भगा, सम्बोधक 'सुभगे' के रूप में ऋग्वेद तथा उसके बाद से स्त्रियों के शिष्ट सम्बोधन का सामान्य रूप है।[१]

[१] ऋग्वेद १०. १०, १०. १२; १०८, ५; अथर्ववेद ५. ५, ६; ६. ३०, ३, इत्यादि।

सु-भद्रिका यजुर्वेद[१] के अश्वमेध-खण्ड में आता है जहाँ यह किसी प्रकार इसी संस्कार से सम्बद्ध है। वेबर[२] का विचार है कि यह *काम्पील* की पत्नी का व्यक्तिवाचक नाम है; किन्तु महीधर[३] ने इसकी अनेक प्रेमियोंवाली स्त्री या नर्तकी के रूप में व्याख्या की है, और रौथ[४] ने भी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। यतः तैत्तिरीय[५] और काठक[६] संहिताओं में 'सुभद्रिका' नहीं वरन् सम्बोधक 'सुभगे' (देखिये *सुभगा*) है, अतः इसका आशय संदिग्ध ही रह जाता है।

[१] वाजसनेयि संहिता २३. १८ (तु० की० शतपथ ब्राह्मण १३. २, ८, ३); मैत्रायणी संहिता ३. १२, २०।
[२] इन्डिशे स्टूडियन १, १८३, १८४; इन्डियन लिटरेचर ११४, ११५। तु० की० ग्रिफिथ : वाजसनेयि संहिता का अनुवाद २१२, नोट।
[३] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर।
[४] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'सुभद्रक' २ (ख); बौटलिंक : डिक्शनरी, व० स्था०, २ (क)।
[५] ७. ४, १९, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, ६।
[६] अश्वमेध ४. ८।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३६, ३७; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३२१, ३२२।

सुमति-त्सरु—देखिये *त्सरु*।

सु-मन्त्र वाभ्रव ('वभ्रु' का वंशज) *गौतम* (*गोतम* का वंशज) वंश ब्राह्मण[१] में *शुष वाह्नेय भारद्वाज* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३।

सु-मित्र वाध्र्यश्व (*वध्र्यश्व* का वंशज) ऋग्वेद[१] में एक ऋषि का नाम है, जहाँ ही इसके परिवार के लोगों, *सुमित्रों*, का भी[२] उल्लेख है।

[१] १०. ६९, ३. ५।
[२] १०. ६९, १. ७. ८। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३३।

सु-मीळ, ऋग्वेद[1] में एक प्रतिपालक का नाम है।

[1] ६. ६३, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५८।

सु-मेध, ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट सूक्त में या तो एक विशेषण (श्रेष्ठ मेधावाला), अथवा एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में आता है जिस दशा में इसे *नृमेध* अथवा उसके भ्राता के साथ समीकृत किया जा सकता है।

[1] १०. १३२, ७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३३; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त २. ५७९, नोट।

सुम्न-यु का शाङ्खायन आरण्यक (१५. १) के अन्त के वंश में *उद्दालक* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

सु-यज्ञ शाण्डिल्य, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (४. १७, १) में *कंस वारक्य* के एक शिष्य का नाम है। एक अन्य सुयज्ञ एक *शाङ्खायन*, तथा गृह्य-सूत्र का रचयिता है।

सु-यवस, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'श्रेष्ठ चरागाह' का द्योतक है।

[1] १. ४२, ८; ६. २८, ७; ७. १८, ४ इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय संहिता १. ७, ५, २, इत्यादि।

सुरा एक 'मादक पेय' का नाम है जिसका वैदिक साहित्य में अक्सर ही उल्लेख मिलता है। कुछ स्थलों[1] पर इसका मान्यता के साथ, किन्तु अन्य[2] स्थलों पर अमान्यता के साथ उल्लेख है। इसे अथर्ववेद[3] में मांस-भक्षण और द्यूतक्रीड़ा के साथ-साथ, और अक्सर केवल द्यूतक्रीड़ा[4] के साथ ही, एक दुष्कर्म कहा गया है। *सोम* के विपरीत यह अनिवार्यतः साधारण जनता का पेय था।[5] यह *सभा*[6] के लोगों का पेय था और इससे कलह[7] उत्पन्न होते थे।

[1] ऋग्वेद १. ११६, ७; १०. १३१, ४. ५। तु० की० अथर्ववेद ४. ३४, ६; १०. ६, ५; तैत्तिरीय संहिता १. ३, ३, २; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, ३, ८।

[2] ऋग्वेद ७. ८६, ६; ८. २, १२; २१, १४; मैत्रायणी संहिता १. ११, ६; २. ४, २; ४. २. १, इत्यादि।

[3] ६. ७०, १। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४९३।

[4] ऋग्वेद ७. ८६, ६; अथर्ववेद १४. १, ३५. ३६; १५. ९, १. २।

[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ३, २।

[6] देखिये नोट ४।

[7] ऋग्वेद ८. २, १२; २१, १४। तु० की० काठक संहिता १४. ६; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ४; मैत्रायणी संहिता २. ४, २, इत्यादि।

इसकी ठीक-ठीक प्रकृति निश्चित नहीं। जैसा कि पुरिलङ्ग[8] का विचार है, यह अन्न और पौधों से बना मादक आसव हो सकता है, अथवा जैसा कि व्हिट्ने[9] का मत है, एक प्रकार की हलकी मदिरा। गेल्डनर[10] ने इसका 'ब्राण्डी' अनुवाद किया है। इसका कभी-कभी मधु[11] के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। इसे चर्म-पात्रों में रक्खा जाता था।[12]

[8] से० बु० ई० ४४, २२३, नोट २; कैलेण्ड : आल्टिन्डिशे त्सावररिचुअंल, २१, नोट १; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २८०, २८१। तु० की० कात्यायन श्रौतसूत्र, १९. १, २०-२७; वाजसनेयि संहिता १९. १ पर महीधर।

[9] अथर्ववेद का अनुवाद, २०७। तु० की० श्रोडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, ३२६।

[10] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १९८।

[11] अथर्ववेद ६. ६९, १; ९. १, १८. १९; वाजसनेयि संहिता १९. ९५। देखिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २५१, जो यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि एक समय 'सुरा' और 'सोम' दोनों ही दो ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पुरोहितीय पेय थे, जिनका अलग-अलग वर्ग के लोग व्यवहार करते थे।

[12] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११, २६। तु० की० ऋग्वेद १. १९१, १०।
तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, १२१।

सुरा-कार (*सुरा* का निर्माता) को यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २८१, जो ऋग्वेद १. १९१, १०, की तुलना करते हैं, जहाँ इस प्रकार के एक व्यक्ति का सन्दर्भ हो सकता है।

सु-राधस्, ऋग्वेद (१. १००, १७) में एक व्यक्ति का नाम है, जहाँ इसका *अम्बरीष* तथा अन्य के साथ उल्लेख है।

सुराम से ऋग्वेद[1] में अत्यधिक *सुरा*-पान के कारण उत्पन्न व्याधि का तात्पर्य है। नमुचि की कथा में इन्द्र को इससे ग्रस्त बताया गया है।[2] बाद में 'सुराम'[3] को *सोम* की एक उपाधि माना जाने लगा जिसका अर्थ 'आह्लादपूर्ण है।

[1] १०. १३१, ५।

[2] ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १४८ और बाद।

[3] अथवा 'सुरामन्'। तु० की० वाजसनेयि संहिता २१. ४२; मैत्रायणी संहिता ३. ११. ४; ४. १२, ५। हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २४५ और बाद, इसका 'सुरा-मिश्रित' अनुवाद करते हैं जो सन्दिग्ध है।

सु-वर्ण (श्रेष्ठ रंगवाला) पहले तो *हिरण्य* (स्वर्ण) का एक विशेषण है,[1] और फिर एक विशेष्य के रूप में स्वयं स्वर्ण का ही द्योतक बन जाता है।[2]

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ७, ४; ८, ९, १, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १५. १, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ६, ६; शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, ८, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् १. ६, ६; ३. १९, १; ४. १७, ७, इत्यादि।

सु-वसन, ऋग्वेद में एक 'श्रेष्ठ परिधान'[1] का द्योतक है, जिसका विशेषणात्मक रूप में (श्रेष्ठ परिधान धारण करना) भी प्रयोग हुआ है।[2] 'सु वासस्' (श्रेष्ठ परिधानवाला) एक सामान्य विशेषण है।[3] देखिये *वासस्*।

[1] ६. ५१, ४।

[2] ९. ९७, ५०।

[3] ऋग्वेद १. १२४, ७; ३. ८, ४; १०. ७१, ४, इत्यादि।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६२।

सु-वास्तु, ऋग्वेद[1] में एक नदी का नाम है। यह स्पष्टतः अर्रियन[2] की 'सोस्टोस' और उस *कुभा* की 'स्वात्' नामक सहायक नदी है, जो स्वयं भी सिन्धु नदी में मिल जाती है।

[1] ८. १९, ३७; निरुक्त ४. १५।

[2] इन्डिका, ४. ११।

तु० की० रौथ : ए० नि० ४३; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १८; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३. २००; इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इन्डिया, २३, १८७।

सु-शारद शालङ्कायन, वंश ब्राह्मण[1] में *ऊर्जयन्त् औपमन्यव* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

१. सु-श्रवस्, पञ्चविंश ब्राह्मण (१४, ६, ८) में *उपगु सौश्रवश* के पिता का नाम है।

२. सु-श्रवस्, ऋग्वेद (१. ५३, ९) में सायण के अनुसार एक मनुष्य का नाम है।

३. सु-श्रवस् कौष्य, शतपथ ब्राह्मण (१०. ५, ५, १ और बाद) में *कुश्रि वाजश्रवस* के समकालीन एक गुरु का नाम है।

४. *सु-श्रवस् वार्ष-गण्य* ('वृषगण' का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में *प्रातरह्न कौहल* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

सु-षामन् ऋग्वेद के एक मंत्र[1] में एक मनुष्य का नाम है। सम्भवतः अन्य स्थलों[2] पर यह कुछ विचित्र-से 'वरो सुषामन' नाम का भी एक अंश है। तु० की० *वरु*।

[1] ८. २५, २२; सम्भवतः ६०, १८।
[2] ८. २३, २८; २४, २८; २६, २।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६२।

सु-षोमा, ऋग्वेद[1] में निश्चित रूप से नदी-स्तुति में एक नदी के नाम के रूप में आता है। दो अन्य स्थलों पर यह एक व्यक्तिवाचक नाम प्रतीत होता है, जहाँ एक बार पुलिङ्ग,[2] सम्भवतः जाति के नाम के रूप में आता है, और एक बार स्त्री लिङ्ग[3] है; यद्यपि रौथ[4] ने, इस शब्द में एक सोमपात्र का आशय देखा है। इसका निर्धारण अत्यन्त कठिन है यद्यपि इसे मेगास्थनीज़[5] का 'सोएनोस' (Σοανος), आधुनिक 'सुवन्' माना गया है।

[1] १०. ७५, ५; निरुक्त ९. २६, जहाँ इसे अनुपयुक्त रूप से सिन्धु के साथ समीकृत किया गया है।
[2] ८. ७, २९।
[3] ८. ६४, ११।
[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, २।
[5] देखिये अर्रियन : इन्डिका ४. १२; श्वानवेक : मेगास्थनीज़, ३१, जहाँ 'Σοαμος' के रूप में एक विभेदात्मक पाठ है।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १२६, और बाद; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३९८, ३९९; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२–१४।

सु-सर्तु, ऋग्वेद[1] की नदीस्तुति में एक नदी का नाम है। इसका सिन्धु का सहायक होना तो निश्चित है, किन्तु कौन सी सहायक यह अज्ञात है।

[1] १०. ७५, ६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २००।

सु-हविस् आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ३, २५) में सामनों के एक द्रष्टा का नाम है।

सू-कर (जंगली सूअर) में एक ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द होने का गुण प्रतीत होता है ('सू' की ध्वनि उत्पन्न करनेवाला)। अधिक सम्भवतः यह एक अत्यन्त प्राचीन भारोपीय काल का शब्द है जो उस लैटिन 'su culus' (छोटा सूअर) का सजातीय है जिसके आशय में लोक-व्युत्पत्ति[१] द्वारा परिवर्तन आ गया है। यह ऋग्वेद[२] तथा बाद[३] में आता है। 'मृग'[४] के साथ संयुक्त होकर यह एक बार अथर्ववेद में भी आता है जहाँ वराह के विपरीत इस यौगिक शब्द का अर्थ प्रत्यक्षतः 'जंगली सूअर' है।

[१] 'सू'-, लैटिन 'सू-स्', यूनानी 'υ-ς', और प्राचीन उच्च जर्मन के 'सू' के समान है। तु० की० ब्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस, २[२], ४८३।

[२] ७. ५५, ४।

[३] अथर्ववेद २. २७, २; ५. १४, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २१; वाजसनेयि संहिता २४. ४०; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १०, २, इत्यादि। इनमें से किसी भी स्थल पर मांस खाने का सन्दर्भ नहीं है : बुद्ध की मृत्यु 'सूकर-मद्दव' खाने से हुई थी, जिससे 'सूकर के नरम भागों के पके मांस' का तात्पर्य हो सकता है (देखिये फ्लीट : ज० ए० सो० १९०६, ८८१, नोट), यद्यपि राजनिघण्टु ७. ८५ में 'सूकर' का अर्थ Batatas edulis दिया गया है।

[४] १२. १, ४८। यहाँ 'मृग' का प्रयोग यह व्यक्त नहीं करता कि 'सूकर' एक नवीन नाम है, क्योंकि अन्यत्र यह बाद का शब्द सदैव ही ऋग्वेद तथा बाद में अकेले भी आता है (नोट ३)। तु० की० **मृग**, नोट २।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८२; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, १००।

सूक्त (सु-उच्चरित) बाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में शास्त्र के एक अंग के रूप में सूक्तों का नियमित नाम है। इसमें ऋग्वेद[३] के अनेक स्थलों पर भी सूक्त का ही आशय देखा जा सकता है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ५, ५; ७. १, ५, ४, इत्यादि।

[२] ऐतरेय ब्राह्मण २. ३३; ३. ११, ९. १२-१५; ४. २१, ५; ६. ८, १०; कौषीतकि ब्राह्मण १४. १; १५. ३; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, १, १८; निरुक्त ४. ६; ११. १६।

[३] १. ४२, २०; १७१, १; २. ६, २; ७. २९, ३, इत्यादि।

सूची (सूई) ऋग्वेद[१] और बाद[२] में मिलता है।

[१] २. ३२, ४।

[२] अथर्ववेद ११. १०, ३; वाजसनेयि संहिता २३. ३३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, ६, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ३. १८, ६; शतपथ ब्राह्मण १३. २, १०, २. ३; जैमिनीय ब्राह्मण २. १०, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १०, ३ (ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो०, १६, २२८)।

सूचीक, ऋग्वेद[1] में एक डंक मारनेवाले कीटाणु का नाम है।

[1] १. १९१, ७। तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८।

सूत एक राज-कर्मचारी का नाम है जिसका अक्सर *ग्रामणी* के साथ उल्लेख किया गया है। यह पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के आठ *वीरों* में से एक, तथा अन्य ग्रन्थों[2] के ग्यारह *रत्निनों* में से एक है। यह राजा बनाने वालों (*राजकृत्*) के रूप में अथर्ववेद[3] और यजुर्वेद के शतरुद्रिय[4] में भी आता है। भाष्यकार इसमें राजा के *सारथी* अथवा अश्वपालक का आशय देखने में सहमत हैं, और रौथ,[5] ह्विटने,[6] तथा ब्लूमफील्ड[7] भी इसी आशय को स्वीकार करते हैं। किन्तु यह तथ्य कि अनेक स्थलों पर सूत के साथ-साथ आने वाला *संग्रहीतृ* ही सारथी का द्योतक है, इस मान्यता को असम्भाव्य बना देता है। एग्लिङ्ग[8] का विचार है कि, कम से कम, यह एक चारण और राज-कवि था, जब कि वेबर[9] यह मानते हैं कि इसका नाम इसे एक ऐसे 'प्रतिष्ठित व्यक्ति' का द्योतक बना देता है जो नित्य ही राजा के साथ साक्षात्कार कर सकता था। महाकाव्य में सूत एक राजकीय अग्रदूत और चारण के रूप में आता है :[10] ऐसा हो सकता है कि शतरुद्रिय में इसके लिये व्यवहृत कौतूहलवर्धक शब्द 'अहन्ति',[11] 'अहन्त्य',[12] अथवा 'अहन्त्व',[13]

[1] ९. १, ४ जहाँ यह तालिका में **महिषी** के बाद और ग्रामणी के पहले आता है।

[2] काठक संहिता १५. ४; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५; ४. ३, ८; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, १; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ५।

[3] ३. ५, ७।

[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण ४. ५, २, १; काठक संहिता १७. २; मैत्रायणी संहिता २. ९, ३; वाजसनेयि संहिता १६. १८। इसी प्रकार पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में : वाजसनेयि संहिता ३०. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १। सूत के अन्य संदर्भों के लिये देखिये तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १८, ४; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, ७; १३. ४, २, ५; ७, १, ४३; काठक संहिता २८. ३; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, ३७. ३८।

[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[6] अथर्ववेद का अनुवाद, ६२।

[7] अथर्ववेद के सूक्त, १४४।

[8] से० बु० ई०, ४१, ६२, नोट १।

[9] इन्डिशे स्टूडियन, १७, २००।

[10] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, २५४, २५५।

[11] वाजसनेयि संहिता १६. १८। वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १७, २०० के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'युद्ध न करनेवाला' है।

[12] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, २, १।

[13] काठक संहिता १७. २; मैत्रायणी संहिता २. ९, ३।

एक साथ ही चारण अथवा अग्रदूत के रूप में इसकी पवित्र प्रकृति के द्योतक हों—यहाँ इसके कर्त्तव्यों का यह समन्वय अन्यत्र अज्ञात है ।[१४]

[१४] 'अहन्त्य' और 'अहन्त्व' रूप आशय में 'अहन्य' के ही समान प्रतीत होते हैं ।

सूत-वशा यजुर्वेद[१] में, एक बछड़ा जनने के बाद, बाँझ हो गई गाय का द्योतक है ।

[१] तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ४; ६. १, ३, ६; काठक संहिता ३७. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ४, १, इत्यादि

सूत्र से अथर्ववेद[१] और बाद[२] में 'धागे' का आशय है । बृहदारण्यक उपनिषद्[३] में यह शब्द यज्ञ-कर्त्ताओं इत्यादि का निर्देशन करने के लिये निर्मित 'सूत्र-ग्रन्थ' के आशय में आता है ।

[१] ३. ९, ३; १८. ८, ३७ ।
[२] शतपथ ब्राह्मण ३. २, ४, १४; ७; ३, २, १३; १२. ३, ४, २; ७, २, १०; छान्दोग्य उपनिषद् ६. ८, २; निरुक्त ४. ६ ।
[३] २. ४, १०; ४. १, ६ (माध्यन्दिन=४. १, २ काण्व); ५, ११ । तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, २४, २५; सीग : सा० ऋ० २१ ।

सूद का सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार 'कूप'[१] और 'सूखे हुए तालाब का कीचड़,'[२] अर्थ है । फिर भी, पिशल[३] स्पष्ट रूप से यह दिखाते हैं कि सूद उस पदार्थ, विशेपतः गरम दूध, का द्योतक है जिसे प्रयोग के योग्य बनाने के लिये सोम में मिलाया जाता था, और यही आशय समस्त स्थलों के अनुकूल है । एग्लिङ्ग[४] ने इसका 'कूप', और ग्रासमैन ने 'मीठा पेय', अनुवाद किया है ।

[१] ऋग्वेद ७. ३६, ३; ९. ९७, ४ ।
[२] ऋग्वेद १०. ६१, २; काठक संहिता १६. १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ५; २, १, ३; शतपथ ब्राह्मण ८. ७, ३, २१ ।
[३] वेदिशे स्टूडियन, १, ७२, ७३ ।
[४] से० बु० ई०, ४३, १४४ । तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २११ ।

सूद-दोहस् ऋग्वेद[१] में 'सूद दोहन', अर्थात् पिशल[२] के अनुसार उस

[१] ८. ६९, ३ ।
[२] वेदिशे स्टूडियन, १, ७२ । ऋग्वेद १०. ६४, ९ में 'सूदयितु' को; काठक संहिता २७. २, में 'सूदिन्' को; तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १३, १, और वाजसनेयि संहिता २२. २५, इत्यादि में 'सूद्य' को इसी अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है ।

वस्तु का द्योतक है जिसकी सोम में मिश्रित करने के लिये आवश्यकता पड़ती थी। रौथ[3] के अनुसार इसका अर्थ 'कूप की भाँति दूध प्रदान करनेवाला' है।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

सूना का ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में प्रत्यक्षतः मछली फँसाने के लिये प्रयुक्त 'बिनी हुई टोकरी' ('सीव्' से) अर्थ है।

[1] १. १६१, १०; १६२, १३; १०. ८६, १८।

[2] अथर्ववेद ५. १७, १४। शाङ्खायन श्रौत सूत्र १७. ३, २. ३, में **पलाश** की लकड़ी की पट्टियों का उल्लेख है। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २७१।

सूनु, ऋग्वेद[1] और उसके बाद से 'पुत्र' के लिये साधारण शब्द है। इसका व्युत्पत्तिजन्य आशय 'वह जो वहन किया जाय' और एतदर्थ 'जनित' है।[2] किन्तु ऋग्वेद[3] में 'सूनु' का प्रमुखतः पिता के ही सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है। माता के वाचक शब्दों के साथ केवल दुर्लभ रूप से ही इसका सम्बन्ध है।[4] इस प्रकार, पिता को अपने पुत्र (सूनु) के लिये सुलभ (सुपायन) कहा गया है।[5] किन्तु एक अन्य स्थल[6] पर, जहाँ माता के रूप में यही शब्द पृथिवी में लिये व्यवहृत हुआ है, पुत्र शब्द का प्रयोग किया गया है। निःसन्देह, व्युत्पत्ति से मातृसत्ता-प्रधान परिवार के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। पिता-पुत्र के सम्बन्ध के लिये, देखिये *पितृ*।

[1] ऋग्वेद १. २६, ३; २. ३८, ५; ६. ५२, ९, इत्यादि; अथर्ववेद ६. १, २; ७. २, २; १२. ३, २३, इत्यादि।

[2] डेलब्रुक: डी० व०, ४५३।

[3] सामान्यतया लाक्षणिक आशय में—उदाहरणार्थ 'सहसः', 'अद्रेः' 'सूनुः'।

[4] ५. ४२, २।

[5] ऋग्वेद १. १, ९।

[6] ऋग्वेद १०. १८, ११।

सूरि ऋग्वेद[1] में यज्ञकर्त्ता—बाद के यजमान—का नियमित नाम है। इससे उस व्यक्ति का तात्पर्य है जो यज्ञ-संस्कारादि करने के लिये पुरोहित को पारिश्रमिक देता है और संस्कार-जन्य लाभों का भागी होता है। 'सूरियों'

[1] १. ३१, ७. १२; ४८, २४; ५४, ११; ७३, ५. ८. ९; ३. ३१, १४; ५. ४२, ४; ७९, ६; ६. ४, ८; २३, १०; ७. ३२, १५; ८. ७०, १५; १०. ६१, २२; ११५, ५. ७. ८।

को अक्सर उन *मघवनों*[1] के साथ संयुक्त किया गया है जिनका योद्धाओं के रूप में वर्णन[2] किया गया है, और अपने संरक्षकत्व[3] द्वारा अथवा सखा[4] के रूप में पुरोहितों के साथ सम्बद्ध बताया गया है।

[2] १. ६९, ३; ७३, ९; ११९, ३; १२२, १२; १८०, ९; ७. ३२, १५।
[3] १. ९७, ३. ४; ५. १०, ६; ६. ८, ७; २५, ७; ७. ३, ८; ४४, १८; ८. ६०, ६; १०. ६६, २।
[4] ५. ६४, ५; ७. ३२, २५; ८. ४५, ३६; ९. ९६, ४; १०. ११५, ७।
तु० की० लुटविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २३६।

सूर्मि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, लालटेन के रूप में प्रयुक्त एक प्रकार की 'नली' का द्योतक है। ऋग्वेद[3] के एक स्थल पर इससे जल ले जाने के लिये प्रयुक्त 'पाइप' (नालिका) का अर्थ है। तु० की० *अवत*।

[1] ७. १, ३।
[2] तैत्तिरीय संहिता १. ५, ७, ६; ५. ४, ७, ३; काठक संहिता २१. ९, जहाँ इसका 'कर्णकावती' के रूप में वर्णन किया गया है जिसका रौथ ने 'मुठिया से युक्त' अनुवाद किया है।
[3] ८. ६९, १२। तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ९, २ में **सूर्म्य** का 'पाइप या नालिका में' अर्थ हो सकता है।

सूर्य, वैदिक धर्म और पुराकथा में अत्यन्त महत्व रखता है, जो कि इस प्रायद्वीप के भौतिक जीवन में सूर्य के महत्व के तथ्य के अनुकूल है।[1] ऋग्वेद[2] में सूर्य को सामान्यतया एक उपकारी शक्ति माना गया है, जो ऐसी जाति के लोगों के लिये अस्वाभाविक दृष्टिकोण नहीं है जो प्रत्यक्षतः हिमालय पर्वत के शीतल क्षेत्रों से आये होंगे। फिर भी, सूर्य की ऊष्णता का ऋग्वेद[3] के कुछ स्थलों पर, तथा साथ ही साथ, अथर्ववेद और ब्राह्मण-साहित्य में सन्दर्भ मिलता है।[4]

एक पुराकथा में यह कथन है कि इन्द्र ने सूर्य को पराभूत करके उनकी एक पहिया चुरा लिया था :[5] इससे सम्भवतः झंझावात द्वारा सूर्य के

[1] देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० ३० और बाद।
[2] उदाहरणार्थ, १. ५०, ६; ११५, १. ३; १६४, ११. १३; १९१, ८. ९; ७. ६३, १; १०. ३७, ४; ८५, ९; ८८ ११; १३९, ३, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ७. ३४, १९; ९. १०७, २०।
[4] एही : यम, १३४; मैकडौनेल : उ० पु० पृ० ३१।
[5] १. १७५, ४; ४. ३०, ४; १०. ४३, ५।

आच्छादित हो जाने का सन्दर्भ है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण[7] में सूर्य के भ्रमण-पथ का एक सरल-सा वर्णन किया गया है जिसके अनुसार सूर्य के केवल एक भाग को ही प्रकाशित मानते हुए ऐसा कथन है कि पश्चिम से पुनः पूर्व-दिशा को लौटते समय भी सूर्य उसी पथ का अनुसरण तो करता है किन्तु इस बार वह अपने दूसरे (अप्रकाशित) भाग को पृथ्वी की ओर रखता है जिससे रात्रि में वह आकाश के तारों को प्रकाशित करता है।[8] ऋग्वेद[9] में इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया गया है कि सूर्य गिरता क्यों नहीं।

ऋग्वेद में ग्रहण के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। एक स्थल[10] पर यह कहा गया है कि स्वर्भानु नामक दानव सूर्य को अन्धकार-ग्रस्त कर देता है, जब कि *अत्रि* उसे पुनः प्रकाशित करते हैं; अन्यत्र अत्रि-परिवार के लोगों को भी इसी पराक्रम से युक्त बताया गया है।[11] सूर्य के सम्बन्ध में सर्वप्रथम *राहु* का सन्दर्भ अथर्ववेद[12] में मिलता है। इन्द्र द्वारा सूर्य[6] की पराजय की ग्रहण के आशय में व्याख्या की जा सकती है; कम से कम दो अन्य स्थलों[13] पर ऐसी व्याख्या सम्भाव्य प्रतीत होती है। लुडविग[14] न केवल यही तर्क उपस्थित करते हैं कि ऋग्वेद चन्द्र-प्राच्छादन द्वारा सूर्य-ग्रहण के सिद्धान्त से परिचित है और यह मानता है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है,[15] वरन् ऋग्वेद में उल्लिखित एक सूर्य-ग्रहण को १०२९ ईसा

[6] मैकडौनेल : उ० स्था।

[7] ३. ४४, ४।

[8] मैकडौनेल, पृ० १०, जो ऋग्वेद १. ११५, ५; १०. ३७, ३ की तुलना करते हैं। देखिए स्पेयर : ज० ए० सो०, १९०६, ७२३; थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक, ६।

[9] ऋग्वेद ४. १३, ५।

[10] ऋग्वेद ५. ४०, ५-९। तु० कॉ० मैकडौनेल- पृ० १६०; पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ५, २; ६. १४; कौषीतकि ब्राह्मण २४. ३; तिलक : ओरायन, १५९।

[11] अथर्ववेद १३. २, ४. १२. ३६; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, २१।

[12] अथर्ववेद १९. ९, १०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३५१।

[13] ऋग्वेद ४. २८, २. ३; ५. ३३, ४। १०. २७. २० में, रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०, और त्सिमर : उ० स्था० के अनुसार 'सूरो मर्कः' का अर्थ ग्रहण का 'दानव' है; किन्तु इसका अर्थ सूर्य को 'परिष्कृत करना' भी हो सकता है। अथर्ववेद २. १०, ८ में ग्रहण का स्पष्ट सन्दर्भ है। देखिए लैनमैन : फे० रौ०, १८७-१९०।

[14] प्रोसीडिंग्स ऑफ बोहेमियन एकेडमी ऑफ साइन्सेज़, मई १८८५; ऋग्वेद अनुवाद, ६, x।

[15] देखिए ऋग्वेद ४. २८, २३; ५. ३३, ४; १०. ३७, ३; १३८, ४।

पूर्व के एक ग्रहण के साथ समीकृत भी करते हैं। ह्विट्ने[16] ने इन दृष्टिकोणों का सर्वथा प्रतिवाद किया है।

काल-नियन्ता[17] के रूप में सूर्य ३६० दिनों के उस वर्ष का निर्धारण करता है जो नागरिक तथा वैदिक-साहित्य का सामान्य वर्ष (*संवत्सर*) है। यह सौर-वर्ष दो अर्द्धकों में विभाजित है—उत्तरायण[18], जब कि सूर्य उत्तर की ओर जाता है; और दक्षिणायन[19], जब कि सूर्य दक्षिण की ओर जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह दोनों क्रमशः उन समयों के द्योतक हैं जब सूर्य मकर-संक्रान्ति से उत्तर की ओर और कर्क-संक्रान्ति से दक्षिण की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि कौषीतकि ब्राह्मण[20] में इसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है। एक वैकल्पिक सिद्धान्त के अन्तर्गत इन अवधियों को क्रमशः वह समय माना गया है जब सूर्य उत्तर में, अर्थात् विषुवत रेखा के उत्तर में, अथवा दक्षिण में होता है; यहाँ इन दोनों विन्दुओं को संक्रान्तिक नहीं वरन् सम्पातिक विन्दु माना गया है; किन्तु इस दृष्टिकोण की वैदिक साहित्य द्वारा पुष्टि नहीं होती,और यह इस तथ्य के भी विपरीत है कि

[16] प्रो० सो०, अक्तूबर १८८५, xvii (ज० अ० ओ० सो०; १३, lxi-lxvi); ज० अ० ओ० सो०, १६, lxxxlii, lxxxliii; एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४१, ६५, ६६; थिवो : ऐस्ट्रॉनमी ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक, ६।

[17] ऋग्वेद ५. ८१, १।

[18] उत्तरायण' रूप बाद का है (मनु ६. १०, इत्यादि)। बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १; कौशिक सूत्र lxvii. ४; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. १, १; गोभिल गृह्य सूत्र १.१, ३; आश्वलायन गृह्य सूत्र १. ४, इत्यादि में 'उदगयन' आता है। वेबर : नक्षत्र २, २०१, २१२; ज्योतिष, २०७ और बाद; यास्क : निरुक्त १४. १०।

[19] यह रूप बाद का है (मनु १. ६७, इत्यदि)। शतपथ ब्राह्मण २. १, ३ में दोनों अयनों में से प्रत्येक को तीन तीन ऋतुओं के साथ समीकृत किया गया है—उत्तरायण को वसन्त, ग्रीष्म, और वर्षा के साथ; दक्षिणायन को शरद, हेमन्त और शिशिर के साथ। किन्तु यह एक अनिवार्य अशुद्धि है क्योंकि किसी भी वास्तविक ऋतु का आरम्भ मकर संक्रान्ति से नहीं होता।

[20] १९. ३। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ३; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १८ (माध्यन्दिन = ६. २, १८ काण्व); वेबर : नक्षत्र, २, ३४५ और बाद।

वैदिक ज्योतिष के सिद्धान्तों[21] में सम्पातों का कोई महत्व नहीं है। ऋग्वेद में संक्रान्तियों के केवल संदिग्ध से सन्दर्भ मिलते हैं।[22]

ब्राह्मण[23], और सम्भवतः ऋग्वेद[24] भी, अमावस्या के दिन सूर्य में चन्द्रमा के प्रवेश का सिद्धान्त मानते हैं। हिलेब्रान्ट[25] के अनुसार ऋग्वेद[26] इस बात को मानता है कि चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है, किन्तु यह अत्यन्त संदिग्ध प्रतीत होता है। देखिये *अर्यम्णः पन्था*,[27] नक्षत्र और *सप्त सूर्याः*, भी।

[21] थिबो : इन्डियन ऐन्टीक्वेरी, २४, ९६; ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक, १०; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ४८, ६३१ और बाद; ४९, ४७३ और बाद; न० गो०, १९०९, ५६४, नोट १; काथ : ज० ए० सो०, १९०९, ११०३। दूसरी ओर देखिये, तिलक : ओरायन, २२-३१।

[22] देखिये हिलेब्रान्ट : 'वेदिशे माइथौलोजी, ३, २७९-२८३, जो ऋग्वेद १. ६१, १५; ५. २९. ५; १०. १७१, ४; १७९, २, को उद्धृत करते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी स्थल निर्णायक नहीं हैं। तु० की० थिबो : उ० पु०, ६।

[23] शतपथ ब्राह्मण १, ६, ४, १८; ४. ६, ७, १२; १०. ६, २, ३; ११. १, ६, १९; बृहदारण्यक उपनिषद् १. २, १३; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २८, ८।

[24] ५. ४७, ३; ९. २५, ६; ७१, २; १०. ५५, ५; १३८, ४। तु० की० हिलेब्रान्ट : उ० पु०, १, ४६३-४६६।

[25] वही ३, ४६७, ४६८।

[26] ९. ७१, ९; ७६, ४; ८६, ३२; कदाचित् १. १९०, ३; सामवेद २. ९, २, १२, १; थिबो : उ० पु०, ६, यह विचार व्यक्त करते हैं कि इन स्थलों का अर्थ केवल इतना ही है कि शुक्लपक्ष में चन्द्रमा सूर्य से निकलने वाले प्रकाश से परिपूर्ण रहता है।

[27] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १८८, ने ऋग्वेद १. ११०, २ में क्रान्ति-वृत्त के विषुवत रेखा की ओर झुकाव का, तथा १०. ८६, ४ में पृथ्वी की धुरी का सन्दर्भ देखा है। तु० की० तिलक : ओरायन, १५८, और बाद; औल्डनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, १०२, १०५। यह सभी मत स्पष्टतः सर्वथा त्रुटिपूर्ण हैं। ब्राह्मणों में उपलब्ध सूर्य सम्बन्धी समस्त धारणायें अत्यन्त सरल हैं : पृथ्वी से सूर्य और स्वर्ग की ऊँचाई को 'एक के पीठ पर एक खड़ी एक सहस्र गायों' के बराबर (पञ्चविंश ब्राह्मण १६. ८, ६) अथवा 'अश्व द्वारा ४४ दिनों की यात्रा की दूरी' के बराबर (वही २५. १०, १६), अथवा अश्व द्वारा एक सहस्र दिनों की यात्रा की दूरी', के बराबर (ऐतरेय ब्राह्मण २. १७, ८) अथवा सौ लीग के बराबर (कौषीतकि ब्राह्मण ८. ३) बताया गया है। इनमें ऐसे तथ्यों का भी वर्णन है, जैसे, सूर्य का जलों से उदय तथा जलों में ही अस्त होता है (ऐतरेय ब्राह्मण ४. २०, १३; तु० की० निरुक्त ६. १७; कौषीतकि ब्राह्मण २४. ४. ५; २६. १)। शतपथ ब्राह्मण

सूर्य को वृत्ताकार (७. ४, १, १७), और चतुष्कोणीय (चतुःश्रक्ति : १४. ३, १, १७) इत्यादि कहता है। देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, ३५८ और बाद।

सूर्य-नक्षत्र शतपथ ब्राह्मण[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ सायण इसे ऐसे नक्षत्र का द्योतक मानते हैं जिससे सूर्य के समान ही प्रकाश-किरणें निकलती हैं। किन्तु इसका वास्तविक आशय (जैसा की काण्व शाखा की सहायता से व्यक्त होता है) यह है कि यज्ञकर्त्ता सूर्य को ही अपने नक्षत्र के रूप में ग्रहण कर सकता है—अर्थात् वह अन्य नक्षत्रों की उपेक्षा करके केवल सूर्य पर ही निर्भर रह सकता है।

[1] २. १, २, १९। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, २८८।

सूर्य-चन्द्रमसा अथवा *सूर्य-चन्द्रमसौ* ऋग्वेद[1] और बाद[2] में प्रकाश-पिण्डों के युग्म के रूप में 'सूर्य और चन्द्रमा' का द्योतक है।

[1] १. १०२, २; ५. ५१, १५; १०. १९०, ३।
[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ८, ९; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १२, १।
तु० की० वेबर : नक्षत्र २. २९३; ज्योतिष २८, ५०; इन्डिशे स्टूडियन ९, ११२।

सृक ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर इन्द्र के एक आयुध, सम्भवतः 'तोमर' का द्योतक है।

[1] १. ३२, १२; १०. १८०, २। तु० की० 'सृकायिन्', 'सृका-हस्त', शतरुद्रिय, वाजसनेयि संहिता १६. २१. ६१,

सृगाल, शतपथ ब्राह्मण (१२. ५, २, ५) के पहले तो नहीं मिलता किन्तु महाकाव्य में एक साधारण शब्द है।

सृजय, यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों में से एक का नाम है। यह क्या था इस सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं : वाजसनेयि के सम्बद्ध स्थल पर अपने भाष्य में महीधर ने इसे एक प्रकार का पक्षी कहा है। तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य करते हुये सायण ने 'काली मक्खी' (जहाँ 'सृजया' पढ़ना चाहिये), 'श्वेत सर्प' और 'काले भैंसे' का विकल्प प्रस्तुत किया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १४, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४; वाजसनेयि संहिता २४. २३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।

सृञ्जय एक जाति के लोगों का नाम है जिनका ऋग्वेद तक के समय से उल्लेख मिलता है। सृञ्जय (अर्थात् इस जाति के राजा) *दैववात* की *तुर्वशों* और *वृचीवन्तों* पर विजय की प्रशस्ति,[1] और इसकी यज्ञाग्नि का उल्लेख है।[2] दैववात के सन्दर्भ में ही *साहदेव्य सोमक*[3] का भी उल्लेख है, जो निःसन्देह एक दूसरा राजा था, क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण[4] में हम सोमक सहादेव्य और उसके पिता सहदेव (मूलतः *सुप्लन्*) सार्ञ्जय का ऐसे राजाओं के रूप में उल्लेख पाते हैं जिनका *पर्वत* और *नारद* ने अभिषेक किया था। ऋग्वेद[5] में भी *प्रस्तोक*[6] नामक एक सृञ्जय की दान-स्तुति है जहाँ इसकी *दिवोदास* के साथ प्रशस्ति है। इसके अतिरिक्त *वीतहव्य*[7] भी एक सृञ्जय प्रतीत होता है, यद्यपि त्सिमर[8] इससे व्युत्पन्न *वैतहव्य* शब्द को एक पैतृक नाम नहीं वरन् विशेषण के रूप में ग्रहण करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

सृञ्जयों और *तृत्सुओं* का घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होना सम्भव प्रतीत होता है; दिवोदास और सृञ्जय की एक साथ प्रशस्ति है;[9] और तुर्वशों को इन दोनों का शत्रु बताया गया है।[10] उस शतपथ ब्राह्मण[11] से भी यही दृष्टिकोण व्यक्त होता है जो *देवभाग श्रौतर्ष* को *कुरुओं* और सृञ्जयों के पुरोहित के रूप में मान्यता प्रदान करता है।

दूसरी ओर यह निश्चित है कि सृञ्जयों, अथवा कम से कम वैतहव्यों पर, किसी प्रकार की विपत्ति आ पड़ी थी क्योंकि अथर्ववेद[12] में ऐसा कथन है कि इन लोगों ने *भृगुओं* को रुष्ट किया था जिसके परिणाम-स्वरूप इनकी कष्टपूर्ण समाप्ति हो गई थी। यह सत्य है कि इस उल्लेख की कोई ठीक-ठीक

[1] ऋग्वेद ६. २७, ७।
[2] ऋग्वेद ४. १५, ४।
[3] ऋग्वेद ४. १५, ७।
[4] ७. ३४, ९।
[5] ऋग्वेद ६. ४७, २२. २५।
[6] तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ११, ११।
[7] औल्डेनबर्ग त्सी० गे०, ४२, २१२; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५।
[8] आल्टिन्डिशे लेबेन, १३२ ('वैतहव्य' पर)।
[9] तु० की० भरद्वाजों और दिवोदास का सम्बन्ध (ऋग्वेद ६. १६, ५; ३१, ४; हिलेब्रान्ट: उ० पु०, १, १०४) और सृञ्जयों के साथ इनका सम्बन्ध भी (ऋग्वेद ६. १५, २. ३ में 'वीतहव्य' और देखिये ६. २७, ७, जो दोनों ही स्थल भरद्वाज-परिवार से से सम्बन्धित माने जा सकते हैं।
[10] देखिये एक ओर ऋग्वेद ७. १८ (तुर्वश और तृत्सु) और दूसरी ओर ६. २७, ७।
[11] २. ४, ४, ५।
[12] ५. १९, १। तु० की० ५. १८, १०. ११।

पुष्टि नहीं मिलती। फिर भी, यद्यपि काठक संहिता[13] और तैत्तिरीय संहिता[14] दोनों के ही स्वतंत्र स्थलों पर यह कथन है कि सृञ्जयों की कोई गम्भीर क्षति हुई थी, तथापि इन दोनों ही दशाओं में इस घटना का उल्लेख उसी प्रकार एक सांस्कारिक त्रुटि से युक्त है जिस प्रकार ओल्ड टेस्टामेन्ट में भी राजाओं का भाग्य 'जाह्वे' के प्रति भक्ति अथवा अवज्ञा पर निर्भर है। इस कथा में किसी न किसी प्रकार की विपत्ति का चिह्न देखना उपयुक्त प्रतीत होता है। सृञ्जयों की भौगोलिक स्थिति अनिश्चित है। हिलेब्रान्ट[15] के विचार से प्राचीन समय में इन्हें दिवोदास के साथ-साथ सिन्धु के पश्चिम में स्थित मानना चाहिये। यद्यपि निश्चित रूप से ग्रहण न करते हुये भी आप ब्रुनहॉफर के इस मत का उल्लेख करते हैं कि सृञ्जयों की यूनानी 'सेरांगै' (Σαραγγαι)[16] के साथ तुलना और इन्हें ड्रैन्जियाना में स्थित करना चाहिये। त्सिमर[17] इन्हें सिन्धु घाटी के ऊपरी भाग में स्थित करना चाहते हैं; किन्तु इनके किसी भी स्थान के सम्बन्ध में निश्चित निर्णय कठिन है। यह लोग सिन्धु के भी और पूर्व में स्थित रहे हो सकते हैं, क्योंकि इनके मित्र, तृत्सु-गण, *मध्यदेश* में स्थित और निश्चित रूप से कुरुओं में विलीन हो गये थे।

इस जाति के इतिहास के सम्बन्ध में हमें एक उल्लेख मिलता है।[18] इन लोगों ने अपने एक राजा, *दुष्टरीतु पौंसायन* को, दस पीढ़ियों से चली आ रही वंशानुगत राजसत्ता से वहिष्कृत कर दिया था और सम्भवतः उसके *रेवोत्तरस् पाटव चाक्र स्थपति* नामक उस मंत्री को भी निकाल दिया था जो अन्ततोगत्वा कुरु राजा *वल्हिक प्रातीप्य* के विरोध के विपरीत भी अपने राजा को पुनः प्रतिष्ठित कराने में सफल हो गया। सम्भवतः यही कुरु राजा उस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में भी रहा होगा जिसने उक्त राजा और उसके

[13] १२. ३।

[14] ६. ६, २, २. ३।

[15] उ० पु०, १, १०६।

[16] हिरोडटस ने Σαραγγαι और Σαραγγees, तथा स्ट्राबो और अर्रियन ने Δραγγαι रूप माना है। अवेस्ता 'Zrayanh' और प्राचीन फारसी में 'दरय' है। यदि यह शब्द समानान्तर हैं तो भारतीय 'स' कुछ कौतूहलवर्धक ही है (फिर भी, देखिये ब्लूमफील्ड : अ० फा० २५, ११; औल्डेनवर्ग : ज० ए० सो० १९०९, १०९८)।

[17] आल्टिन्डिशे लेवेन, १३२, १३३; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २३२। यह ऋग्वेद १. १०० पर आधारित एक अनुमान है जहाँ 'सहदेव' भी आता और सिन्धु का भी उल्लेख है।

[18] शतपथ ब्राह्मण, १२. ९, ३, १ और बाद।

मंत्री को निष्कासित कराया था। किन्तु राजा के पुनर्प्रतिष्ठापन से, ब्लूमफील्ड के मतानुसार,[११] सृञ्जयों की पराजय का आशय कदाचित ही माना जा सकता है।

[११] अथर्ववेद के सूक्त, ४३३। इसी प्रकार त्सिमर : उ० पु०, १३२ भी।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २०८; ३, ४७२; १८, २३७; ए० रि०, ३१; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५३; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०५।

सृणी, निश्चित रूप से ऋग्वेद के एक[१], तथा सम्भवतः दो अन्य[२] स्थलों पर मिलता है। इससे 'हँसिये' का आशय प्रतीत होता है। एक अन्य स्थल पर 'सृण्य' को 'जेता' के साथ संयुक्त किया गया है :[३] यहाँ आशय संदिग्ध है, जिसके सम्बन्ध में रौथ[४] ने 'चेता' का अनुमान किया है और औल्डेनबर्ग[५] ने ऐसा संकेत किया है कि 'छेत्ता' भी सम्भव है। हॉपकिन्स[६] का विचार है कि यहाँ किसी 'अँकुसी' का तात्पर्य है।

[१] १. ५८, ४, जहाँ गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, ११६, नोट १, और पिशल : वही २, १११, के अनुसार 'सृण्या' वास्तव में 'सृण्याभिः' के लिये प्रयुक्त हुआ है, और एक विशेषण के रूप में 'जुहूभिः' के दृष्टान्त के अनुसार इसका 'हँसिया के आकार का यज्ञीय पात्र' अर्थ है।

[२] १०. १०१, ३ (निरुक्त ५. २८); १०६, ६ (वही १३. ५)। शतपथ ब्राह्मण ७. २, २, ५ में यह निश्चित है।

[३] ४. २०, ५।

[४] त्सी० गे० ४८, १११।

[५] ऋग्वेद-नोटेन, १, २८४।

[६] ज० अ० ओ० सो०, १७, ८६, नोट।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३८; औल्डेनबर्ग : उ० पु०, १, ५८।

सृण्य—देखिये *सृणी*।

सृबिन्द, ऋग्वेद[१] में इन्द्र[२] के एक शत्रु का नाम है। यह शब्द किसी वास्तविक शत्रु का द्योतक हो सकता है, क्योंकि इसमें किसी आर्य-व्युत्पत्ति का प्रत्यक्ष चिह्न नहीं है।

[१] ८. ३२, २।

[२] तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६२।

सृमर, यजुर्वेद संहिताओं[१] में अश्वमेध के किसी अज्ञात पशु का नाम है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १६, १ (सायण के अनुसार = 'चमर'); मैत्रायणी संहिता ३. १४, २०; वाजसनेयि संहिता २४. ३९ (जहाँ महीधर ने इसे गवय के साथ समीकृत किया है।

सेतु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में जलप्लावित भूमि को[3] पार करने के लिये उसके तट पर बने उस प्रकार के ऊँचे पथों का द्योतक है जो सामान्य रूप से संसार भर में मिलते हैं। यह आशय इसके बाद के अर्थ, 'सीमा', की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या कर देता है। वैदिक साहित्य में यह शब्द सम्भवतः सदैव लाक्षणिक है।

[1] ९. ४१, २।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. २, २, १; ६. १, ४, ९; ५, ३, ३; ७. ५, ८, ५; काठक संहिता २८. ४; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३५; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, २, ६; शतपथ ब्राह्मण १३. २. १०, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ४, २४; छान्दोग्य उपनिषद् ८. ४, १. २, इत्यादि।
[3] मैक्स मूलर से० बु० ई० १, १३०, नोट २।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २५७।

सेना प्रथमतः 'क्षेप्यास्त्र' का द्योतक है जो आशय, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में मिलता है, और उसके बाद 'आक्रामक' अथवा 'सेना का, जो इसका सामान्य अर्थ[3] है। देखिये *संग्राम*।

[1] ऋग्वेद १. ६६, ७; ११६, १ ('सोम-जू', अर्थात् 'वाण के समान तीव्र-गामी'); १४३, ५; १८६, ९; २. ३३, ११; ५. ३०, ९; ७. ३, ४; ८. ७५, ७; १०. २३, १।
[2] ८. ८, ७; ११. १०, ४।
[3] ऋग्वेद १. ३३, ६; ७. २५, १; ९. ९६, १; १०. १०३, १. ४. ७; १४२, ४; १५६, २; अथर्ववेद ३. १, १; १९. ६; ४. १९, २; ५. २१, ९, इत्यादि।
तु० की० फान ब्राड्के : त्सी० गे० ४६, ४५६; ब्लूमफील्ड वही, ४८, ५४९, ५५०; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २३१, नोट २, इस बात को स्वीकार नहीं करते कि सेना का कभी भी 'क्षेप्यास्त्र' अर्थ था, और exercitus effusus, agmen effusum की तुलना करते हैं।

सेना-नी (सेनानायक), राजकीय 'सेनानायक' की उपाधि है। इसका ऋग्वेद[1] में उल्लेख है और वहीं यह शब्द लाक्षणिक आशय में भी[2] प्रयुक्त हुआ है। इसका शतरुद्रिय,[3] तथा यजुर्वेद संहिताओं में अन्यत्र, और ब्राह्मणों[4]

[1] ७. २०, ५; ९. ९६, १; १०. ८४, २।
[2] १०. ३४, १२ (अक्ष-सूक्त)।
[3] वाजसनेयि संहिता १६. १७; काठक संहिता १७. ११; मैत्रायणी संहिता २. ९, ४; तैत्तिरीय संहिता ४. ५, २, १।
[4] वाजसनेयि संहिता १५. १५; काठक संहिता १७. ९; मैत्रायणी संहिता २. ८, १०; शतपथ ब्राह्मण ८. ६. १, २१।

में भी उल्लेख है। यह राजा के *रत्नियों* में से एक है।[5] सम्भवतः युद्ध-काल में, जब राजा का महत्व इतना बढ़ जाता था कि वह छोटे-मोटे युद्धों का व्यक्तिगत संचालन नहीं कर सकता था, तब वह युद्ध-संचालन के लिये सेनानी की नियुक्ति कर देता था। इसकी नियुक्ति सामान्य व्यक्तियों द्वारा नहीं होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण[6] में इसे 'सेना-पति' कहा गया है।

[5] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ४; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५; ४. ३, ८; काठक संहिता १५. ४; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, १।
[6] ८. २३, १०।

सेलग, ब्राह्मणों[1] में 'डाकू' का द्योतक प्रतीत होता है। देखिये *सैलग*।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १, ५; ८. ११, ८; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, १०।

सेहु, अथर्ववेद[1] की तुलना में आता है जहाँ इसे एक अत्यन्त 'अरस' पदार्थ का द्योतक होना चाहिये।

[1] ७. ७६, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५४; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४४१।

सैतव ('सेतु' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों में एक गुरु का नाम है। इसे *पाराशर्य* अथवा *पाराशर्यायण* का शिष्य कहा गया है।[2]

[1] २. ५, २२; ४. ५, २७ माध्यन्दिन; २. ६, २ काण्व।
[2] ४. ६, २ काण्व।

सैन्धव (सिन्धु से आने वाला) एक ऐसा शब्द है जो तैत्तिरीय संहिता[1] में जल के लिये, अथर्ववेद[2] में *गुग्गुल* के लिये, शतपथ ब्राह्मण[3] में अश्व के लिये, और बृहदाण्यक उपनिषद्[4] में नमक के लिये व्यवहृत हुआ है।

[1] ७. ४, १३, १।
[2] १९. ३८, २।
[3] ११. ५, ५, १२; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २, १३ (माध्यन्दिन = ६. १, १३ काण्व)।
[4] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, १२ (°खिल्य); ४. ५, १३ (°घन)।

सैर्य, ऋग्वेद[1] में कीटाणुओं से भरी एक प्रकार की घास का द्योतक है।

[1] १. १९१, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७२।

सैलग, वाजसनेयि संहिता[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से एक के नाम के रूप में मिलता है। *सेलग* की भाँति इस शब्द से भी डाकू का आशय है।

[1] ३०. १८।
[2] ३. ४, १६, १; शाङ्खायन आरण्यक १२. २३ (शैलग के रूप में भी)।

तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ३६७, नोट ४।

सोभरि एक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में अक्सर उल्लेख है। इसके परिवार,[2] और 'सोभरी'[3] नामक एक पिता का भी उल्लेख है।

[1] ८. ५ २६; १९, २; २०, १९; २२, २।
[2] ऋग्वेद ८. १९, ३२; २०, ८।
[3] ऋग्वेद ८. २२, १५। तु० की० ८. १०३, १४; अथर्ववेद १८. ३, १५।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०५; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१७।

सोम उस प्रसिद्ध पौधे का नाम है जिसका वैदिक यज्ञों के समय समर्पित सोम-हवि का निर्माण करने के लिये प्रयोग होता था। बहुत अंशों तक इसका महत्त्व इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि ऋग्वेद का समस्त नवम मण्डल और अन्य मण्डलों के छः सूक्त इसकी प्रशस्ति में समर्पित हैं।

फिर भी, वास्तव में इस पौधे के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। इसकी टहनियों को 'बभ्रु'[1] (भूरा), 'अरुण'[2] (लाल), अथवा 'हरि'[3] (हरा) कहा गया है। यदि *नैचाशाख*[4] उपाधि का इस पौधे से सम्बन्ध है, जैसा कि हिलेब्रान्ट[5] का विचार है, तो सम्भवतः इसकी टहनियाँ नीचे की ओर

[1] यह शब्द वास्तव में स्वयं पौधे के लिये व्यवहृत नहीं मिलता; किन्तु पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ५, ३ में **पूतीक** न प्राप्त होने की दशा में सोम के स्थानापन्न के रूप में 'अर्जुनानि' को मान्यता दी गई है।
[2] ऋग्वेद ७. ९८, १; १०, ९४, ३; १४४, ५। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १०, १ और बाद।
[3] ऋग्वेद ९. ९२, १। सोम-गाय को, जिससे सोम का क्रय किया जाता था, 'बभ्रु' अथवा 'अरुणा' कहा गया है, शतपथ ब्राह्मण ३. ३, १, १५; मैत्रायणी संहिता ३. ७, ५, इत्यादि।
[4] ऋग्वेद ३. ५३, १४। तु० की० **नैचाशाख**।
[5] वेदिशे माइथौलोजी, १, १४–१८; २, २४१–२४५।

लटकती रही होंगी। इसके अंकुर को अंशु,[6] जब कि समस्त पौधे को 'अन्धस्'[7] कहा गया है जो कि इसके रस का भी द्योतक है।[8] 'पर्वन्'[9] इसका तना है। इसके अंकुर की उपाधि के रूप में 'त्विप्'[10] (उँगली) का प्रयोग किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि अंकुर का आकार उँगली जैसा ही रहा होगा। 'वक्षणा'[11] और 'वाण'[12] से भी अंकुर का ही आशय प्रतीत होता है। इस बात का थोड़ा प्रमाण उपलब्ध है कि इसका तना गोल नहीं वरन् कोणवत् होता था।[13] यह पौधा पर्वतों पर उगता था,[14] और मूजवन्त् के पौधों की विशेष ख्याति थी।

उक्त वर्णन इस पौधे की प्रकृति के निर्धारण के लिये अपर्याप्त हैं। इसे Sarcostemma viminale अथवा Asclepias acida (=Sarcostemma brevistigma) माना[15] गया है। रौथ[16] के विचार से Sarcostemma acidum इसकी प्रकृति के अधिक निकट है। वाट[17] ने अफगान अंगूर को ही वास्तविक सोम माना है; और राइस[18] के विचार से गन्ने का तात्पर्य हो सकता है, जब कि मैक्स मूलर और राजेन्द्रलाल मित्रा ने यह मत व्यक्त किया है कि इसका रस एक प्रकार की 'यवसुरा' के एक तत्व के रूप में

[6] ऋग्वेद १, १६८, ३; ३. ४८, २, इत्यादि।

[7] ऋग्वेद १. २८, ७; ३. ४८, १; ४. १६, १, इत्यादि।

[8] २. १४, १; १९, १; ३५, १, इत्यादि।

[9] ऋग्वेद १. ९, १। तु० की० 'परुस्', तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, १३; वैतान सूत्र २४।

[10] ऋग्वेद ९. ७९, ४। तु० की०, फिर भी, पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १,७०।

[11] ऋग्वेद ८. १, १७।

[12] ऋग्वेद ४. २४, ९; ९. ५०, १। किन्तु यह दोनों स्थल अत्यन्त संदिग्ध हैं। तु० की० वाण। दबाने के बाद बचे हुये पदार्थ को 'अन्धस्' (९. ८६, ४४), 'वत्रि' (९. ६९, ९), 'त्वच्' (९. ८६, ४४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, १३, १), 'शरीर' (वही, २,) 'शर्य' (९. ६८, २), 'तान्व' (९. ७८, १), कहा गया है।

[13] तु० की० ऋग्वेद ४.२०,४ में 'पृष्ठ्य'; हिलेब्रान्ट १, ५४, ५५।

[14] ऋग्वेद १. ९३, ६; ३. ४८, २; ५. ३६, २; ४३, ४; ८५, २; ९. १८, १; ४६, १; ७१, ४; ८२, ३; अथर्ववेद ३. २१, १०। इसी प्रकार अवेस्ता, यस्न १०. ४, इत्यादि।

[15] लासन : इ० आ०. १[2], ९३१; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २६१ और बाद। तु० की० हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण २, ४८९; मैक्समूलर : त्सी० गे०, ९, liv।

[16] त्सी० गे० ३५, ६८० और बाद। तु० की० ३८, १३४ और बाद भी।

[17] देखिये हिलेब्रान्ट, १, ७ और बाद।

[18] वही, १०।

प्रयुक्त होता था—अर्थात् सोम-पौधा 'होप' (Humulus lupulus) का ही एक प्रकार होता था। हिलेब्रान्ट[19] का विचार है कि 'होप' अथवा अंगूर में से कोई भी सोम-सम्बन्धी सन्दर्भों की व्याख्या नहीं कर सकता। बहुत सम्भव यह है कि इस पौधे की अब पहचान ही नहीं की जा सकती।[20]

यजुर्वेद[21] के अनुसार दबाने के पूर्व इस पौधे को क्रय किया जाता था। हिलेब्रान्ट[22] का विचार है कि इसके विक्रय के तथ्य को ऋग्वेद में भी देखा जा सकता है। यह पर्वतों पर उगता और साधारण व्यक्तियों के लिये सुलभ नहीं था : सम्भवतः, *कीकटों*[23] की भाँति ही किसी जाति अथवा राजा का इस पर आधिपत्य था। स्थिति जैसी है उसके अनुसार सांस्कारिक कृत्य के अन्तर्गत गन्धर्वों (शूद्र जिसका प्रतिनिधित्व करता था) से सोम का अर्जन किया जाता था : यह उस कृत्य का सांस्कारिक अनुकरण है जो नाटक के स्रोतों में से एक रहा होगा। अत्यन्त दूरस्थ प्रदेश से वास्तविक पौधों की प्राप्ति में कठिनता के कारण, ब्राह्मण काल में इसके अनेक स्थानापन्नों की स्वीकृति दी गई है।[24]

इस पौधे को व्यवहारार्थ पहले पत्थरों से अथवा उलूखल में रखकर कूटा जाता था। प्रथम पद्धतिं ही समान्य विधि थी जिसका ऋग्वेद में उल्लेख है।

---

[19] वही, १२। इस पौधे की प्रकृति से सम्बन्धित मैक्स मूलर, रौथ, वेकर, थिसिल्टन डायर, चार्ल्स लेलैन्ड, और हूटम-शिन्डलर, के बीच विवाद को मैक्स मूलर : बायोग्राफीज़ ऑफ वर्ड्स, २२२ और बाद, में पुनर्मुद्रित किया गया है जिसकी हिलेब्रान्ट ने समालोचना भी की है। देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६, xxiv और बाद भी, जिनका विचार है कि परम्परागत निर्धारण बहुत त्रुटिपूर्ण नहीं है। कैलेण्ड : आल्टिन्टिशे त्सावररिचुअल, १८८, इसे Sarcostemma acidum मानते हैं।

[20] मूल सोम-पौधा निश्चित रूप से अवेस्ता के 'हओम' के समान था। उस पौधे के लिये, जिससे केरमान और येज़्द के पारसी 'हूम'-रस निकालते थे और जिसे वह अवेस्ता के 'हओम' के साथ समीकृत करते हैं, देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६ xxiv और बाद।

[21] शतपथ ब्राह्मण ३. ३, १, १ और बाद; हिलेब्रान्ट, १, ८९ और बाद।

[22] वही, ७०।

[23] ऋग्वेद ३. ५३, १४।

[24] देखिये शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १०, १–६, और तु० की० एग्लिङ्ग। से० बु० ई० २६, xxvii; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ५, ३।

पत्थरों को 'ग्रावन'[२५] अथवा 'अद्रि'[२६] कहा जाता था।[२७] पौधे को ऐसे पटरों पर रक्खा जाता था जो एक के बगल में दूसरे रक्खे होते थे (*अधिषवन*) और, कम से कम बाद के संस्कार[२८] के अनुसार, उनके नीचे एक गड्ढा खोद दिया जाता था जिससे पत्थरों से पौधों को कूटने के परिणाम-स्वरूप तीव्र ध्वनि उत्पन्न होती थी, जिसे निःसन्देह, राक्षसी प्रभावों का निवारक माना जाता था।

पौधे को एक चर्म और वेदि[२९] पर रक्खा जाता था—कुछ स्थलों पर *धिपणा* वेदि का द्योतक है।[३०] बाद के समय के संस्कारों में ऐसा नहीं किया जाता था।

कभी-कभी पत्थरों के स्थान पर मूसल और उलूखल का व्यवहार होता था।[३१] यह पद्धति यद्यपि ईरानियन थी, तथापि प्रत्यक्षतः वैदिक काल में बहुत प्रचलित नहीं थी।

देवों को समर्पित करने के लिये प्रयुक्त पात्र का चमू,[३२] और पुरोहितों द्वारा सोम-पान के लिये प्रयुक्त पात्रों का *कलस* और *चमस* नाम था। कभी-कभी[३३] चमू, मूसल और उलूखल का द्योतक है: सम्भवतः उलूखल के आकार का होने के कारण ही इसे ऐसा कहा गया है।

जिस चर्म पर टहनियों को रक्खा जाता था उसे *त्वच्*[३४], अथवा दो बार

[२५] १. ८३, ६; १३५, ७, इत्यादि।

[२६] १. १३०, २; १३५, ५; १३७, १, इत्यादि। अधिक वैयक्तिक धारणा से युक्त और इसलिये 'वद्' के साथ आनेवाले 'ग्रावन्' की अपेक्षा 'सु' क्रिया के साथ 'अद्रि' का अधिक प्रयोग मिलता है; हिलेब्रान्ट १, १५३, नोट १।

[२७] ऋग्वेद ५. ४५, ७; ९. ११, ५; १०. ७६, २, इत्यादि।

[२८] कात्यायन श्रौतसूत्र ४. ४, २८; ऋग्वेद १०. ९४, ५ में 'आखर' का इसका वाचक होना अनिश्चित है।

[२९] ऋग्वेद ५. ३१, १२।

[३०] ऋग्वेद १. १०९, ३; ३. २, १; ६. ११, ३, इत्यादि।

[३१] ऋग्वेद १. २८। मूसल 'मन्था' है और उलूखल 'उलूखल'; १०. १०१, ११, में 'वनस्पति' और 'वन' का क्रमशः यही आशय हो सकता है।

[३२] दबाने के पटरे नहीं, जो ऋग्वेद में अज्ञात हैं। तु० की० ऋग्वेद ९. ९९, ८; १०. ९१, १५, इत्यादि।

[३३] ऋग्वेद १. २८, ९; ४. १८, ३; ६. ५७, २, इत्यादि; हिलेब्रान्ट १, १७०, १७३।

[३४] ९. ६५, २५; ६६, २९; ७०, ७; ७९, ४, इत्यादि।

'गो' (गो-चर्म)[35] कहा गया है। कोश,[36] सधस्थ,[37] द्रु,[38] वन,[39] द्रोण,[40] यह सभी सोम-पात्रों में विभिन्न नाम हैं, जब कि स्रुव[41] स्रुवा का द्योतक है।

प्रत्यक्षतः अधिक रस प्राप्त करने के लिये पौधे को कभी-कभी जल में भिगा दिया जाता था।[42]

ऋग्वेद में सोम-पौधे को दबाने के लिये व्यवहृत विधि के विवरण का ठीक-ठीक वर्णन सम्भव नहीं। परिष्कार करने के लिये इसे निश्चित रूप से चलनी[43] पर रख कर दबाया जाता था (पवित्र)। इसके पश्चात् इन्द्र और वायु के लिये अमिश्रित ('शुक्र',[44] 'शुचि'[45]) सोम प्रयुक्त होता था, किन्तु

[35] ऋग्वेद १०. ९४, ९; ११६, ४।

[36] ऋग्वेद ७. १०१, ४; ८. २०, ८, इत्यादि। यह उस बड़े पात्र का द्योतक है जिसमें से सोम को कलशों में उँडेला जाता था।

[37] ऋग्वेद ३. ६२, १५; ९. १, २; १७, ८, इत्यादि।

[38] ऋग्वेद ९. १, २; ६५, ६; ९८, २; १०. १०१, १०, में 'द्रु'=मूसल।

[39] ऋग्वेद २. १४, ९; ९. ६६, ९, इत्यादि। इस शब्द से उन दोनों पात्रों का तात्पर्य हो सकता है जिनमें बनाने के पश्चात सोम उँडेला और जिनसे ही उसे देवों को समर्पित किया जाता था।

[40] ऋग्वेद ९. १५, ७; ३३, २, इत्यादि। बिना किसी निश्चित आशयवाला यह शब्द किसी भी पात्र का द्योतक हो सकता है। दूसरी ओर 'चमू' देवों का प्याला था और 'कलश' पुरोहितों का (बाद में जब पुरोहितों के प्याले के रूप में 'चमस' ने 'कलश' का स्थान ले लिया तो इसका='कोश' के रूप में भी व्यवहार होने लगा; हिलेब्रान्ट १, १८७)।

[41] ऋग्वेद १. ११६, २४। तु० की० अमत्र और खारी भी।

[42] इस पद्धति का पारिभाषिक नाम 'आप्यायन' है। तु० की० ऋग्वेद ९. ७४, ९; मैत्रायणी संहिता ४. ५, ५। इस पद्धति की ठीक-ठीक प्रकृति अथवा सीमा सर्वथा अनिश्चित है; हिलेब्रान्ट १, १९३–१९५; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, xxvi।

[43] अंकुरों को हाथ में लेकर परिष्कृत करने की बाद की पद्धति ऋग्वेद को भी ज्ञात थी या नहीं यह अनिश्चित है, क्योंकि २. १४, ८; ९. ७१, ३, सर्वथा अनिर्णायक हैं। चलनी को व्यक्त करने वाले विभिन्न शब्दों के लिये देखिये **पवित्र**।

[44] ऋग्वेद १. १३७, १; ३. ३२, २; ८. २, १०, इत्यादि।

[45] ऋग्वेद १. ५, ५; ३०, २; ८. २, ९, इत्यादि।

ऐसा प्रतीत होता है कि कण्वों ने इस प्रचलन को छोड़ दिया था।[४६] इसके रस को बभ्रु,[४७] हरि[४८], अथवा अरुण,[४९] और कम से कम नियमित[५०] रूप से सुगन्धित[५१] कहा गया है।

सोम को दूध के साथ (*गवाशिर्*),[५२] दधि के साथ (*दध्याशिर्*)[५३] अथवा अन्न के साथ (*यवाशिर्*)[५४] मिश्रित किया जाता था। इन मिश्रणों को विभिन्न लाक्षणिक नामों से व्यक्त किया गया है, जैसे *अत्क*,[५५] *वस्त्र*[५६] अथवा *वासस्*,[५७] *अभिश्री*,[५८] रूप,[५९] श्री,[६०] रस,[६१] प्रयस्,[६२] और सम्भवतः नभस्[६३]। इस प्रकार मिश्रित होने पर सोम के तीव्र आस्वाद को 'तीव्र'[६४]

[४६] तु० की० ऋग्वेद ८. २, ५. ९. १०. २८, इत्यादि। मैत्रायणी संहिता ४. ७, ४ अमिश्रित सोम को अमान्य करता है। सम्भवतः हिलेब्रान्ट १, २०७, २०८, यह मानते हुये ठीक हो सकते हैं कि काण्वों को मिश्रणों पर इसलिये विशेष जोर देना पड़ता था कि वह एक ऐसे पौधों का प्रयोग करते थे जो वास्तविक सोम की प्रकृति में क्षीण था।

[४७] ऋग्वेद ९. ३३, २; ६३, ४. ६।

[४८] ऋग्वेद ९. ३, ९; ७, ६; ६५, ८. १२. २५, इत्यादि।

[४९] ऋग्वेद ९. ४०, २; ४५, ३; 'अरुष' ९. ६१, २१; 'शोण', ९. ९७, १३।

[५०] शतपथ ब्राह्मण ४. १, ३, ६। एक चिकित्सा-ग्रन्थ के बाद के इस वर्णन की पुष्टि के लिये कि यह पौधा दुर्गन्ध-पूर्ण होता था, एग्लिङ्ग उ० पु०, २६, xxv, इसी स्थल पर आधारित हैं। किन्तु यह पौधा वैदिक-काल के पौधे से भिन्न रहा हो सकता है। दुर्गन्ध का कारण या तो किसी स्थानापन्न पौधे का प्रयोग हो सकता है, अथवा दूर से आने के कारण वास्तविक पौधे का ही पुराना होना या सड़ जाना।

[५१] ९. ९७, १९; १०७, २।

[५२] हिलेब्रान्ट, १, २१९–२२२।

[५३] वही २२१।

[५४] वही २२२ और बाद।

[५५] ऋग्वेद ९. ६९, ४।

[५६] ९. ८, ६।

[५७] ९. ६९, ५।

[५८] ९. ७९, ५; ८६, २७।

[५९] अथर्ववेद ९. २५, ४।

[६०] ऋग्वेद ४. ४१, ८; ९. १६, ६।

[६१] ऋग्वेद ३. ४८, १; ६. ४७, १; ९. ९७, १४। सूद भी देखिये।

[६२] ऋग्वेद ३. ३०, १; ९. ४६, ३; ६६, २३।

[६३] ऋग्वेद ९. ८३, ५; ९७, २१, इत्यादि।

[६४] ऋग्वेद १. २३, १; २. ४१, १४; ५. ३७, ४; ६. ४७, १, इत्यादि।

विशेषण द्वारा व्यक्त किया गया है। रस निकाल लेने पर सोम की टहनियों को 'ऋजीष'[६५] कहा गया है।

ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि कुछ दशाओं में सोम के साथ मधु भी मिश्रित किया जाता था: सम्भवतः मिश्रण के लिये 'कोश मधु-श्चुत्' का प्रयोग किया जाता था।[६६] सुरा का भी इस प्रकार मिश्रित किया जाना संदिग्ध प्रतीत होता है।[६७]

अवेस्ता के दो बार की अपेक्षा यहाँ सोम को एक दिन में तीन बार दबाया जाता था:[६८] संध्याकालीन दबाने के कृत्य को विशेषतः ऋभुओं के साथ, मध्याह्न के कृत्य को इन्द्र के साथ, और प्रातःकाल के कृत्य को अग्नि के साथ सम्बद्ध किया गया है; किन्तु संस्कारों द्वारा ऐसा प्रकट होता है कि इनमें अनेक देवों का भाग भी होता था।[६९] संहिताओं में सोमपान करने तथा न करने वालों के बीच तीव्र विभेद किया गया है।[७०] जिन स्थानों पर सोम की

६५ मैत्रायणी संहिता ४. ८, ५; अथर्ववेद ९. ६, १६, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १९. ७२; निरुक्त ५. १२, इत्यादि में उद्धरण। विशेषण के रूप में ऋजीष ऋग्वेद १. ३२, ६ में आता है और हिलेब्रान्ट, १, २३६, २३७, के अनुसार ऋग्वेद में ऋजीषिन् का अर्थ 'वह जिसके आधिपत्य में सोम के अंकुर हों', है। 'सोम तिरोअह्न्य' से 'परसों दबाये गये सोम' का तात्पर्य है।

६६ ऋग्वेद ९. १०३, ३। तु० की० ९. १७, ८; ९. ८६, ४८; ९७, ११; १०९, २०।

६७ देखिये **सुराम**। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. १२, ५; वाजसनेयि संहिता २१. ४२, और 'सुरा सोमा', वहीं २१, ६०।

६८ यस्न, १०. २।

६९ हिलेब्रान्ट, १, २५७ और बाद।

७० ऋग्वेद १. ११०, ७; २. ३०, ७; ५. ३४, ३. ५; ४. १७, १७; २५, ६. ७; ५. ३७, ३; ६. ४१, ४; ७. २६, १, इत्यादि। अन्य सोम-यज्ञों के साथ भी प्रतिद्वन्दिता थी, ऋग्वेद २. १८, ३; ८. ३३, १४; ६६. १२, और विशेषतः ७. ३३, २, जहाँ वसिष्ठ-गण इन्द्र को **पाशद्युम्न वायत** के सोम-यज्ञ से **सुदास्** के पास ले जाते हैं। अनेक प्रसिद्ध सोम-समर्पित करनेवालों का उल्लेख है: अत्रि ५. ५१, ८; ७२, १; ८. ४२, ५; **शार्यात**, १. ५१, १२; ३. ५१, ७; वाजसनेयि संहिता ७. ३५; 'शीष्टस्', ८. ५३, ४, इत्यादि; **तुर्वश यदु**, ८. ४५, २७; **संवर्त कृश**, ८. ५४, २; **नीपातिथि, मेध्यातिथि, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु**, ८. ५१, १, इत्यादि। संस्कारों में किसी परिवार में सोम-पान के क्रम के चलते रहने पर ज़ोर दिया गया है: तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ५, और बाद; मैत्रायणी संहिता २. ५, ५, इत्यादि।

खपत होती थी उनके नाम ये हैं : *आर्जीक, पस्त्यावन्त्, शर्यणावन्त्, सुषोमा, पञ्चजनाः* का क्षेत्र, इत्यादि।[71] सोमपान करनेवालों पर सोम के आह्लादकारी और उत्तेजक प्रभाव का अक्सर उल्लेख है।[72]

इस बात का निर्णय करना कि याजकीय पेय के विपरीत सोम कभी प्रचलित पेय भी था, अत्यन्त कठिन है। इसकी वास्तविक लोकप्रियता के सम्बन्ध में प्रमाण अत्यन्त कम[73] और अनिर्णायक हैं।

[71] देखिये व० स्था०। हिलेब्रान्ट, १, १२५-१४३। सोम का मूलक्षेत्र कुछ भी रहा हो किन्तु **मध्यदेश** के उत्तरी पर्वतों पर इसका उगना सम्भव है, जिसके लिये तु० की० रौथ : त्सी० गे० ३८, १३४ और बाद।

[72] देखिये ऋग्वेद ८. ४८। अवेस्ता-काल में भी इसका इतना ही महत्व था। फिर भी, पुरोहितों को आनन्द प्रदान करनेवाले के रूप में इसका केवल कहीं-कहीं ही उल्लेख है : ऋग्वेद १. ९१, १३; ८. २, १२; १०. १६७, ३। इसके द्वारा उत्पन्न रुग्णता के भी अनेक सन्दर्भ हैं (मैत्रायणी संहिता २. २, १३, इत्यादि)। 'सौत्रामणी' संस्कार का प्रयोजन सोम-वमन करने से उत्पन्न पाप का प्रायश्चित्त कराना होता था (इन्द्र ने भी सोम-वमन किया था) : तैत्तिरीय संहिता २. ३, २, ५. ६; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, ९; १२. ७, १, ११। इस संस्कार का नाम अथर्ववेद ७. ३, २ तक में मिलता है और इसमें सन्देह नहीं कि यह अपेक्षाकृत और प्राचीन है (देखिये **विषूचिका** भी)। यह तथ्य इस पौधे की प्रकृति के सम्बन्ध में परम्परागत निर्धारण की पुष्टि करता है क्योंकि मैक्स मूलर द्वारा उद्धृत चिकित्सा-ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों पर इसे वमनकारी कहा गया है। देखिये त्सिमर। आल्टिन्डिशे लेबेन, २७५; ऋग्वेद १. ९१, १३; ११८, ३; ८. २, १२; १७, ६; ४८, १२। सम्भवतः १. ११२, १५ में **वम्र** ने इसी कारण यह नाम पाया था।

[73] ८. ६९, ८-१०। तु० की० ८. ३१, ५; १. २८, ५; हिलेब्रान्ट, १, १४३-१४७। प्रमाण निर्णायक नहीं है; साधारण सोम-यज्ञ स्पष्टतः सम्पन्न दाताओं का यज्ञ होता था।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २७२-२८०; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथोलोजी, १, १-२६६; २, २०९ और बाद; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १०४ और बाद।

२. *सोम प्राति-वेश्य* ('प्रतिवेश्य' का वंशज) शाङ्खायन आरण्यक (१५. १) के अन्त के एक वंश में 'प्रतिवेश्य' के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

सोमक साह-देव्य ('सहदेव' का वंशज) ऋग्वेद[1] में *सृञ्जयों* के एक

[1] ४. १५, ७-१०।

राजा का नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण[२] में ऐसा उल्लेख है कि *पर्वत* और *नारद* इसके पुरोहित थे।

[२] ७. ३४, ९।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५४; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५।

सोम-दक्ष कौश्रेय (*कुश्रि* का वंशज) काठक[१] और मैत्रायणी[२] संहिताओं में एक गुरु का नाम है।

[१] २०. ८; २१. ९, जहाँ चेम्बर पाण्डुलिपि के २०. ८ मे 'सोमरक्ष कौश्रेय' और २१. ९ में 'कौश्रेय' पाठ है।

[२] ३. २, ७।
तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन। ३, ४७२, ४७३।

सोमपि-त्सरु—देखिये *त्सरु*।

सोम-शुष्म सात्य-यज्ञि (*सत्ययज्ञ* का वंशज), शतपथ ब्राह्मण (११. ६, २, १. ३) में उस भ्रमणकारी ब्राह्मण का नाम है जो *विदेह* के *जनक* से मिला था। यह इसी नाम तथा *प्राचीनयोग्य* ('प्राचीनयोग' का वंशज) पैतृक नाम धारण करने वाले उस व्यक्ति के समान हो सकता है जिसका जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) में सत्ययज्ञ के रूप में उल्लेख है।

सोम-शुष्मन् वाज-रत्नायन ('वाजरत्न' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (८. २१, ५) में उस पुरोहित का नाम है जिसने *शतानीक* का अभिषेक किया था।

सौकरायण, बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे वंश में *काषायण*[१] अथवा *त्रैवणि*[२] के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

[१] ४. ६, २ (काण्व)।

[२] ४. ५, २७ (मध्यन्दिन)।

सौ-जात आराढि, ऐतरेय ब्राह्मण (७. २२, १) में एक गुरु का नाम है।

सौत्रामणी—देखिये *सोम*।

सौ-दन्ति ('सुदन्त' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ३, १३) में बहुवचन में प्रत्यक्षतः उन पुरोहितों के नाम के रूप में आता है जो *विश्वामित्र* के सम-सामयिक थे।

सौदास, बहुवचन में '*सुदास्* के उन वंशजों' का द्योतक है जिनका जैमिनीय ब्राह्मण[१] में *वसिष्ठ* के पुत्र *शक्ति* को अग्नि में फेंक देनेवालों के रूप

[१] २. ३९० (ज० अ० ओ० सो०, २८, ४७)। यह कथा शाट्यायनक में भी अवश्य आई होगी। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १५९, नोट ३।

में उल्लेख है। अन्य ग्रन्थों[२] में ऐसी कथा है कि पुत्र का वध हो जाने पर वसिष्ठ ने सौदासों से प्रतिशोध लेने की इच्छा की और उन्हें इसमें सफलता भी मिली। गेल्डनर[३] ने ऋग्वेद[४] में भी इस कथा का सन्दर्भ देखने का प्रयास किया है, किन्तु अकारण ही।

[२] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, ७, १; कौषीतकि ब्राह्मण ४. ८; पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ७, ३। देखिये कैलेण्ड : ऊ० वौ० २०, भी।
[३] उ० स्था०।
[४] ३. ५३, २२।

सौ-द्युम्नि ('सुद्युम्न' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१३. ५, ४, १२) में राजा *भरत दौःषन्ति* का पैतृक नाम है।

सौ-चल ('सुवल' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (६. २४, १६) में *सर्पि वात्सि* के एक शिष्य का नाम है।

सौभर ('सोभरि' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[१] में *पथिन्* का पैतृक नाम है।

[१] २. ५, २२ (माध्यन्दिन = २. ६, ३ काण्व); ४. ५, २८ (माध्यंदिन = ४. ६, ३ काण्व)।

सौमाप ('सोमाप' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[१] में दो *मानुतन्तव्यों* का पैतृक नाम है।

[१] १३. ५, ३, २, जहाँ एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३९२, ने 'सौमप' माना है।

सौमापि ('सोमाप' का वंशज) शाङ्खायन आरण्यक (१५. १) में *प्रियव्रत* नामक एक गुरु का पैतृक नाम है।

सौमायन ('सोम' का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण (२४. १८, ६) में *बुध* का पैतृक नाम है।

सौम्य, उपनिषद्[१] में एक स्नेहसूचक सम्बोधन है।

[१] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. १, ३; २, १३ ('सोम्य' पाठभेद); छान्दोग्य उपनिषद् ४. ४, ४ और बाद।

सौ-यवसि ('सुयवस' का वंशज), *अजीगर्त*[१] का पैतृक नाम है।

[१] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५, ६; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. १९, २९।

सौरी को त्सिमर[1] ने तैत्तिरीय संहिता[2] में अश्वमेध के समय के एक अज्ञात पशु का नाम माना है। किन्तु यह एक त्रुटि है: 'सौरी' का अर्थ 'सूर्य का भक्त' है।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।
[2] ५. ५, १६, १ = वाजसनेयि संहिता २४. ३३ = मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४।

सौ-वर्चनस, तैत्तिरीय संहिता (१. ७, २, १) में *संश्रवस्* का पैतृक नाम है।

सौ-श्रवस (*सुश्रवस्* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *उपगु* का पैतृक नाम है, और काठक संहिता[2] में *कण्व* सौश्रवसों का उल्लेख है।

[1] १४. ६, ८।
[2] १३. १२ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७४)।

सौ-श्रोमतेय ('सुश्रोमता' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *आषाढि* का मातृनामोद्भूत नाम है। तु० की० *आषाढि*।

[1] ६. २, १, ३७। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, १७१, नोट १।

सौ-षद्मन ('सुषद्मन' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (७. २७, १; ३४, ७) में *विश्वन्तर* का पैतृक नाम है।

स्कन्ध्या (स्त्री० बहु०) का अथर्ववेद[1] में 'स्कन्धों की एक व्याधि', सम्भवतः एक प्रकार के शोथ, के लिये प्रयोग किया गया है।

[1] ६. २५, ३। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४७२, ४७३।

स्तनयित्नु (एक० और बहु०) ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से 'मेघ-गर्जन' का द्योतक है।

[1] ५. ८३, ६।
[2] अथर्ववेद १. १३, १; ४. १५, ११; ७. ११, १, इत्यादि।

स्तम्ब, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'घास के गट्ठे', अथवा सामान्य रूप से 'गुच्छे', या 'झाड़ी' का द्योतक है।

[1] ८. ६, १४।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ४, १ (दर्भ का); तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १७, ३; ३. २, २, ४; ३, ३, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २३, ९, इत्यादि।

स्तम्भ, काठक संहिता,[1] तथा अक्सर सूत्रों में मिलता है। इनके पहले भी 'स्कम्भ'[2] का प्रयोग हुआ है किन्तु केवल लाक्षणिक रूप से ही।

[1] ३०. ९; ३१. १।
[2] ऋग्वेद १. ३४, २; ४. १३, ५, इत्यादि।

स्तरी, ऋग्वेद (१. १०१, ३; ११६, २२; ११७, २०, इत्यादि) में एक 'अदुग्धा गाय' का द्योतक है।

स्ति—देखिये *उपस्ति*।

स्ति-पा—देखिये *उपस्ति*।

स्तुका, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बाल अथवा ऊन के 'गुच्छे' का द्योतक है।

[1] ९. ९७, १७।
[2] काठक संहिता २५. ६; अथर्ववेद ७. ७४, २; शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, १३, इत्यादि।

स्तुति, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'प्रशस्ति गीतों' का द्योतक है।

[1] १. ८४, २; ६. ३४, १; १०. ३१, ५।
[2] शतपथ ब्राह्मण ७. ५, २, ३९।

स्तुप, वाजसनेयि संहिता (२. २; २५. २) और शतपथ ब्राह्मण (१. ३, ३, ५; ३. ५, ३, ४) में 'बालों के गुच्छे' का द्योतक' है। देखिये *स्तुका*।

स्तूप, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में सर के शीर्ष भाग को व्यक्त करते हुये केश की 'चोटी' का द्योतक है।

[1] ७. २, १। तु० की० १. २४, ७।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ६, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ४, ४।

स्तृ (केवल तृतीया बहुवचन में ही प्रयुक्त) आकाश के 'तारों' का द्योतक है।[1]

[1] १. ६८, ५; १६६, ११; २. २, ५; ३४, २; ४. ७, ३; ६. ४९, ३. १२। १. ८७, १, में यह गाय या बैल के माथे पर बने एक तारे के समान स्थान' का द्योतक प्रतीत होता है, किन्तु यह अनिश्चित है। तु० की० ग्रासमैन : वर्टरबुख़, व० स्था०।

स्तेग, यजुर्वेद-संहिताओं[1] में 'कीट' के एक प्रकार का द्योतक प्रतीत होता है। यह शब्द ऋग्वेद[2] में भी आता है जहाँ इसका आशय अज्ञात, किन्तु सम्भवतः 'कृषक' या 'फाल' हो सकता है।[3]

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ७, ११, १; वाजसनेयि संहिता २५. १।
[2] १०. ३१, ९ = अथर्ववेद १८. १, ३९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८।
[3] वेबर : प्रो० अ० १८९५, ८३३। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ८२४।

सौरी को त्सिमर[1] ने तैत्तिरीय संहिता[2] में अश्वमेध के समय के एक अज्ञात पशु का नाम माना है। किन्तु यह एक त्रुटि है : 'सौरी' का अर्थ 'सूर्य का भक्त' है।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।
[2] ५. ५, १६, १ = वाजसनेयि संहिता २४. ३३ = मैत्रायणी संहिता ३. १४, १४।

सौ-वर्चनस, तैत्तिरीय संहिता (१. ७, २, १) में *संश्रवस्* का पैतृक नाम है।

सौ-श्रवस (*सुश्रवस्* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *उपगु* का पैतृक नाम है, और काठक संहिता[2] में *कण्व* सौश्रवसों का उल्लेख है।

[1] १४. ६, ८।
[2] १३. १२ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७४)।

सौ-श्रोमतेय ('सुश्रोमता' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *अषाढि* का मातृनामोद्भूत नाम है। तु० की० *आषाढि*।

[1] ६. २, १, ३७। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, १७१, नोट १।

सौ-षड्मन ('सुषड्मन' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (७. २७, १; ३४, ७) में *विश्वन्तर* का पैतृक नाम है।

स्कन्ध्या (स्त्री० बहु०) का अथर्ववेद[1] में 'स्कन्धों की एक व्याधि', सम्भवतः एक प्रकार के शोथ, के लिये प्रयोग किया गया है।

[1] ६. २५, ३। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४७२, ४७३।

स्तनयित्नु (एक० और बहु०) ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से 'मेघ-गर्जन' का द्योतक है।

[1] ५. ८३, ६।
[2] अथर्ववेद १. १३, १; ४. १५, ११; ७. ११, १, इत्यादि।

स्तम्ब, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'घास के गट्ठे', अथवा सामान्य रूप से 'गुच्छे', या 'झाड़ी' का द्योतक है।

[1] ८. ६, १४।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ४, १ (दर्भ का); तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १७, ३; ३. २, ४; ३, ३, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २३, ९, इत्यादि।

स्तम्भ, काठक संहिता,[1] तथा अक्सर सूत्रों में मिलता है। इनके पहले भी 'स्कम्भ'[2] का प्रयोग हुआ है किन्तु केवल लाक्षणिक रूप से ही।

[1] ३०. ९; ३१. १। | [2] ऋग्वेद १. ३४, २; ४. १३, ५, इत्यादि।

स्तरी, ऋग्वेद (१. १०१, ३; ११६, २२; ११७, २०, इत्यादि) में एक 'अदुग्धा गाय' का द्योतक है।

स्ति—देखिये *उपस्ति*।

स्ति-पा—देखिये *उपस्ति*।

स्तुका, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बाल अथवा ऊन के 'गुच्छे' का द्योतक है।

[1] ९. ९७, १७।
[2] काठक संहिता २५. ६; अथर्ववेद ७. ७४, २; शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, १३, इत्यादि।

स्तुति, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'प्रशस्ति गीतों' का द्योतक है।

[1] १. ८४, २; ६. ३४, १; १०. ३१, ५। | [2] शतपथ ब्राह्मण ७. ५, २, ३९।

स्तुप, वाजसनेयि संहिता (२. २; २५. २) और शतपथ ब्राह्मण (१. ३, ३, ५; ३. ५, ३, ४) में 'बालों के गुच्छे' का द्योतक' है। देखिये *स्तुका*।

स्तूप, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में सर के शीर्ष भाग को व्यक्त करते हुये केश की 'चोटी' का द्योतक है।

[1] ७. २, १। तु० की० १. २४, ७।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ६, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ४, ४।

स्तृ (केवल तृतीया बहुवचन में ही प्रयुक्त) आकाश के 'तारों' का द्योतक है।[1]

[1] १. ६८, ५; १६६, ११; २. २, ५; ३४, २; ४. ७, ३; ६. ४९, ३. १२। १. ८७, १, में यह गाय या बैल के माथे पर बने एक तारे के समान स्थान' का द्योतक प्रतीत होता है, किन्तु यह अनिश्चित है। तु० की० ग्रासमैन : वर्टरबुख़, व० स्था०।

स्तेग, यजुर्वेद-संहिताओं[1] में 'कीट' के एक प्रकार का द्योतक प्रतीत होता है। यह शब्द ऋग्वेद[2] में भी आता है जहाँ इसका आशय अज्ञात, किन्तु सम्भवतः 'कृपक' या 'फाल' हो सकता है।[3]

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ७, ११, १; वाजसनेयि संहिता २५. १।
[2] १०. ३१, ९ = अथर्ववेद १८. १, ३९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८।
[3] वेबर : प्रो० अ० १८९५, ८३३। तु० की० ह्विट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद, ८२४।

स्तेन, ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से 'चोर' के लिये एक सामान्य शब्द है। देखिये *तस्कर*।

[1] २. २३, १६; २८, १०; ४२, ३, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. ३, ४. ५; ३६, ७; १९. ४७, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३०, ११, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १७८ और बाद।

स्तेय, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'चोरी' का द्योतक है। तु० की० *धर्म*।

[1] ११. ८, २०; १४. १, ५७।
[2] निरुक्त ६. २७; कौषीतकि उपनिषद् ३. १। तु० की० 'स्तेय-कृत्' (चोर), ऋग्वेद ७. १०४, १०, में।

स्तोतृ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'प्रशस्ति करने वाले' या 'स्तुति करनेवाले' का द्योतक है। यह शब्द अक्सर[3] दाताओं, *मघवन्* अथवा *सूरि*, के सन्दर्भ में भी आता है।

[1] १. ११, ३; ३८, ४; ३. १८, ५; ६. ३४, ३, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ६. २, १; १९. ४८, ४।
[3] ऋग्वेद १. १२४, १०; २. १, १६; ५. ६४, १; ७. ७, ७; निरुक्त ७. २।

स्तोत्र उसी प्रकार उद्गातृ तथा उसके सहायक पुरोहितों के 'गायन' का द्योतक है (देखिये *ऋत्विज्*) जैसे *शस्त्र*, *होतृ* तथा उसके सहायकों के मन्त्रोच्चारण का। बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में इस शब्द का यह पारिभाषिक आशय प्रायः अक्सर ही मिलता है।[1]

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. १, २, ४; काठक संहिता २९. २; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३७, ४; ३. ४६, ८; ४. १२, ६; कौषीतकि ब्राह्मण १७. ७; शतपथ ब्राह्मण ४. १, १, ७; ८. १, ३, ४, इत्यादि। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३५३, और कैलेण्ड और हेनरी : 'ल' अग्निष्टोम, जहाँ इस यज्ञ के 'स्तोत्रों' का विस्तार से उल्लेख है।

स्तोम, ऋग्वेद[1] में 'स्तुति' का द्योतक है। बाद[2] में इस शब्द से उस विशेष पद्धति का पारिभाषिक आशय है जिसके अनुसार *स्तोत्रों* का गायन होता था।

[1] १. ११४, ९; ३. ५, २; ५८, १, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता ३. १, २, ४; वाजसनेयि संहिता ९. ३३; १०. १०, इत्यादि।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, २२९, २७६; १०, ३५५; हिलेब्रान्ट : रिचुअललिटरेचर, १०१।

स्त्री, पद्य और गद्य दोनों में ही पत्नी, अथवा कन्या के किसी विशेष सन्दर्भ के बिना ही 'नारी' के लिये साधारण शब्द है। *नारी* से भी यही आशय है किन्तु यह बाद के गद्य में नहीं मिलता, जब कि *ग्ना* से केवल देवों की स्त्रियों का सन्दर्भ है, और अपने अन्य सजातीय शब्दों सहित *योषित्* विवाह-योग्य स्त्री का द्योतक है।[१] ऋग्वेद[२] में स्त्री शब्द का *पुमांस्* (मनुष्य) और एक बार 'वृषन्' (पुरुष), के विपरीत प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद[३] के पहले तक इसका *पति* के विपरीत 'पत्नी' अर्थ नहीं मिलता और सूत्रों तक में *जाया* के साथ इसका स्पष्ट विभेद किया गया है।

वैदिक भारत में स्त्री के जीवन का अधिक अंश उसके विवाह और वैवाहिक सम्बन्धों में ही व्यतीत होता था (देखिये 'पति' और *मातृ*)। ऋग्वेद में स्त्रियों के जीवन के पृथक्करण का ऐसा कोई भी चिह्न नहीं मिलता जो आरम्भिक महाकाव्य-काल तक प्रत्यक्षतः पूर्ण रूप से विकसित हो गया था :[४] यह माना जा सकता है कि कन्या अपने पिता के घर में विकसित होती थी जहाँ उसे गाँव के युवकों के साथ मुक्त संसर्ग की स्वतंत्रता थी; साथ ही उसे घर के कामों में भी हाथ बटाना पड़ता था। स्त्रियों के लिये शिक्षा[५] वर्जित नहीं थी। कम से कम कुछ दशाओं में तो ऐसा अवश्य था, क्योंकि उपनिषदों द्वारा हमें ऐसी स्त्रियों के दृष्टान्त मिलते हैं जो दार्शनिक शास्त्रार्थों में कुछ कम महत्वपूर्ण भाग नहीं लेतीं : इसके अतिरिक्त स्त्रियों को नर्तन और गायन भी सिखाया जाता था, क्योंकि इन विद्याओं को पुरुषोपम गुण नहीं समझा जाता था।[६]

पुत्रियों की ठीक-ठीक वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में बहुत कम विवरण

[१] तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ४१७।
[२] ऋग्वेद १. १६४, १६; ५. ६१, ८, इत्यादि। इसी प्रकार अक्सर बाद में, उदाहरणार्थ मैत्रायणी संहिता ४. ७, ४; तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ८, २।
[३] १२. २, ३९। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२, १।
[४] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ३४९, ३५०।
[५] तु० की० हॉपकिन्स : उ० पु०, ३५१, ३५२। देखिये आश्वलायन गृह्यसूत्र ३. ४, ४ में वर्णित **गार्गि वाचक्नवी** तथा अन्य; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ११८, ११९।
[६] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ६, ५; मैत्रायणी संहिता ३. ७, ३; शतपथ ब्राह्मण ३. २, ४, ३-६।

मिलता है। फिर भी, ऋग्वेद[७] से ऐसा प्रगट होता है कि पिता के न रहने पर उसे सहायता के लिये अपने भ्राता का मुखापेक्षी रहना पड़ता था। भ्राता-विहीन कन्याओं के लिये भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना बनी रहती थी, यद्यपि उनकी इस असहाय अवस्था से लाभ उठाने वाले व्यक्तियों के लिये धार्मिक भय विद्यमान थे।[८] इसके अतिरिक्त स्त्री उत्तराधिकार प्राप्त नहीं कर सकती थी,[९] और चाहे वह विवाहित हो अथवा नहीं, उसे कानून की दृष्टि में स्वतंत्र व्यक्ति नहीं समझा जाता था। सम्भवतः विवाह के पूर्व वह अपने माता-पिता अथवा भ्राता के साथ, और विवाहोपरान्त अपने पति के साथ रहती थी। उसे विधवा छोड़कर पति की मृत्यु हो जाने पर उसके सम्बन्धी-जन इस उत्तरदायित्व के साथ उसकी सम्पत्ति के अधिकारी हो जाते थे कि वह विधवा का आजीवन भरण-पोषण करते रहेंगे।[१०] जैसा कि नर्तकियों की दशा में भी होता था, यदि कोई अविवाहित स्त्री कुछ धनोपार्जन करती थी तो उसके निकटतम सम्बन्धी, सामान्यतया उसके पिता अथवा भ्राता ही, उसका उपभोग करते थे।

[७] १. १२४, ७। तु० की० अथर्ववेद १. १४, २; १७, १; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ३२८; हॉपकिन्स: उ० पु०, ३४१, और देखिये स्याल, पुत्रिका।

[८] ऋग्वेद ४. ५, ५।

[९] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ८, २; मैत्रायणी संहिता ४. ६, ४; शतपथ ब्राह्मण ४. ४, २, १३; निरुक्त ३. ४।

[१०] तु० की० ऐटिक 'επικληρος', कीथ: ज० ए० सो०, १९१२, ४२७।

स्थ-पति, उस राजकीय पदाधिकारी का नाम है, जिसका अथर्ववेद[१] और अक्सर बाद[२] में उल्लेख है। *सृञ्जयों* के एक निर्वासित राजा, *दुष्टरीतु पौंसायन*, का स्थपित वह *रेवोत्तरस् चाक्र* था जो राजा का पुनर्प्रतिष्ठापन करा सकने में सफल हो गया था।[३] इस शब्द का ठीक-ठीक आशय निश्चित नहीं है:

[१] २. ३२, ४; ५. २३, ११ (दोनों ही दशाओं में कीटाणुओं का प्रधान)।

[२] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, २, २; काठक संहिता १७. १२; मैत्रायणी संहिता २. ९, ३; वाजसनेयि संहिता १६. १९; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ११, ६. ७; २४. १८, २; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, १७, इत्यादि।

[३] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, १, १७; ९, ३, १, और बाद। यहाँ स्थपति मानों एक मनुष्य के नाम का एक अङ्ग है।

'राज्यपाल'[4] सम्भव है, किन्तु कदाचित 'मुख्य न्यायाधीश'[5] अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है; जैसा कि आरम्भिक इङ्गलैण्ड के न्यायाधीशों की दशा में भी था, इसका कर्त्तव्य नैय्यायिक और प्रशासनात्मक दोनों ही रहा होगा। राजा के भ्राता की अपेक्षा इसकी स्थिति हीन थी।[6]

[4] कात्यायन श्रौतसूत्र १. १, १२; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ९. १४, १२, में 'निषाद-स्थपति'; जिससे सम्भवतः **निषादों** के राज्यपाल का आशय है। किन्तु इसका अर्थ (तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २०७, नोट) 'स्थपति के रूप में निषाद' भी हो सकता है; इस प्रकार इस स्थल-विशेष से बहुत अधिक निष्कर्ष सम्भव नहीं। एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४१, १११, इसका 'राज्यपाल' अनुवाद करते हैं। देखिये। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था० और **औपोदिति**, भी।

[5] वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, १३, नोट ३; १३, २०३; १७, २००; १८, २६०; ऊबर डेन राजसूय, १५, नोट ६; ऊबर डेन वाजपेय, ९, १०। तु० की० कात्यायन श्रौतसूत्र २२. ५, २८; ११, ११; लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ७, ११; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २२. ७, ६।

[6] शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, १७।

स्थविर (शब्दार्थ 'वरिष्ठ') एक प्रकार की उपाधि के रूप में अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है : स्थविर *शाकल्य* ऐतरेय आरण्यक[1] और शाङ्खायन आरण्यक[2] में, और स्थविर *जातूकर्ण्य* कौषीतकि ब्राह्मण[3] में आता है। तु० की *ह्रस्व* और *दीर्घ*, नामों को।

[1] ३. २, १. ६। [2] ७. १६; ८. १, ११। [3] २६. ५।

स्थागर तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में एक अलंकार के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ 'स्थगर नामक सुगन्धित पदार्थ से बना' है। यह अन्यत्र[2] 'स्थकर' के रूप में आता है।

[1] २. ३, १०, २; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १४. १५, २।

[2] देखिये वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १३, १९८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३११, नोट १; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २६५।

स्थाणु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में लकड़ी के 'खूँटे' या 'खम्भे' का द्योतक है।

[1] १०. ४०, १३।

[2] अथर्ववेद १०. ४, १; १४. २, ४८; १९. ४९, १०, इत्यादि।

स्थातृ, ऋग्वेद[1] में घोड़ों अथवा गाड़ी के चालक का द्योतक है।

[1] १. ३३, ५; १८१, ३; ३. ४५, २, इत्यादि।

स्था-पत्य, पञ्चविंश ब्राह्मण (१७. ११, ६, ७) में '*स्थपति*' के पद का द्योतक है।

स्थाली, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में एक 'पकाने के पात्र', सामान्यतया मिट्टी के बने पात्र का द्योतक है।

[1] ८. ६, १७।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, ५; वाजसनेयि संहिता १९. २७. ८६; ऐतरेय ब्राह्मण १. ११, ८, इत्यादि। 'स्थाली-पाक' (दूध में उबाला हुआ चावल या जौ) का बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १८; ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; शाङ्खायन आरण्यक ११. ६, इत्यादि में उल्लेख है।

स्थिरक गार्ग्य (*गर्ग* का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है :

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७३।

स्थिवि (बहुवचन में प्रयुक्त) ऋग्वेद[1] में एक बार ही, सम्भवतः 'बुशल' (अन्नादि का एक सूखा नाप जो लगभग आठ गैलेन के बराबर होता है) के अर्थ में आता है। यह शब्द एक बार 'स्थिविमन्त्'[2] विशेषण के रूप में भी मिलता है।

[1] १०. ६८, ३।
[2] ऋग्वेद १०. २७, १५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३८।

स्थूणा, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में गृह के 'स्तम्भ' अथवा 'खम्भों' का द्योतक है।

[1] १. ५९, १; ५. ४५, २; ६२, ७; ८. १७, १४; १०. १८, १३ (कब्र का)।
[2] अथर्ववेद ३. १२, ६ (स्तम्भ पर वंश अथवा 'धरन' का रक्खा जाना); १४. १, ६३; शतपथ ब्राह्मण १४. १, ३, ७; ३, १, २२, इत्यादि; 'स्थूणा-राज' (प्रमुख स्तम्भ), ३. १, १, ११; ५, १, १।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १५३।

स्थूरि से ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में सामान्य रूप से प्रयुक्त दो (देखिये *रथ*) के स्थान पर 'एक पशु द्वारा खींचे जानेवाले' का तात्पर्य है, और इसमें सदैव एक प्रकार का हीनत्व का भाव संयुक्त है।

[1] १०. १३१, ३।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, ४; ३. ८, २१, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १३, १२; १८. ९, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३०, ६; शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ३, ९, इत्यादि।

स्थैरकायण (*स्थिरक* का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में *मित्रवर्चस्* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२ (जहाँ इस शब्द के अक्षर-विन्यास में 'न्' है)।

स्थौलाष्ठीवि ('स्थूलाष्ठीव' का वंशज) निरुक्त (७. १४, १०. १) में एक वैयाकरण का पैतृक नाम है।

स्नातक, जो कि विद्यार्थी की उपाधि और किसी धर्म-गुरु के नीचे उसके शिष्यत्व की समाप्ति का द्योतक है, शतपथ ब्राह्मण (१२. १, १, १०) तथा सूत्रों में बहुधा आता है। तु० की० *ब्रह्मचारिन्*।

१. स्नावन्य, बहुवचन रूप में तैत्तिरीय संहिता (५. ७, २३, १) में अश्व के शरीर के विशेष अंगों का द्योतक है।

२. स्नावन्य, बौधायन श्रौत सूत्र[1] में एक जाति के लोगों का नाम प्रतीत होता है।

[1] २. ५ (एक मन्त्र में)। तु० की० कैलेण्ड : ऊ० बौ० ३५।

स्नुषा, प्रमुखतः श्वसुर, किन्तु साथ ही साथ 'सास' के सदर्भ में भी 'पुत्र-वधू' का द्योतक है। इस बाद के आशय में यह शब्द ऋग्वेद[1] की 'सु-स्नुषा' उपाधि में आता है जहाँ यह 'वृषाकपायी' के लिये प्रयुक्त हुआ है। प्रथम आशय में यह अनेक स्थलों पर आता है, जहाँ श्वसुर के प्रति पुत्र-वधू के उस आदरभाव का उल्लेख[2] है जिसका केवल मादकावस्था ही उल्लङ्घन करा सकती थी।[3] देखिये *श्वशुर* और *पति*।

[1] १०. ८६, १३।
[2] अथर्ववेद ८. ६, २४; ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२, ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, ६, १२।
[3] मैत्रायणी संहिता २. ४, २; काठक संहिता १२. १२ (इन्डिशे स्टूडियन, ५, २६०)।
तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ४१४, ४१५।

स्पन्दन, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर एक प्रकार के वृक्ष का द्योतक है। फिर भी, रौथ[2] ने इसे 'स्यन्दन' (रथ) पढ़ा है।

[1] ३. ५३, १९।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० तु० की० ऑफरेख्त : ऋग्वेद २, ६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६३।

स्पर्शु, बौधायन श्रौत सूत्र (२१. १३) में प्रत्यक्षतः एक पाश्चात्य जाति का नाम है।

स्पश्—देखिये *राजन्*।

स्फूर्जक एक वृक्ष (Diospyros embryopteris) का द्योतक है। इसका शतपथ ब्राह्मण (१३. ८, १, १६) में उल्लेख है।

स्मद्-इभ एक वार ऋग्वेद[1] में मिलता है, जहाँ रौथ[2] ने इस शब्द को सम्भवतः *कुत्स* के एक शत्रु के नाम के रूप में ग्रहण किया है। तु०की० *इभ*।

[1] १०. ४९, ४।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था। तु० की० औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोट, १. ३८०; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, २९१, नोट ५।

स्यन्दन (रथ) यदि मिलता भी है, तो केवल आरम्भिक साहित्य, अर्थात् ऋग्वेद[1] के स्थल पर ही, जहाँ इसका मान्य पाठ *स्पन्दन* है।

[1] ३. ५३, ११, रौथ के अनुसार। कौशिक सूत्र ८. १५, में एक प्रकार की लकड़ी को 'स्यन्दन' कहा गया प्रतीत होता है।

स्याल, जो ऋग्वेद[1] के केवल एक स्थल पर आता है, किसी व्यक्ति की पत्नी के एक ऐसे भ्राता का द्योतक है जिसे उसका (अपनी वहन का) रक्षक होने के लिये सहमत और इसीलिये उसका विवाह करने का भी उत्तरदायित्व वहन करनेवाले के रूप में उल्लेख है।[2]

[1] १. १०९, २।
[2] ऋग्वेद उ० स्था० पर सायण ऐसा ही मानते हैं। तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ५१७; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, ७९।

स्यूम-गभस्ति—देखिये *गभस्ति*।

स्यूम-गृभ्, जिसका ऋग्वेद (६. ३६, २) में घोड़े के लिये प्रयोग हुआ है, सम्भवतः "दाँतों के बीच 'खलीन' को पकड़े हुये" का द्योतक है, जो कि नियन्त्रण से मुक्त हो जाने के लिये व्यग्र घोड़े के व्यवहार को व्यक्त करता है।

स्यूमन् ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर रौथ[2] के अनुसार घर के द्वारों को बाँधने वाले फ़ीते (होमर के ιμας, δεσμος) का द्योतक है।

[1] ३. ६१, ४।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०:

स्यूम-रश्मि, ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है।

[1] १. ११२, १६; ८. ५२, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५०, १६३।

स्रक्ति ऋग्वेद[1] में *दाशराज्ञ* के वर्णन में मिलता है, जहाँ हॉपकिन्स[2] 'भालों' का आशय अनिवार्य मानते हैं।

[1] ७. १८, १७।
[2] ज० अ० ओ० सो० १५, २६४, नोट।

स्रज् (हार) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में मनुष्यों द्वारा अक्सर उस समय, जैसे विवाहादि के अवसर पर, धारण किये जाने के रूप में उल्लेख है जब वह अपने को सुन्दर बनाना चाहते थे। अश्विनों को 'पुष्कर-स्रज्'[3] कहा गया है।

[1] ४. ३८, ६; ५. ५३, ४; ८. ४७, १५; ५६, ३।
[2] अथर्ववेद, १. १४, १ (जहाँ इसका किसी वृक्ष से तोड़ा हुआ 'फूल का गुच्छा' अर्थ है); पञ्चविंश ब्राह्मण १६. ४, १; १८. ३, २; ७, ६; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, २, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १०. १८४, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २६५।

स्राक्त्य, अथर्ववेद[1] में एक यंत्र (*मणि*) का वाचक विशेषण है। वेबर[2] के अनुसार यह एक 'सितमणि' (शब्दार्थ 'अनेक रंगों वाला') का द्योतक है। फिर भी, भाष्यकार[3] इस शब्द की 'स्रक्त्य', अर्थात् 'तिलक-वृक्ष (Clerodendrum phlomoides) से व्युत्पन्न' के रूप में व्याख्या करने पर सहमत हैं।

[1] ८. ५, ४. ७. ८। तु० की० २. ११।
[2] इन्डिशे स्टूडियन १३, १६४।
[3] देखिये ब्लूमफील्ड : अ० फा० ७, ४७७; अथर्ववेद के सूक्त, ५७७।

स्रुच्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अग्नि में घृत की आहुति देने के लिये प्रयुक्त लकड़ी के बड़े चमचे का द्योतक है। यह एक हाथ के बराबर लम्बा, और इसका मुख-पात्र हथेली बराबर होता था जिसमें चोंच की तरह टोंटी भी बनी होती थी।

[1] १. ८४, १८; ११०, ६; १४४, १, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ५. २७, ५; ६. ११४, ३; ९. ६, १७, इत्यादि। तु० की० इसके आकार-प्रकार, इत्यादि के लिये, मैक्स मूलर : सॅ० बु० ई० ९, xli, lxxx; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ६७; २६, २०, २३।

स्रुव, कर्म-काण्ड-साहित्य[1] में *स्रुच्* के विपरीत उस छोटे चम्मच या पात्र

[1] आश्वलायन श्रौतसूत्र, १. ११, १०, इत्यादि।

का द्योतक है जिसका *स्थाली* (पकाने का पात्र) से हवि (*आज्या*) को बड़े चमस (जुहू) तक ले जाने के लिये प्रयोग होता था। फिर भी, ऋग्वेद[2] में स्पष्टतः इसे वास्तविक सोम-हवि के लिये प्रयुक्त किया गया है।

[2] १. ११६, २४; १२१, ६, इत्यादि। तु० की० मैक्स मूलर त्सी० गे० ९, viii; कैलेण्ड और हेनरी : 'ल' अग्निष्टोम xliv; प्लेट I, न० ९; प्लेट II, न० ११; एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, ६८; २६, २०।

स्रेक-पर्ण का ब्राह्मणों[1] में 'शितिकुम्भ के पत्ते के समान' अर्थ प्रतीत होता है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ६, ६, ३; ऐतरेय ब्राह्मण २. ६, १५।

स्वज, अथर्ववेद[1] और वाद[2] में 'सर्प' का द्योतक है। भाष्यकारों ने इस शब्द की 'स्व-ज' (स्वयं उत्पन्न) के रूप में व्याख्या की है, किन्तु रौथ,[3] वेवर,[4] और त्सिमर[5] इसे 'स्वज्' धातु से व्युत्पन्न मानना अधिक उपयुक्त समझते हैं। मैत्रायणी संहिता[6] में ऐसा कथन है कि *हरिण* सर्प को मार डालता था।

[1] ३. २७, ४; ५. १४, १०; ६. ५६, २; १०. ४, १०. १५. १७; १२. ३, ५८।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १०, २; १४, १; ऐतरेय ब्राह्मण ३. २६, ३।

[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० में एक विकल्प के रूप में 'विविपर' दिया गया है।

[4] तैत्तिरीय संहिता २, ८९, नोट।

[5] आल्टिन्डिशे लेवेन, ९५।

[6] ३. ९, ३।

१. स्वधिति, ऋग्वेद[1] में बलि किये गये अश्व को काटने के लिये प्रयुक्त 'कुठार' या 'चाकू' का द्योतक है। इस संहिता[2] के सभी अन्य स्थलों पर इससे लकड़ी काटने के लिये प्रयुक्त कुठार का आशय पर्याप्त है। एक स्थल[3] पर सान के पत्थर (च्णोत्र) पर 'कुठार' के तीक्ष्ण करने का सन्दर्भ मिलता है। अथर्ववेद[4] में यह शब्द एक बार पशुओं के कान पर चिह्न बनाने के लिये प्रयुक्त ताँबे (लोहित)[5] के चाकू का द्योतक प्रतीत होता है। इसी

[1] १. १६२, ९. १८. २०।

[2] २. ३९, ७; ३. २, १०; ८, ६. ११; ५. ७, ८; ७. ३, ९; ८. १०२, १९; १०. ८९, ७। तु० की० नोट ८।

[3] ३. ३९, ७।

[4] ६. १४१, २। तु० की० मन्त्र ब्राह्मण १. ८, ७; ह्विट्ने : अथर्ववेद ३८६, ३८७; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १५९, जो ऋग्वेद ३. ५३, २२ में परशु के साथ तुलना करते हैं।

[5] गेल्डनर : उ० स्था० इस शब्द को 'लाल-गर्म' के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

ग्रन्थ[6] में बढ़ई के चाकू या कुठार का भी दो बार उल्लेख है। बाद में इस शब्द का सामान्य रूप से 'कुठार' अर्थ है।[7] आयुध के रूप में यह कभी भी नहीं आता।[8]

[6] ९. ४, ६ (सम्भवतः इसी अर्थ में ग्रहण करना चाहिये); १२. ३, ३३; १८. २, ३५ में आशय सर्वथा भिन्न है। देखिये ह्विट्ने : उ० पु० ८४५।

[7] तैत्तिरीय संहिता ६. ३, ३, २; वाजसनेयि संहिता २. १५ (वध करने वाली छुरी); ५. ४३ (वृक्ष काटने के लिये प्रयुक्त कुठार), इत्यादि।

[8] ऋग्वेद १०. ९२, १५ में, 'स्वधिति' से इन्द्र के वज्र का तात्पर्य हो सकता है।

२. *स्वधिति*, ऋग्वेद[1] के कुछ स्थलों पर सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार कड़ी लकड़ी वाले एक वृक्ष का द्योतक है। यह व्याख्या सम्भाव्य प्रतीत होती है।

[1] ५. ३२, १०; ९. ९६, ६। तु० की० १. ८८, २।

स्वनद्-रथ को, लुडविग[1] ने ऋग्वेद[2] में *आसङ्ग* के व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु बहुत सम्भवतः यह शब्द केवल एक उपाधि मात्र ही है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५९।

[2] ८. १, ३२।

स्वनय-भाव्य, ऋग्वेद (१. १२६, १. ३) के अनुसार *सिन्धु* के उस राजा का नाम है जिसने *कक्षीवन्त्* को उपहार प्रदान किये थे। शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१६. ११, ५) में इसे 'स्वनय भावयव्य' कहा गया है।

स्वप्न का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है। दुःस्वप्नों[3] का अक्सर उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के आरण्यकों[4] में अर्थ-सहित स्वप्नों, तथा साथ ही साथ, 'प्रत्यक्ष-दर्शनानि' (अपनी आंखों से देखे गये दृश्यों) की तालिकायें मिलती हैं।

[1] २. २८, १०; १०. १६२, ६।

[2] अथर्ववेद ७. १०१, १; १०. ३, ६; वाजसनेयि संहिता २०. १६; शतपथ ब्राह्मण ३. २, २, २३, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद २. २८, १०; अथर्ववेद १०. ३, ६।

[4] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; शाङ्खायन आरण्यक ११. ३। तु० की० कौशिक सूत्र xlvi. ९ और बाद; अथर्ववेद परिशिष्ट lxviii।

स्वर्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'सूर्य'[3] और 'प्रकाश के स्वर्ग' का द्योतक है।

[1] १. ७१, २; १०५, ३; १४८, १ इत्यादि; निरुक्त २. १४।

[2] ऋग्वेद ३. २, ७; ५. ८३, ४; १०. ६६, ४. ९, इत्यादि; अथर्ववेद ४. ११, ६; १४, २, इत्यादि।

स्वर, उपनिषदों[1] में स्वर-वर्णों की ध्वनि का द्योतक है : इन्हें 'घोषवन्त्' और 'बलवन्त्' कहा गया है।[2] ऐतरेय[3] और शाङ्खायन[4] आरण्यकों में 'क' से 'म' पर्यन्त वर्णों को स्पर्श[3] कहा गया है, जब कि ऊष्मन् 'श, ष, स, ह' का, और स्वर 'अच्' का द्योतक है। यहीं अर्द्धस्वरों को अन्त-स्था[5] अथवा अक्षर[6] कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक[7] में घोष, ऊष्मन्, और व्यञ्जन के रूप में एक अन्य विभाजन मिलता है जिनके द्वारा प्रत्यक्षतः स्वर, ऊष्मन् और व्यञ्जनों का तात्पर्य है। इसी आरण्यक[8] में अन्यत्र 'घोष' से 'ध्वनि' का सामान्य आशय व्यक्त होता है। तैत्तिरीय उपनिषद्[9] में 'मात्रा'[10], 'बल' और उस 'वर्ण' का सन्दर्भ है जिसे अन्यत्र[11] ओम् की व्याख्या के अन्तर्गत अ + उ + म के रूप में व्यक्त किया गया है।

ऐतरेय आरण्यक[12] और शाङ्खायन आरण्यक[13] ऋग्वेद के पाठ के तीन रूप—प्रतृण्ण, निर्भुज और उभयम्-अन्तरेण—स्वीकार किये गये हैं जो क्रमशः ऋग्वेद के संहिता, पद, और क्रम पाठों के द्योतक हैं।[14] यही आचार्य[15] मूर्धन्य और दन्त्य 'न्' और 'स्' के विभेद के महत्व को स्वीकार करते हुये, *माण्डूकेयों* की उच्चारण-पद्धति का उल्लेख[16] करते हैं। यह लोग अक्षरों की 'सन्धि' के सम्बन्ध में भी विमर्श प्रस्तुत करते हैं।[17]

[1] छान्दोग्य उपनिषद् २. २२, ५; तैत्तिरीय उपनिषद् १. २, १।
[2] छान्दोग्य उपनिषद् उ० स्था०।
[3] ३. २, १, इत्यादि।
[4] ८. १, इत्यादि।
[5] ऐतरेय आरण्यक ३. २, १।
[6] शाङ्खायन आरण्यक ८. १।
[7] २. २, ४।
[8] २. २, २। तु० की० कीथ का संस्करण पृ० २१३।
[9] उ० स्था०।
[10] ऐतरेय आरण्यक ३. १, ५; शाङ्खायन आरण्यक ७. १३, भी।
[11] ऐतरेय ब्राह्मण ५. ३२, २; कौषीतकि ब्राह्मण २६. ५; आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ४; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन ५. ३२।
[12] ३. १, ३. ५।
[13] ७. १०, १२।
[14] मैक्स मूलर : ऋग्वेद प्रातिशाख्य २. और बाद; नाख्तरेज, २; औल्डेनबर्ग : प्रोलिगोमेना, ३८० और बाद; से० बु० ई०, ३०, १४६ और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, ५१।
[15] ऐतरेय ३. २, ६; शाङ्खायन ८. ११।
[16] ऐतरेय ३. १, १; २, ६; शाङ्खायन ७. २; ८. ११।
[17] ऐतरेय ३. १, २. ३. ५; २, २; शाङ्खायन ७, १३; ८. १. २।

अनेक संहिताओं के प्रातिशाख्यों में व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का विस्तार से विकास किया गया है, और यास्क के निरुक्त[18] में व्याकरण का विषयवस्तु प्रचुर मात्रा में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण[19] लिङ्गों का विभेद करता है और पञ्चविंश ब्राह्मण[20] में साम-गायन के शब्दों के विभाजन दिये गये हैं।

[18] देखिये यास्क द्वारा उद्धृत आचार्यों, मुख्यतः **कौत्स** और **शाकटायन,** आदि की तालिका के लिये रौथ का संस्करण (१८५२) पृ० २२२।

[19] १०. ५, १, २. ३।

[20] १०. ९, १. २। तु० की० फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, ७०१, और बाद।

स्व-राज (राजा) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अक्सर मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] के अनुसार यह पाश्चात्य राजाओं के लिये प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है।

[1] १. ३६, ७; ५१, १५; ६१, ९, इत्यादि (देवों के)।

[2] अथर्ववेद १७. १, २२; तैत्तिरीय संहिता २. ३, ६, २; ४. ४, ८, १; ५. ५, ४, १, इत्यादि।

[3] ८. १४। तु० की० सम्भवतः सरकार की वह गणतन्त्रीय-पद्धति जिसका रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, १९, ने बौद्ध साहित्य में चिह्न देखे हैं।

स्वरु, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'खम्भे' अथवा अधिक शुद्ध आशय में सांस्कारिक कृत्यों में प्रयुक्त 'यूप'[3] के एक खण्ड का द्योतक है।

[1] १. ९२, ५; १६२, ९; ३. ८, ६, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. २४, ४; १२. १, १३, इत्यादि।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण २. ३, ८; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ७, १; ६. ३, ४, ९, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ३. ७, १, २२; ८, १, ५, इत्यादि।

स्वर्-जित् नाग्न-जित (*नग्न-जित्* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में एक *गन्धार* राजा का द्योतक है जिसके संस्कार सम्बन्धी दृष्टिकोणों का उपेक्षात्मक रूप से उल्लेख किया गया है।

[1] ८. १, ४, १०। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १², ५१५।

स्वर्-णर, ऋग्वेद[1] के दो मन्त्रों में किसी यज्ञकर्त्ता का व्यक्तिवाचक

[1] ८. ३, १२; १२, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६०; हॉप किन्स : ज० अ० ओ० सो०, १७, ८९।

नाम प्रतीत होता है। गेल्डनर[२] के अनुसार इससे सर्वत्र[3] एक ऐसी विशेष रूप से पवित्र झील का तात्पर्य है जिसके चारों ओर सोम-उत्पादन करने वाला क्षेत्र स्थित था।

[२] ऋग्वेद, ग्लॉसर, २०९।
[3] ऋग्वेद ४. २१, ३; ५. १८, ४; १४, १; ८. ६, ३९; ६५, २; १०३, १४; ९. ७०, ६; १०. ६५, ४। सम्भवतः ८. १२, २ में इसका 'स्वर्णर से आने वाला' अर्थ है।

स्वर्-भानु असुर, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में उस दानव का नाम है जिसे सूर्य को ग्रसित करनेवाला माना गया है। देखिये *सूर्य*।

[१] ५. ४०, ५. ६. ८. ९१,
[२] तैत्तिरीय संहिता २. १, २, २; पञ्चविंश ब्राह्मण ४. ५, २; ६, १३; ६. ६, ८; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, २, २; कौषीतकि ब्राह्मण २४. ३।

स्व-सर, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोष के अनुसार 'पशुओं के गोष्ठ'[१], और अपेक्षाकृत अधिक सामान्यरूप से 'आवास-स्थान' अथवा 'गृह'[२], तथा इसके बाद 'पक्षियों के घोसले'[3] का द्योतक है। फिर भी गेल्डनर[४] यह दिखाते हैं कि इसका वास्तविक आशय पशुओं का 'स्वेच्छया भ्रमण' है जिससे अपेक्षाकृत अधिक ठीक-ठीक उनके 'प्रातःकाल के चरने'[५], और पक्षियों की दशा में उनके 'प्रातःकाल घोसलों से उडने'[६] का तात्पर्य है; जब कि लाक्षणिक रूप से यह प्रातःकाल के सोमसवन, और तदुपरान्त, दिन के तीनों समय के सोम-सवनों के लिये व्यवहृत हुआ है।[७]

[१] ऋग्वेद १. ३, ८; २. २, २; ३४, ८; ५. ६२, २; ८. ८८, १; सामवेद १. ५, २, ३, २।
[२] ऋग्वेद १. ३४, ७; ३. ६०, ६; ६१, ४; ६. ६८, १०; ८. ९९, १; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ५, २०।
[३] ऋग्वेद २. १९, २; ३४, ५।
[४] वेदिशे स्टूडियन, २, ११०-११५।
[५] ऋग्वेद १. ३, ८; २. २, २; ३४, ८; ५. ६२, २; ८. ८८, १।
[६] ऋग्वेद २. १९, २; ३४, ५।
[७] ऋग्वेद १. ३४, ७; ३. ६०, ६; ६. ६८, १०; ८. ९९, १। शतपथ ब्राह्मण, उ० स्था०, यह 'हवि' का समानार्थी है।

स्वसृ, ऋग्वेद और उसके बाद[१] से 'बहन' के लिये नियमित शब्द है। भ्रातृ शब्द की ही भाँति, 'बहन' शब्द ऐसों के लिये भी व्यवहृत हो सकता

[१] ऋग्वेद २. ३२, ६; ६. ५५, ४. ५; ८. १०१, १५; १०. १०८, ९, इत्यादि।

है जो इस प्रकार से सम्बद्ध नहीं भी हैं : उदाहरण के लिये ऋग्वेद में उँगलियाँ और ऋतुयें 'बहनें' हैं, और रात्रि उस उषा की बहन है जिससे ज्येष्ठ होने के कारण वह उसे प्रकट होने का अवसर प्रदान करती है।[2] *पणि* लोग 'सरमा' को अपनी बहन बनाने के लिये प्रस्तुत हैं;[3] किन्तु यह प्रयोग—भ्रातृ से किसी दशा में अधिक बार नहीं—सामान्य मनुष्यों के लिये नहीं किया गया है।

बहन का अपने भ्राता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता था : यदि पिता मृत अथवा अशक्त होता था, तो, जैसा कि ऋग्वेद[4] और ऐतरेय ब्राह्मण[5] से प्रकट होता है, बहन अपने भाई तथा भाभी पर ही निर्भर रहती थी : इसके अतिरिक्त भ्राता-विहीन कन्याओं को अपना विवाह करने में कठिनाई होती थी, जिसके परिणाम-स्वरूप वह भ्रष्ट जीवन व्यतीत करने के लिये विवश हो जाती थीं।[6] किन्तु यह निश्चित नहीं कि जैसा कि त्सिमर[7] का विचार है, अनाथ बालिकाओं के विवाह के लिये उनके भ्राताओं का प्रयास आवश्यक होने के कारण ऐसा होता था, अथवा इसलिये कि पुत्र-विहीन पिता द्वारा अपनी पुत्रियों को *पुत्रिका* बना लेने की सम्भावना के कारण, क्योंकि इस द्वितीय दशा में पुत्रिका-पुत्री का पुत्र अपने पिता का नहीं वरन् नाना का उत्तराधिकारी माना जाता था।[8] देखिये *जामि*।

[2] ऋग्वेद १. १२४, ८। देखिये डेलब्रुक : डी० व०, ४६३; ऋग्वेद १. ६२, १०; ६४, ७; ७१, १, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १०. १०८, ९।
[4] १०. ८५, ४६। तु० की० ९. ९६, २२।
[5] ३. ३७, ५।
[6] अथर्ववेद १. १७, १; ऋग्वेद १. १२४, ७; ४. ५, ५; निरुक्त ३. ५।
[7] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३२८।
[8] तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर २२, ४८, ४९ (ऋग्वेद ३. ३१, १, और बाद)।

स्वस्रीय यजुर्वेद की संहिताओं[1] में विश्वरूप की पैतृकता के वर्णन में 'बहन के पुत्र' के आशय में आता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, १; मैत्रायणी संहिता २. ४, १। तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ४८५।

स्वाती—देखिये *नक्षत्र*।

स्वाध्याय ब्राह्मणों[1] में वैदिक संहिताओं के अध्ययन का द्योतक है। सूत्रों में इसके सम्बन्ध में विस्तृत नियम मिलते हैं। तु० की० *ब्राह्मण*।

[1] शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ३, ६; ४. ६, ९, ६; ११.५, ६, ३; ७, १.४.७; छान्दोग्य उपनिषद् १. १२, १; ८, १५; कौषीतकि उपनिषद् १. १।

स्वायव ('स्वायु' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (८. ६, ८) में *कूशाम्ब लातव्य* का पैतृक नाम है।

स्वा-राज्य—देखिये *राज्य*।

स्वेद-ज ('पसीने से उत्पन्न', अर्थात् 'ऊष्ण नमी से उत्पन्न') ऐतरेय उपनिषद्[1] में जीवों के एक ऐसे वर्ग का द्योतक है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के कीटाणु आ जाते हैं। मानव धर्मशास्त्र[2] में इसकी 'मक्खियों, मच्छरों, खटमलों, इत्यादि, के रूप में व्याख्या की गई है।

[1] ३. ३, ३।
[2] १. ४५। तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक, २३५।

स्वैदायन ('स्वेद' का वंशज) ब्राह्मणों[1] में *शौनक* का पैतृक नाम है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, २. ३; गोपथ ब्राह्मण १. ३, ६।

स्वौपश—देखिये *औपश*।

ह

हंस, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में इसी नाम के एक जल-पक्षी का द्योतक है। इन पक्षियों के पृष्ठभाग को श्यामवर्ण (नीलपृष्ठ)[3] कहा गया है। यह टोलियों में उड़ते हैं,[4] जल में तैरते हैं (उद्-प्रुत्),[5] तीव्र ध्वनि करते हैं,[6] और रात में जागते रहते हैं।[7] यजुर्वेद[8] में हंस को जल से सोम को पृथक् (बाद में

[1] १. ६५, ५; १६३, १०; २. ३४, ५; ३. ८, ९, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ६. १२, १, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ७. ५९, ७।
[4] ऋग्वेद ३. ८, ९।
[5] ऋग्वेद १. ६५, ५; ३. ४५ ४।
[6] ऋग्वेद ६. ५३, १०।
[7] अथर्ववेद ६. १२, १।
[8] काठक संहिता ३८. १; मैत्रायणी संहिता ३. ११, ६; वाजसनेयि संहिता १९. ७४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, २, १।

जल से दूध को पृथक्) करने की क्षमता से युक्त बताया गया है। इसका अश्वमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में भी उल्लेख है।[९]

[९] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २१, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ३; वाजसनेयि संहिता २४. २२. ३५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ८९, ९०; लैनमेन : ज० अ० ओ० सो०, १९, १५१; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५०।

हंस-साचि, तैत्तिरीय संहिता[१] में एक अज्ञात पक्षी का नाम है, जिसका अश्वमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में उल्लेख है।

[१] ५. ५, २०, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ९३।

हय, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में घोड़े का द्योतक है।

[१] ५. ४६, १; ७. ७४, ४; ९. १०७, २५।
[२] वाजसनेयि संहिता ७. ४७; २२. १९, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २३१।

हर-याण, ऋग्वेद[१] में स्पष्ट रूप से एक व्यक्ति का नाम है, जिसका *उक्षण्यायन* और *सुषामन्* के साथ-साथ उल्लेख है।

[१] ८. २८, २२; निरुक्त ५. १५। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६२।

हरिण, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'मृग' का द्योतक है। यह गति[३] और भय[४] दोनों का प्रतीक है। इसकी सींगों का यंत्रों के रूप में प्रयोग होता था।[५] इसे भोजन के लिये जौ (*यव*)[६] अधिक प्रिय था। मैत्रायणी संहिता[७] में ऐसा कथन है कि यह विषधर (*स्वज*) को मार डालता था। तु० की० *कुलङ्ग*, *न्यङ्कु*। हरिणी[८] इसका स्त्रीलिङ्ग रूप है।

[१] १. १६३, १; ५. ७८, २।
[२] अथर्ववेद ६. ६७, ३, इत्यादि।
[३] अथर्ववेद ३. ७, १।
[४] अथर्ववेद ६. ६७, ३।
[५] अथर्ववेद ३. ७, १. २।
[६] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, २ (हरिणी); वाजसनेयि संहिता २३. ३०; मैत्रायणी संहिता ३. १३, १; काठक संहिता, अश्वमेध, ४. ८ ('हरिणी', भी); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, ७, २ (हरिणी)।
[७] ३. ९, ३।
[८] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, २, और देखिये नोट ६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ८३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३३६, ३३७।

१. *हरित* से संहिताओं[1] के कुछ स्थलों पर 'स्वर्ण' का आशय प्रतीत होता है।

[1] अथर्ववेद ५. २८, ५. ९; ११. ३, ८; काठक संहिता ८. ५।

२. *हरित कश्यप* का, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अंतिम वंश में *शिल्प कश्यप* के शिष्य, एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ४, ३३ (माध्यन्दि = ६. ५, ३ काण्व)।

हरि-द्रु, शतपथ ब्राह्मण (१३. ८, १, १६) में एक वृक्ष का नाम है।

हरिमन्, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में एक व्याधि के रूप में 'पीलेपन' का द्योतक है।

[1] १. ५०, ११ और बाद :
[2] १. २२, १; ९. ८, ९; १९. ४४, २।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३७८, ३८८।

हरि-यूपीया का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उस स्थान के रूप में उल्लेख है जहाँ *अभ्यावर्तिन चायमन* ने *वृचीवन्तों* को पराजित किया था। यह या तो किसी स्थान, अथवा किसी नदी का द्योतक हो सकता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक युद्ध नदियों के तट पर लड़े गये थे। लुडविग[2] ने इसे *यव्यावती* के तट पर बसे उस नगर के नाम के रूप में ग्रहण किया है जिसके साथ सायण ने इस स्थल के अपने भाष्य में इसे समीकृत किया है। हिलेब्रान्ट[3] का विचार है कि यह *कुभ* की सहायक 'इर्याब' (हलियाब) नदी है, किन्तु ऐसा कदापि संभव नहीं।

[1] ६. २७, ५।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५८।
[3] वेदिशे माइथौलोजी, ३, २६८, नोट १।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १८, १९; केगी : ऋग्वेद, नोट ३२८।

हरि-वर्ण आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सामनों के एक द्रष्टा नाम है।

[1] ८. ९, ४. ५। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५, ६३।

हरि-श्चन्द्र वैधस ('वेधस' का वंशज) ऐक्ष्वाक (इक्ष्वाकु का वंशज), ऐतरेय ब्राह्मण (७. १४, २) और शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५. १७) में सम्भवतः उस पौराणिक राजा का नाम है जिसका, वरुण को अपना *रोहित*

नामक पुत्र समर्पित कर देने का, शीघ्रतापूर्वक किया गया प्रण *शुनःशेप* की कथा का स्रोत है।

हर्म्य, वैदिक काल के उस सम्मिलित 'गृह' का द्योतक है जिसके अन्तर्गत गोष्ठादि भी आ जाते थे,[1] और जो एक प्रकार के परकोटे अथवा दीवार से घिरा होता था।[2] इसका ऋग्वेद[3] और बाद[4] में अनेक बार उल्लेख है। तु० की० *गृह*।

[1] ऋग्वेद ७. ५६, १६। तु० की० १०. १०६, ५।

[2] ऋग्वेद ७. ५५, ६। गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, २, २७८, नोट २ ने 'हर्म्येष्ठाः' (ऋग्वेद ७. ५६, १६) को महल की छत पर खड़े एक राजा के आशय में ग्रहण किया है।

[3] १. १२१, १ (घर के लोग, 'विशः'); १६६, ४; ९. ७१, ४; ७८, ३; १०. ४३, ३; ७३, १०, इत्यादि।

[4] अथर्ववेद १८. ४, ५५ (यम का एक प्रासाद); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ६, ३, इत्यादि। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १४९।

हलिक्ष्ण[1] अथवा *हलीक्ष्ण*[2] का यजुर्वेद की संहिताओं में अश्वमेध के बलि-प्राणियों में से एक के रूप में उल्लेख है। भाष्यकार महीधर[3] का विचार है कि यह एक प्रकार का सिंह था और सायण[4] के अनुसार इससे एक 'चटक पक्षी' अथवा सिंह (तृण-सिंह)[5] का तात्पर्य है। अथर्ववेद[6] में 'हलीक्ष्ण' किसी आँत-विशेष का द्योतक है, किन्तु वेबर[7] के विचार से इसका अर्थ 'पित्त' है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १२; वाजसनेयि संहिता २४. ३१।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १; ७, २३, १।

[3] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर।

[4] तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था०, पर।

[5] 'तृण-सिंह' बहुत अधिक बोधगम्य नहीं है।

[6] २. ३३, ३।

[7] इन्डिशे स्टूडियन १३, २०६। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ७९।

हविर्-धान, प्रमुखतः तो उस गाड़ी का द्योतक है जिस पर रख कर सोम-पौधे को दबाने के लिये ले जाया जाता था,[1] और इसके बाद उस स्थान का जहाँ यह सोम की गाड़ियाँ रक्खी जाती थीं।[2]

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. १, ३, १; ६. २, ९, १. ४, इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ११, १. ४, इत्यादि। देखिये **गृह**; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, १५४।

हविष्-कृत् आङ्गिरस (*अङ्गिरस्* का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय संहिता[2] के अनुसार सामनों के एक द्रष्टा का नाम है। निम्न शब्द भी देखिये।

[1] ११. १०, ९. १०; २०. ११, ३।
[2] ७. १, ४, १।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १६०; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६२।

हविष्मन्त् आङ्गिरस का, तैत्तिरीय संहिता[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में *हविष्कृत्* के साथ-साथ सामनों के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

[1] ७. १, ४, १।
[2] ११. १०, ९. १०; २०. ११, ३।

हविस्, देवों को समर्पित करने की हवि का सामान्य नाम है, चाहे यह हवि अन्न की हो, अथवा सोम, दुग्ध, या घृत की। यह शब्द ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से सामान्य रूप से मिलता है।

[1] १. २४, ११; २६, ६; १७०, ५, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ३. १०, ५; ६. ५, ३, इत्यादि।

हस्त—देखिये *नक्षत्र*।

हस्त-घ्न, ऋग्वेद[1] में हस्तत्राण अथवा ऐसे कवच का द्योतक है जिसे धनुष की प्रत्यञ्चा के झटके से बचाने के लिये हाथ और भुजा पर धारण किया जाता था। इस शब्द का रूप उल्लेखनीय तो है किन्तु इसकी व्याख्या नहीं की जा सकी है।[2] इसके समानार्थी के रूप में लाट्यायन[3] में 'हस्त-त्र', और महाकाव्य में 'हस्तावाप'[4] है।

[1] ६. ७५, १४; निरुक्त ९. १४। संहिताओं के समानान्तर पाठों से इसका ऐसा पाठ निश्चित है : तैत्तिरीय संहिता ४. ६, ६, ५; मैत्रायणी संहिता ३. १६, ३; वाजसनेयि संहिता २९. ५१।
[2] पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २१६; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ४१६।
[3] श्रौतसूत्र ३. १०, ७।
[4] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १३, ३०८।

हस्तादान—देखिये *पशु*।

हस्तिन् (हस्तयुक्त) ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में *मृग* (पशु) के साथ

[1] १. ६४, ७; ४. १६, १४।
[2] १२. १, २५। अन्यत्र केवल 'हस्तिन्' का ही प्रयोग है : ३. २२, ३; ४. ३६, ९; ६. ३८, २; ७०, २; १९. १, २२।

'हाथी' का द्योतक है। बाद में अकेले ही इस विशेषण का अर्थ 'हाथी' है।[3] यह पशु अपनी शक्ति[4] तथा पुरुषत्व[5] के लिये प्रख्यात है। मुख से पकड़नेवाले (मुखादान) पशुओं के विपरीत इसका मनुष्य तथा बन्दरों के साथ-साथ एक ऐसे पशु के रूप में उल्लेख है जो हाथ से पकड़ता है (हस्तादान)।[6] जैसा कि *हस्तिप* (हाथी का रखवाला) शब्द से प्रकट होता है, यह पाला जाता था, और अन्य हाथियों को पकड़ने के लिये इन पालतू हाथियों का ही प्रयोग होता था (देखिये *वारण*)। किन्तु युद्ध में इसके प्रयोग का कोई चिह्न नहीं है, यद्यपि अपने-अपने समयों के लिये क्टेसियस और मेगास्थनीज़ दोनों ने ही इस प्रकार के प्रयोग का उल्लेख किया है।[7] अथर्ववेद[8] में हाथियों के शरीर पर मच्छरों के लगे होने का सन्दर्भ है।

[3] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ८; वाजसनेयि संहिता २४. २९; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ८, ८; २३. १३, २; ऐतरेय ब्राह्मण ४. १, १४; ५. ३१, २; ६. २७, २; शतपथ ब्राह्मण ३. १, ३, ४, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ७. २४, २ (स्वर्ण के साथ संयुक्त), इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. २२, १।

[4] ऋग्वेद उ० स्था०; अथर्ववेद २. २२, १. ३।

[5] अथर्ववेद ३. २२, ६; ६. ७०, २।

[6] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ५, ७; मैत्रायणी संहिता ४. ५, ७।

[7] फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट-कल्चर, ४३४।

[8] अथर्ववेद ४. ३६, ९।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८०।

हस्ति-प (हाथी का रखवाला) का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में उल्लेख है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ११; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ९, १।

हस्रा, ऋग्वेद[1] में पिशल[2] के अनुसार 'नर्तकी' का द्योतक है।

[1] १. १२४, ७।

[2] वेदिशे स्टूडियन, १, १९६, ३०८।

हायन, सामान्यतया यौगिक रूप से 'वर्ष' का द्योतक है।[1] काठक संहिता[2] और शतपथ ब्राह्मण[3] में यह शब्द लाल चावल के वाचक के रूप में

[1] अथर्ववेद ८. २, २१; 'शत-हायन', ८. २, ८; ७, २२; 'हायनी', १२. १, ३६ (सम्भवतः भ्रष्ट)।

[2] १५. ५।

[3] ५. ३, ३, ६; (तैत्तिरीय संहिता १. ८, १०, १, में इसके स्थल पर 'महा-व्रीहि' है)।

आता है। 'वर्ष पर्यन्त' अथवा 'प्रति वर्ष होनेवाला' आशय में यह विशेषण के रूप में अथर्ववेद[४] में 'ज्वर' के लिये व्यवहृत हुआ है।

[४] १९. ३९, १०।
तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टीक्विटीज़, ३०१।

हारिकर्णी-पुत्र ('हरिकर्ण' के एक स्त्री-वंशज का पुत्र) माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४, ३०) के अन्तिम वंश में *भारद्वाजी-पुत्र* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

हारिद्रव, ऋग्वेद[१] में एक पीत-वर्ण पक्षी, सम्भवतः जलीय 'गोपीतनक'[२] का नाम है। गेल्डनर[3] ने यूनानी 'खाराड्रिओस' (Χαραδριος) की तुलना की है।

[१] १. ५०, १२; ८. ३५, ७।
[२] ऋग्वेद १. ५०, १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ६, २, पर सायण इसे एक पौधे का नाम मानते हैं (तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६२)। किन्तु अथर्ववेद १. २२, ४, पर वह इसे 'गोपीतनक' के रूप में ग्रहण करते हैं।
[3] ऋग्वेद, ग्लॉसर २१३।
तु० की० ब्लूमफ़ील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, २६४, नोट १; २६६; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २३।

हारिद्रविक, निरुक्त[१] में उल्लिखित हारिद्रविन् की एक कृति का नाम है।

[१] ९. ५। देखिये रौथ : निरुक्त xxiii; फॉन श्रोडर : मैत्रायणी संहिता १,xiii।

हारि-द्रुमत ('हरिद्रुमन्त्' का वंशज) छान्दोग्य उपनिषद् (४. ४, ३) में *गौतम* का पैतृक नाम है।

हालिङ्ग्व ('हलिङ्गु' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१०. ४, ५, १) में एक आचार्य का नाम है।

हिता, ब्राह्मणों[१] में कुछ 'धमनियों' का नाम है। तु० की० *हिरा*।

[१] बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, २१; ४. २, ४; ३, २०; कौषीतकि उपनिषद् ४. १९।

हिम, जो कि 'शीत', 'शीतऋतु' का द्योतक है, ऋग्वेद[१] में तो सामान्य रूप से, किन्तु बाद[२] में कभी-कभी ही मिलता है। 'हिम' (बर्फ) के अर्थ

[१] १. ११६, ८; ११९, ६; ८. ३२, २६, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद ७. १८, २; १३. १, ४६; १९. ४९, ५ (शीतलता की माता के रूप में रात्रि). इत्यादि।

में यह तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में पुल्लिङ्ग में, और बाद में अक्सर क्लीव[4] में आता है। तु० की० *हेमन्त*।

[3] ३. १२, ७, २। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, १९२-१९५।
[4] षड्विंश ब्राह्मण ६. ९, इत्यादि।

हिमवन्त्, अथर्ववेद[1] में पर्वतों की उपाधि के रूप में आता है। इस ग्रन्थ[2] तथा ऋग्वेद,[3] और बाद[4] में भी, यह इसी अर्थ में संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य को अस्वीकृत करने के लिये कोई आधार प्रतीत नहीं होता कि इस शब्द से प्रायः सभी स्थलों पर उसी पर्वत-माला का तात्पर्य है जिसे आज हिमालय कहते हैं, यद्यपि यह सम्भव है कि इस नाम के अन्तर्गत ऐसे पर्वत, जैसे सुलेमान की पहाड़ाड़ियां,[5] भी सम्मिलित रही हों जो हिमालय पर्वत-माला के अन्तर्गत नहीं आतीं। देखिये *मूजवन्त्* और *त्रिककुभ्* भी।

[1] १२. १, ११।
[2] ६. ९५, ३। देखिये ४. ९, ९; ५. ४, २. ८; २५, ७; ६. २४, १, (जहाँ हिमालय की नदियों का सन्दर्भ है); १९. ३९, १, भी।
[3] १०. १२१, ४।
[4] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; वाजसनेयि संहिता २४. ३०; २५. १२; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४, ३ (उत्तर कुरु और उत्तर मद्र लोग इसके उस पार, सम्भवतः काश्मीर में, रहते थे), इत्यादि।
[5] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १९८। तु० की० त्सिमर। आल्टिन्डिशे लेबेन, २९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, १२, जो इसमें काकेशस पर्वत की स्मृति देखना चाहते हैं।

हिमा, ऋग्वेद[1] और अन्यत्र[2], 'शत-शीत' ऋतुओं को व्यक्त करनेवाले यौगिक शब्द में 'शीत-ऋतु' का द्योतक है।

[1] १. ६४, १४; २. ३३, २; ५. ५४, १५; ६. ४८, ८।
[2] अथर्ववेद २. २८, ४; १२. २, २८; तैत्तिरीय संहिता १. ६, ६, ३; वाजसनेयि संहिता २. २७।

हिरणिन् (स्वर्ण से सम्पन्न) ऋग्वेद[1] के एक मन्त्र में प्रत्यक्षतः *त्रसदस्यु* की उपाधि है, जहाँ राजा के स्वर्ण-परिधानों, अथवा स्वर्ण-सम्पत्तियों का सन्दर्भ है। फिर भी, लुडविग[2] के विचार से, यह शब्द सम्भवतः त्रसदस्यु का व्यक्तिवाचक नाम है।

[1] ५. ५३, ८।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५५।

हिरणिन, ऋग्वेद[1] के एक स्थान पर मिलता है, जहाँ लुडविग[2] ने इसे शाण्ड के नाम के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु यह 'हिरणिन्' का एक विशेषणात्मक रूप प्रतीत होता है।

[1] ६. ६३ ९।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५८।

हिरण्य ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'स्वर्ण' का द्योतक है। वैदिक भारतीयों द्वारा स्वर्ण को प्रदान किये गये महत्त्व के तथ्य को अतिरंजित करना कदाचित ही सम्भव है। यह स्पष्ट है कि यह धातु नदियों की घाटियों से निकाली जाती थी। इसीलिये सिन्धु को 'स्वर्णमय'[3] और 'स्वर्ण-धारा'[4] कहा गया है। प्रत्यक्षतः भूमि के गर्भ से स्वर्ण निकालना ज्ञात था,[5] और स्वर्ण की धुलाई का भी उल्लेख है।[6]

स्वर्ण वैदिक-गायकों की आकांक्षा का विषय था,[7] और उदार दाताओं[8] द्वारा गायों तथा अश्वों के साथ-साथ स्वर्णादि (हिरण्यानि) के भी दान का उल्लेख है। गले और वक्ष के आभूषणों (*निष्क*), कान की बालियों (*कर्ण-शोभन*), तथा यहाँ तक कि प्यालों के लिये भी, स्वर्ण का प्रयोग होता था।[9] स्वर्ण को सदैव देवों के साथ सम्बद्ध किया गया है।[10]

बहुवचन में 'हिरण्य' शब्द 'स्वर्ण के आभूषणों' का द्योतक है।[11]

स्वर्ण-मुद्रा के ज्ञान का भी आरम्भ हो चला था, जैसा कि स्वर्ण की निश्चित तौलों के उल्लेखों से पता चलता है : इस प्रकार एक तौल, 'अष्टा-

[1] १. ४३, ५; ३. ३४, ९; ४. १०, ६; १७, ११, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १. ९, २; २. ३६, ७; ५. २८, ६; ६. ३८, २, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १०. ७५, ८ :

[4] ऋग्वेद ६. ६१, ७; ८. २६, १८।

[5] ऋग्वेद १. ११७, ५; अथर्ववेद १२, १, ६. २६. ४४।

[6] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ७, १; शतपथ ब्राह्मण २. १, १, ५।

[7] ऋग्वेद ६. ४७, २३; ८. ७८, ९; पिशल और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, xxiv।

[8] तु० की० एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में हिरण्यस्तूप।

[9] तैत्तिरीय संहिता ५. ७, १, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ३, ७; शतपथ ब्राह्मण ५. १, २, १९; ५, २८।

[10] जो कुछ भी इनसे सम्बद्ध है वह स्वर्ण का ही बना हुआ है; सूर्य के अश्व 'हिरण्य-त्वचस्' (अथर्ववेद १३. २, ८) हैं, इत्यादि।

[11] ऋग्वेद १. १२२, २; १६२, १६; २. ३३, ९; ५. ६०, ४; अथर्ववेद ४. १०, ६; वाजसनेयि संहिता १५. ५०; २०. ३७; एक वचन में भी, अथर्ववेद १. ३५, १; १३. ४, ५६।

प्रूड', संहिताओं[12] में आता है, और स्वर्ण 'शतमान' (एक सौ कृष्णलों की तौल के बराबर) भी इन्हीं ग्रन्थों[13] में मिलता है। इसके अतिरिक्त, अनेक स्थलों[14] पर 'हिरण्य' अथवा 'हिरण्यानि' से 'स्वर्ण के टुकड़ों' का तात्पर्य हो सकता है।

स्वर्ण को कभी 'हरित'[15], और कभी-कभी जब 'चाँदी' उद्दिष्ट है तो 'रजत'[16] कहा गया है। इसे धमन द्वारा कच्ची धातु से प्राप्त किया जाता था।[17] मेगास्थनीज़[18] ने अपने समय में भारत में स्वर्ण की प्रचुरता का उल्लेख किया है।

[12] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, १, ४; काठक संहिता ११.१; १३.१०; फॉन श्रोडर : त्सी० गे०, ४९, १६४।

[13] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ५, १६; १२. ७, २, १३; ९, १, ४। तु० की० १३. १, १, ४; २, ३, २; ४, १, १३; २. ९, १३; १४. ३, १, ३२; तैत्तिरीय संहिता २. ३, ११, ५; काठक संहिता ८. ५; २२. ८; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, १०१। गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, १, २६८ यह विचार रखते हैं कि ऋग्वेद में अस्पष्ट रूप से प्रयुक्त 'सहस्र', आदि शब्दों से स्वर्ण के तौल की एक इकाई का ही सन्दर्भ है। देखिये ८. १, १३; ६५, १२; १०. ९५, ३, इत्यादि।

[14] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ७, ४; ३. ८, २, २; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, १, ७; १३. ४, १, ६, इत्यादि।

[15] काठक संहिता १०. ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ४, ६; षड्विंश ब्राह्मण २. ९।

[16] तैत्तिरीय संहिता १. ५, १, २; शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ४, ७; १३. ४, २, १०, इत्यादि।

[17] शतपथ ब्राह्मण ६. १, ३, ५। तु० की० २. २, ३, २८; १२. ४, ३, १; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ६, ४ (निष्टप्); जैमिनीय ब्राह्मण १. १० (ज० अ० ओ० सो०, १६, २३४, ccxliii); लाट्यायन श्रौतसूत्र ३. १, ९, इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ३४, ६।

[18] देखिये डियोडोरस सिकूलस, २, ३६; स्ट्राबो, पृ० ७०३, ७११।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ४९–५१; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५१।

हिरण्य-कशिपु, ब्राह्मणों[1] में एक 'स्वर्णिम आसन' का द्योतक है जो स्वर्ण-जड़ित वस्त्र से ढका होता था।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, २०, १; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८, १२। तु० की० 'एक स्वर्णिम वस्त्र से युक्त', के आशय में एक विशेषण के रूप में यह शब्द : अथर्ववेद ५. ७, १०।

हिरण्य-कार का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १४, १।

हिरण्य-दन्त् वैद ('वेद' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (३. ६, ३) और ऐतरेय आरण्यक (२. १, ५) में एक आचार्य का नाम है। यह नाम सम्भवतः दाँतों के खोखलों में स्वर्ण भरने की प्रथा का भी संकेत करता है; देखिये दन्त्।

हिरण्य-नाभ उस *कौसल्य* अथवा कोसल राजा का नाम है जिसके अश्वमेध का शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६. ९, १३) में उल्लेख प्रतीत होता है। प्रश्न उपनिषद् (६. १) में भी इसका उल्लेख है और यह *पर आट्णार* से सम्बद्ध रहा हो सकता है। तु० की० *हैरण्य-नाभ*।

हिरण्य-स्तूप, ऋग्वेद[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में एक मनुष्य का नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में इसे एक *आङ्गिरस* कहा गया है और यहीं इसे ऋग्वेद के एक सूक्त[4] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। अनुक्रमणी में इसको अनेक अन्य सूक्तों[5] का द्रष्टा बताया गया है।

[1] १०. १४९, ५।
[2] १. ६, ४, २।
[3] ३. २४, ११।
[4] १. ३२।
[5] १. ३१–३५; ९. ४. ६९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०४, १४१।

हिरण्य-हस्त, ऋग्वेद[1] में अश्विनों द्वारा *वध्रिमती* (जो, जैसा कि इसके नाम से व्यक्त होता है, एक नपुंसक की पत्नी थी) को प्रदत्त एक पुत्र का नाम है।

[1] १. ११६, १३; ११७, २४; ६. ६२, ७; १०. ३९, ७। १०. ६५, १२ में इसे श्याव कहा गया प्रतीत होता है। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ५२।

हिरा, अथर्ववेद[1] में, *हिता* की ही भाँति, 'धमनी' का द्योतक है।

[1] १. १७, १; ७. ३५, २; वाजसनेयि संहिता २५. ८। तु० की० वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३४६।

हृत्स्व-आशय आह्लकेय का, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) के एक वंश में, *सोमशुष्म सात्ययज्ञि प्राचीनयोग्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

हृदयामय (हृदय की व्याधि) का अथर्ववेद में *यक्ष्म*[1] के सन्दर्भ में और *बलास*[2] के साथ उल्लेख है। त्सिमर[3], जो कि बलास को यक्ष्मा मानते हैं, इस नाम को आयुर्वेद-संहिताओं[4] के इस दृष्टिकोण के साथ सम्बद्ध करते हैं कि प्रेम इस व्याधि के कारणों में से एक है। किन्तु इससे हृदय को ग्रसित करने वाली व्याधि का तात्पर्य मानना अधिक स्वाभाविक होगा।

[1] ५. ३०, ९।
[2] ६. १४, १; १२७, ३।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३८७।
[4] वाइज़ : हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन, ३२१, ३२२।

हृद्-योत[1] (*हृद्-द्योत* के लिये) और *हृद्-रोग*[2] का क्रमशः अथर्ववेद और ऋग्वेद में उल्लेख है। त्सिमर[3] अथर्ववेद में इस व्याधि को *हृदयामय* (प्रेम द्वारा उत्पन्न यक्ष्मा) के साथ समीकृत करते हैं। ऋग्वेद में ऐसा क़दापि सम्भव नहीं : बाद में आयुर्वेद संहिताओं में यह शब्द सम्भवतः angina pectoris का[4] द्योतक है।

[1] अथर्ववेद १. २२, १। तु० की० ६. २४, १।
[2] ऋग्वेद १. ५०, ११।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३८८।
[4] वाइज़ : हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन, ३२१।

हेमन् (केवल एक वचन सप्तमी में प्रयुक्त) बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में 'शीत-ऋतु' का द्योतक है।[1]

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ६, १, १; काठक संहिता ३६. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, १०, १०; शतपथ ब्राह्मण १. ५, ४, ५; ११. २, ७, ३२।

हेमन्त, ऋग्वेद[1] में तो केवल एक बार किन्तु बाद के ग्रन्थों[2] में अक्सर आता है। त्सिमर[3] ऋग्वेद में ऋतुओं के विभेद का चिह्न देखना चाहते हैं : आपका विचार है कि कुछ सूक्त[4], जो हेमन्त की उपेक्षा करते हुये वर्षा पर ज़ोर देते हैं, उन सूक्तों की अपेक्षा उत्पत्ति की दृष्टि से एक भिन्न स्थान और समय का संकेत करते हैं, जिनमें हिमाच्छादित पर्वतों[5] का सन्दर्भ है। फिर

[1] १०. १६१, ४।
[2] अथर्ववेद ६. ५५, २; ८. २, २२; १२. १, ३६; तैत्तिरीय संहिता ५. ७, २, ४; वाजसनेयि संहिता १३. ५८; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १५, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, १०, १०; शतपथ ब्राह्मण १०. ४, ५, २, इत्यादि।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, ४०।
[4] ऋग्वेद ७. १०३; १०. ९०।
[5] ऋग्वेद १०. ६८, १०; १२१, ४ (यह दोनों ही प्रायः सूक्त नहीं हैं)।

भी, ऋग्वेद के विभिन्न अंशों को इस प्रकार पृथक् करना सर्वथा असम्भव है। ऐसा सम्भव है कि यह संहिता प्रमुखतः बाद में *मध्यदेश* के नाम से प्रचलित स्थान के व्यक्तियों की कृति हो; और इस प्रकार शीत और हिम के सन्दर्भ कालात्मक की अपेक्षा स्थानीय अंतर के ही चिह्न रहे होंगे। यह तीन ऋतुओं के, बाद के चार के रूप में उस विभाजन के विपरीत है, जो स्पष्टतः भारतीयों की आरम्भिक प्रगति को व्यक्त करता है (देखिये *ऋतु*)।

शतपथ ब्राह्मण[६] में हेमन्त का उस समय के रूप में वर्णन है जब पौधे म्लान होने लगते हैं, वृक्षों से पत्तियाँ गिरने लगती हैं, पक्षी नीचे उड़ते और अपेक्षाकृत अधिकाधिक मात्रा में गरम प्रदेशों को चले जाते हैं।

[६] १. ५, ४, ५।

हैत-नामन ('हितनामन्' का वंशज) उस आचार्य का पैतृक नाम है जिसे मैत्रायणी संहिता[१] में प्रत्यक्षतः 'आहृत' कहा गया है, यद्यपि यह मन्त्र कुछ विचित्र ही है।

[१] ३. ४, ६। पाणिनि ६. ४, १७०, पर वार्त्तिक, और फॉन श्रोडर : मैत्रायणी संहिता २, ix।

हैरण्य-नाभ (*हिरण्यनाभ* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१३. ५, ४, ४) में आने वाली एक *गाथा* में *कोशल* के राजा *पर आट्णार* का पैतृक नाम है।

होतृ वैदिक संस्कारों के ऋत्विजों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्राचीनतम ऋत्विज का नाम है, जो कि अवेस्ता-पौरोहित्य के 'ज़ाओटर' का प्रतिरूप है।[१] इस शब्द को 'हु' (यज्ञ) से व्युत्पन्न मानना चाहिये, जैसा कि *और्णवाभ* का भी मत था;[२] यह उस समय की ओर संकेत करता है जब होतृ एक साथ ही यज्ञकर्ता (बाद का 'अध्वर्यु') और गायक दोनों ही होता था। किन्तु इसके कर्त्तव्यों का ऋग्वेद तक में स्पष्ट विभाजन मिलता है, जहाँ होतृ का प्रमुख कार्य *शस्त्रों* का गायन बताया गया है। अपेक्षाकृत प्राचीन समय में यह राजा का *पुरोहित* भी था, जिस पद पर बाद में *ब्रह्मन्* प्रतिष्ठित हो गया।

[१] ऋग्वेद १. १, १; १४, ११; १३९, १०, इत्यादि; होत्र (होतृ का पद), ऋग्वेद २. १, २; ३६, १; ३७, १, इत्यादि।

[२] निरुक्त ४. २६। तु० की० ओल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, ३८० और बाद।

होत्र, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में होतृ के सहायक पुरोहित का द्योतक है।

[1] २. ३६, ५; ६. ६, २। सूत्रों में इसका विभिन्न प्रयोग मिलता है—कभी इस आशय में, कभी अधिक विस्तृत—जिससे चार प्रमुख पुरोहितों के अतिरिक्त अन्य सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं (तु० की० आश्वालायन श्रौतसूत्र ५. ६, १७)।

ह्रस्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'विगत कल' का द्योतक है।

[1] ८. ६६, ७; ९९, १; १०. ५५, ५।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ९, ३।

ह्रद ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'झील' अथवा 'तालाब' का द्योतक है।

[1] १. ५२, ७; ३. ३६, ८; ४५, ३; १०. ४३, ७; ७१, ७; १०२, ४; १४२, ८, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. १५, ४; ६. ३७, २; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १०, १८; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, १२; ४, ५, १०; ११. ५, ५, ८ इत्यादि।

ह्रदे-चक्षुस, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर जैक्सन[2] के विचार से 'दम्भी की इच्छा' का द्योतक है।

[1] १०. ९५, ६।
[2] प्रो० सो०, मई १८९०, iv।

ह्रस्व माण्डूकेय ('मण्डूक' का वंशज) ऐतरेय आरण्यक[1] में एक आचार्य का नाम है।

[1] ३. १, ५; २, १. ६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३९१। व्यक्तिगत विशिष्टताओं को व्यक्त करनेवाले के रूप में स्थविर के प्रयोग के ही समान इस शब्द को व्यक्तिवाचक नाम मानना चाहिये।

ह्रादुनि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'वज्रपात' का द्योतक है।

[1] १. ३२, १३; ५. ५४, ३।
[2] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १३, १; वाजसनेयि संहिता २२. २६; २६. ९, इत्यादि।

हूडु एक अज्ञात आशय वाला शब्द है जो अथर्ववेद[1] में *तक्मन्* के लिये व्यवहृत हुआ है। पाण्डुलिपियों में इसका 'हुड', 'हूडु', 'रूडु', इत्यादि के रूप विभिन्न प्रकार का अक्षर-विन्यास मिलता है; पैप्पलाद शाखा में 'हुडु' (मेष) पाठ है। हेनरी[2] ने यह अनुमान किया है कि यह शब्द प्रोटो-

[1] १. २५, २. ३।
[2] जर्नल एशियाटिके, नवीं सिरीज, १०, ५१२।

सेमिटिक 'हरूडु' ('स्वर्ण'; असीरियन 'हरशु' और हिब्रू 'हरूश्') के समतुल्य है, जब कि हलेवी[3] का विचार है कि यह यूनानी 'Χλωρος' ('ख्लोरोस') हो सकता है; यह दोनों ही अनुमान अत्यन्त असम्भाव्य हैं।[४] वेवर[५] के विचार से इसका अर्थ 'संकुचित' है।

[3] वही ११, ३२० और बाद।
[४] मैकडौनेल : ज० ए० सो० १९०७, ११०६। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २६, पर लैनमैन; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, २७३।
[५] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ४२०।

ह्वरस् ऋग्वेद[१] के तीन स्थलों पर रौथ[२] के अनुसार सोम-छनने के एक भाग, सम्भवतः उसका द्योतक है जिससे छन कर सोम रस बहता था। किन्तु गेल्डनर[3] का विचार है कि इन सभी स्थलों पर इससे केवल 'अवरोध' का ही आशय है।

[१] ९. ३, २; ६३, ४; १०६, १३।
[२] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० १; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २७८, नोट; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २०३।
[3] वेदिशे माइथौलोजी, २, २०।

परिशिष्ट

अङ्गुलि का शतपथ ब्राह्मण[1] में 'सबसे लघु नाप' के रूप में उल्लेख है।

[1] १०. २, १, २। देखिये फ्लीट : ज० ए० सो०, १९१२, २३१।

अनस्—सूत्रों[1] में गाड़ी (अनस्) के एक भाग को 'गधा' कहा गया है, जिसका गार्बे[2] के मतानुसार 'छत' अर्थ है।

[1] बौधायन श्रौतसूत्र १३. ३८; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, १९. २६, ४। तु० की० 'त्रि-गध', वही, १९. २६, २।

[2] आपस्तम्ब का संस्करण, ३, ३५६।

अरणी, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में लकड़ी के उन दो टुकड़ों का नाम है जिनके परस्पर मन्थन द्वारा यज्ञाग्नि उत्पन्न की जाती थी। ऊपरी (उत्तरा) और निचली (अधरा) लकड़ियों का विभेद किया गया है।[3] वर्मे के आकार की ऊपरी लकड़ी *अश्वत्थ*[4] की कड़ी लकड़ी से, और पटरे के रूप में निचली *शमी*[5] की नरम लकड़ी की बनी होती थी। ऊपरी लकड़ी को शक्तिपूर्वक (सहसा)[6] हाथों द्वारा (बाहु-भ्याम्)[7] रस्सियों (रसनाभिः)[8] के माध्यम से आगे-पीछे मथा जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्रिया वैसी ही थी जैसी कि आज भी भारत में दूध से मक्खन पृथक करने के लिये व्यवहृत

[1] १. १२७, ४; १२९, ५; ३. २९, २; ५. ९, ३; ७. १, १; १०. १८४, ३।

[2] अथर्ववेद १०. ८, २०; शतपथ ब्राह्मण ३. १, १, ११; ४. ६, ८, ३; १२. ४, ३, ३. १०; काठक उपनिषद् ४. ७; श्वेताश्वतर उपनिषद् १. १४. १५; आश्वलायन गृह्यसूत्र ४. ६।

[3] शतपथ ब्राह्मण ३. ४, १, २२; ११. ५, १, १५; कात्यायन श्रौतसूत्र, ५. १, ३०, इत्यादि।

[4] अथर्ववेद ६. ११, १; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १, १३; कात्यायन श्रौतसूत्र ४. ७, २२।

[5] अथर्ववेद ६. ११, १; ३०, २. ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ११ और बाद।

[6] ऋग्वेद ६. ४८, ५।

[7] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४, ७। तु० की० ऋग्वेद १०. ७, ५।

[8] तु० की० ऋग्वेद १०. ४, ६। देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ९१।

होती है, और इन दोनों ही पद्धतियों के लिये एक ही क्रिया, 'मथ्'[1] का व्यवहार किया गया है। यज्ञाग्नि उत्पन्न करने की यह क्रिया भारत में आज भी प्रचलित है। आधुनिक उपकरण के नमूने इण्डियन इन्स्टीट्यूट और पिट-रिवर्स म्यूज़ियम, आक्सफोर्ड, में देखे जा सकते हैं।

[1] अग्नि : ऋग्वेद ६. १५, १७; ४८, ५, इत्यादि। मक्खन : 'दुग्धं मथितम् आज्यं भवति', तैत्तिरीय संहिता २. २, १०, २; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, २, ६; कात्यातन श्रौतसूत्र, ५. ८, १८।

अरत्नि—बौधायन[1] के शुल्बसूत्र के अनुसार यह नाप २४ अंगुलियों के बराबर होता था। शतपथ ब्राह्मण[2] में भी नाप के रूप में २४ अंगुलियों का उल्लेख तो है, किन्तु 'अरत्नि'[3] के सन्दर्भ के बिना ही।

[1] फ्लीट : ज० ए० सो० १९१२, २३१, नोट २।
[2] १०. २, १, ३।
[3] तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४३, ३००, नोट ३।

अर्क (Calotropis gigantea) का शतपथ ब्राह्मण (९. १, १, ४. १; पत्ते : 'अर्क-पर्ण', ४२; 'अर्क-पलास', १. २, ३, १२. १३.) में अक्सर उल्लेख है।

आधान, यजुर्वेद संहिताओं[1] में 'वल्गा', और विशेषतः वल्गा के उस भाग का द्योतक है जो घोड़े के मुख में लगाया जाता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ९, २. ३; काठक संहिता २८. ९; मैत्रायणी संहिता ४. ७, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ३, १०।

इतिहास—वैदिक इतिहास की प्रकृति की समस्या पर कीथ : ज० ए० सो०, १९११, ९७९-९९५; १९१२, ४२९-४३८; तथा औल्डेनबर्ग : न० गो०, १९११, ४४१-४६८; ने और अधिक विचार प्रस्तुत किये हैं।

ऐक्ष्वाक—'वार्ष्णि' के स्थान पर 'वार्ष्ण' पढ़ें।

कक्ष, १, १२६, को १, १४५ के *ककर* के पहले और *कंस* ('धातु के बर्तन' या 'पात्र') के बाद, २. *कंस* होना चाहिये, और उस *कंस* को अब १. *कंस* मानना चाहिये।

कम्बोज—इन ईरानी सम्बन्धों के लिये देखिये, कुन : अ० सं०, २१३ और बाद; ग्रियर्सन : ज० ए० सो० १९११, ८०१, ८०२; १९१२, २५५;

जी० के० नारीमैन; वही, २५५-२५७; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, २[२]२, ३५५, ३५६।

काण्डा-विश, १, १६४, को *कान्दा-विष* होना चाहिये।

काण्वी-पुत्र, १. १६३, को *काण्वायन* के बाद आना चाहिये।

कुमार-हारित, १, १९१, को *कुभ्र*, १, १८० के बाद आना चाहिये।

कुमल-बर्हिस्, १, १९१, को *कुल्मल-बर्हिस्* होना चाहिये।

कुषुम्भक, ऋग्वेद के दोनों ही स्थलों पर एगर्टन (ज० अ० ओ० सो०, ३१, १२४) के अनुसार 'विष के थैले' का द्योतक है।

क्रोश—नोट १ में 'लगभग दो मील' के स्थान पर '१$\frac{1}{2}$ मील' पढ़ें। देखिये फ्लीट : ज० ए० सो० १९१२, २३७।

ग्राम—'ग्रामिन्' (ग्राम का स्वामी) तैत्तिरीय संहिता (२. १, ३, २; ६, ७; २, ८, १; ११, १; ३, ३, ५; ९, २) में ग्राम अर्जित करने के लिये प्रयुक्त विभिन्न संस्कारों के सम्बन्ध में अवसर आता है। यतः इन दशाओं में *सजातों* और 'समानों' पर प्रभुता प्राप्त करने का बहुधा उल्लेख है, अतः इस मान्यता के लिये भी अवसर देना चाहिये कि महात्वाकांक्षी व्यक्ति अपने अन्य ग्रामिनों पर भी, बिना राजा के हस्तक्षेप के ही, महान ज़मीन्दार का पद प्रदान करके प्रभुता प्राप्त कर सकते थे।

चण्डातक, शतपथ ब्राह्मण (५. २, १, ८) और कात्यायन श्रौत सूत्र (१४. ५, ३) में स्त्रियों द्वारा धारण किये जानेवाले किसी भीतरी वस्त्र का द्योतक है।

चमू—औल्डेनबर्ग[1] का विचार है कि द्विवचन तक में यह शब्द उन दो पात्रों का द्योतक है जिनमें छनने से परिष्कृत करने तथा *कोश* में दुग्ध के साथ मिश्रित किये जाने के बाद सोम को उडेला जाता था। आप का यह भी यह विचार है कि बहुवचन में इस तथा अन्य ऐसे पात्रों का सन्दर्भ है जिनमें तैयार करने के क्रम के विभिन्न स्तरों में सोम को रक्खा जाता था। इसी प्रकार *कलश* भी एक (एक वचन) अथवा अनेक (बहुवचन) पात्रों का द्योतक है; इसका द्विवचन रूप प्रयुक्त नहीं हुआ है क्योंकि दो पात्रों के लिये द्विवाचक चमू का ही प्रयोग सुरक्षित था। बाद के संस्कार में 'चमुओं' का स्थान 'द्रोण-कलश' और 'पूतभृत्' ने ले लिया, जो बाद में रूप और वस्तु (लकड़ी के नहीं वरन् मिट्टी के बने होते थे) की दृष्टि से कोश के बाद के नाम 'आधावनीय' के रूप में समन्वित हो गये। इस सिद्धान्त की प्रमुख

[1] त्सी० गे० ६२, ४५९-४७०।

कठिनाई यह है कि इसके द्वारा इस बात की व्याख्या नहीं होती कि 'कलश' कभी भी द्विवचन में क्यों नहीं आता। गेल्डनर[2] इस प्रचीन मत को ही ग्रहण करते हैं कि 'चमू' से सोम दबाने के लिये प्रयुक्त दो पटरों का तात्पर्य है।

[2] ऋग्वेद, ग्लॉसर, ६०।

चाण्डाल, १, २८३, को *चाक्षुष* के बाद आना चाहिये।

जाबाल—'*जबाल* के वंशज', के स्थान पर '*जबाला* का वंशज' पढ़ें।

तलव, १, ३३६ को *तर्य*, १, १३६ के बाद आना चाहिये।

दृषद्वती—'घग्गर' के साथ इस नदी का समीकरण (मैकडौनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, १४२) ग़लत प्रतीत होता है। यह प्रायः निश्चित रूप से आधुनिक 'चितङ्ग' (रेवर्टी : ज० ए० सो० ६१, ४२२, के अनुसार इसका यही ठीक अक्षर-विन्यास है), अथवा 'चित्रुङ्ग' (ओल्डम : ज० ए० सो० २५, ५८; तु० की० पृष्ठ ४९ के सामने का मानचित्र) है। देखिये *सरस्वती*, नोट ४।

देवभाग का भी तैत्तिरीय संहिता (६. ६, २, २) में यज्ञ की त्रुटि द्वारा *सृञ्जयों* को विनष्ट करनेवाले तथा *वासिष्ठ सातहव्य* के समकालीन के रूप में उल्लेख है।

निषाद—महाभारत (३. १०, ५३८) के अनुसार निषाद-गण, *सरस्वती* के विलीन होने के स्थान, *विनशन*, के भी उस पार बसे थे।

नृमेध—*सुमेधस्* के स्थान पर *सुमेध* पढ़ें।

पष्ठवाह्, बाद के साहित्य में कभी-कभी 'प्रष्ठवाह्' के रूप में आता है : यदि ब्लूमफील्ड[1] का यह विचार ठीक है कि *प्रष्टि* 'प्र' और 'अस्' से व्युत्पन्न है, तो यह अपेक्षाकृत पहले का रूप हो सकता है। फिर भी, हमें नित्य मिलनेवाली पहले की परम्परा[2] को इसके विपरीत रखना होगा। मैकडौनेल[3] ने इस शब्द को 'पृष्ठवाह्' के साथ सम्बद्ध किया है।

[1] ज० अ० ओ० सो०, २९, ७८ और बाद।
[2] वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १, २३५।
[3] वैदिक ग्रामर, पृ० ४८।

प्रतिष्ठा—बनावटी अपराधी की सहायता के साथ तैत्तिरीय संहिता (६. ५, ६, ३; ८, ४. ५) के इस वाक्य की तुलना की जा सकती है : 'मनुष्य शरण में आये एक भी वध्य व्यक्ति को समर्पित नहीं करते'। तु० की० *परिदा*।

प्रवर्त—आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (१९. २३, ११; २४, १०) में 'कान

के अलंकरण' का आशय उचित प्रतीत होता है। तु० की० बौधायन श्रौत सूत्र, १३. ३१।

प्रष्टि से ब्लूमफील्ड[1] ने पथ प्रदर्शन करने के लिये अन्य अश्वों के आगे सन्नद्ध अश्व का सन्दर्भ माना है। कुछ स्थलों पर स्पष्टतः ऐसा ही आशय है, और यह 'प्र' तथा 'अस्' से, *उपस्ति* की भाँति, व्युत्पन्न हुआ है। इस शब्द को सामान्यतया[2] 'पर्शु' के साथ सम्बद्ध माना गया है।

[1] ज० अ० ओ० सो० २९, ७८ और बाद।
[2] वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक १, २३०, २३५; मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० ४३।

बाहीक—बाद की परम्परा के लिये देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, २,[2] ४८२ और बाद; ग्रियर्सन : त्सी० गे०, ६६, ६८, ७३।

ब्रह्मचर्य—इससे सम्बद्ध बाद के नियमों का ग्लेसर (त्सी० गे०, ६६, १, और बाद) ने विस्तृत उल्लेख किया है।

भङ्ग-श्रवस्, काठक संहिता (३८, १२) में मिलनेवाले एक मनुष्य के नाम का रूप है। तैत्तिरीय संहिता (६. ५, २) के समानान्तर स्थल पर *भङ्ग्यश्रवस्* है।

मत्य, संहिताओं[1] के ब्राह्मण-स्थलों पर मिलता है। सायण[2] ने इसे 'खाद' के अर्थ में ग्रहण किया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. ६, ७, ४; काठक संहिता २९. ४; पञ्चविंश ब्राह्मण २. ९, २। तु० की० 'सुमतित्सरु'।
[2] तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था० पर।

युग—तिलक[1] ने इस शब्द को अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये प्रयुक्त किया है कि वेदों में आर्यों के ध्रुव-प्रदेशीय स्मृति के चिह्न हैं। इन्होंने इसमें 'मास' का आशय देखा है, और *दीर्घतमस्* (= सूर्य) की कथा का इस रूप में विवेचन किया है कि उसमें दस महीने के उस ध्रुव-प्रदेशीय ग्रीष्म का सन्दर्भ है जिसके बाद दो मास की रात्रि होती थी; आपने ऋतुओं के वर्णनों में भी इसके चिह्न का अस्तित्व माना है। फिर भी, यह सिद्धान्त उतना ही असम्भाव्य है जितना उनका यह विवेचन[2] कि इस सिद्धान्त के सन्दर्भ द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण[3] आर्यों के जीवन के विभिन्न स्तरों का चित्रण करता है।

[1] आर्कटिक होम इन वेदाज़, १६२-१८७। तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० ३०, ६०।
[2] उ० पु० ४५५।
[3] ७. १५।

योजन—ऋग्वेद[1] में उषा को तीस योजन बताये गये होने के तथ्य के आधार पर तिलक[2] ने यह तर्क उपस्थित किया है कि इससे हिम-युग की ध्रुवप्रदेशीय उषा का तात्पर्य है। किन्तु यहाँ वैदिक मास के तीस दिनों की तीस उषाओं का ही सन्दर्भ है। देखिये *मास*

[1] १. १२३, ८। तु० की० ६. ५९, ६, और तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ११, १ की तीस उषायें।
[2] अर्कटिक होम इन वेदाज़ १०३-१७।

रक्षस् से आरम्भिक वैदिक काल में दानवों का तात्पर्य है, और इसे मानव-शत्रुओं के लिये केवल लाक्षणिक[1] रूप से ही व्यवहृत किया गया है। इससे किसी निश्चित जाति का तात्पर्य नहीं है।[2]

[1] ऋग्वेद ३. ३०, १५-१७; ७. १०४, १. २; मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, २[2], ३८९ और बाद।
[2] तु० की० ग्रियर्सन: त्सी० गे० ६६, ६८। इसी प्रकार पिशाच भी बाद में चाहे जो कुछ भी हों वैदिक साहित्य में कोई जाति नहीं हैं।

१. वर्षा-हू (मेढक), वाजसनेयि संहिता (२४. ३८) में अश्वमेध के बलि-प्राणियों में से एक है।

२. वर्षा-हू (जलों में उत्पन्न) तैत्तिरीय संहिता (३. ४, १०, ३) में एक पौधे (Boerhavia procumbens) का नाम[1] है।

[1] शब्द का रूप यह व्यक्त करता प्रतीत होता है कि 'भ्' के स्थान पर 'ह्' हो गया है, जैसा कि वाकरनॉगल: आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १, २१७ (ख), द्वारा प्रस्तुत अन्य दशाओं में भी था; वास्तव में वैदिकोत्तर संस्कृत में इसी आशय में 'वर्षा-भू' आता है।

वशा अक्सर 'अनुबन्ध्या'[1] के विशेष्य के रूप में आता है; सम्भवतः वन्ध्या गाय के वध के आर्थिक-पक्ष ने ही इस शब्द में 'वन्ध्या' के आशय को सम्मिलित कर दिया है।

[1] उदाहरण के लिये, तैत्तिरीय संहिता २. २, ९, ७; काठक संहिता १०. १।

वाच्—पैशाची-वाणी की व्याख्या[1] के सन्दर्भ में ग्रियर्सन ने यह मत व्यक्त किया है कि शतपथ ब्राह्मण में उद्धृत असुरों की भाषा ('हे ऽलवो'= 'हे ऽरयः')[2] वाले स्थल को जितना मागधी के रूप में ग्रहण किया जा सकता

[1] त्सी० गे० ६६, ६६, नोट १।
[2] उ० पु० ६४, १०४ और बाद।

है उतना ही 'पैशाची' के रूप में भी, क्योंकि 'र्' का 'ल्' में अथवा 'य्' का 'च्' में होनेवाला परिवर्त्तन पैशाची में भी मिलता है। फिर भी स्टेन कोनो[2] का विचार है कि पैशाची भाषा विन्ध्य-क्षेत्र में व्यवहृत होती थी। वास्तव में 'हे ऽलवो' वाक्पद पर ज़ोर देना अबुद्धिमत्ता होगी, क्योंकि पाठ अथवा आशय में से कुछ भी सर्वथा निश्चित[3] नहीं है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण[4] में अन्यत्र पूर्वीय लोगों तथा असुरों को सम्बद्ध किया गया है : यह ग्रियर्सन के मत के विरुद्ध है।

[3] यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस रूप में है उसमें यह वाक्पद वास्तविक प्राकृत भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस दशा में 'हेऽलवो हेऽलवः नहीं होगा।

[4] १३. ८, १, ५। सम्भवतः शतपथ ब्राह्मण (३. २, २३) के पूर्वस्थल का मत भी यही होगा, क्योंकि इसका प्रख्यात प्रणेता, याज्ञवल्क्य, परम्परा की दृष्टि से पूर्व से ही सम्बद्ध है। यदि शाण्डिल्य अंशों में इसका सन्दर्भ होता तो डा० ग्रियर्सन का तर्क और प्रबल हो गया होता।

वासस्—तैत्तिरीय संहिता (२. २, ११, ४) में 'वासस्' की उपाधि के रूप में 'उपाध्यायग्यपूर्वय', आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (१९. २०, २) के अनुसार 'चित्रान्त' का द्योतक प्रतीत होता है।

वैहत्, काठक संहिता (३८. १०), मैत्रायणी संहिता (३. ११, ११), वाजसनेयि संहिता (२१. २१) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ६, १८, ४) में *वशा* के साथ संयुक्त रूप से आता है।

शम्या, ब्राह्मणों[1] में अवसर उस लकड़ी के आधार का द्योतक है जिस पर चक्की के दो पत्थरों (दृषद्) में से निचला पत्थर रक्खा जाता था।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, १, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, २२; २, १, १६; ५. २, ३, २; बौधायन श्रौतसूत्र १. ७; आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १८. ८, १२, इत्यादि।

श्रुष्टि (अधिक शुद्धतः *श्नुष्टि*) *आङ्गिरस* को *श्रुष्टिगु* के पहले; और *सुकुरीर* को *सुकेशिन्* के पहले आना चाहिये।

संवत्सर—तिलक[1] यह तर्क उपस्थित करते हैं कि—ऋग्वेद[2] और

[1] आर्कटिक होम इन वेदाज़ २८०–२८८। | [2] २. १२, १ (चत्वारिंशयां शरदि)।

अथर्ववेद[3] में ऋतु और दिन के अनुसार तिथियों के निर्धारण के चिह्न मिलते हैं; किन्तु इनके द्वारा उद्धृत स्थलों में से किसी को भी सम्भवतः इस आशय में नहीं ग्रहण किया जा सकता।

[3] १३. ३, ३४ ('षष्ट्यां शरत्सु'; बहुवचन, तिलक के अनुसार, 'प्रतिवर्ष' द्योतक है)।